संस्कृत साहित्य का इतिहास

आचार्य बलदेव उपाध्याय

(२)

शास्त्र खण्ड

...न्दिर • वाराण...

संस्कृत साहित्य का इतिहास

द्वितीय भाग

शास्त्र खण्ड

संस्कृत में निबद्ध आयुर्वेद, ज्योतिष तथा गणित, साहित्य-शास्त्र, छन्दःशास्त्र, कोषविद्या तथा व्याकरणशास्त्र का प्रामाणिक विमर्शात्मक इतिहास

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व संचालक

अनुसन्धान संस्थान

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

शारदा मन्दिर

वाराणसी

[१९७३

प्रथम संस्करण]

प्रकाषक
शारदा मन्दिर
३७ बी, रवीन्द्रपुरी
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५

आचार्य तथा एम. ए. परीक्षाओं का पाठ्यग्रन्थ

SANSKRIT SAHITYA KA ITIHASA

SECOND PART
SHASTRA KHANDA

[The book deals with a critical and comprehensive history of Ayurveda, Jyotisha and Mathematics, Poetics, Prosody, Lexicography and Vyakarana Shastra.]

by

ACHARYA BALDEVA UPADHYAYA
Ex-director, Research Institute

SANSKRIT UNIVERSITY
Varanasi

मूल्य १६.०० रुपये

समर्पण

•

जुबिली संस्कृत कालेज (बलिया) के प्राचार्य,
अशेष-शास्त्र-निष्णात तथा लोकद्वय-चातुरी-सम्पन्न,
संस्कृत शास्त्रों के मेरे गुरु,
पितृव्य-चरण

•

आचार्य श्री रामउदित उपाध्यायजी

की
पावन स्मृति में
सादर सप्रेम
समर्पित

•

—बलदेव उपाध्याय

❋ लेखक द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ ❋

- भारतीय दर्शन
- भारतीय दर्शन सार
- वैदिक साहित्य और संस्कृति
- संस्कृत साहित्य का इतिहास
- संस्कृत वाङ्मय
- धर्म और दर्शन
- भारतीय साहित्य-शास्त्र (दो भाग)
- आर्य संस्कृति के आधारग्रन्थ
- संस्कृत-सुकवि-समीक्षा
- पुराण-विमर्श
- बौद्धदर्शन-मीमांसा
- भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा
- भागवत सम्प्रदाय
- आचार्य सायण और माधव
- आचार्य शङ्कर
- संस्कृत आलोचना
- सूक्ति-मञ्जरी
- ज्ञान की गरिमा

(शारदा मन्दिर, वाराणसी)

वक्तव्य

संस्कृतशास्त्रों के ऐतिहासिक विवेचन से सम्पन्न इस ग्रन्थ को जिज्ञासुजनों के सामने उपस्थित करते समय लेखक को परम हर्ष हो रहा है। बहुत दिनों की इच्छा आज पूर्ण हो रही है। शास्त्रों की महिमा तथा विस्तृति विशेष परिलक्षित होती है। शास्त्रों की उद्गम-स्थली श्रुति ही है। श्रुति के भीतर अन्तर्निहित बीजों के पल्लवन से शास्त्रों का उदय भारतवर्ष में हुआ है। इस प्रकार शास्त्रों के उदय तथा अभ्युदय की शिक्षा धर्म के व्यापक परिधि से बहिर्भूत नहीं है। इस तथ्य को लक्ष्य कर छः विभिन्न शास्त्र वेद के सहायकरूप में परिगृहीत होकर 'वेदाङ्ग' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। वैदिक मन्त्रों के उचित यथार्थ उच्चारण के ज्ञान के लिए 'शिक्षा' का उदय हुआ, जो आजकल 'फानिटिक्स' के नाम से भाषाशास्त्र का एक अविभाज्य आवश्यक अङ्ग है। शब्दों के रूपज्ञान के निमित्त, पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप का परिचय कराने के लिए 'व्याकरण-शास्त्र' का उदय सम्पन्न हुआ। शब्दों के अर्थज्ञान के लिए उनके निर्वचन के निमित्त 'निरुक्त' (भाषाविज्ञान) का जन्म हुआ। छन्दों की जानकारी के लिए 'छन्दो-विचिति' (छन्दःशास्त्र) का तथा अनुष्ठानों के निमित्त उचित काल-निर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग है। कर्मकाण्ड तथा यज्ञीय अनुष्ठान से लिए 'कल्प' का उदय हुआ। कतिपय शास्त्रों को वेदों से किञ्चिन्न्यून मानकर 'उपवेद' के भीतर परिगणित किया गया है। अर्थशास्त्र ऋग्वेद का, धनुर्वेद यजुर्वेद का, संगीतशास्त्र सामवेद तथा आयुर्वेद अथर्ववेद का 'उपवेद' माना जाता है। फलतः इन शास्त्रों का सम्बन्ध वेद के साथ साक्षात् रूपेण माना गया है। अत एव वेद ही शास्त्रों का मार्ग-दर्शन कराता है। इसी लिए शास्त्रों के ऊपर धर्म की छाप है।

शास्त्रों के निर्माण की एक विशिष्ट पद्धति होती है जिसका निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस पद्धति के आवश्यक उपकरणों को 'तन्त्रयुक्ति' ने नाम से पुकारते हैं। 'तन्त्रयुक्ति' का शाब्दिक अर्थ है— तन्त्रशास्त्र की युक्ति योजना, अर्थात् जिन उपकरणों से शास्त्र की योजना की जाती है, वे 'तन्त्रयुक्ति' के अभिधान से पुकारे जाते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्तिम पन्द्रहवें अधिकरण में स्वशास्त्रोपयोगी

तन्त्रयुक्तियों का नाम तथा स्वरूप दिखलाया है। वे संख्या में ३२ हैं तथा उनके नाम हैं—अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, अपदेश, निर्देश, उपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसङ्ग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय तथा ऊह्य। कौटिल्य ने इनकी व्याख्या दृष्टान्त के साथ दी है। सुश्रुत ने भी इन्हें स्वीकार किया है तथा आयुर्वेद शास्त्र से उचित उदाहरण दिये हैं। विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड (१ भाग ६ अध्याय) में ये ही नाम हैं, परन्तु चरक-संहिता के अन्तिम अध्याय में केवल ३६ तन्त्रयुक्तियाँ नाम्ना निर्दिष्ट हैं, परन्तु स्वरूपतः निर्णीत नहीं हैं। अरुणदत्त ने अपने चरकभाष्य में इनका विवरण दिया है। फलतः प्राचीनकाल में शास्त्र के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति थी जिसमें तत्तत् विषयोपयोगी उपकरण निर्णीत थे और जिनका अपने शास्त्रीय विवेचन में उपन्यास करना लेखक के लिए आवश्यक कार्य था। फलतः भारतीय शास्त्रों का निर्माण विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित है, स्वकपोलकल्पित प्रकार पर नहीं।

इस प्रकार धर्म के प्रभाव पुञ्ज के अन्तर्निविष्ट तथा शुद्ध वैज्ञानिक सुनियोजित पद्धति पर निर्मित शास्त्रों में से केवल षट् शास्त्रों का यहाँ ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य है। शास्त्र के सिद्धान्तों के विकास दिखलाने की ओर लेखक का प्रयास है, केवल ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों की एक लम्बी सूची देना वह निरर्थक समझता है। अपने उदयकाल से शास्त्रों का अभ्युदय कैसे सम्पन्न हुआ—इस तथ्य पर उसका आग्रह रहा है। विद्वानों तथा छात्रों के लिए नितान्त आवश्यक शास्त्र ही इस खण्ड में चुने गये हैं। ग्रन्थ चार परिच्छेदों में विभक्त हैं। प्रथम परिच्छेद में आयुर्वेद का इतिहास प्रदर्शित है। इस परिच्छेद की कमी की पूर्ति के लिए प्रथम परिशिष्ट में आवश्यक सामग्री जुटा दी गई है। द्वितीय परिच्छेद ज्योतिष शास्त्र का विवरण प्रस्तुत करता है जिसमें सिद्धान्त तथा फलित के साथ अङ्कगणित, बीजगणित तथा रेखागणित का भी संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक परिचय दिया गया है। अरबी ज्योतिष की व्याख्या करने वाले संस्कृत ग्रन्थों का यथार्थ प्रतिपादन यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत है जिससे इतः पूर्व की अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है। तृतीय परिच्छेद मुख्यतया अलंकार-शास्त्र का विवेचन करता है। तत्सम्बद्ध होने से छन्दःशास्त्र तथा कोशविद्या का भी यहाँ विवरण दिया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। पाणिनीय व्याकरण की विकास दिशा पूर्णतया दिखलाई गई है। पाणिनि से भिन्न व्याकरण-सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त परिचय विषय को विशद बनाता है। संस्कृत के साथ में पालि तथा प्राकृत के व्याकरणग्रन्थों का समुचित उल्लेख इस विवरण के वैशद्य तथा विस्तार का नितान्त द्योतक है।

लेखक मल्लिनाथी प्रतिज्ञा के यथासाध्य पूर्ण निर्वाह करने के लिए प्रयत्नशील रहा है, जो घोषित करती है—नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते। मूल शास्त्रीय ग्रन्थों के दीर्घकालव्यापी अन्तरङ्ग अध्ययन का परिणत फल है इस ग्रन्थ की रचना। इसमें लेखक ने अपने अनुसन्धान द्वारा अनेक तथ्यों को परिष्कृत किया है, धारणाओं की भ्रान्ति को दूर किया है तथा पुरानी भूलों को शुद्ध किया है। विशेष कर व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में उसकी नई उद्भावनायें विद्वानों के दृष्टिपथ से विचलित न होंगी—ऐसी वह आशा करता है।

इस ग्रन्थ की रचना में अनेक सहयोगियों की सहायता सुलभ रही है। ग्रन्थ के आयुर्वेद तथा ज्योतिष के विवरण लिखने में उसके कनिष्ठ पुत्र डा० गोपालशङ्कर उपाध्याय, एम. एस सी. (बरमिंघम) तथा डी. एस सी. (मास्को) ने विशेष सहायता दी है। इसी प्रकार उसके शिष्य डा० जानकी प्रसाद त्रिपाठी व्याकरणाचार्य विद्यावारिधि ने व्याकरण वाले अंश में यथासाध्य सहायता दी है। अनुक्रमणी श्री रवीन्द्र कुमार दूबे बी० एस सी० (मेटलर्जी) के परिश्रम का फल है। इन तीनों व्यक्तियों को मैं आशिर्वाद देना उचित समझता हूँ।

अन्त में उमापति विश्वनाथ से तथा लक्ष्मीपति नारायण से निवेदन है कि उनकी दया से यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल हो। जगद्धर भट्ट के शब्द में दोनों से समकालीन प्रार्थना है—

प्रियां मुखे यो धृत-पञ्चम-स्वरां
गिरं वहन्तीममृतस्य सोदराम्।
विशेषविश्रान्तरुचिर्बिभर्ति मां
वपुष्यसौ पुष्यतु नः शिवोऽच्युतः॥

तथास्तु

वाराणसी
रामनवमी, सं० २०२६
२७ मार्च १९६९

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम-परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद

आयुर्वेद का इतिहास

(क) आयुर्वेद का उदय-अभ्युदय
(ख) रसायनशास्त्र का विवरण

१

काय-वाग्-बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः ।
चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥
—वाक्यपदीय

२

सनातनत्वाद् वेदानामक्षरत्वात्तथैव च ।
चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुम ॥
—सुश्रुत

३

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥
—चरक

४

सम्यक् प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम् ।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥
—चरक

५

धर्मार्थकामोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः ।
तस्मादारोग्यदानेन तद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम् ॥
—स्कन्दपुराण

प्रथम परिच्छेद

आयुर्वेद शास्त्र का इतिहास

आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आयु को प्राप्त करता है। सुश्रुत में इसीलिए इस शब्द की व्याख्या में लिखा हुआ है—

आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दतीति आयुर्वेदः।

मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए, स्वस्थ शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए तथा व्याधिग्रस्त शरीर के रोगों के निवारण के लिए महर्षियों ने अपनी प्रतिभा, अनुभव तथा प्रयोगों के बल पर जिस शास्त्र को उत्पन्न किया उसी का नाम है आयुर्वेद। किसी भी शास्त्र के दो अंग होते हैं—पहिला होता है उसका सिद्धान्तभाग (थ्योरी), जिसमें उसके मूल तथ्य निर्दिष्ट किये जाते हैं। दूसरा होता है उसका कर्मभाग, जिसमें उसका व्यवहार (प्रैक्टिस) प्रतिपादित होता है। सुश्रुत का कथन है कि शास्त्रज्ञ तथा कर्मज्ञ दोनों एकांगी होते हैं। अतः न तो केवल शास्त्रज्ञ ही प्रशंसा का पात्र होता है और न केवल कर्मज्ञ ही; प्रत्युत उभयज्ञ—शास्त्र तथा कर्म दोनों का ज्ञाता ही प्रशंसा के योग्य होता है। आयुर्वेद में उभयज्ञ ही यथार्थतः समाज के लिए मंगल-साधक होता है। आयुर्वेद के प्रयोजन दो होते हैं—(१) व्याधि से युक्त व्यक्तियों का व्याधिपरिमोक्ष (व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः)। (२) स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा (स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्)। प्रथम है रोग का प्रशमन, तो द्वितीय है रोग के प्रादुर्भाव का निरोध। अंग्रेजी में पहिले को कहते हैं—क्यूरेटिभ और दूसरे को प्रिवेन्टिभ। आयुर्वेद के ये दोनों ही प्रयोजन हैं—(सुश्रुत संहिता १।१२)।

मनुष्य के उदय के साथ-साथ रोग भी उत्पन्न हुआ और उसी के साथ उसकी औषध द्वारा चिकित्सा भी आरम्भ हुई। भारतवर्ष में आयुर्वेद की परम्परा वैदिक युग से आरम्भ होती है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में आयुर्वेद के रोगों का तथा औषधों का संकेतमात्र ही मिलता है, परन्तु अथर्ववेद में शरीर-विज्ञान के साथ-साथ नाना प्रकार के रोगों को दूर करने की चिकित्सा का वर्णन बड़े ही विस्तार तथा वैशद्य के

---

१. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥
(चरक सूत्रस्थान १।४१)

साथ किया गया है। इसीलिए आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है।[१] इन विस्तृत संकेतों के द्वारा अथर्ववेदीय युग के औषधों के रूप तथा उपचार के प्रकार का परिचय विद्वानों को भली-भाँति लग सकता है।

वेद में वैद्यक

वैदिक संहिताओं में प्रसंगवश वैद्यक सम्बन्धी जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने महत्त्व के हैं कि उनकी सहायता से वैदिक कालीन आयुर्वेद का स्पष्ट परिचय मिल सकता है। ऋग्वेद के मन्त्रों में अश्विन् नामक देववैद्यों के चरित्र तथा चिकित्सा कार्य का बड़ा ही विस्तृत विवरण मिलता है। अश्विन् के विचित्र शल्यक्रियाओं के दृष्टान्त भी बड़े ही विलक्षण तथा रोचक हैं। अश्विन् ने वृद्ध च्यवन ऋषि को पुनः यौवन प्राप्त कराया। युद्ध में राजा खेल की पत्नी विश्पला की शत्रुओं द्वारा टाँगें काट दी जाने पर इन्होंने लोहे की जंघा जोड़ दिया (ऋ० १।११६।१५)। इन्होंने दधीचि ऋषि के असली सिर को हटाकर घोड़े का सिर लगा दिया तथा मधुविद्या को ग्रहण कर पुनः असली सिर लगा दिया (ऋ० १।११६।१२)। ये चमत्कारिक कार्य आयुर्वेद की विशिष्ट उन्नति के द्योतक हैं। शुक्लयजुःसंहिता में श्लेष्म, अर्श श्वयथु, पाण्डु, श्लीपद, यक्ष्म, मुखपाक, क्षत आदि रोगों के नाश करने के उपायों का वर्णन है।

अथर्ववेद का तो उपांग ही आयुर्वेद है। फलतः इस वेद में नाना प्रकार के रोगों का निदान तथा उनके लिए उपयोगी औषधों का वर्णन बड़ी ही विशदता के साथ किया गया है। नवें काण्ड का १४वाँ सूक्त रोगों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है जिसमें शीर्षामय (सिरदर्द), कर्णशूल, विलोहित (वह रोग जिसमें चेहरा लाल हो जाता है), यक्ष्मा (क्षय रोग), अंगभेद (शरीर में ऐंठन) तथा अंगज्वर का निर्देश यहाँ एक साथ किया गया है। तक्म (ज्वर) रोग तथा उसके भेदों—सतत, शारद, ग्रैष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का—निर्देश (अ० १।२५।४—५) बड़े महत्त्व का है। शारीरक शास्त्र के विषय में भी शरीर की नाड़ी तथा धमनियों का निर्देश, अस्थियों की ३६० संख्या आदि महत्त्व के हैं। रोग के प्रतीकार के विषय में अनेक औषधों का प्रयोग अथर्ववेद के उपयोग का द्योतक है। मूत्राघात में शर या शलाका आदि के द्वारा मूत्र का निकालना (१।३।१—९), सुखप्रसव तथा उसकी विकृति में शल्यकर्म अर्थात् योनि का भेदन (१।११।१—६), व्रण को जल द्वारा चिकित्सा, पकी हुई पिरकी का शलाका द्वारा भेदन तथा उसे पकाने के लिए

---

१. चरणव्यूह एवं महाभारत (सभा० ११।३३ पर नीलकण्ठ) के अनुसार आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है, परन्तु चरक, सुश्रुत तथा उत्तरकालीन आयुर्वेद के ग्रन्थकारों (यथा अष्टांगहृदय ८।८) में आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद स्वीकृत है। 'इह खलु आयुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य'—सुश्रुत सू० १।६० ।

लवण का उपचार आदि प्रक्रियायें वर्णित हैं। पुरुषों में क्लीबत्व बढ़ाने के लिए भी वनस्पति का प्रयोग बतलाया गया है, (६।१३८।१) गण्डमाला के दूर करने के लिए दो सूक्त हैं, तथा सफेद कुष्ट (किलास रोग) के दूर करने की ओर भी संकेत है। अनेक वनस्पति के गुण का वर्णन अनेक विशिष्ट सूक्तों में है। अपामार्ग नामक ओषधि भूख-प्यास को दूर करने वाली तथा बच्चों को लाभदायक बतलायी गई है (४।१७।६), पिप्पली तथा पृश्निपर्णी नामक ओषधियों का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। कृमियों को दूर करने के लिए सूर्य की रश्मियों का उपयोग बतलाया गया है[1]। अथर्ववेद के एक मन्त्र में रक्त-संचार का भी विशेष वर्णन है। ध्यान देने की बात यह है कि पाश्चात्य जगत् में शरीर के रक्त-संचरण की जानकारी बहुत ही पीछे सत्तरहवीं शती में हुई। अथर्व के इस प्राचीनतम उल्लेख को हम इसीलिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं:—"तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्र-धूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः।"

वैद्यक की परम्परायें

चरक तथा सुश्रुत संहिता के आरम्भ में वैद्यक शास्त्र के उदय की कथा बड़े रोचक ढंग से लिखी गई है। आयुर्वेदशास्त्र के सर्वप्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा थे। उनसे यह ज्ञान सीखा प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनो कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से सीखा इन्द्र ने और इन्द्र के पास दीर्घजीवी होने का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से महर्षि भरद्वाज गये। उन्होंने इस शास्त्र को सीखकर भारतवर्ष में इसका प्रचार किया। चरक, सुश्रुत, तथा काश्यप संहिता में आयुर्वेद के प्रचार की कथा कुछ भिन्नता लिए हुए इस प्रकार है—
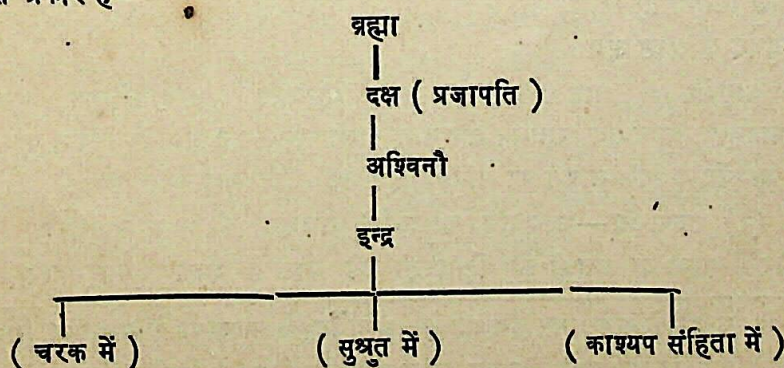
१. उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि। (अथर्व० २। ३२। १)

भरद्वाज	धन्वन्तरि	काश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु ।
|	|	|
आत्रेय पुनर्वसु	दिवोदास	
|	|	
अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि	सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, भोज ।	इनके पुत्र और शिष्य
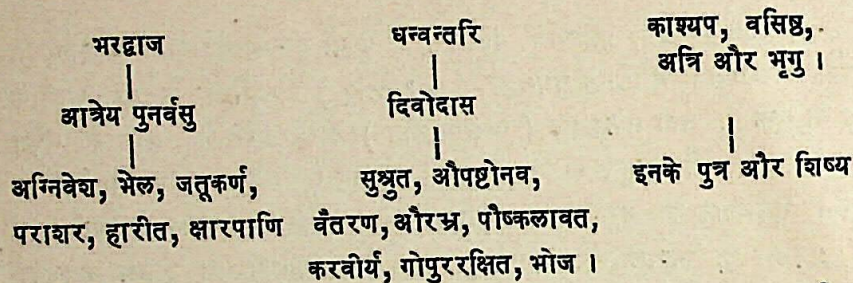
इस तालिका पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि इन्द्र तक आयुर्वेद के आचार्य स्वयं देवता थे। इन्द्र से ही यह ज्ञान महर्षियों के माध्यम से इस भूतल पर आया। परम्परा की भिन्नता होने का कारण यह है कि प्रत्येक परम्परा का आचार्य अपने आप को इन्द्र का साक्षात् शिष्य मानता है। ये तीनों आचार्य आयुर्वेद के तीन अंगों के प्रवर्तक आचार्य हैं। भरद्वाज कायचिकित्सा के प्रवर्तक हैं और उनकी परम्परा का सबसे श्रेष्ठ और आदिम ग्रन्थ है चरकसंहिता। धन्वन्तरि शल्य-चिकित्सा के महनीय प्रवर्तक हैं और इसीलिए शल्यचिकित्सक धान्वन्तरीय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है सुश्रुतसंहिता, जिसमें शल्यतन्त्र को प्रधानता दी गई है। काश्यप ऋषि कौमारभृत्य (बालचिकित्सा) के प्रवर्तक आचार्य थे, जिनके सिद्धान्तों का प्रतिपादक श्लाघनीय ग्रन्थ है काश्यपसंहिता। आयुर्वेद के आचार्यों की संख्या बहुत ही लम्बी है जिनके नाम तथा मत का उद्धरण चरकसंहिता तथा अन्य संहिताओं में उपलब्ध होता है। चरकसंहिता में निर्दिष्ट आचार्यों के कतिपय नाम ये हैं--काप्य, कुश, सांकृत्यायन, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, शरलोमा, भार्गव च्यवन, भद्रशौनक आदि। परन्तु दुःख की बात यह है कि इन प्राचीन आचार्यों के वे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते जिनमें इन्होंने अपनी औषधों तथा उपचारों का वर्णन विशेष रूप से किया हो। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इनके नामों के साथ अनेक औषधों का भी उल्लेख मिलता है[1]।

आयुर्वेद के आठ अंग

आयुर्वेद के आठ अंग हैं—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद तंत्र, रसायन तंत्र तथा वाजीकरण। इन अंगों के संक्षिप्त परिचय से भी आयुर्वेद के विशाल रूप का परिचय हमें भली-भाँति लग सकता है।

(१) शल्य तंत्र—शल्य तंत्र का अर्थ है आजकल की भाषा में सर्जरी। जिससे शरीर में पीडा या तन्तुओं की हिंसा हो उसे कहते हैं शल्य (शल् हिंसायाम्)।

---

१ उन्हीं के संकेत पर इन प्राचीन आयुर्वेद के आचार्यों के मत तथा सिद्धान्तों का संकलन बड़ी योग्यता तथा छानबीन के साथ गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने किया है—'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से कई जिल्दों में प्रकाशित)।

शल्य नाना प्रकार के हैं। शरीर में जिससे भी पीड़ा हो, चाहे वह शरीर के अन्दर स्वतः उत्पन्न हो या कहीं बाहर से आया हुआ हो, वह शल्य कहलाता है। इस पीडा या शल्य को हटाने के उपायों का वर्णन इस तंत्र में है। इस अंग के प्रधान आचार्य धन्वन्तरि थे। इसलिए उनके सम्प्रदाय वाले इसी अंग की प्रधानता देते हैं। उनकी मान्यता है कि इससे रोग की चिकित्सा जल्दी होती है। यन्त्र, शल्य, और क्षार का उपयोग होने से रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

(२) **शालाक्य**—शालाक्य शब्द का सम्बन्ध शलाका से है। नेत्र, नाक, कान, शिरोरोग और मुख के रोग में मुख्यतः शलाका का उपयोग होता है। इसलिए यह तंत्र शालाक्य कहलाता है, अर्थात् गले के ऊपर के रोग की गणना तथा उसकी चिकित्सा शालाक्य तंत्र से सम्बन्धित है।

(३) **कायचिकित्सा**—काय शब्द का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर। इस शब्द का प्रयोग जाठराग्नि के लिए भी होता है। मनुष्य के शरीर में जाठराग्नि की महत्ता सबसे अधिक है। अग्नि के विकृत होने पर ही मनुष्य विकृत होता है तथा अग्नि के ठीक होने पर ही मनुष्य स्वस्थ रहता है। इसलिए अग्नि की चिकित्सा ही शरीर की चिकित्सा है। भगवान् ने गीता में अपने को मनुष्यों के शरीर में रहने वाला वैश्वानर बतलाया है। चार प्रकार के अन्नों का पाचन इसी वैश्वानर की कृपा का फल है[1]। इसलिए शरीर की इस अग्नि की चिकित्सा ही इस अंग का मुख्य कर्त्तव्य है।[2]

(४) **भूतविद्या**—इस अंग के अन्तर्गत देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मन वाले व्यक्तियों के निमित्त शान्तिकर्म तथा बलिदान आदि का विधान किया जाता है। इसका दूसरा नाम है अमानुष उपसर्ग। चरक ने इसे उन्माद रोग के अन्तर्गत स्वीकार किया है। भूतविद्या की परम्परा प्राचीन है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद मुनि ने स्वाधीत विद्याओं के भीतर भूतविद्या की भी गणना की है। यह विद्या आजकल भी है। झाड़ना, फूकना आदि इसके नाना प्रकार हैं। अशिक्षितों में इसका विशेष प्रचार आजकल है, परन्तु वस्तुतः यह वैज्ञानिक चिकित्सा में भी कम महत्त्व नहीं रखता।

---

१. अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(गीता)

२. जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेद् विकृतं स वै कायचिकित्सकः॥

(५) **कौमारभृत्य**—इस शब्द का अर्थ है शिशु का भरण-पोषण, चिकित्सा तथा उनका परिवर्धन। आजकल के युग में प्रसूति-तंत्र का जो महत्त्व है उससे कहीं अधिक महत्त्व प्राचीन काल में इस तंत्र को प्राप्त था। किसी भी जाति या देश का उत्थान शुद्ध तथा पुष्ट संन्तान के ऊपर है और योग्य तथा उत्तम सन्तान का विचार इस अंग का मुख्य विषय है। आत्रेय तथा काश्यप ऋषि ने अपनी संहिताओं में जातिसूत्रीय नामक अध्याय में इस विषय की ओर संकेत किया है। सूतिकागृह, प्रसव, शिशुपालन—आदि समस्त शिशु-सम्बन्धी विषयों का साक्षात् सम्बन्ध इसी अंग से है। संस्कृत साहित्य के कवियों ने अपने ग्रन्थों में कौमारभृत्य में कुशल वैद्यों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(६) **अगद तंत्र**—इसका दूसरा नाम है विषतंत्र। विष नाना प्रकार के होते हैं तथा नाना स्थानों से उनकी उत्पत्ति होती है। साधारण जन की तो बात ही अलग है, परन्तु बड़े-बड़े राजाओं तथा ऐश्वर्यशाली पुरुषों को मारने के लिए शत्रु लोग स्थूल या सूक्ष्म रूप से विषों का प्रयोग करते थे। इसीलिए कौटिल्य का आदेश है कि जांगालीविद् वैद्य राजा के पास सदा रहना चाहिये, जिससे वह उसके खानपान की परीक्षा सदा किया करे। घरों में पशु-पक्षी इसीलिए रक्खे जाते थे कि वे विष से मिश्रित अन्न की परीक्षा बड़ी सुगमता से कर लेते थे। विषकन्या का प्रयोग चाणक्य के द्वारा नितान्त प्रसिद्ध है। इन विषयों की जानकारी के लिए अगद तंत्र का स्वतंत्र अस्तित्व है। आजकल भी इस शास्त्र का विशेष महत्त्व है।

(७) **रसायन तंत्र**—आयुर्वेद के अनुसार मनुष्य के शरीर में सात धातुओं का निवास रहता है, जिनके नाम हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इन्हीं की पारिभाषिक संज्ञा है रस। जिस विज्ञान के द्वारा शरीर के ये रस अर्थात् सातों धातु स्थिर बने रहें तथा नवीन रूप में विद्यमान रहें उसको रसायन कहते हैं। रसायन के सेवन से शरीर के ये रस, रक्त आदि धातु पुनः नवीन हो जाते हैं जिससे दीर्घायु प्राप्त होती है। मनुष्य के शरीर में दिन-प्रतिदिन के उपयोग से ये धातु क्षीण तथा ह्रास को प्राप्त होते रहते हैं। रसायन के सेवन से इनमें स्थिति तथा वृद्धि प्राप्त की जाती है। चरकसंहिता से पता लगता है कि आयुर्वेद का आरम्भ ही दीर्घ जीवन पाने की इच्छा से हुआ।[१]

(८) **वाजीकरण**—वाजी शब्द का अर्थ[२] है घोड़ा, शुक्र एवं शक्ति। जिस विज्ञान

---

१. दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्॥
(चरक सूत्र १। ३)

२. येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः।
व्यजते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥
(चरक सूत्र)

के बल पर मनुष्य में शक्ति उत्पन्न होती है, मनुष्यों में शुक्र तथा वेग की वृद्धि होती है उसका नाम वाजीकरण है। आज भी घोड़ा शक्ति का प्रतीक माना जाता है। वाजीकर औषधियों के द्वारा क्लीव और शक्तिहीन पुरुषों को शक्तिशाली एवं बलवान् बनाया जाता है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः पुरुषों से है। स्त्रियों के बाँझपन की चिकित्सा तथा उसके लिए उपयोगी योगों का अन्तर्भाव भी इसी अंग के अन्तर्गत किया जाता है।

इन अंगों के ऊपर अलग-अलग आचार्यों ने मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी। इन ग्रन्थों का निर्देश आयुर्वेद के आचार्यों ने स्थान-स्थान पर किया है। कुछ ग्रन्थ पूर्णरूप से प्रकाशित हैं तथा मिलते भी हैं, परन्तु अधिकांश ग्रन्थ केवल उदाहरणों से ही ज्ञात हैं। सम्भव है कि विशेष छानबीन करने पर ये ग्रन्थ उपलब्ध भी हो जायँ।

(१) **कायचिकित्सा**—अग्निवेशसंहिता (चरकसंहिता से भिन्न ग्रन्थ), भेलसंहिता (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित), जतूकर्ण-संहिता, पराशर-संहिता, क्षारपाणि-संहिता, हारीत-संहिता, खरनाद-संहिता, विश्वामित्र-संहिता, अगस्त्य-संहिता और अत्रि-संहिता।

(२) **शल्यतंत्र**—औपधेनव तंत्र, औरभ्र तंत्र, सौश्रुत तंत्र, पौष्कलावत तन्त्र, वैतरण तंत्र, भोजतंत्र, करवीर्यतन्त्र, गोपुररक्षित तंत्र, भालुकीय तंत्र, कपिल तंत्र और गौतम तंत्र।

(३) **शालाक्य तंत्र**—विदेहतंत्र, निमितंत्र, कांकायनतंत्र, गार्ग्यतंत्र, गालवतंत्र, सात्यकितंत्र, शौनकतन्त्र, करालतन्त्र, चक्षुष्यतत्र और कृष्णात्रेय तन्त्र।

(४) **अगद तंत्र**—अलम्बायन संहिता, उशनःसंहिता, सनकसंहिता तथा लाट्यायन-संहिता।

(५ **भूतविद्या**—चरक में उन्माद--चिकित्सित अध्याय, सुश्रुत में अमानुषप्रतिषेधाध्याय, वाग्भट में भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिशेषाख्य अध्याय।

(६) **कौमारभृत्य**—काश्यपसंहिता या जीवकतंत्र (पं० हेमराज शर्मा द्वारा नेपाल से प्रकाशित)

(७) **वाजीकरणतंत्र**—वात्स्यायन कामसूत्र में वर्णित औपनिषदिक नामक प्रकरण का समावेश इस तंत्र में है। कुचुमार नामक ऋषि ने इसके ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था।

(८) **रसायन तंत्र**—इसके विषय में प्राचीन ग्रन्थों का नाम यहाँ दिया जाता है—पातंजलतंत्र, व्याडितंत्र, वसिष्ठतन्त्र, माण्डव्यतंत्र, नागार्जुनतन्त्र, कक्षपुरतन्त्र और

आरोग्यमंजरी। इस विभाग के ऊपर इतना विशिष्ट साहित्य विद्यमान है कि उसका रसायन तन्त्र के नाम से अलग अध्याय ही हो सकता है।[१]

कालविभाजन

आयुर्वेद के इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) संहिता-काल (५ शती ईस्वी पूर्व—६शती तक)—यह आयुर्वेद की मौलिक रचनाओं का युग है। इसमें आचार्यों ने अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के बल पर भिन्न-भिन्न अंगों के विषय में अपने पण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया। आयुर्वेद के त्रिमुनि—चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट के आविर्भाव का यही काल है।

(२) व्याख्याकाल (७ शती से लेकर लगभग १५ शती तक)—इस काल में संहिताओं के ऊपर टीकाकारों ने प्रौढ व्याख्यायें निबद्ध कीं। भट्टार हरिश्चन्द्र, जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण आदि प्रौढ व्याख्याकारों का समावेश इसी काल में होता है।

(३) विवृतिकाल (१४ शती से लेकर आधुनक काल तक)—इस युग को विशेषता है एक विशिष्ट विषय पर ग्रन्थ का निर्माण, जैसे 'माधवनिदान' निदान के ऊपर, 'ज्वर-दर्पण' ज्वर के विषय में। चिकित्सा के योगसंग्रहों का भी यही काल है। यह युग आज-कल भी चल ही रहा है।

चरकसंहिता

चरकसंहिता की रचना के पीछे अनेक शताब्दियों का आयुर्वेदीय अध्ययन तथा अनुशीलन जागरूक है। अनेक युगों के विद्वानों ने अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि-वैभव के बल पर आयुर्वेद-सम्बन्धी जिसने सिद्धान्तों तथा तथ्यों को खोज निकाला उनका सुन्दर समन्वय हमें चरकसंहिता के पृष्ठों पर प्राप्त होता है। 'चरकसंहिता' का उपदेश दिया आत्रेय पुनर्वसु ने, प्रणयन किया उनके साक्षात् शिष्य अग्निवेश ने, प्रतिसंस्कार किया चरक ने तथा परिवर्धन किया दृढबल ने। इस प्रकार इन चार विद्वानों की विमल प्रतिभा की धारा इस संहिता के पृष्ठों में प्रवाहित होती है। इन चारों विद्वानों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) आत्रेय पुनर्वसु, कृष्णात्रेय, चान्द्रभागी तथा चान्द्रभाग नाम से भेल-संहिता, चरकसंहिता तथा नावीनतक ग्रन्थों से स्मरण किये जाते हैं। आत्रेय स्पष्ट ही गोत्रनाम है। पुनर्वसु सम्भवत. उनका व्यक्तिगत अभिधान प्रतीत होता है। कृष्ण-यजुर्वेद के साथ सम्बद्ध होने के कारण ये 'कृष्णात्रेय' के नाम से प्रख्यात हुए। इन की माता का नाम 'चन्द्रभागा' था और इसी नाम के आधार पर इनके दो

---

१. इन प्राचीन तन्त्रों के विषय में द्रष्टव्य अत्रिदेव विद्यालंकार-आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० ६५-७२।

अभिधानि और हैं--चान्द्रभागी तथा चान्द्रभाग। महर्षि व्यासदेव ने आत्रेय मुनि को आयुर्वेद का प्रवर्तक स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है—

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्॥
(शान्तिपर्व २१० अध्याय)

आत्रेय की जन्मभूमि भारतवर्ष के किस प्रान्त में हुई थी? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना नितान्त कठिन है, परन्तु भेलसंहिता के एक प्रसंग से इस समस्या पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। भेलसंहिता ने गान्धार देश के राजर्षि नग्नजित् को चान्द्रभाग पुनर्वसु से विषयोग के विषय में बड़े आदर के साथ प्रश्न करते हुए दिखलाया है[१]। ये चान्द्रभाग चरक ही हैं। फलतः इनका सम्बन्ध गन्धर्व देश के साथ विशेषतः प्रतीत होता है, परन्तु इतना होने पर भी ये महर्षि चिकित्सा-शास्त्र के प्रचार के निमित्त अथवा ओषधियों के अन्वेषण के लिये पञ्चालक्षेत्र, चैत्ररथ (वन), पञ्चगंग, धनेशायतन, कैलास तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित त्रिविष्टप आदि देशों में अपने शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए अनेक ग्रन्थों में दिखलाये गये हैं। फलतः आत्रेय का सम्बन्ध समग्र उत्तरभाग के प्रधान प्रान्तों के साथ है, यह हम सामान्य रीति से मान सकते हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से स्फुट है कि तक्षशिला बुद्ध के जन्म से पहिले प्रधान विद्यापीठ था और आत्रेय यहीं के आयुर्वेद के प्रधान अध्यापक थे। डा० हार्नली आदि पश्चिमी विद्वानों ने इस प्रामाण्य पर आत्रेय का आविर्भावकाल बुद्ध के जन्म से पहिले माना है। यादव जी ने भी इनको फारस के प्रसिद्ध सम्राट् दारयवहु (डैरियस; ५२१ ई० पू०—४८५ ई० पू०) का समकालीन माना है। फलतः आत्रेय का समय ईस्वी पूर्व पञ्चम शतक मानने में विशेष विप्रतिपत्ति नहीं दीखती।

पुनर्वसु की परम्परा के चिकित्सक पौनर्वसव कहलाते हैं, जिस प्रकार धन्वन्तरि के द्वारा चलाये गये शल्यकर्म के अनुयायी (सर्जन लोग) धान्वन्तरीय के नाम से पुकारे जाते थे। बुद्ध का समकालीन जीवक नामक प्रख्यात वैद्य था, जिसकी विलक्षण चिकित्सा का बहुशः उल्लेख त्रिपिटकों में किया गया है। तिब्बतीय उपकथाओं के अनुसार तक्षशिला का आत्रेय इस जीवक का गुरु था, परन्तु बरमा की परम्परा के अनुसार जीवक विद्याध्ययन के लिए काशी आया था। फलतः मतभेद होने से हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि

---

१. गान्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्गमार्गदः।
संगृह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
(भेलसंहिता, पृ० ३०)

आत्रेय जीवक के गुरु ही थे। चरकसंहिता में कई विचार-गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है जिसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सिद्धान्तों के ऊपर आचार्यों ने अपने मतों की व्याख्या की है। ये सब गोष्ठियाँ आत्रेय के सभापतित्व में सम्पन्न हुई थीं। ऐसी गोष्ठियों का उल्लेख सूत्रस्थान के १२ वें, २५ वें तथा २६ वें अध्याय में मिलना है।

आत्रेय पुनर्वसु ने विचार-स्वातन्त्र तथा विचार-विनिमय पर बड़ा जोर दिया है। इनका मत था कि आयुर्वेद के विद्वान् को एकाङ्गी न होकर बहुश्रुत तथा बहुज्ञ होना चाहिए, साथ ही अन्य तन्त्रों के विद्वानों के साथ मिलकर उन्हें अपने ज्ञान का संवर्धन करते रहना चाहिए। इस विषय में विमानस्थान के ८ वें अध्याय के **संभाषा** (वाद-विवाद) के नियमों का विवरण बड़ा ही रोचक, ज्ञानवर्धक तथा उपयोगी है।

(२) **अग्निवेश**—महर्षि आत्रेय के छः प्रधान शिष्य हुए–अग्निवेश, भेल (या भेड), जतूकर्ण, पराशर, हारीत तथा क्षारपाणि; जिनमें प्रथम दो शिष्यों की रचनायें उपलब्ध हैं। महर्षि भेड की कृति भेडसंहिता है, जो कलकत्ते से प्रकाशित हुई है तथा अग्निवेश की कृति यही 'चरकसंहिता' है। आत्रेयके समकालीन होने से इनका भी समय वही ई० पू० पञ्चम शतक है।

(३) **चरक**—एक प्राचीन परम्परा है कि योगशास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने ही चरक के नाम से इस संहिता का प्रतिसंस्कार किया[१]। बहुशः प्रचलित होने पर भी इस परम्परा को हम मान्यता नहीं दे सकते। 'चरकसंहिता' के प्राचीन टीकाकार इस परम्परा से परिचित नहीं हैं। इसका यही अर्थ प्रतीत होता कि आदिशेष ने अवतारभेद से महाभाष्य, योगसूत्र तथा चरकप्रतिसंस्कार का सम्पादन किया। आजकल की 'चरकसंहिता' का प्रतिसंस्कार चरक ने किया था। दृढबल के अनुसार प्रतिसंस्कर्ता का कार्य यह है कि वह मूल ग्रन्थ के संक्षिप्त अंश को विस्तृत कर देता है तथा अत्यन्त विस्तृत अंश को संक्षिप्त कर देता है। इस प्रकार पुराना ग्रन्थ नवीन बन जाता है।[२] चरक ने भी अग्निवेश के द्वारा निर्मित

---

१. पातञ्जल महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः,
मनोवाक्कायदोषाणांहन्त्रेऽहिपतये नमः।
—चक्रपाणि

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
(भोजवृत्ति)

२. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥
(चरक, चिकित्सास्थान, १२ अध्याय)

मूल ग्रन्थ में इसी प्रकार के शोधन एवं परिवृंहण कर उसे समयोपयोगी तथा अधिक उपादेय बनाया।

चरक के समय का यथार्थ पता नहीं चलता। सिल्वाँलिवी ने चरक का नाम चीनी त्रिपिटक में पाया और उसके आधार पर कल्पना की कि चरक कनिष्क का राजवैद्य था, अर्थात् उसका समय ईस्वी के द्वितीय शतक में था। सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने चरक को बुद्ध से भी पूर्ववर्ती माना है। कुछ लोगों का अनुमान है कि चरक का समय नागार्जुन (द्वितीयशती) से पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए, क्योंकि नागार्जुन के समय में पारे के बने औषध प्रचलित हो गये थे, जिनका उल्लेख चरक ने नहीं किया है। अतः चरक सम्भवतः ईसा से द्वितीयशती पूर्व के आचार्य रहे होंगे।

(४) **दृढबल**—'चरकसंहिता' के परिवर्धनकर्ता दृढबल का भी परिचय हमें विशेष नहीं मिलता। दृढबल ने चिकित्सा स्थान के १७ अध्यायों को तथा कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को स्वयं बनाकर ग्रन्थ में जोड़ दिया, क्योंकि ये मूल ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते थे[१]। इस प्रसंग में दृढबल ने अपने स्थान का नाम 'पञ्चनदपुर' लिखा है तथा अपने को 'कापिलबलिः' कहा है। फलतः इनके पिता का नाम कपिलबल था तथा वे पञ्चनदपुर के निवासी थे।[२] राजतरंगिणी (चतुर्थ तरंग, श्लोक २४६—२५०) से पता चलता है कि यह पञ्चनदपुर कश्मीर में था, जो आजकल वितस्ता तथा सिन्धु के संगम-स्थल के पास वर्तमान पंज्यनोर नामक नगर बतलाया जाता है। वाग्भट ने बहुत से विषयों को दृढबल के द्वारा परिवर्धित इसी भाग के आधार पर लिखा है। अतः इनका समय वाग्भट (षष्ठ शतक) से प्राचीन ही होना चाहिए। जेज्जट ने (जो वाग्भट के शिष्य थे और अत एव उनके समकालीन थे) दृढबल की रचना से संबलित चरक ग्रन्थ के ऊपर 'निरन्तर-पदव्याख्या' नामक टीका लिखी है। फलतः दृढबल का समय षष्ठशतक से प्राचीन मानना उचित है।

चरक के टीकाकार

चरकसंहिता टीका–सम्पत्ति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसके ऊपर ४० से अधिक टीकाओं के अस्तित्व का पता चलता है जिनमें से मुख्य टीकाकारों का यहाँ परिचय दिया जाता है—

---

१. अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते।
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्॥
(चरक, चिकित्सास्थान, ३० अध्याय)

२. अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।
(वहीं, १२ अध्याय)

(१) भट्टार हरिश्चन्द्र—चरक के सर्वप्राचीन टीकाकार ये ही हैं, क्योंकि पिछले टीकाकारों ने इनके प्रदर्शित अर्थ का उल्लेख अपनी व्याख्याओं में किया है। 'अष्टांगहृदय' के टीकाकार इन्दु ने अपनी टीका 'शशिलेखा' में इस बात का उल्लेख किया है कि हरिश्चन्द्र ने 'खरनादसंहिता' का प्रतिसंस्कार किया था (या च खरनादसंहिता भट्टारहरिश्चन्द्र-कृता श्रूयते। सा चरकप्रतिबिम्बरूपैव लक्ष्यते)। बाणभट्ट ने एक भट्टार हरिचन्द्र के गद्यबन्ध का उल्लेख हर्षचरित के आरम्भ में किया है।[१] पता नहीं कि ये दोनों ग्रन्थकार भिन्न थे या अभिन्न? यह टीका नितान्त महत्त्वशालिनी थी, इसका उल्लेख अनेक टीकाकारों ने किया है।[२] तीसट के पुत्र चन्द्रक का भी ऐसा ही मत है।[३] ये हरिश्चन्द्र 'विश्वप्रकाश' कोष के रचयिता महेश्वर के पूर्वपुरुष थे, तथा श्री साहसांक नृपति के प्रख्यात वैद्य थे।[४] कुछ लोग इस राजा को चन्द्रगुप्त द्वितीय से अभिन्न मानकर दोनों का समय एक ही बतलाते हैं (३७५—४१३ ई०) फलतः हरिश्चन्द्र का समय पञ्चम शती का आरम्भकाल है। इनकी टीका का नाम 'चरकन्यास' है

(२) जेज्जट—ये वाग्भट के शिष्य थे। इसका पता इनकी चरक टीका की पुष्पिका से लगता है। इनके सहाध्यायी इन्दु ने 'अष्टांगसंग्रह' पर शशिलेखा नाम्नी टीका लिखी है। जेज्जट की टीका का नाम है—निरन्तरपदव्याख्या। इसकी मद्रास में उपलब्ध अधूरी प्रति को मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित भी किया है। इसमें चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान तथा सिद्धिस्थान के कतिपय अध्याय उपलब्ध होते हैं। टीकाकार काश्मीरी था और ९ वीं शती से प्राचीन प्रतीत होता है।

(३) स्वामीकुमार—इनकी टीका 'चरकपंजिका' केवल प्रथम पाँच अध्यायों तक मद्रास राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध है जिसमें भट्टार हरिश्चन्द्र के वचनों का विशेष उल्लेख मिलता है।

(४) चक्रपाणि—चरका सबसे प्रसिद्ध टीकाकार यही चक्रपाणिदत्त है जिसकी पूरी व्याख्या अनेक स्थानों से प्रकाशित है[५]। ये बंगाल के वीरभूमि जिले के निवासी थे तथा गौडनृपति नयपाल के यहाँ इनका परिवार नौकर था। पिता का नाम

---

१. भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।
(हर्षचरित)

२. हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसम्मतम्।
यस्तनोत्यकृतप्रज्ञः पातुमीहति सोऽम्बुधिम्।

३. व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्यं समावहति।

४. विश्वप्रकाश कोष का आरम्भ।

५. यादवजी के द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर से मुद्रित, बम्बई।

'नारायण', ज्येष्ठ भ्राता का भानुदत्त तथा गुरु का नरदत्त था। इनके द्वारा स्थापित चक्रपाणीश्वर का मन्दिर भी पाया जाता है। नयपाल का समय १०४० ई०–१०७० ई० है। फलतः इनका आविर्भावकाल ११ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी टीका (आयुर्वेद दीपिका या चरक-तात्पर्य टीका) बड़ी ही प्रौढ, प्रमेयबहुल तथा चरक के तात्पर्य की वस्तुतः प्रकाशिका है। इन्होंने सुश्रुत की भी टीका लिखी थी। इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ (चिकित्सासंग्रह या चक्रदत्त) सिद्धयोगों का एक लोकप्रिय संग्रह है। चक्रपाणि वास्तव में एक बड़े ही प्रौढ आयुर्वेदज्ञ हैं।

(५) **शिवदास सेन**—की टीका का नाम 'तत्त्वचन्द्रिका' है जिसका खण्डित भाग (सूत्र अ० १–२७) ही उपलब्ध है। टीकाकार बंगाल का निवासी तथा १५ वीं शती का ग्रन्थकार है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—द्रव्यगुणसंग्रहव्याख्या, तत्त्वप्रदीपिका तथा अष्टांगहृदय की तत्त्वबोध व्याख्या।

चरकसंहिता

चरकसंहिता में ८ स्थान तथा १२० अध्याय हैं। पहिले स्थान का नाम है—

(१) **सूत्रस्थान**—जिसमें वैद्यक सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी सामान्य बातों का वर्णन है। इसमें ३० अध्याय हैं जिसके २७ वें अध्याय में अन्न-पान विधि का विस्तृत वर्णन है। इसके भीतर शूकधान्य, शमीधान्य, मांस, दुग्ध आदि बारह वर्गों का विस्तार से वर्णन है।

(२) **निदानस्थान**—में केवल ८ अध्याय हैं।

(३) **विमानस्थान**—में भी अध्यायों की संख्या उतनी ही है। 'विमान' का अर्थ है—दोषादि का मान, अर्थात् प्रभाव आदि का विशेष ज्ञान। इसका अन्तिम अध्याय तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन विधि की जानकारी के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा पर्याप्त रोचक है।

(४) **शरीरस्थान**—में ८ अध्याय हैं।

(५) **इन्द्रियस्थान**—में १२ अध्याय हैं।

(६) **चिकित्सास्थान**—बहुत ही बड़ा तथा विशद है जिसमें सूत्रस्थान के समान ही ३० अध्याय हैं, परन्तु इन अध्यायों में केवल १३ अध्याय मौलिक हैं तथा अन्तिम १७ अध्याय दृढबल के द्वारा पूरित हैं।

(७) **कल्पस्थान**—तथा अन्तिम खण्ड

(८) **सिद्धिस्थान**—में प्रत्येक में १२ अध्याय हैं और ये दृढबल के द्वारा पूरित हैं; इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में ८ स्थान तथा १२० अध्याय हैं जिनमें से अन्तिम ४१ अध्याय दृढबल की रचना हैं। इसलिए चरकसंहिता के आदिम ७९ अध्यायों के अन्त में सर्वत्र मिलता है—'अग्निवेशकृते चरकप्रतिसंस्कृते'। शेष ४१ अध्यायों में

अन्तिम वाक्य इस प्रकार परिवर्तित हो गया है—अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते दृढ़बलसंपूरिते' (२५ वें अध्याय में) 'अन्यत्र अप्राप्ते दृढबलपूरिते' या 'दृढबलसंपूरिते' है।

शारीरस्थान में पंचमहाभूत तथा चेतना के मिलने से 'पुरुष' के उत्पन्न होने का वर्णन है। यहाँ ईश्वर, प्रकृति तथा आत्मा के विषय में आवश्यक विवरण के बाद मोक्ष का मार्ग, उत्तम सन्तानविधि, सूतिकागृह, प्रसूति तथा कौमारभृत्य का वर्णन है। आधुनिक दृष्टि से विस्तृत न होने पर भी कायचिकित्सा के लिए, विशेषतः आध्यात्मिक दृष्टि से यह पूर्ण तथा पर्याप्त है। पंचम स्थान है—इन्द्रियस्थान। जिन लक्षणों से निश्चित मृत्यु जानी जाती है उन्हें 'रिष्ट' कहते हैं। ये रिष्ट चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं। इन्हीं की जानकारी के लिए 'इन्द्रियस्थान' की रचना है जिससे वैद्य असाध्य रोगों के निवारण के लिए व्यर्थ प्रयास न करे। षष्ठ चिकित्सास्थान तो चरक का प्राण ही माना जाता है। इसी विशद विवेचन के कारण 'चरकस्तु चिकित्सिते' लोकोक्ति प्रख्यात है। सप्तम कल्पस्थान में वमन, विरेचन द्रव्यों की कल्पना है तथा उनके भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन है। अष्टम स्थान सिद्धिस्थान में वमन, विरेचन तथा वस्ति की असम्यक् योजना से उत्पन्न रोगों को औषधों से दूर कर उनकी सिद्धियों का वर्णन है।

इस संक्षिप्त विषयवर्णन से भी 'चरकसंहिता' के विपुल विन्यास का यत्किञ्चित् परिचय पाठकों को लग सकता है। सच तो यह है कि यह चिकित्साशास्त्र—आयुर्वेद-विज्ञान—का एक महनीय विश्वकोष है जिसमें इस शास्त्र के मौलिक तथ्यों तथा सिद्धान्तों का बड़ा ही गम्भीर विवेचन है। इसके अतिरिक्त चरक-संहिता प्राचीन भारतीयों के जीवनवृत्त तथा भारतीय समाज का नितान्त उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती है। चरक की अनेक विशिष्टतायें काश्यप-संहिता में भी उपलब्ध होती हैं। चरक का युग विचार के स्वातन्त्र्य का पोषक था। कोई भी सिद्धान्त विद्वानों की सभा में निर्णीत होने पर ही सर्वमान्य होता था। आयुर्वेदीय तथ्यों के निर्णय के लिए चरक ने तद्विद्य संभाषा (विषय के जानकारों की सभा या परिषद्, की स्थापना की बात लिखी है। संभाषा दो प्रकार होती थी—सन्धाय संभाषा (= मित्रता पूर्वक विचार विमर्श) तथा विगृह्य संभाषा (=विग्रह-पूर्वक विचार)। इस प्रसंग में (विमानस्थान. ८ अ०) में चरक ने वाद के लिए उपयोगी शिक्षा तथा तर्कपद्धति का विन्यास किया है, जो गौतम के न्यायसूत्रों से पूर्णतया मिलती है। ऐसी गोष्ठियों का उल्लेख चरक ने कई बार किया है। चरक ने अपने युग के वैद्यों को दो कोटियों में रखा है—प्राणाभिसर (= सद्वैद्य) तथा रोगाभिसर (= मूर्ख वैद्य) और दोनों का लक्षण बड़े विस्तार से दिया है। चरक ने विवाह के विषय में बहुत ही सुन्दर विवेचना की है। संभोग का वय उन्होंने १६ से लेकर ७० तक माना है तथा

विवाह का वय पुरुष के लिए २१ वर्ष तथा कन्या के लिए १२ वर्ष। तीन वर्ष के अनन्तर द्विरागमन होता था। तब जाकर सन्तान के उत्पादन की क्षमता आती थी। चरक उत्तम सन्तान को राष्ट्र का हित मानते हैं और इसलिए जातिसूत्रीय अध्याय में गर्भाधान के सुन्दर नियमों का उल्लेख बड़ी गम्भीरता के साथ करते हैं। उस प्राचीन युग की रहन-सहन की जानकारी के साधन तो यहाँ प्रतिपृष्ठ पर निर्दिष्ट हैं। उस युग में 'आतुरालय' (अस्पताल) कितने तथा कौन कौन से साधनों से युक्त होते थे, इसका सुन्दर विवरण यहाँ है। तथ्य यह है कि चरकसंहिता की दृष्टि बड़ी उदार तथा विशाल है। उदार दृष्टि से देखने पर आयुर्वेद की अनन्तता समझ में आती है। चरक के विषय में भी महाभारत के समान ठीक ही कहा गया है—

> चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुरहितं प्रति।
> तदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

सुश्रुतसंहिता

आयुर्वेद के इतिहास में चरक के अनन्तर सुश्रुत का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है और इनकी संहिता सुश्रुतसंहिता चरकसंहित्ता के समान ही उपादेय, प्रामाणिक तथा प्राचीन मानी जाती है। सुश्रुत के व्यक्तिगत इतिहास का पता नहीं चलता। उपलब्ध 'सुश्रुत-संहिता' के उपदेष्टा काशीपति दिवोदास हैं (जो धन्वन्तरि के अवतार माने जाते हैं) तथा श्रोता 'सुश्रुत' हैं। सुश्रुत के विश्वामित्रपुत्र होने का उल्लेख इस संहिता (उत्तर-तन्त्र, अध्याय ६६) में किया गया है। चक्रदत्त ने भी इसका समर्थन किया है। महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है (अनुशासन पर्व, अ० ४)। भावमिश्र ने भी विश्वामित्र को काशीपति दिवोदास के पास अपने पुत्र सुश्रुत को अध्ययनार्थ भेजने का उल्लेख किया है। काश्यप तथा आत्रेय के समान विश्वामित्र गोत्रवाची शब्द हैं। फलतः सुश्रुत विश्वामित्रगोत्री किसी ब्राह्मण के पुत्र थे। इससे अधिक पता नहीं चलता।

सुश्रुत संहिता का काल

सुश्रुत संहिता के रचनाकाल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। डा० हार्नली तो इसे 'चरकसंहिता' के समान ही प्राचीन मानते थे, परन्तु ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा उसकी इतनी प्राचीनता मानने में बाधक है। खोटान से मिले हुए वैद्यक ग्रन्थ 'नावनीतक' के भाव तथा शब्द सुश्रुत के वचनों तथा भावों से मिलते हैं। नावनीतक की रचना तृतीय या चतुर्थ शती में गुप्तों के युगमें बतलाई जाती है। फलतः सुश्रुतसंहिता इससे प्राचीनतर है। नागार्जुन के 'उपायहृदय' नामक दार्शनिक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा से संस्कृत में जो अनुवाद डा० तुची ने प्रकाशित किया है उसमें वैद्यकशास्त्र में कुशल सुश्रुत का नाम निर्दिष्ट किया गया है, यथा—सुवैद्यको भेषजकुशलो मैत्रचित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः। नागार्जुन का भी समय द्वितीय शतक है। फलतः सुश्रुत को नागार्जुन से प्राचीन होना चाहिए।

'सुश्रुत' नाम तो बहुत ही प्राचीन है। महाभाष्य के कर्ता पतञ्जलि (द्वितीय शती ईसा पूर्व) ने ही १।१।३ सूत्र के भाष्य में 'सौश्रुत-पार्थिदा' का उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत महर्षि पाणिनि ने भी ६।२।३७ सूत्र में इस नाम का संकेत किया है।

चरक के समान सुश्रुत की कीर्तिपताका भारत के बाहर भी फहराती रही है। नवम शती में इसका उल्लेख अरबीभाषा के वैद्यक ग्रन्थ में मिलता है। बृहत्तर भारत के कम्बोजदेश के राजा यशोवर्मा (१० म शती) के शिलालेख में भी 'सुश्रुत' के नाम का निर्देश उनकी महत्ता तथा व्यापकता का द्योतक है। 'वृद्धसुश्रुत' नामक प्राचीन ग्रन्थकार हो गये हैं, जिनके ग्रन्थ 'सौश्रुत-तन्त्र' का उल्लेख प्राचीन टीका-ग्रन्थों में अनेकशः किया गया है। विजय रक्षित ने 'माधवनिदान' की टीका में तृणपुष्पाख्य ज्वर के विषय में जो पाठ वृद्ध सुश्रुत से दिया है, वह वर्तमान 'सुश्रुतसंहिता' में उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार श्रीकंठ ने सिद्धयोग की टीका में पिप्पल्यादि तेल के प्रसंग में वृद्ध-सुश्रुत का पाठ दिया है वह एकदम अपूर्व है। वर्तमान सुश्रुतसंहिता में इस तेल का नाम भी नहीं मिलता। बहुत से विद्वान् वर्तमान सुश्रुतसंहिता को इसी वृद्ध सुश्रुत-रचित 'सौश्रुत तन्त्र' के आधार पर विरचित मानते हैं, परन्तु अभीतक इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय नहीं हो सका है।

सुश्रुतसंहिता का वर्ण्य विषय

इस संहिता में ६ खण्ड या स्थान हैं—जिनके क्रमशः नाम हैं—(१) सूत्रस्थान, (२) निदानस्थान, (३) शारीरस्थान, (४) चिकित्सास्थान, (५) कल्पस्थान तथा (६) उत्तरतन्त्र। आदिके पाँच स्थानों के अध्यायों की संख्या १२० है तथा इनमें न आनेवाले विषयों का वर्णन उत्तरतन्त्र (६६ अध्याय) में किया गया है। पहिले खण्डों में आयुर्वेद के शल्य, कौमार-भृत्य, रसायन, वाजीकरण तथा अगद तन्त्र—इन पाँच अंगों के विषयों का समावेश हो गया है। शेष तीन अंगों (शालाक्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या) का विवरण उत्तर-तन्त्र में देकर पूरे अंगों का वर्णन इस संहिता को विषय की दृष्टि से भी सर्वाङ्गपूर्ण बना रहा है। (१) सूत्रस्थान में ४६ अध्याय हैं जो पूरे ग्रन्थ के चतुर्थांश से भी अधिक है। यह स्थान विषय की दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण है और यहाँ आयुर्वेद के मौलिक तथ्यों का विवेचन बड़ी मार्मिकता से साथ संक्षेप में किया गया है।

सुश्रुत ने कर्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञान दोनों पर जोर दिया है। वैद्य को दोनों का ज्ञान रखना नितान्त आवश्यक होता है। एक ज्ञान को रखनेवाला व्यक्ति एक पाँख वाले पंछी के समान अपना कार्य सम्पादन नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार सुश्रुत

१. उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ॥ —सुश्रुत, सूत्रस्थान ३।५०

की संम्मति में आयुर्वेद-शास्त्र का ज्ञान ही वैद्य के लिए उपादेय नहीं होता, प्रत्युत उसकी क्रिया का भी ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शल्यशास्त्र का विशेष वर्णन यहाँ किया गया है। व्रणों के गुण, व्रण को जन्तुनाशक बनाने के लिए धूप का देना, जीवाणुओं से घाव को बचाना आदि उपयोगी बातें दी गई हैं। यन्त्रों की संख्या एक सौ बतलाई गई है, जो केवल सामान्यरूप से निर्देश है। शस्त्रों की संख्या बीस होती है। रक्तमोक्षण के लिए जलौका (जोंक) का उपयोग भी विस्तार से बताया गया है। शल्यचिकित्सा भी यहाँ मुख्यरूप से वर्णित है।

(२) **निदानस्थान**—(१६ अध्याय) इसमें मुख्यत: शल्यसम्बन्धी रोगों के निदान का वर्णन है।

(३) **शारीरस्थान**—(१० अध्याय) में शरीर के अवयवों का वर्णन है। सांख्यों के अनुसार सृष्टि के क्रम का भी वर्णन है। तदनन्तर शुक्र, शोणित, गर्भ का बनना, गर्भ के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन है। अस्थियों की गणना में वेदवादियों का मत प्रदर्शित है। अन्तिम अध्याय में कौमारभृत्य का रोचक विवरण है।

(४) **चिकित्सास्थान**-(४०अध्याय) में शल्यतन्त्र सम्बन्धी रोगों तथा उनके प्रकारों का विशिष्ट वर्णन है। शल्यसम्बन्धी विधि के अनन्तर–स्वस्थवृत्त तथा सद्वृत्त का भी उपयोगी विवरण है।

(५) **कल्पस्थान**—(८ अध्याय) में विष की चिकित्सा वर्णित है। स्थावर तथा जंगम विषों के लक्षण तथा प्रकार का विवेचन कर सर्पविष की चिकित्सा आचूषण (रक्त चूस लेना), छेद (काटना) तथा दाह (काटे हुए स्थान को जलाना) के द्वारा बतलाई गई है।

(६) **उत्तर तन्त्र**—(६६ अध्याय) में नेत्र, कर्ण, नासा तथा शिर के रोगों का, बालग्रह की शान्ति का तथा काय—रोगों की चिकित्सा, का सुन्दर वर्णन ग्रन्थ को समाप्ति पर लाता है। इस संक्षेप विवरण से ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी हो सकती है।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार

'सुश्रुतसंहिता' भी अपनी टीका-सम्पत्ति के कारण नितान्त प्रख्यात है। बहुत सी टीकायें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। उनके नाम का अवान्तर टीकाग्रन्थों में उल्लेख होने से उनके अस्तित्व का परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रधान टीकाकारों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) **माधवकर**—माधवनिदान के प्रणेता माधवकर ने 'सुश्रुत-श्लोकवार्तिक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो आजकल उपलब्ध नहीं है। इनके निदान-

ग्रन्थ का अरबी भाषा में अनुवाद अष्टम शती में हुआ, जिससे इनकी सत्ता इस शती से पूर्व ही सूचित होती है।

(२) **जेज्जट**—इनकी भी 'सुश्रुतटीका' नामतः सुनी गई है। ये बड़े ही योग्य आयुर्वेदज्ञ थे। इन्होंने चरक के ऊपर भी टीका लिखी है जिसका परिचय दिया जा चुका है। कुछ लोग इन्हें वाग्भट का शिष्य मानते हैं, परन्तु ये वृद्ध वाग्भट के साक्षात् शिष्य समय की भिन्नता के कारण कथमपि नहीं हो सकते। इनका संभावित समय नवम शती है।

(३) **गयदास**—इन्होंने 'सौश्रुतपंजिका' नामक व्याख्या लिखी थी जिसका केवल निदान-स्थान अंशतः उपलब्ध है, शेष भाग नष्ट हो गया है। बंगाल के किसी अधिपति के ये अन्तरंग वैद्य थे और इस नरपति का नाम सम्भवतः महीपाल था।

(४) **चक्रपाणि**—इनकी 'भानुमती' नाम्नी टीका सुनी जाती है, पर इस समय उपलब्ध नहीं है। ये बंगाल के राजा नयपाल के राजवैद्य तथा प्रधान मन्त्री थे। ये राजा १०५० ईस्वी में राजगद्दी पर बैठे। फलतः चक्रपाणि का समय ११ शती का मध्यकाल था। इनकी चरकटीका अपनी प्रामाणिकता तथा प्रमेय-बहुलता के कारण नितान्त प्रख्यात है। ये गुण इनकी सुश्रुतटीका में भी अवश्य विद्यमान होंगे, परन्तु टीका के न मिलने से इसके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

(५) **डल्लण**—सुश्रुत के ये ही प्रौढ टीकाकार हैं जिनकी टीका प्रकाशित है तथा प्रसिद्ध है। टीका का नाम है—निबन्धसंग्रह। यह टीका अपने गुणों के कारण सर्वोत्तम मानी जाती है। ये भादानक प्रदेश में मथुरा के पास 'अंकाला' ग्राम में रहते थे। इनके पिता का नाम था भरतपाल, जो नृपालदेव के राजवैद्य थे। डल्लण इन्हीं नृपालदेव के पुत्र सहदेव के राजवैद्य थे। इनके समय का संकेत अनुमानतः किया जा सकता है। हेमाद्रि (१३ शती) ने इनके नाम का उल्लेख अपनी टीका में किया है, तथा इन्होंने स्वयं राजा लक्ष्मण सेन के सभापण्डित और ब्राह्मणसर्वस्व आदि ग्रन्थों के प्रणेता 'हलायुध' (१२ शती) का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। फलतः इनका समय १२वीं तथा १३वीं शती के मध्य में होना चाहिए। इनकी टीका बड़ी प्रौढ मानी जाती है जिससे सुश्रुत के मर्म समझने में बड़ी सरलता आती है। डल्लण का बंगभाषा से परिचय बहुत ही अधिक प्रतीत होता है। संस्कृत शब्दों का प्रतिशब्द इन्होंने बंगला में दिया है, जो बिल्कुल ठीक है[१]।

---

१. मूल ग्रन्थ तथा डल्लण की टीका का संस्करण निर्णय-सागर प्रेस से प्रकाशित है।

सुश्रुत का महत्त्व

आयुर्वेद के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए चरकसंहिता के समान सुश्रुतसंहिता का भी महत्त्वपूर्ण उपयोग है। सुश्रुतसंहिता शल्यचिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ है। किसी युग में औपधेनव, औरभ्र आदि तन्त्रों का प्रचुर प्रचार था, परन्तु आज ये ग्रन्थ अतीत की स्मृति बन गये हैं, और कतिपय वैद्यक ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणों के आधार पर जीवित हैं। इन तन्त्रों के कर्ता काशीपति दिवोदास के शिष्य थे। दिवोदास धन्वन्तरि के अवतार माने जाते हैं। इसीलिए शल्यचिकित्सकों का सामान्य नाम है धान्वन्तरीय (सर्जन)। इस परम्परा का सुश्रुत संहिता उसी प्रकार प्रधान ग्रन्थ है जिस प्रकार चरकसंहिता कायचिकित्सा का। सुश्रुत उस युग की सर्जरी का एक मौलिक ग्रन्थ है। सूत्रस्थान में (९।३-६) छेद्यकर्म, भेद्यकर्म, लेख्यकर्म, वेध्यकर्म, एष्यकर्म, आहार्यकर्म, विस्राव्य कर्म, सीव्यकर्म, बन्धनकर्म, कर्णसन्धि, बन्धकर्म, अग्निक्षारकर्म, नेत्रप्रणिधान, वस्तिकर्म का वर्णन अभ्यास करने की विधि के साथ किया गया है। सुश्रुत ने शरीर के अवयवों का वर्णन बड़ी छानबीन के साथ किया है जिससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने स्वतः अनुभव के आधार पर लिखा है। ग्रन्थकार जानता है कि शिरावेधन में कोई भी व्यक्ति बहुत पारंगत नहीं हो सकता, क्योंकि शिरायें तथा धमनियाँ मछली के समान चंचल हुआ करती हैं। इसलिए उनका वेधन बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए[1]।

इसी प्रकार घावों की सिलाई, सीने के प्रकार, घावों का बाँधना (व्रणबन्धन) तथा उसके चौदह प्रकार, पट्टी बाँधने के स्थान, आलेप तथा आलेपन, शल्यागार तथा उपयुक्त सामग्री आदि विषयों का वर्णन इतने सांगोपांग रूप से किया गया है कि प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार आधुनिक गवेषणाओं से भी पूर्ण परिचित है। चरक-संहिता की अपेक्षा सुश्रुतसंहिता के युग में ब्राह्मणधर्म पर विशेष जोर दिखलाई पड़ता है तथा वर्णव्यवस्था का विशेष साम्राज्य छाया हुआ था। जहाँ चरक ने शूद्रों को भी आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है, वहाँ सुश्रुत उन्हें इस अधिकार से वंचित रखते हैं। अन्य बहुत सी बातें इस सिद्धान्त की पोषक हैं। तथ्य यह है कि सुश्रुत चरक के पूरक हैं। दोनों का अध्ययन आयुर्वेद के ठोस ज्ञान के लिए मूलाधार है। इन दोनों में वैद्यक शास्त्र के इतने मौलिक तथ्य स्थान-स्थान पर संकेतित तथा विकीर्ण पड़े हुए हैं जिन्हें एकत्र कर इस विषय पर नये-नये अनुसन्धान भली-भांति किये जा सकते हैं।

---

1. शिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
   मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद् यत्नेन ताडयेत्॥

   (सुश्रुत, शा० ८।१०)

बावर हस्तलेख के वैद्यक ग्रन्थ

१८९० ई० बावर साहब को काशगर (मध्य एशिया) से अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की प्राप्ति हुई, जिसमें वैद्यक सम्बन्धी सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह पूरा संग्रह बावर हस्तलेख के नाम से विख्यात है जिसका विवरणात्मक संस्करण डा० हार्नली ने १९१४ ई० में इसी नाम से निकाला। लिपि की परीक्षा से ये ग्रन्थ निश्चय रूप से चतुर्थ शती के हैं। इसके सात ग्रन्थों में से प्रथम लघुकाय ग्रन्थ में लहसुन तथा उसके प्रयोग से उत्पन्न दीर्घजीविता का वर्णन किया गया है। दूसरे ग्रन्थ में एक सहस्र वर्ष तक जीने के लिए उपयोगी रसायन का वर्णन है तथा नेत्र रोग की उपयोगी चिकित्सा बतलाई गई है। तीसरे ग्रन्थ में अन्तः तथा बाह्य उपचार के लिए चौदह औषध-योगों का वर्णन है।

इनमें सबसे महत्त्वशाली ग्रन्थ है 'नावनीतक', जो विस्तार में अन्य लघुकाय ग्रन्थों की अपेक्षा बड़ा है। इसमें सोलह अध्याय हैं जिनमें चूर्ण, क्वाथ, तैल, रसायन, वाजीकरण औषध तथा अन्य योगों का वर्णन है। बाल-चिकित्सा के विषय में भी एक उपादेय ग्रन्थ यहाँ सम्मिलित है। इसमें आया हुआ 'लहसुनकल्प' काश्यपसंहिता के लहसुनकल्प तथा अष्टांगसंग्रह के लहसुनकल्प से मिलता है। इसमें चरक तथा सुश्रुत संहिता के वचन, जीवक आदि प्रसिद्ध विद्वानों के योग तथा भेलसंहिता के योग यहाँ संगृहीत हैं। यह एक संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है, जो उस समय के प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थों के आधार पर संगृहीत किया गया है। नावनीतक में कांकायन, आग्नेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेल तथा हारीत के नाम और वचन उद्धृत हैं। यहाँ सुश्रुत का नाम है, परन्तु चरक का नाम निर्दिष्ट नहीं है, तथापि ग्रन्थकार चरक से पूर्ण परिचित था और उसने उसकी संहिता का पर्याप्त उपयोग ग्रन्थ में किया है। ये ग्रन्थ छन्दोबद्ध हैं जिनमें नाना प्रकार के दीर्घवृत्तों का भी प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा प्राकृत-मिश्रित संस्कृत है और अवान्तर बौद्ध ग्रन्थों की भाषा से बहुत मिलती है। भाषा ऐसी है जिससे प्रतीत होता है कि प्राकृत लिखने का अभ्यासी पुरुष संस्कृत में ग्रन्थ लिख रहा हो। शामयति के स्थान पर शमेति, शामयन्ति के स्थान पर शमेन्ति; धावित्वा के स्थान पर धोवित्वा, आमिशोदन के स्थान पर आमिशौदन प्राकृत रूप नावनीतक में विद्यमान हैं। पूर्वी तुर्किस्तान से भी बहुत से औषध-योगों का संग्रह मिला है। उसमें भी इसी तरह की प्राकृत-मिश्रित संस्कृत का प्रयोग किया गया है। ऐसी भाषा के प्रयोग में कुछ आश्चर्य भी नहीं होता, क्योंकि वहाँ के वैद्य संस्कृत भाषा की सूक्ष्म बारीकियों से परिचित न होने के कारण ऐसी मनगढ़ संस्कृत लिखने के अभ्यासी प्रतीत होते हैं। ऐसी संस्कृत का प्रयोग अनेक बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है जिसे आजकल के विद्वान् 'मिश्रित संस्कृत' (हाईब्रीड संस्कृत) के नाम से पुकारते हैं। अतः सम्भावना यह है कि इन ग्रन्थों के संकलनकर्ता बौद्ध थे।

वाग्भट

वाग्भट की चार रचनायें प्रख्यात हैं—

(१) **अष्टांगसंग्रह**—(जिसका नाम वृद्ध वाग्भट है)।

(२) **मध्यसंहिता**—(इसका नाम मध्यवाग्भट है। परन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है)।

(३) **अष्टांगहृदय**—(यह 'स्वल्प वाग्भट' के नाम से प्रख्यात है)।

(४) **रसरत्नसमुच्चय**—('रस वाग्भट' के नाम से प्रसिद्ध)। इनमें तीनों ग्रन्थ बहुत पहिले ही प्रकाशित हो चुके हैं। अष्टांगसंग्रह गद्यपद्य संवलित है जिसमें ६ स्थान तथा १५० अध्याय हैं[1]। बारह सहस्र श्लोक के होने से यह 'द्वादश-साहस्री' के नाम से प्रख्यात है। अष्टांगहृदय—विशुद्ध पद्यबद्ध है। स्थान वे ही छः हैं, परन्तु अध्यायों की संख्या केवल १२० है। सम्भवतः यह 'अष्टसाहस्री' के नाम से प्रसिद्ध है। मध्यवाग्भट की संज्ञा सम्भवतः 'दशसाहस्री' रही होगी। रसरत्नसमुच्चय पूना के आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला में प्रकाशित है। अष्टांगहृदय (७४४४ श्लोक) पद्यबद्ध होने के कारण संग्रह की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक है। इसके ऊपर ३५ टीकाओं की सत्ता विद्यमान है जिनमें हेमाद्रि तथा अरुणदत्त की टीकायें नितान्त प्रसिद्ध हैं।

मध्यसंहिता की पृथक् सत्ता

वाग्भट के नाम से प्रख्यात तीन ग्रन्थ प्रकाशित हैं, परन्तु 'मध्यसंहिता' के अस्तित्व के निमित्त प्रमाणों की अपेक्षा है। इस ग्रन्थ के अस्तित्व का तथा स्वातन्त्र्य का प्रमाण निश्चलकर (१११०—११२० ई०) के ग्रन्थ 'रत्नप्रभा' से सिद्ध होता है जिसमें वाग्भट के इतर दोनों ग्रन्थों के उद्धरण के साथ में मध्यसंहिता से भी प्रभूत उद्धरण दिये गये हैं। एक दो उद्धरणों की भी समीक्षा इसका स्पष्ट प्रमाण है—

(१) निश्चलकर ने एक ही विषय में वृद्ध वाग्भट तथा मध्य वाग्भट के वचनों को पृथक् रूप से उद्धृत किया है—

अत्रान्तरे सर्वज्वरशान्तये वृद्धवाग्भटवाक्यं द्रष्टव्यं × × × वाग्भटमुने-र्मध्यसंहितायामपि तद्वाक्यं स्मर्तव्यम्।

(२) उक्तं च वाग्भटगुप्तेन मध्यसंहितायाम्—भल्लातकानि तीक्ष्णानि……… तैलाभ्यङ्गानि सेवनात्।

---

१. इन्दु रचित शशिलेखा व्याख्या के साथ तीन खण्डों में प्रकाशित, त्रिचूर, १९१३—२४।

२. अरुणदत्त की टीका के साथ प्रकाशित (निर्णय-सागर प्रेस, १८९१ ई०)

यहाँ तीन श्लोक उद्धृत हैं जो संग्रह में (उत्तर, अ० ४६) तथा हृदय (अ० ३६) में उसी रूप में उपलब्ध होते हैं।

(३) यदुक्तं मध्यवाग्भटे—अर्शोऽतीसारग्रहणीविकारा ....सहसा व्रजन्ति।

यह श्लोक संग्रह तथा हृदय दोनों ही ग्रन्थों में उपलब्ध है।

ये तो पद्यात्मक उद्धरण हैं, अनेक गद्यात्मक उद्धरण भी इस ग्रन्थ में मिलते हैं। "मध्यवाग्भटे पित्तजेषु" आदि। यह गद्य-संग्रह (तृतीय भाग, पृ० १६०) में उपलब्ध है। इसका निष्कर्ष यह है कि 'मध्यसंहिता' नामक वाग्भट की रचना निःसन्देह १२वीं शती में उपलब्ध थी और यह संग्रह के समान ही गद्य-पद्य उभय रूप में थी। परिमाण में बृहदाकार अष्टांगसंग्रह से न्यून तथा स्वल्पाकार अष्टांगहृदय से बड़ा होने के कारण ही यह ग्रन्थ 'मध्यसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध था। पद्यबद्ध 'हृदय' की समधिक लोकप्रियता ने इसका प्रचार ही निरस्त कर दिया और इसी हेतु यह ग्रन्थ पठन-पाठन से लुप्तप्राय हो गया।

वाग्भट एक ही ग्रन्थकार

तीनों ग्रन्थों के विभिन्न आकार के कारण ही उनके रचयिता वाग्भट तीन नामों से पुकारे गये हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ये तीनों ग्रन्थकार एक ही थे या भिन्न-भिन्न ? अनेक आलोचकों ने संग्रह तथा हृदय के तथ्यों में विरोध दिखला कर उनके कर्ताओं में भी पार्थक्य दिखलाने का प्रयास किया है, परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त असमीचीन है। इनके ऐक्य-साधक कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) निश्चलकर ने तीनों वाग्भटों का निर्देश करते समय कभी उनके पार्थक्य का उल्लेख नहीं किया है। उनकी दृष्टि में ये तीनों एक ही ग्रन्थकार थे, यह तथ्य उनके उद्धरणों की परीक्षा भली-भाँति सिद्ध करती है। 'कण्ठरोध' के विषय में उन्होंने एक स्थान पर 'स्वल्पवाग्भटस्य' लिखकर उद्धृत पद्य के आधारस्थल 'अष्टांगहृदय' की ओर संकेत किया है। इस स्थान पर 'पटोलशुण्ठीत्रिफला विशाला' पद्य के विषय में 'वाग्भटस्य' निर्देश किया है, यद्यपि यह पद्य संग्रह में न मिलकर अष्टाङ्गहृदय में ही मिलता है। निष्कर्ष यही है कि वे हृदय के कर्ता को संग्रह के कर्ता से भिन्न नहीं मानते थे।

(२) चक्रपाणि ने ज्वर के प्रसंग में 'इत्याह वाग्भटः' कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो संग्रह तथा हृदय दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

(३) इन्दु कश्मीर के निवासी थे और ११वीं शती में विद्यमान थे। इन्होंने अष्टांगसंग्रह की व्याख्या 'शशिलेखा' नाम से किया है। इसके पृ० ११७ पर इन्होंने दोनों की एकता स्पष्टतः स्वीकृत की है।

(४) चन्द्रनन्दन ने (जो अष्टांग हृदय के प्राचीनतम व्याख्याकार हैं) अपनी टीका के अनेक स्थलों पर हृदय तथा संग्रह के कर्ताओं को एक ही माना है—

तथा च संग्रहे प्रोक्तमाचार्येण (पृ० १०२);
तथा च संग्रहेऽप्युक्तमाचार्येण (पृ० ४७६)।

आचार्य शब्द से ग्रन्थकार का ही उल्लेख यहाँ अभिमत है। व्याख्याकार का आशय है कि हृदय के निर्माता ने ही संग्रह में भी यह मत व्यक्त किया था। फलतः दोनों के लेखकों को वे एक ही व्यक्ति मानते थे।

(५) अरुणदत्त भी दोनों के ऐक्य मानने के ही पक्ष में हैं। हृदय की व्याख्या करते समय अनेकत्र इन्होंने ग्रन्थकार के संग्रहस्थ मत का निर्देश किया है। "तथा ह्ययमेव तन्त्रकारः संग्रहे मधुनो भेदानाख्यत्" (पृ० ३९)। इससे स्पष्टतर उक्ति क्या हो सकती है? हृदय के लेखक स्वयं वाग्भट ने संग्रह में मधु के भेदों को बताया है—यह कथन स्पष्टतः दोनों ग्रन्थों को एक ही व्यक्ति की रचना मानता है।

इतने सुदृढ प्रमाणों के होने पर अनेक वाग्भटों की कल्पना करना नितान्त अनुचित है। संग्रह तथा हृदय के वचनों में विरोध दिखलाकर लेखक का पार्थक्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। नागोजी भट्ट ने व्याकरणतन्त्र में बृहत्-मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा तथा परमलघुमञ्जूषा नामक तीन ग्रन्थों की रचना की है। इनके सिद्धान्तों में कहीं-कहीं विरोध होने पर भी क्या ग्रन्थकार की विभिन्नता मानी जाती है? फलतः तथ्य यही है कि वाग्भट नामक एक ही ग्रन्थकार ने इन तीनों ग्रन्थों का कालान्तर से प्रणयन किया था। इस प्रकार वाग्भट की एकता में सन्देह का लेश भी नहीं होना चाहिए।

अष्टांगहृदय के अन्तिम अंश के अनुशीलन से भी स्पष्ट हो जाता है कि संग्रह को ही अल्प प्रयास से सीखने वालों के लिए ही हृदय का निर्माण किया गया है। दोनों के रचयिताओं का ऐक्य भी भली-भाँति समर्थित होता है—

अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥

(अष्टांगहृदय, षष्ठ-स्थान, ४०। ८०)

इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पृथक् तन्त्र (ग्रन्थ) की रचना का उद्देश्य 'अल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थम्' है। इससे संग्रह तथा हृदय के निर्माताओं की अभिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है।

'रसरत्नसमुच्चय', जो सुभीते के लिए 'रसवाग्भट' के नाम से वैद्यों में प्रख्यात है, इसी वाग्भट की रचना है। इसके प्रणेता वाग्भट ने अपने को सिंहगुप्त का पुत्र

लिखा है जिससे संग्रह तथा हृदय के रचयिता के साथ उनकी अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। तीसट के पुत्र चन्द्रट ने अपने 'योगरत्नसमुच्चय' में 'रसवाग्भट' के नाम से जो उद्धरण दिया है वह रसरत्नसमुच्चय में उपलब्ध होता है। इनके द्वारा अपने ग्रन्थ के आधार ग्रन्थों में रसवाग्भट के साथ वाग्भट का तथा वृद्धवाहड (वाग्भट का यह प्राकृतभाषाजन्य अभिधान है) का एकत्र निर्देश इसका स्पष्ट प्रमाण है कि ये तीनों एक ही ग्रन्थकार के नाम हैं। फलतः 'रसरत्नसमुच्चय' भी वाग्भट की ही निःसन्देह कृति है।

वाग्भट का देश-काल

वाग्भट ने स्वयं अपने जन्मस्थान का निर्देश किया है—'सिन्धुषु लब्धजन्मा' (संग्रह, उत्तरतन्त्र, अ० ५०) जिससे उनका जन्मस्थान सिन्धु प्रदेश निश्चयेन प्रतीत होता है। निश्चल ने उन्हें 'मुनि' और एक बार 'राजर्षि' भी कहा है। जज्जट की टीका के अनुसार ये 'महाजह्लुपति' कहे गये हैं। ये जज्जट वाग्भट के ही शिष्य थे। अत एव उनका प्रामाण्य सर्वतोभावेन मान्य है। यह 'महाजनु' सिन्ध का कोई प्रदेश जान पड़ता है। एक विद्वान् ने कराची जिले में हैदराबाद से पचास मील की दूरी पर सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित 'महजन्ड' नामक परगने के नाम में इसे पहिचाना है। वाग्भट यहीं के शासक थे।

वाग्भट वैदिकमतानुयायी थे, परन्तु बुद्धमत के प्रति इनकी आस्था कम न थी। इसलिए चिकित्सा के लिए उन्होंने बौद्ध देवी-देवता की उपासना भी लाभप्रद बतलाई है। सब ज्वरों की निवृत्ति के लिए इन्होंने आर्य अवलोकितेश्वर, पर्णशवरी, अपराजिता तथा आर्यतारा को प्रणाम करने का उपदेश दिया है—

आर्यावलोकितं पर्णशबरीमपराजिताम्।
प्रणमेदार्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये॥

मायूरी, महामायूरी तथा रत्नकेतु जैसे बौद्ध स्तोत्रों के पढ़ने की भी शिक्षा दी गई है, जिसमें इन्दु के अनुसार मायूरी सात सौ पद्यों का तथा महामायूरी चार हजार श्लोकों का स्तोत्र था। निश्चल ने वाग्भटोक्त कथनों में यह श्लोक उद्धृत किया है—

बोधिचर्यावतारोक्तं कामशोकादिनिन्दितम्।
आतुरं श्रावयेद् धीमान् बोधयेच्च मुहुर्मुहुः॥

बोधिचर्यावतार शान्तिदेव की प्रसिद्ध रचना सप्तम शती के मध्य में रची गई थी। यह श्लोक सम्भवतः मध्यवाग्भट का है, जो आज उपलब्ध नहीं है। फलतः वाग्भट का समय इस काल के पश्चात् ही होना चाहिए—८०० ई० के पीछे।

चक्रपाणि ने चन्द्रट को (योगरत्नसमुच्चय के प्रणेता को) अपने आधार स्थलों में अन्यतम माना है। चक्रदत्त की रचना ११ शती के पूर्वार्ध में कभी हुई थी। चन्द्रट

इनसे प्राचीन होने चाहिए। चन्द्रट ने ही रसवाग्भट तथा अन्य वाग्भटों का निर्देश अपने समुच्चय में किया है। फलतः इनका समय १०वीं शती होना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट का आविर्भाव काल शान्तिदेव से पीछे तथा चन्द्रट से पूर्व होना चाहिए—नवम शती का मध्य काल (८०० ई० से लेकर ८५० तक।)

पलाण्डुकल्प[1] के प्रसंग में शकाधिपति का निर्देश इस कालनिश्चय में कथमपि बाधक नहीं हो सकता। यह तो इतिहास-प्रसिद्ध घटना है कि कुषाण लोग शक थे, परन्तु कालान्तर मे शक शब्द का बहुत व्यापक प्रयोग होने लगा और यह समस्त आर्येतर जातियों—अर्थात् म्लेच्छों के लिए प्रयुक्त होने लगा। यहाँ शक का संकेत मुसलमानों की ओर है, जो वाग्भट के समय तक सिन्ध प्रान्त में अरव से आकर बस गये थे।[2] वाग्भट के ये तीनों ग्रन्थ वैद्यकशास्त्र के जाज्वल्यमान रत्न हैं और इसीलिए तो वाग्भट से अनभिज्ञ वैद्य की सर्वत्र निन्दा की गई है—

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः।
चरके चतुरो नैव स वैद्यः किं करिष्यति॥

वाग्भट के ग्रन्थों में कहीं भी अवैदिक तथ्यों का सन्निवेश नहीं पाया जाता। ये बड़े प्रतिभावान् तथा व्यवहारकुशल भिषक् थे। इनके विचार बड़े ही उदात्त थे। सदाचार के वर्णन में ये बड़े अनुभवी थे। काष्ठौषधि के प्रयोग के साथ रसौषधि के प्रयोग को इन्होंने आवश्यक तथा उपादेय माना है। इनके समय में रसौषधों का प्रयोग वैद्यकशास्त्र में सर्वथा मान्य हो गया था। ये रूढिवादिता के सर्वथा विरोधी थे और सब स्थानों से ज्ञानसंग्रह के पक्ष में थे। इसीलिए इन्होंने कुछ आवेश में आकर लिखा है कि यदि पुराने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में ही अनुराग है, तो चरक, सुश्रुत को छोड़कर भेड आदि प्राचीन ग्रन्थकारों की रचनायें क्यों नहीं पढ़ते? सुभाषित ही ग्राह्य होता है, चाहे वह कहीं से आया हो। यह उक्ति वाग्भट के विशाल दृष्टिकोण की परिचायिका है—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥
(हृदय, उत्तर ४०।४४)

---

१. रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥
(संग्रह, उत्तर, ४१ अ०)

२. वाग्भट के प्रामाणिक विवरण देने का श्रेय डा० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य को है। लेखक इनका विशेष ऋणी है। उनके मत के लिए द्रष्टव्य—एनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्सिच्यूट पूना, भाग २८, (१९४७), पृष्ठ ११२—१२७।

प्राचीन संहिताग्रन्थों में भेडसंहिता तथा काश्यपसंहिता का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। अग्निवेश के समान ही भेल (या भेड) भी आत्रेय के शिष्य थे। फलतः इनकी संहिता विषयों के वर्णन में तथा क्रमविन्यास में 'चरकसंहिता' से बहुत अधिक मिलती है। भेलसंहिता के प्रत्येक 'स्थान' में अध्यायों की संख्या भी चरकसंहिता के समान ही है। विमान, सिद्धि तथा इन्द्रिय आदि शब्द भी दोनों में एक ही पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत किये गये हैं। इस प्रकार दोनों संहिताओं में बहुत कुछ समानता है, परन्तु चरक की अपेक्षा भेलसंहिता छोटी और अधिक गद्यात्मक है।

काश्यपसंहिता[1] भी प्राचीन संहिताओं में अन्यतम है। कौमारभृत्य का स्वतन्त्र तथा विस्तार रूप से वर्णन करनेवाला यही ग्रन्थ है। यह भी अध्याय तथा विषयों के क्रम में चरकसंहिता से बहुत मिलता है। इन तीनों संहिताओं की योजना एक प्रकार की ही है।

शार्ङ्गधर—इनके द्वारा रचित शार्ङ्गधरसंहिता आज वैद्यक का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके ऊपर आढमल्ल तथा काशीराम ने टीकायें लिखी हैं, जो निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हैं। इनके पिता का नाम दामोदर था। शाकम्भरी देश में चहुआण-वंशी राजा हम्मीर की सभा में दामोदर नामक पण्डित रहते थे। उन्हीं के मध्यम पुत्र शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' नामक प्रख्यात सूक्तिग्रन्थ की रचना की है। वैद्य तथा कवि दोनों शार्ङ्गधर एक ही व्यक्ति हैं। सोमदेव के द्वारा शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका-प्रणयन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार १३ वीं शती से प्राचीन व्यक्ति है। अहिफेन (अफीम) का वर्णन मुसलमानों के प्रभाव का सूचक है।

ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के विषय हैं—माप और तौल, औषध की सम्पत्ति, ऋतु सम्वत्सर सिद्धान्त, शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया। अन्तिम ७ तम अध्याय (२०४ श्लोक) में रोगों की उपभेदों के साथ एक लम्बी नामावली है। द्वितीय खण्ड में क्वाथ, यूष, फाण्ट, अवलेह, वटिका आदि का वर्णन है। १२ वें अध्याय में पारद की शुद्धि तथा ज्वर आदि रोगों के लिए उपयुक्त वसन्तकुसुमाकर, राजमृगाङ्क आदि प्रस्तुत रसौषध के प्रयोग का सुन्दर विवरण है। तृतीय खण्ड में सामान्य उपचार का वर्णन है। नाडी-परीक्षा का वर्णन इस ग्रन्थ की विशिष्टता है, क्योंकि नाडी के द्वारा रोग की पहिचान अन्य प्राचीन संहिताओं में कहीं भी वर्णित नहीं है। थोड़े में बहुत सी आवश्यक बातों का कथन ग्रन्थ की उपयोगिता का निदर्शन है और इसीलिये यह ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय तथा प्रख्यात है।

---

१. 'भेडसंहिता' का सम्पादन कर सर आशुतोष मुकुर्जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है। 'काश्यपसंहिता' का सुन्दर संस्करण पाण्डित्यपूर्ण विशद भूमिका के साथ राजगुरु हेमराज शर्मा के प्रयास का परिणाम है।

माधव का माधव-निदान

माधवनिदान का वास्तव नाम तो है रुग्विनिश्चय (रोगनिश्चय), परन्तु, ग्रन्थकर्ता तथा प्रतिपाद्य विषय के नाम पर इसका लोकप्रिय अभिधान है—माधव-निदान। इस ग्रन्थ में ७९ रोगों के निदान (आदि कारण) का बड़ा ही सुन्दर तथा उपादेय विवरण है। आधार मुख्यतया चरक तथा सुश्रुत हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थों में निदान का वर्णन विद्यमान ही है। ग्रन्थकर्ता ने अपने विशाल अनुभव से भी काम लिया है और इसीलिए यह ग्रन्थ अपने विषय का मुख्य स्वतन्त्र ग्रन्थ है। वृन्द ने 'सिद्धयोग' में रोगों का क्रम इसी ग्रन्थ के आधार पर रखा है, फलतः इनका समय वृन्द से प्राचीन है। ग्रन्थ का विपुल प्रचार होने से इसके ऊपर अनेक टीकायें भी बनती गईं जिनमें विजयरक्षित की मधुकोष व्याख्या तथा श्रीकण्ठदत्त का आतंकदर्पण विशेष प्रख्यात तथा प्रचलित हैं[1]। ये टीकायें १५वीं शती की प्रतीत होती हैं।

इन दोनों टीकाओं में मधुकोष व्याख्या अपने पाण्डित्य तथा प्रामाण्य के विषय में अलौकिक है। मूल के सूत्रात्मक दार्शनिक तत्त्वों को मधुकोष में तत्तद् प्रमाणों के उपबृंहण के साथ इतनी सुन्दरता से दिखलाया गया है कि यह टीका दार्शनिक तथ्यों से ओतप्रोत है। मधुकोष का ज्ञान प्रवीण वैद्य की विद्वत्ता का प्रकृष्ट प्रमाण माना जाता था और आज भी ऐसी ही स्थिति है। मूल लेखक माधव का पूरा नाम माधवकर है और वे सम्भवतः महाराष्ट्र के निवासी प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ की विपुल प्रसिद्धि के कारण इसका अनुवाद चरक तथा सुश्रुत के साथ हारून तथा मंसूर नामक अरब के राजाओं के राजकाल में (७७३ ई०) अरबी भाषा में हुआ था। हारून-अल-रशीद के दरबार में संस्कृतशास्त्र के जानने वाले दो विशेषज्ञ थे—मंका नामक राजवैद्य तथा अल-अराबी नामक वैयाकरण। इन दोनों ने मिलकर 'माधवनिदान' का ८ शती के मध्य काल में अरबी भाषा में अनुवाद किया था। फलतः माधवनिदान का निर्माण काल ८ शती से प्राचीन है। सम्भवतः ६ शती तथा ७ शती के बीच यह लिखा गया।

मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने चिकित्सा के उपयोगी संग्रह-ग्रन्थों का निर्माण कर साधारण पाठकों के लिए वैद्यक को सुलभ बना दिया। ऐसे ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ (१) वृन्द का सिद्धयोग (या वृन्दमाधव) प्रतीत होता है। इसमें ज्वर से लेकर वाजीकरण तक सब रोगों की चिकित्सा वर्णित है। हेमाद्रि ने 'अष्टांगहृदय' की टीका में वृन्द के अनेक वचनों को उद्धृत किया है। शार्ङ्गधरसंहिता में भी वृन्द के अनेक उद्धरण हैं। यहाँ पारद के योग कम हैं। वृन्द ने रोगों के क्रम को

---

१. इन दोनों टीकाओं के साथ ग्रन्थ निर्णय-सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है।

'माधवनिदान' से ग्रहण किया है। हेमाद्रि के द्वारा उद्धृत होने के कारण वृन्द का समय १३ वीं शती से पहिले ही है। इस ग्रन्थ की श्रीकंठ रचित टीका में भी चरक, सुश्रुत, वाग्भट, माधवनिदान से बहुत से उद्धरण दिये गये हैं। श्रीकण्ठ डल्हण, चक्रपाणि तथा हेमाद्रि से प्राचीन प्रतीत होते हैं[1]।

इस तरह का दूसरा ग्रन्थ है चक्रदत्त, जिसके लेखक (२) चक्रपाणि या चक्रपाणिदत्त चरकसंहिता के भी प्रख्यात टीकाकार हैं। इनकी 'सुश्रुतसंहिता' पर 'भानुमती' व्याख्या भी केवल सूत्रस्थान पर प्रकाशित हुई है। चक्रपाणि ने 'चक्रदत्त' तथा द्रव्य-गुणसंग्रह जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना कर हमारा बड़ा उपकार किया है। इनके पिता नारायण बंगाल के राजा जयपाल की पाकशाला के अध्यक्ष थे। इनका समय ११वीं शती का मध्यकाल है। चक्रदत्त का वास्तविक नाम चिकित्सा-संग्रह है, जो वृन्द के पूर्वोक्त ग्रन्थ को आदर्श मानकर लिखा गया है। इनके दोनों ग्रन्थों के ऊपर शिवदास सेन (अनन्त के पुत्र) ने टीकायें लिखी हैं। चक्रदत्त में अफीम का उल्लेख नहीं है और न नाडीपरीक्षा का वर्णन है। ये बातें ग्रन्थ की प्राचीनता की द्योतक हैं। चक्रदत्त में वृन्द की अपेक्षा पारद के योग संख्या में अधिक हैं। बंगाल में इस ग्रन्थ का बहुत अधिक प्रचार है।

इस विषय का तीसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है—चिकित्सा-सारसंग्रह, जो अपने रचयिता के नामपर वंगसेन के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें चिकित्सा तथा अन्य उपचार विस्तार से दिये गये हैं। लौह भस्म वनाने तथा पारद के औषध-निर्माण का सुन्दर विवरण है। पारद के मुख्य योग 'रसपर्पटी' का उल्लेख यहाँ मिलता है। ग्रन्थ का मुख्य आधार वृन्द का सिद्धयोग तथा चक्रदत्त ही है, यद्यपि अतिसार के विषय में छः श्लोक 'नावनीतक' से भी मिलते हैं। वंगसेन की रचना का काल चतुर्दश शती का आरम्भ है। सुनते हैं यह ग्रन्थ दो वार लिखा गया १२०६ ई० में पहिली बार तथा १३२० ई० में दूसरी बार लिखा गया। इन तीनों ग्रन्थों में चिकित्सा का विषय बड़ी सुन्दरता से वर्णित है और यही इन ग्रन्थों की सफलता तथा प्रचार का रहस्य है।

मध्ययुगीय ग्रन्थकार

मध्ययुग में अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने वैद्यक के विषय को बड़ा ही उपयोगी तथा सरल बना दिया है। इनमें से प्रसिद्ध ग्रन्थकारों का सामान्यतः उल्लेख किया जा रहा है—

(क) बोपदेव तथा उनके आश्रयदाता हेमाद्रि (१३०९ ई०) ने वैद्यक ग्रन्थों को टीकायें लिखी हैं—बोपदेव ने शार्ङ्गधरपद्धति पर तथा हेमाद्रि ने वाग्भट के अष्टांगहृदय पर। बोपदेव ने 'शतश्लोकी' नामक ग्रन्थ में चूर्ण तथा बटी आदि का

---

१. श्रीकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित।

विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। (ख) कायस्थ चामुण्ड ने 'ज्वरतिमिरभास्कर' १४८९ ई० में ज्वर के ऊपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें सन्निपात ज्वर का विशेष विस्तृत वर्णन है। (ग) वीरसिंहावलोक इससे प्राचीन है। इसमें भी चिकित्सा का विस्तृत विवरण है, इसके रचयिता वीरसिंह एक राजकुमार थे जिन्होंने १३८३ ई० में इस लोकप्रिय ग्रन्थ का निर्माण किया था। (घ) इस ग्रन्थ के उल्लिखित होने के कारण तीसटाचार्य की 'चिकित्साकलिका' इससे अवश्य प्राचीन है। इसमें नाडीपरीक्षा का भी वर्णन है। भोजराज का उल्लेख होने से तीसट ११ शती के बाद तथा १४वीं शती से प्राचीन ग्रन्थकार हैं। इनका समय १२वीं शती मानना उचित प्रतीत होता है।

(ङ) मुगलकालीन ग्रन्थकारों में भावमिश्र की गणना की जा सकती है। इनका ग्रन्थ भावप्रकाश विस्तृत तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमें गरमी-सुजाक रोग का उल्लेख 'फिरंग रोग' के नाम से है, जो यूरोपीय लोगों के सम्पर्क में आने पर इस देश में भी प्रथम बार आया। इसकी दवा कबाबचीनी या शीतलचीनी है जो १५३५ ई० के आसपास विदेशों से भारतवर्ष में आने लगी थी। फलतः भावप्रकाश १६वीं शती की रचना है। इस ग्रन्थ में 'शार्ङ्गधरसंहिता' के योग मिलते हैं। अतः भावमिश्र शार्ङ्गधर से अर्वाचीन हैं। इस ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं— पूर्व खण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति, गर्भरचना, शरीरविज्ञान, कौमारभृत्य तथा निघण्टु का वर्णन है। मध्य खण्ड में निदान तथा चिकित्सा की विवेचना है। उत्तर खण्ड में वाजीकरण और अवलेह दिये गये हैं। भावप्रकाश का निघण्टुवाला अध्याय बहुत ही विस्तृत, व्यापक तथा विशेष उपयोगी है।

(च) इसी युग की इसी पद्धति पर निर्मित एक अन्य रचना है—टोडरानन्द (आयुर्वेदसौख्य) जिसको अकबर के राजस्वमन्त्री प्रसिद्ध टोडरमल ने विद्वानों के द्वारा बनवाया था। टोडरमल हिन्दुत्व के विशेष अभिमानी थे। इनकी प्रेरणा से लिखा गया टोडरानन्द नामक स्मृति ग्रन्थ दूसरा स्पष्ट प्रमाण है। (छ) लोलम्बिराज का वैद्यजीवन साहित्य की सरस शैली में आयुर्वेद का वर्णन करता है। इसमें अनुभूत योगों का संग्रह है। ग्रन्थ का रचनाकाल १७ वीं शती है। (ज) माधव का आयुर्वेदप्रकाश (१७८६ ई०), (झ) त्रिमल्ल की योगतरंगिणी (१७६१ ई०), (ञ) गोविन्द दास की भैषज्यरत्नावली (जो उत्तम योगों का संग्रह होने से आज भी लोकप्रिय है)—ये सब ग्रन्थ १८वीं शती की कृतियाँ हैं और इस बात का साक्ष्य उपस्थित करती हैं कि आयुर्वेद की प्रभा इस विकट परिस्थिति में भी क्षीण नहीं हुई। उसका अध्ययन-अध्यापन चलता ही रहा।

वर्तमान युग आयुर्वेद के पुनरुद्धार का युग माना जा रहा है और चारों ओर आयुर्वेद के प्रचार तथा प्रसार के विपुल प्रयास किये जा रहे हैं। एलोपैथी

चिकित्सा का इतना प्रभाव है कि वह आयुर्वेद के ऊपर अपना प्रभाव जमाये बैठी है। दोनों के संमिश्रण और सन्धि का यह काल है। आवश्यकता इस बात की है कि इस नवीन युग में अनुसन्धान कर्ता प्राचीन आयुर्वेद के तत्त्वों का वैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन करें। कहीं ऐसा न हो कि शुद्ध आयुर्वेद का ज्ञान अधिक परिश्रम—साध्य होने से इस होड़ तथा संघर्ष में बिल्कुल ह्रास को प्राप्त हो जाय। भगवान् धन्वन्तरि आयुर्वेद को इस दुर्दिन से बचावें !!!

अन्य चिकित्सा पर आयुर्वेद का प्रभाव

आयुर्वेद का प्रभाव भारत के पड़ोसी देशों की चिकित्सा-पद्धति पर विशेष रूप से पड़ा है। आठवीं तथा नौवीं शती के आसपास अनेक वैद्यक ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ, जिससे तिब्बतीय चिकित्सा के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत के ही हैं। त्रिदोष की कल्पना, गोशृंग का रक्तमोक्षण के लिए उपयोग, गर्भावस्था में गर्भ के लिंग की पहिचान और अनेक भारतीय ओषधियों का प्रयोग तिब्बती चिकित्सा को हमारी देन है। तिब्बत से पहिले ही लंका में आयुर्वेद ने बौद्धधर्म के साथ-साथ प्रवेश किया और आजकल सिंहल के वैद्यक-ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विरचित हैं। पूर्वी द्वीपसमूह में भी भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ आयुर्वेद ने प्रवेश किया। सुश्रुत की प्रसिद्धि नवम शती में कम्बोज देश में पहुँच चुकी थी। इसलिए इन देशों में और ब्रह्मा में भी भारतीय वैद्यक आज भी आधारभूत चिकित्सा-पद्धति है। अरब तथा फारस की भाषा में भी चरक तथा सुश्रुत के अनुवाद की नौवीं तथा दसवीं शती में किये जाने की प्रसिद्धि है। जब इन देशों से विशेष आवागमन होने लगा, तब इन देशों की वस्तुओं का भी उपयोग भारतीय वैद्यों ने करना आरम्भ किया और अपने ग्रन्थों में इनका विवरण भी प्रस्तुत किया। 'पारसीक यवानी' का प्रयोग सिद्ध योगों में किया जाने लगा। हींग का उपयोग तो दवा के लिए बहुत पहिले से भारत में होता आया है, क्योंकि चरक और सुश्रुत में इसका वर्णन मिलता है। अफीम का प्रयोग तथा नाडी-परीक्षा की पद्धति अरब तथा फारस से ली गई मानी जाती है। नाडीविषयक ग्रन्थ के रचयिता होने का श्रेय किसी 'रावण' को है और यह निर्देश भी शायद बाहरी प्रभाव का द्योतक हो सकता है, परन्तु इन देशों की चिकित्सा पर भारतीय पद्धति के प्रचुर प्रभाव की अवहेलना नहीं की जा सकती।

भारतीय तथा यूनानी वैद्यक—तुलना

पाश्चात्त्य विद्वानों ने भारतीय चिकित्सा तथा यूनानी चिकित्सा के साम्य तथा वैषम्य का पर्याप्त विवेचन किया है। इस विषय में जर्मन विद्वान् जौली (Jolly) का एतद्विषयक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। दोनों पद्धतियों में बहुत ही अधिक समता है। (१) वात-पित्त-कफ, अर्थात् त्रिदोष का सिद्धान्त दोनों देशों में

मिलता है। इनके समन्वय रहने पर स्वास्थ्य है तथा समन्वय न रहने पर रोग होता है। (२) ज्वर तथा अन्य व्याधियों की तीन स्थितियाँ मानी जाती हैं। चरक में ज्वर का पूर्वरूप, ज्वर का अधिष्ठान तथा ज्वर का प्रत्यात्मिक लिंग अथवा ज्वर की आमावस्था, पच्यमान अवस्था तथा पक्वावस्था का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार यूनानी चिकित्सा में इनके सूचक तीन शब्द हैं (apesia, pesis तथा krisis)। (३) औषधों का शीत तथा उष्ण, शुष्क तथा स्निग्ध रूप में विभाजन। (४) विरोधी द्रव्यों का प्रयोग रोग के उपशम के लिए दोनों को अभीष्ट है। (५) हिप्पोक्रेटीज के समान ही रोग-लक्षण का परीक्षण (Prognosis)। (६) यूनानी वैद्यों से कराई गई प्रतिज्ञा चरक में वैद्यों को दिये गये उपदेश से बिल्कुल मिलती है (द्रष्टव्य—चरक-संहिता, विमानस्थान, ८ अध्याय); (७) दोनों में ऋतुओं का स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव मानते हैं। (८) अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वरों का प्रभेद, यक्ष्मा का विशेष विवेचन, गर्भस्थिति का समान वर्णन, आठवें मास में गर्भ में ओज आने (viability) का वर्णन (सातवें महीने में नहीं), मृतगर्भ को शंकु के द्वारा खींचकर बाहर निकालना, रक्तमोक्षण की विधि दोनों में समानरूप से मिलती है। जलौका (जोंक) लगाने की विधि में सुश्रुत ने 'यवन' देश का उल्लेख किया है[1] जिससे सम्भव है यूनानियों की ओर संकेत हो। शल्यतन्त्र की पद्धति तथा तदुपयोगी अनेक औजारों में भी समानता दीख पड़ती है। इन समानताओं को दृष्टि में रखकर कुछ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय आयुर्वेद पर यूनानी प्रभाव मानने के पक्षपाती हैं, परन्तु अन्य अन्वेषक इससे ठीक विपरीत दिशा में निर्णय करते हैं।

डाक्टर कीथ का कहना है कि वात, पित्त तथा कफ का सिद्धान्त सांख्यों के त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) के आधार पर कल्पित किया गया है और वह पूर्णतया भारतीय है। अथर्ववेद में वात के विषय में एक पूरा सूक्त है और कौशिक सूत्र से पता चलता है कि उस युग में भी त्रिदोष का सिद्धान्त भारत में मान्य था। उनका यह भी कहना है कि सम्भवतः चरक के समय में मानव शरीर पर शल्यक्रिया नहीं होती थी और इसलिए उनकी संहिता में इसका विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु ईसा से तीसरी शती पूर्व सिकन्दरिया में यूनानी वैद्यों के लेखों में शल्यक्रिया का निश्चित विधान है। परन्तु इस कथन पर पूरा विश्वास नहीं होता; अथर्ववेद के एक पूरे सूत्र में ही अस्थियों के संस्थान तथा संख्या का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में ही अस्थियों की संख्या ३६० बतलाई गई है। ये सब आयुर्वेद की प्राचीनता और सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण हैं। यूनानियों ने भारत की चिकित्सा

---

१. तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि।

(सुश्रुत, सूत्रस्थान १३।१३)

से अनेक ओषधियों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अतः यूनानी वैद्यक पर भारतीय वैद्यक का प्रभाव मानना प्रमाण—विरहित नहीं माना जा सकता[१]।

रसायन-शास्त्र का दार्शनिक रूप

भारतीय दर्शन के शैव तंत्र की एक शाखा 'रसेश्वर दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है और उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है स्थिर या दिव्य देह की प्राप्ति। शरीर को स्थिर, दृढ तथा व्याधिविरहित बनाने के लौकिक उपायों में पारद के भस्म का सेवन सर्वोत्तम है। सांसारिक दुःखों से मुक्ति देने तथा उस पार पहुँचा देने के कारण ही 'पारद' के नाम की सार्थकता है। पारद भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है तथा अभ्रक पार्वती का रज। इन दोनों के योग से उत्पन्न भस्म प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ होता है। इसके साथ प्राणवायु का नियमन भी सर्वथा उपकारी होता है। इसलिए हठयोग के साथ-साथ पारद भस्म के सेवन से दिव्य देह की प्राप्ति प्राचीन काल में सुनी जाती है।

पारद का ही नाम 'रस' है और यही इस दर्शन में ईश्वर माना जाता है। स्वेदन, मर्दन आदि अठारह संस्कारों के द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है और इस सिद्ध रस के द्वारा जरा तथा मरण का भय सदा के लिये छूट जाता है। भर्तृहरि ने इसी तथ्य की ओर इस प्रख्यात पद्य में संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

पारद भस्म की यही पहचान है कि ताँबा पर रगड़ते ही वह सोना बन जाता है। यह बाह्य परीक्षा है। उसके सेवन करने से शरीर के परमाणु बदल कर नित्य तथा दृढ बन जाते हैं। इस मत में साधना का क्रमिक विकास है—पारद भस्म के प्रयोग से दिव्य शरीर बनाना—योगाभ्यास करना तथा आत्मा का इसी शरीर में दर्शन। रस को ईश्वर मानने के कारण ही यह मत 'रसेश्वर' के नाम से अभिहित किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् का यह महनीय मन्त्र इस दर्शन की आधारशिला है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (२।७।१)

मध्ययुग में इस दर्शन का बहुत ही प्रचार था। कापालिक नामक शैव सम्प्रदाय इस रसप्रक्रिया का विशेष मर्मज्ञ माना जाता था।

---

१. द्रष्टव्य Dr, Keith : History of Classical Skt Literature 513–515., Oxford, 1928.

नागार्जुन

भारतीय रसायन के इतिहास में नागार्जुन का विशिष्ट स्थान है। नागार्जुन ही भारतीय रसायन के प्रवर्त्तक हैं। आप :बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। नागार्जुन के समय से बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में ब्राह्मणधर्म के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के कट्टर पक्षपाती थे। आपका समय ठीक-ठीक बताना कठिन है, फिर भी बहुत से आचार्य इन्हें सातवीं शताब्दी में मानते हैं। संस्कृत ग्रन्थों में नागार्जुन नाम का कई स्थलों पर निर्देश हुआ है। ११वीं शताब्दी में भारत में आये अलबरुनी नामक यात्री ने अपने से सौ वर्ष पूर्व के रसशास्त्र के ज्ञाता बोधिसत्त्व नागार्जुन का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी में आये चीनी यात्री हुएनसांग के अनुसार उस समय के चार सूर्य थे—नागार्जुन, देव, अश्वघोष और कुमार लब्ध। राजतरंगिणी के रचयिता कल्हण ने भी अपनी रचना में इनका उल्लेख किया है। बाणभट्ट के हर्षचरित में मन्दाकिनी नामक एकावली का नागार्जुन द्वारा अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन नामक राजा को प्रदान करने का उल्लेख है।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आप सातवाहन के समकालीन थे। इत्सिंग के अनुसार इनका समय बुद्ध के चार शताब्दी अनन्तर कनिष्क के समकालीन था।

नागार्जुन का जन्म विदर्भदेश में एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने शरभभद्र की आज्ञा से नालन्दा विहार में सब विद्याओं को सीखा और उसके अनन्तर वहीं आचार्य पद को सुशोभित किया। ऐसा सुना जाता है कि नालन्दा में एक बार घोर अकाल पड़ा। धनसंग्रह के लिये सभी भिक्षु इधर-उधर जाने लगे। इसी समय किसी एक तपस्वी से इन्होंने रसायन विद्या सीखी, जिसका उपयोग साधारण धातुओं से सोना बनाने में इन्होंने किया।

नागार्जुन नाम के अनेक आचार्य बौद्ध सम्प्रदाय में उत्पन्न हुये जिनमें सर्वप्राचीन आचार्य शून्यवाद के प्रतिष्ठापक तथा माध्यमिक कारिका के रचयिता थे। कुमारजीव ने ४०१ ई० में उनका जीवन चरित संस्कृत से चीनी भाषा में अनूदित किया। अतः शून्यवादी नागार्जुन का समय चतुर्थ शती का पूर्वार्ध है (२८० ई०–३२० ई० तक)। रसायन-शास्त्री नागार्जुन इनसे भिन्न व्यक्ति हैं। उनका समय विद्वानों ने अष्टम शती में माना है। इन दोनों आचार्यों की एकता भ्रान्तिवशात कभी कभी मान ली जाती है। परन्तु दोनों हैं विभिन्न व्यक्ति। तान्त्रिक नागार्जुन रसायन-शास्त्री नागार्जुन से भिन्न व्यक्ति प्रतीत नहीं होते। शून्यवादी नागार्जुन ने सातवाहन नरेश यज्ञश्री

१—समतिक्रामति च कियत्यपि काले तामेकावलीं तस्मान्नागार्जुनो नाम •• लेभे च; त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।

गौतमीपुत्र को अपने 'सुहृल्लेख' नामक ग्रन्थ द्वारा उपदेश दिया था। मूल संस्कृत में अनुपलब्ध यह उपदेश काव्य चीनी और तिब्बती में प्राप्य है।

रचना

नागार्जुन की सुप्रसिद्ध रचना 'रसरत्नाकर' है जिसे 'रसेन्द्रमंगल' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस ग्रन्थ में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, माण्डव्य, वटयक्षिणी, शालिवाहन और रत्नघोष के संवादों के रूप में दिया गया है। इसकी रचना सातवीं या आठवीं शताब्दी में सम्भवतः की गयी थी। रस-रत्नाकर में आठ अध्याय थे; जिनमें से आजकल केवल चार ही पाये गये हैं। इसमें रस के अट्ठारह संस्कार दिये गये हैं। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में बड़े महत्त्व का है। इसके आधार पर बहुत से रासायनिक विधियों का अनुमान लगाया गया है, जो आज के रसायन विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में महारस-शोधनविधि दी हुई है, जिनमें से कुछ का सामान्य विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

(१) तार-शुद्धि (चाँदी का शोधन)—

नागेन क्षारराजेन ध्मापितं शुद्धिमृच्छति।
तारं त्रिवारनिक्षिप्तं पिशाची-तैलमध्यमम्॥

अर्थात् चाँदी सीसा के साथ और भस्मों के साथ गलाने पर शुद्ध होती है। आजकल भी हम इसी विधि का उपयोग Cupellation Process में शुद्धीकरण करने के लिए करते हैं।

(२) गन्धक शुद्धि

किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥

अर्थात् इसमे आश्चर्य ही क्या, यदि पीला गन्धक पलाश के निर्याससे शोधित होने पर तीन बार गोबर के कंडों पर गरम करने पर चाँदी को सोने में परिवर्तित कर दे।

(३) रसकशोधन

किमत्र चित्रं रसको रसेन.............................।
क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रञ्जितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन कांचनम्॥

इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि ताँबे को रसक रस (Calamine) द्वारा तीन बार तपायें तो यह सोने में बदल जाय।

(४) माक्षिक (Pyrites) शोधन :—इस विध में खनिज से ताँबा प्राप्त करने की विधि का वर्णन है। वह इस प्रकार है :—

कुलत्थकोद्रवक्वाथे नरमूत्रेण पाचयेत्।
वेतसाद्यम्लवर्गेण दत्त्वा क्षारं पुटत्रयम्॥

किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसंस्थम्।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुद्धमेति।

खनिजों को कुलथी और कोदो के क्वाथ, नरमूत्र और वेतसादि अम्लों द्वारा गरम करे और फिर इनमें क्षार मिलाकर तीन आँच दे। इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि कदली रस द्वारा और सूरण कन्द द्वारा सुपाचित एवं अण्डी के तेल और घी के साथ एक आँच गरम करने पर माक्षिक पूर्णतः शुद्ध हो जावे, अर्थात् उससे ताँबा प्राप्त हो जावे।

(५) दरद से पारा प्राप्त करना :—

विमलं शिग्रुतोयेन काक्षीकासीसटङ्कणैः।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः॥
माक्षीकक्षारसंयुक्तं धामितं मूकमूषके।
सत्त्वं चन्द्रार्कसंकाशं पतते नात्र संशयः॥

अर्थात् विमल को शिग्रु के दूध, फिटकरी कसीस और सुहागा के साथ वज्रकन्द मिलाकर कदलीरस के साथ भावित करें और माक्षिक-क्षार मिला कर मूक मूषा (Closed crucible) में तपावें तो विमल का सत्व मिलता है।

दरदं पातनायन्त्रे पातितं च जलाशये।
सत्त्वं सूतकसंकाशं जायते नात्र संशयः॥

पातना-यन्त्र में पातन करने पर जलाशय में दरद का सत्त्व अर्थात् पारा प्राप्त होता है।

(६) धातुओं का मारण या हनन :—इसका निर्देश नागार्जुन ने इस प्रकार किया है:—

तालेन वंगं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारं च माक्षीकरसेन हन्यात्॥

वंग (Tin) को ताल (Yellow pigment) के साथ, तीक्ष्ण (Iron or steel) को दरद (Cinnabar) के साथ, सोने को नाग (Tin or Lead) के साथ, नाग को शिला (Red arsenic) के साथ, शुल्व या ताम्र को गन्धक (Sulphur) के साथ और तार या चाँदी को माक्षीक रस (Pyrites) के साथ मारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में राजावर्त्त-शोधन, दरद-शोधन, विमलशुद्धि, चपल-शुद्धि, शुल्बशुद्धि, रसक से यशद (जस्ता) प्राप्त करना, अभ्रकादि की सत्त्वपातनविधि, रसबन्ध, कज्जली बनाने की विधि तथा अन्य रासायनिक यन्त्रों का वर्णन मिलता है।

रसायन यन्त्र

रस रत्नाकर में एक स्थान पर इस प्रकार लिखा हुआ है :—

> कोष्ठिका वक्रनालं च गोमयं सारमिन्धनम् ।
> धमनं लोहपत्राणि औषधं काञ्जिकं विडम् ॥
> कन्दराणि विचित्राणि...................... ।
> सर्वंमेलयनं कृत्वा ततः कर्म समारभेत् ॥

रासायनिक क्रियाओं के प्रारम्भ करने लिए इतने यन्त्र जुटाने चाहिए—कोष्ठिका-यन्त्र, वक्रनाल, गोवर, लकड़ी का ईंधन, धमन-यन्त्र, लोहपत्र, औषध, काञ्जी, विड और भिन्न-भिन्न प्रकार की कन्दराएँ।

इसी ग्रन्थ के एक स्थल पर इस प्रकार यन्त्रों की सूची दी गई है—

"अथातो रसेन्द्रमंगलानि यन्त्रविधिः—शिलायन्त्रं पाषाणयन्त्रं भूधरयन्त्रं वंशयन्त्रं नालिकायन्त्रं गजदन्तयन्त्रं दोलायन्त्रं अधःपातनयन्त्रं भुवःपातनयन्त्रं पातनयन्त्रं नियामकयन्त्रं गमनयन्त्रं तुलायन्त्रं कच्छपयन्त्रं चाकीयन्त्रं वालुकायन्त्रं अग्निसोमयन्त्रं गन्धकगाहिकयन्त्रं मूषायन्त्रं हण्डिकायन्त्रं कमभाजनयन्त्रं घोणायन्त्रं गुडाभ्रकयन्त्रं नारायणयन्त्रं जालिकायन्त्रं चारणयन्त्रम् ।"

पीठिका का भस्म तैयार करनेवाले गर्भयन्त्र का वर्णन इस ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है :—

> गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पीठिकाभस्मकारकम् ।
> चतुरङ्गुलदीर्घेण विस्तरेण च त्र्यंगुलम् ॥
> मूषां तु मृण्मयीं कृत्वा सुदृढां वर्तुलां बुधः ।
> विंशभागन्तु लोहस्य भागमेकं तु गुग्गुलोः ॥
> सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु तोयं दत्त्वा पुन पुनः ।
> मूषालेपं दृढं बद्ध्वा लोणाद्ध मृत्तिका बुधः ॥
> कर्षं तुषाग्निना भूमौ मृदुस्वेदेन स्वेदयेत् ॥

(अधिकार ३, श्लोक ६२—६५)

चार अंगुल लम्बी और तीन अंगुल चौड़ी, वर्तुल आकार की मिट्टी की बनी सुदृढ मूषा (Crucible) हो और इसमें बीस भाग लोहा तथा एक भाग गुग्गुल महीन पीस कर और बराबर पानी देकर मूषा पर लेप लगावे। ऐसा करने से दृढता आवेगी। इसे भूमि में भूसी की आग से गरम करके मृदु स्वेदन किया जाय।

गोविन्द भगवत्पाद

नागार्जुन के अनन्तर होनेवाले रस आचार्यों में गोविन्द का नाम नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रख्यात है। ये शंकराचार्य के साक्षात् गुरु बतलाये जाते हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्त के ऊपर इनकी कोई भी रचना अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम है 'रसहृदयतंत्र', जिसके कतिपय श्लोकों को 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधवाचार्य ने उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ तेरहवीं शती से पूर्व बनाया गया था। ग्रन्थकार ने अपने परिचय में इतना ही लिखा है कि उन्होंने चन्द्रवंश के हैहय कुल के किरात नृपति श्री मदनरथ से बहुत मान प्राप्त किया था। यह राजा रसविद्या का स्वयं बड़ा ज्ञाता था। सम्भव है यह किरात देश भूटान के निकट कहीं हो। गोविन्दपाद मंगलविष्णु के नाती और सुमेनाविष्णु के पुत्र थे। इसकी एक टीका चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित उपलब्ध हुई है।

यह ग्रन्थ इस विद्या के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में बहुत ही व्यवस्थित तथा पूर्ण है। पारद के अठ्ठारह संस्कार, अभ्रकग्रासविधि, जारण, रंजन, बाह्यद्रुति, सारण, क्रामण आदि पारद भस्म के उपयोगी प्रक्रियाओं का यहाँ सुन्दर वर्णन है। पारे को सीसा और वंग से पृथक् करना, रस और उपरस का भेद, सारलौह और पूतिलौह, लवण और क्षार—इन सबका विस्तृत वर्णन ग्रन्थ के वैज्ञानिक महत्त्व का पर्याप्त द्योतक है। रसविद्या की अच्छी प्रगति होने पर लिखे गये ग्रन्थों में सबसे प्रथम और सुव्यवस्थित ग्रन्थ यही है।

गोविन्द ने शरीर की दृढता के लिए पारद के उपयोग का रहस्य समझाया है। इसमें लिखा है कि विद्याओं का आयतन, पुरुषार्थों का मूल, यह शरीर बिना पारद के अमरत्व प्राप्ति नहीं कर सकता। पारद के सेवन का फल है अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति। जो लोग पारद में सुवर्ण और अभ्रक का जारण बिना किये इस फल की कामना करते हैं वे लोग उन्हीं की श्रेणी में हैं जो खेत को बिना जोते फल की आशा करते हैं। बाह्य चिकित्सा में बड़ा श्रम तथा तप अपेक्षित था। रसायन लेने से पहिले शरीर का शोधन अपेक्षित था, श्रम तथा समय का पर्याप्त व्यय था; परन्तु रसचिकित्सा में केवल पारद का शोधन अपेक्षित होता है और उस शुद्ध पारद की स्वल्पमात्रा से ही आश्चर्यजनक फल तथा सिद्धि प्राप्त हो जाती थी। रसशास्त्र की उपयोगिता का रहस्य अनेक कारणों से है। प्रथमत: दवा अल्पमात्रा में ली जाती है, इससे अरुचि आदि दोषों की शिकायत नहीं रहती। साथ ही साथ आरोग्य बहुत शीघ्रता के साथ होता है। इन्हीं कारणों में रसचिकित्सा नितान्त उपयोगी तथा महत्त्वशालिनी थी। इस विषय में रसशास्त्र की एकवाक्यता है। रसेन्द्रसारसंग्रह का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वाद् ओषधिभ्योऽधिको रसः॥

रसेन्द्रचूडामणि

इसके लेखक सोमदेव अपने को करवाल भैरव कुल का अधिपति बतलाता है। यह ग्रन्थ बारह तथा तेरह शती के बीच में बना हुआ मालूम पड़ता है। लेखक सोमदेव रसशाला-सम्बन्धी यन्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने लिखा है कि ऊर्ध्वपातन-यन्त्र और कोष्ठिकायन्त्र का नन्दी नामक किसी व्यक्ति ने आविष्कार किया था। इस ग्रन्थ में पारा के अनेक रूपों का वर्णन प्रमाणपुरःसर किया गया है। उदाहरण के लिए नष्टपिष्ट की व्याख्या में सोमदेव लिखते हैं कि जब पारे का स्वरूप नष्ट हो जाय और इसमें बहने का गुण न रह जाय तब वह नष्टपिष्ट कहा जाता है। इसी प्रकार चपल नामक पारे का भी सुन्दर वर्णन है।

रसप्रकाशसुधाकर

इसके रचयिता यशोधर थे, जो जूनागढ़ के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण श्री पद्मनाभ के पुत्र थे। इस ग्रन्थ में नागार्जुन, नन्दि, सोमदेव आदि ग्रन्थकारों के नाम प्रमाण रूप से आते हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने बहुत से प्रयोग अपने हाथ से किये हैं। अत एव ग्रन्थ में वर्णित प्रक्रिया लेखक की स्वानुभूति के ऊपर आश्रित होने से प्रामाणिक मानी जा सकती है। ग्रन्थ का रचना काल तेरवीं शती प्रतीत होता है। इसमें कर्पूररस बनाना, रसक से यशद बनाना, फिट-किरि (सौराष्ट्री) का वर्णन पाया जाता है। साथ ही साथ उन अनेक प्रकार के गर्त्तों का भी वर्णन है जिनमें आग जला कर रसायन प्राप्त किया जाता था। ऐसे गर्त्तों के कतिपय नाम हैं—महापुट, गजपुट, वराहपुट, कपोतपुट, वालुकापुट आदि। इन गर्त्तों के बनाने की लम्बाई-चौड़ाई दी गई है। इनमें जलाये जानेवाले उपलों कंडों की भी संख्या का विवरण दिया गया है। स्वर्ण बनाने की भी विधि का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है जिसमें प्राचीन पद्धति के साथ अपने अनुभव को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार निजी अनुभव पर आश्रित होने के कारण यशोधर का यह ग्रन्थ उपादेय तथा उपयोगी है।

रसार्णव

यह ग्रन्थ शिव-पार्वती के संवाद रूप में है। अध्यायों का नाम 'पटल' है। सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित होने के कारण यह ग्रन्थ तेरहवीं शती से प्राचीन निःसन्देह प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में रसशोधन के लिए उपयोगी सामग्री का विस्तृत विवरण है। यहाँ एक विशेष वैज्ञानिक तथ्य का वर्णन किया गया है जिसमें विस्तृत रूप से लिखा है कि किस धातु की ज्वाला किस रंग की होती है। आजकल भी धातुवैज्ञानिक

इस तथ्य का उपयोग लोहे तथा ताँबे की प्राप्ति में करते हैं, (Besemer Converter)। रसार्णव के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय कच्चे धातु में से शुद्ध धातु के निकालने की प्रथा जारी हो गई थी और रसायन विद्या अपनी प्रारम्भिक अवस्था को पार करके प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ रही थी।

रसराजलक्ष्मी

इसके लेखक विष्णुदेव पण्डित महादेव के पुत्र थे। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट पता चलता है कि लेखक ने इसकी रचना महाराज बुक्क के राज्य काल में की थी। ये महाराज बुक्क विजय नगर साम्राज्य के संस्थापक हैं। अतः ग्रन्थ का समय चौदह शती का मध्य काल है। ग्रन्थकार ने इसे वैद्यक शास्त्र का एक सार ग्रन्थ बनाया है। इसीलिए काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, जाडि, स्वच्छन्द भैरव, दामोदर, वसुवासुदेव तथा भगवत गोविन्द आदि तंत्राचार्यों के ग्रन्थों का ही उपयोग नहीं किया गया है, प्रत्युत चरक सुश्रुत आदि वैद्यक ग्रन्थों का भी यहाँ पर्याप्त उपयोग किया गया है।

रसेन्द्रसारसंग्रह

इसके कर्त्ता गोपाल भट्ट हैं। यह ग्रन्थ भावप्रकाश से पूर्व तथा रसप्रकाश—सुधाकर के पश्चात् बना हुआ प्रतीत होता है। अतः समय तेरहवीं शती के आस-पास है। इसमें धातुओं के शोधन के प्रकार सरल, सुबोध रीति से तथा थोड़े में वर्णित हैं। इस चिकित्सा का वर्णन ग्रन्थकार ने विशेष रूप से किया है। सच तो यह है कि रस-चिकित्सा का यह ग्रन्थ एकत्र संग्राहक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय है और इसीलिए बंगाल में इस ग्रन्थ का विशेष रूप से प्रचलन है। इस पुस्तक के ऊपर अनेक टीकायें बंगाल के कविराजों ने लिखी हैं जिनमें से एक टीकाकार रामसेन कवीन्द्रमणि मीर जाफर के दरबार का वैद्य था। इस ग्रन्थ की रचना तथा रसेन्द्र चिन्तामणि का निर्माण एक ही युग की घटना है।

रसरत्नसमुच्चय

आजकल रसविद्या की जानकारी के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लेखक वाग्भट्ट हैं, जो अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय के रचयिता वाग्भट्ट से कथमपि भिन्न नहीं हैं। यह ग्रन्थ बीस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें प्रथम एकादश अध्यायों में रसशास्त्र का विषय उपन्यस्त है। शेष भाग में ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा है। ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग चालीस आचार्यों के नाम हैं, जिन्होंने रसतंत्र पर भिन्न भिन्न शतियों में ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनमें से केवल थोड़े से ही आचार्यों के नाम तथा ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। परन्तु बहुत से आचार्य केवल नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इस सूची को देख कर जाना जा सकता है कि रसशास्त्र के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा थी तथा यह शास्त्र बहुत ही प्राचीन एवं उपादेय माना जाता था।

रसरत्नसमुच्चय के ग्यारह अध्यायों की सूची इस प्रकार है—

१ रसोत्पत्ति, २ महारस, ३ उपरस, ४ रस, ५ लोह, ६ शिष्योपनयन, ७ रसशाला, ८ परिभाषा, ९ यंत्र, १० मूषादि, ११ रसशोधनादि ।

इन अध्यायों में अभ्रक के तीन प्रकार—पिनाक, नागमण्डूक और वज्र; माक्षिक के दो प्रकार—हेममाक्षिक, तारमाक्षिक; विमल के प्रकार तथा उनके गुण; चपल के चार प्रकार—गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण । रसक के भेद—दर्दुर और कारवेल्लक । इसके अतिरिक्त गन्धक, गैरिक, कासीस, सौराष्ट्री, हरताल, अंजन, नवसार वराटक, राजावर्त, मणि, वज्र (हीरा) आदि का वर्णन बड़े ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ किया गया है । इसके अतिरिक्त धातुओं और मिश्र धातुओं का भी विवरण इस प्रकार मिलता है—सोना पाँच प्रकार का होता है—प्राकृतिक, सहज, वह्निसभूत, खनिसम्भव और रसेन्द्रवेधसंजात । चाँदी भी तीन प्रकार की होती है—सहज, खनिसंजात, और कृत्रिम । लोहे को सीसा और सुहागे के साथ गलाने पर इसका शुद्धिकरण होता है । ताँबा दो प्रकार का होता है—(५।३३-३४) नेपालक और म्लेच्छ । ताँबे के पत्र को नीबू के रस से रगड़ कर गन्धक और पारे से लिप्त करे और फिर तीन बार गरम करने पर यह मर जाता है (५।४४-५) । इसके अतिरिक्त इसमें लोहे के भी भेदों का वर्णन मिलता है । इसके तीन भेद पाये जाते हैं—मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त । मुण्ड के तीन, तीक्ष्ण के छः और कान्त के पाँच प्रकार हैं । लोहे की मारणविधि इस प्रकार है—एक भाग लोहे में बीसवाँ भाग हिंगुल मिलाकर, उसे नीबू के रस में मिलाकर चालीस बार मूषा में बन्द करके गरम करे ।

रसायनशाला

रसायनशाला का जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं है । यह वर्णन (७।१–१८) इस प्रकार है--सर्वबाधा से रहित स्थान में रसशाला का निर्माण करे, वहाँ ओषधियाँ सुगमता से मिलती हों और अच्छे कूप हों; रसशाला में अनेक उपकरण हों । इसकी पूर्व दिशा में पारे का शिवलिंग हो । अग्निकोण में वह्निकर्म के लिए स्थान हो । दक्षिण में पाषाणकर्म (Furnaces), दक्षिण-पश्चिम में शस्त्रकर्म (Instruments), वरुण में शोषणकर्म, उत्तर में वेधकर्म तथा ईशकोण में अन्य सिद्ध रखने की जगह हो ।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार की मूषाओं का वर्णन मिलता है । उनमें से निम्नलिखित नामों का उल्लेख है—वज्रमूषा, योगमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा प्यौरमूषा, विडमूषा, वृन्ताक मूषा, गोस्तनी मूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मंडूकमूषा, मुसलाख्या मूषा, क्रौंचिका (१०।८-३१) । आगे

चलकर इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार के खल्व (खरल) तथा मर्दक के वर्णन मिलते हैं। इसमें तीन प्रकार के खल्व और मर्दक का उल्लेख है— (१) अर्धचन्द्र खल्व, (२) वर्तुल खल्व, (३) तप्त खल्व (रसरत्न० १० । ८४-९१) ।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कोष्ठियों (भट्ठियों) का वर्णन मिलता है। इनका मुख्य उपयोग सत्त्वपातन तथा सत्त्वशोधन में किया जाता था। ये चार प्रकार की थीं—(१) अंगारकोष्ठी, (२) पातालकोष्ठी, (३) गारकोष्ठी (४) मूषा कोष्ठी, (रसरत्नसमु० १०।३३-३९)। पातालकोष्ठी की तुलना आज कल के प्रचलित Pit Furnace के साथ दी जा सकती है। आगे चलकर पुट प्रक्रिया का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। 'पुट' का अर्थ आप्टे साहब के कोष में इस प्रकार दिया गया है 'A particular method of preparing drugs in which the various ingredients are wrapped up in leaves and being covered with clay roasted in fire। आजकल के धातुविज्ञान में हम इसे Calcination & Roasting कहते हैं। ग्रन्थ में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम्।
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम्॥

ये पुट दस प्रकार के होते हैं—(रस रत्नसमु०१०।५०) महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुटपुट, कपोलपुट, गोबरपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरपुट और भावकपुट (रस १०।५४–६९)।

इस प्रकार हम इस ग्रन्थ के अनुशीलन से जान सकते हैं कि भारतवर्ष में रसशास्त्र कितना व्यापक, व्यावहारिक तथा प्रयोगों के ऊपर आश्रित था। इसके अध्ययन से इस विषय का मार्मिक वैज्ञानिक परिचय हमारे सामने उपस्थित होता है और इसी कारण डा० पी० सी० राय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक History of Hindu Chemistry (प्रथम भाग) में इसी ग्रन्थ के आधार पर अधिकांशतः लिखा है।

ऊपर वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) रसरत्नाकर :—पार्वतीपुत्र सिद्ध नित्यनाथ इसके लेखक हैं। इसमें पाँच भाग हैं, जिनके नाम हैं—रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादि खण्ड, रसायन खण्ड तथा मंत्र खण्ड। रसरत्न समुच्चय में नित्यनाथ का नाम रस के आचार्यों में उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि ये तेरह शती के पहले के ग्रन्थकार हैं। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें योगों की एक बड़ी लम्बी संख्या दी गई है। इसमें गुरुमुख से सुनी गई बातों के साथ-साथ स्वानुभूत विषयों का भी विवेचन है। ग्रन्थकार का लक्ष्य इसे एक संकलन ग्रन्थ बनाना था और इस उद्देश्य में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(२) **रसेन्द्रचिन्तामणि** :—यह ग्रन्थ कालनाथ के शिष्य ढुन्ढुकनाथ के द्वारा रचा गया था। इसमें पारे के ऐसे अनेक योग हैं जिन्हें ग्रन्थकार ने अपने अनुभव से लिखा है। साथ ही साथ नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ आदि आचार्यों के मतों का भी उल्लेख है।

(३) **रससार** :—लेखक श्री गोविन्दाचार्य हैं। ग्रन्थकार ने स्पष्टतः लिखा है कि इस ग्रन्थ की रचना भोटदेशीय (तिब्बत) बौद्धों के द्वारा निर्मित प्रयोगों तथा अनुभवों के आधार पर की गई। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अफीम का प्रयोग औषध के रूप में इसमें दिया है। 'अहिफेन' उसके लिए संस्कृत नाम बतलाया गया है। लेखक अहिफेन की उत्पत्ति विषैली मछलियों से बतलाता है। इससे स्पष्ट है कि इसकी वास्तव उत्पत्ति का पता उन लोगों को उस समय न था। बहुत सम्भव है कि अरबी 'अफ्यून' शब्द का संस्कृतीकरण 'अहिफेन' शब्द से कर दिया गया है।

रसेन्द्रकल्पद्रुम भी गोपाल कृष्ण रचित 'रसेन्द्र संग्रह' का समकालीन ग्रन्थ है। इसमें रसार्णव, रसमंगल, रसरत्न समुचय आदि माननीय ग्रन्थों से विशेष सहायता ली गई है। रसप्रदीप उस युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है जब गोवा के पुर्तगालियों के सम्पर्क से फिरंग रोग (गर्मी, सुजाक) इस देश में आया। फिरंगियों के द्वारा लाये जाने के कारण ही इस रोग का यह नामकरण है। इस रोग की दवा का सर्वप्रथम वर्णन रसप्रदीप का प्रथम वैशिष्टय है। द्वितीय वैशिष्टय शंखद्रावक (शंख को गला देने वाले खनिजों) का यहाँ उल्लेख हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारत में गन्धक का तेजाब, शोरे का तेजाब तथा नमक का तेजाब कई शताब्दियों से बनाया जाता था। इस ग्रन्थ का रचना काल १६वीं शती है। धातुक्रिया ग्रन्थ का रचना काल भी इसी शती में प्रतीत होता है। इसमें ताम्र की उत्पत्ति के प्रसंग में फिरंग देश तथा रूम देश के नाम आते हैं। यह ग्रन्थ आधुनिक धातुविज्ञान (मेटलर्जी) का प्रामाणिक और प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ अनेक धातुओं के स्वरूप, उत्पत्ति स्थान, विशिष्टता आदि का विवरण विस्तार से दिया गया है।

आयुर्वेद में 'निघण्टु उस ग्रन्थों की संज्ञा है जिसमें किसी ओषधि के नाम तथा गुण का विवेचन किया जाता है। ये ग्रन्थ आयुर्वेद तथा वनस्पति शास्त्र दोनों से सम्बन्ध रखते हैं तथा हिन्दू वैद्यों के एतद् विषयक ज्ञान के पर्याप्त परिचय देते हैं। 'निघण्टु' कोश के अर्थ में पुराना शब्द है और कोशात्मक होने से यह नाम यहाँ भी गृहीत हुआ है प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों का पता नहीं चलता। उपलब्ध ग्रन्थों का काल मध्ययुग के अनन्तर है। अवश्य ही धन्वन्तरि निघण्टु अमर कोश से प्राचीन है—इस विषय में अमर के टीकाकार क्षीरस्वामी की स्पष्ट सम्मति है। क्षीरस्वामी का कथन है कि धन्वन्तरि निघण्टु के अशुद्ध पाठों का आश्रयण करने से वनौषधि वर्ग

में अमर ने नामों में अनेक त्रुटियों की हैं। बंगाल के राजा भीमपाल के राज वैद्य सुरेश्वर या सुरपाल ने १०७५ ई० में 'शब्दप्रदीप' नामक निघण्टु का निर्माण किया। काश्मीरी पण्डित नरहरि ने अपने ग्रन्थ राजनिघण्टु, या निघण्टु राज अथवा अभिधान चूड़ामणि की रचना की। अपने ग्रन्थकार के नाम से प्रख्यात मदन-पाल निघण्टु इन सब निघण्टुओं में सर्वाधिक लोकप्रिय है। १३७४ ई० में मदन-पाल ने 'मदनविनोद निघण्टु' की रचना की।[1]

---

१. इन प्रख्यात निघण्टुओं के अतिरिक्त एतत्सदृश अन्य ग्रन्थ हैं जिनका संक्षिप्त विवरण कोशविद्यावाले प्रकरण में किया जावेगा।

द्वितीय परिच्छेद

ज्योतिष तथा गणित

का

इतिहास

(क) सिद्धान्त ज्योतिष (ख) गणित ज्योतिष (ग) फलित ज्योतिष

(१) अङ्कगणित

(२) बीजगणित

(३) रेखागणित

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधान-शास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥

(वेदाङ्गज्योतिष, श्लोक ३)

अप्रदीपां यथा रात्रिरनादित्यं यथा नभः ।
तथाऽसंवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि ॥
नासंवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता ।
चक्षुर्भूतो हि यत्रैष पापं तत्र न विद्यते ॥

(बृहत्-संहिता १।८; १।११)

द्वितीय परिच्छेद

ज्योतिष शास्त्र का इतिहास

ज्योतिष का ज्ञान आदिम काल से ही मनुष्यों के लिए उपयोगी सिद्ध होता आया है। किसानों को इस बात की जानने की जरूरत सदा रहती है कि वर्षा कब होगी। इसी प्रकार पूजा के अधिकारियों को भी यह जानने की आवश्यकता बनी रहती है कि शुभ मुहूर्त्त कब है जब किसी विशेष पूजा का विधान किया जाय। प्राचीन काल में साल साल भर तक यज्ञ चला करते थे। इसलिए यह जानना बहुत ही आवश्यक था कि वर्ष में कितने दिन होते हैं, वर्ष कब आरम्भ होता है और वह कब समाप्त होता हैं। इसीलिए संसार की सभ्य तथा असभ्य जातियों में ज्योतिष का ज्ञान कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है।

भारतवर्ष में ज्योतिष विज्ञान का जितना विकास हुआ उतना किसी भी प्राच्य या प्रतीच्य देश में नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वैदिक आराधना में प्रधान स्थान यज्ञों का ही है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिए है और यज्ञ का विधान विशिष्ट समय के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। यज्ञयाग के लिए समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि ब्रह्म वसन्त में अग्नि का आधान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में तथा वैश्य शरद् ऋतु में आधान करे।[1] इसी प्रकार विशेष तिथियों को यज्ञ में दीक्षा लेने का विधान था। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर के ज्ञान के बिना यज्ञयाग का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सकता। इसीलिए ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान वैदिक आर्यों को विशेष रूप से रखना पड़ता था। वेदांग ज्योतिष का तो इतना आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भलीभाँति जानता है वही यज्ञ को यथार्थ रूप से जान सकता है।

इसी कारण ज्योतिष वेद का एक महनीय अंग माना जाता है। गणित वेद का सिर है। जिस प्रकार मयूरों की सिखा तथा सर्पों की मणि होती हैं उसी प्रकार वैदिक शास्त्रों में गणित सबके मस्तक पर रहने वाला है। ज्योतिष वेद पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार नेत्र से हीन पुरुष अपने कार्य सम्पादन में असमर्थ होता है, उसी प्रकार ज्योतिष ज्ञान से रहित पुरुष वैदिक कार्यों में सर्वथा अन्धा होता है।

---

१. वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत। तै० ब्रा० १।१

वेदों में ज्योतिष-विषयक तथ्य

वेद में खगोलविषयक नाना प्रकारके ज्ञा तव्य तथ्यों का विशिष्ट वर्णन प्रसङ्गात् उपलब्ध होता है। वैदिक आर्य इस विचित्र विश्व के रहस्य जानने के लिए सर्वदा उत्सुक थे और अपनी पैनी दृष्टि से उन्होंने इन रहस्यों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से किया है। विश्वसंस्था के उत्पादक लोक तीन हैं :—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः (=आकाश)। अत्यन्त प्राचीनकाल से पृथ्वीमाता तथा द्यौष्पितर की मान्यता आर्यों की महत्त्वपूर्ण मान्यताओं में अन्यतम होने का गौरव रखती है। "द्यौष्पितर" ही यूनानियों में 'जूस पिटर' तथा रोमवासियों में 'जूपिटर' देवता के रूप में स्वीकृत किया गया है। सकल प्राणियों-मानवों तथा पशुओं-की क्रीडास्थली यह पृथ्वी है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में इसका बड़ा ही भव्य तथा उदान्त वर्णन उपलब्ध होता है। द्यौः सूर्य का निवास स्थल है। इन दोनों का परिचायक समान नाम 'रोदसी', 'क्रन्दसी' तथा 'द्यावापृथ्वी' वैदिक साहित्य में बहुधा निर्दिष्ट है। दोनों के बीच के लोक को 'अन्तरिक्ष' नाम से पुकारते थे। यह नाम अन्वर्थक है—अन्तरि मध्ये क्षीयते इति अन्तरिक्षम्। अन्तरिक्ष में मेघोदक की सत्ता तथा वायु के संचरण का स्थान है। अन्तरिक्ष में ही पक्षियाँ अपना उड़ान भरती हैं—

वेदा यो वीनां पदान्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ (ऋ० १। २५। ७)

वैदिक युग की त्रिलोकी की यही कल्पना है। स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल जैसी त्रिलोकी की कल्पना अगले युग की देन है। वैदिक साहित्य में वह कल्पना निःसंदेह उपलब्ध नहीं होती।

सूर्य

सूर्य-विषयक अनेक सूक्तों के अध्ययन से उनके भव्यरूप का पूर्ण परिचय हमें मिलता है। सूर्य ही क्रियाभेद के कारण नाना देवों के रूप में कल्पित किया गया है। विश्व में चैतन्य का संचरण करने के हेतु वही सविता है, तो लोकों को नाना व्यापारों में प्रेरक होने से वही विष्णु है। विश्व को पुष्ट करने के कारण वह पूषा है, तो विश्व का कल्याण सम्पादन के हेतु वही मित्र है। समस्त भुवनों का वही आधार है। 'तस्मिन्नर्पितं भुवनानि विश्वा'—(ऋ० १। १६४। १४) ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में यह पद या इसी का भाव उच्चरित तथा मुखरित हुआ है। सूर्य के ही कारण ऋतुओं की सत्ता है। वायु के संचरण का भी वही हेतु है।

सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रम् एको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥
(ऋ० १। १६४। २)

इस मंत्र में रश्मि का उल्लेख भले ही न हो, परन्तु "अमी ये सप्तरश्मय:" (ऋ० १ । १०५ । ९) तथा "सूर्यस्य सप्तरश्मिभि:" ऋ० ८ । ७२ । १६) मंत्रों में सूर्यरश्मियों को सात संख्या का स्पष्ट उल्लेख है ।

ऋग्वेद का ऋषि जब सूर्य के रथ को ढोने वाले सात घोड़ों का संकेत करता है, तब उसका मुख्य ध्यान सूर्यकिरण के सप्तरंगी होने की ओर आकृष्ट होता है। अन्यथा वह भली-भाँति जानता है कि यह वर्णन सर्वथा आलंकारिक है—सूर्य के पास न रथ ही है और न उसे ढोने वाले घोड़े ही । इस विषय में वेद का स्पष्ट कथन है—

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत् पतयदूर्ध्वसानुः ।
(ऋ० १ । १५२ । ५)

सूर्य का उदय लेना तथा अस्त होना जो लोक में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तविक नहीं है । ऐतरेय ब्राह्मण की तो इस विषय में नितान्त स्पष्ट उक्ति है कि सूर्य वास्तव में न तो कभी उदय लेता है और न कभी अस्त होता है—

स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति ।

पृथ्वी

पृथ्वी के गोल होने का संकेत मंत्रों में मिलता है । सूर्य-विषयक एक मंत्र कहता है कि सूर्य अपने तेजों से जगत् को सुलाता हुआ तथा जागृत करता हुआ उदय लेता है—

निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुभिर्जगत् (ऋ० ३ । ५३ । ३)

इस मंत्र का निःसन्देह तात्पर्य यही है कि सूर्य जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे जगत के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन होने लगता है । यह घटना तभी सम्भव हो सकती है, जब पृथ्वी गोल हो । पृथ्वी के जितने अंश पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है उतना तो जागता है और जितने भाग से उसकी किरणें हट जाती हैं, उधर रात्रि होती है । पृथ्वी यदि समधरातल होती तो यह दृश्य कभी घटित नहीं होता । तब सूर्य अपनी किरणों से एक साथ ही जगत् के प्राणियों को जगा डालता, सुलाता नहीं ।

चन्द्रमा

चन्द्रमा की स्थिति वेदों में अन्तरिक्ष लोक में बतलाई गयी है, अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से नीचे के लोक में भ्रमण करता है । चन्द्र का प्रकाश सूर्य रश्मियों के कारण ही होता है । उसमें स्वतः प्रकाश नहीं है । इसीलिए वेद का मंत्र है—

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः—(तै० सं० ३ । ४ । ७ । १)

अमावास्या को चन्द्रमा आकाश में दृष्टिगोचर नहीं होता । क्यों ? इसका कारण

शतपथ की दृष्टि में यह है कि वह पृथ्वी पर आकर प्राणी, ओषधि तथा वनस्पतियों में प्रवेश करता है (शतपथ० १।६।४।५)। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण अमावस्या को सूर्य में प्रवेश करने का उल्लेख करता है और तदनन्तर वह सूर्य से ही उत्पन्न होता है—

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति; आदित्याद् वै चन्द्रमा जायते।
(ऐत० ब्रा० ४०।५)

अन्तिम वाक्य का यही तात्पर्य है कि शुक्लप्रतिपद् को वह पुनः दिखलाई देता है। अमावास्या में सूर्य के साथ चन्द्र के संगमन की कल्पना इसी मंत्र के आधार पर पुराणों को भी अभिमत है। वायुपुराण तथा मत्स्यपुराण इसीलिए दर्श की व्याख्या के प्रसंग में कहते हैं—

आश्रित्यताममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ।
अन्योन्यं सूर्यचन्द्रौ तौ यदा तद् दर्श उच्यते॥

अमावास्या का ही अपर नाम 'दर्श' है (दृश् धातु से निष्पन्न)।

चन्द्रमा की कला की वृद्धि तथा ह्रास क्यों होता है ? इस विषय में वेद मंत्रों में अनेक ज्ञातव्य तथ्य दिये गये हैं। ऋग्वेद के अनुसार सोम शब्द से लता तथा सोम नामधारी चन्द्रमा दोनों का ऐक्य प्रस्तुत होता है। सोमरस को देवता लोग यज्ञ में पीते हैं। तदनुरूप ही चन्द्र की कलाओं को भी देवता पीते हैं और इसी कारण उसमें ह्रास होता है—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥
(ऋग्वेद १०।८५।५)

निरुक्त के अनुसार यह ऋचा सोमवल्ली को तथा चन्द्र को लक्षित करती है। फलतः इससे दोनों का अर्थ निकलना स्वाभाविक है। तैत्तिरीय—संहिता (२।४। १४) में यह महत्त्वशाली मंत्र आता है—

यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति।

इसका अर्थ है कि आदित्य चन्द्रमा को तेजस्वी करते हैं और पूर्ण हो जाने पर उसका प्राशन करते हैं। यहाँ 'आदित्याः' का बहुवचन द्वादश आदित्यों को लक्ष्य कर प्रयुक्त हुआ है। तदनन्तर इसका प्रयोग देववाचक होने से देवों के लिए भी किया गया होगा। सूर्य के द्वारा चन्द्रकला की पूर्ति तथा ह्रास की कल्पना प्राथमिक है। तदनन्तर 'आदित्य' शब्द के 'देव' अर्थ में प्रयुक्त होने से यह धारणा उत्पन्न हो गयी कि देवगण चन्द्रकिरणों का पान करते हैं और इसीलिए कृष्णपक्ष में चन्द्र की कलाओं में ह्रास

होता है जिससे वह क्षीण से क्षीणतर होता हुआ अन्त में बिल्कुल गायब हो जाता है।, "पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः"—कालिदास की यह सूक्ति प्रचलित भावना की सद्यो द्योतिका है।

ऋतु

ऋतु का नाम तथा संख्या का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता, परन्तु याग क्रिया-प्रधान तैत्तिरीय-संहिता तथा वाजसनेयी संहिता में ऋतुओं का उल्लेख अनेक वार किया गया है। ऋतु सूर्य से उत्पन्न होती हैं। नियमतः उनकी संख्या छः ही है। जहाँ पाँच संख्या का निर्देश है वहाँ हेमन्त तथा शिशिर को एक मान कर यह निर्वाह किया जाता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर—ये ही छ ऋतुयें बहुशः निर्दिष्ट हैं। ऋतुओं का आरम्भ वसन्त से होता है और इसीलिए वसन्त ऋतुओं का मुख कहा गया है—

मुखं वा एतद् ऋतूनाम् । यद् वसन्तः ॥

(तैत्ति० ब्रा० १।१।२।६,७)

संवत्सर की कल्पना पक्षी के रूप में की गयी है, जिसका मुख वसन्त है, दक्षिण पक्ष ग्रीष्म है, पुच्छ वर्षा है, शरद् उत्तर पक्ष है तथा हेमन्त मध्य है (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।४।१)। संवत्सरपक्ष का यह रूप इस प्रकार का होगा—

यहाँ पाँच ही ऋतुओं का संकेत है जिसके विषय में ऐतरेय—ब्राह्मण (१।१) का यह परिचायक वाक्य है—

द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन ।

ऋतु का आरम्भ कब से होता है? यह यथार्थतः जानना एक विषम पहेली है। ऋत्वारम्भ के विषय में तैत्तिरीयसंहिता (६।५।३) का यह महत्त्वपूर्ण कथन है कि ऋतुपात्र का मुख दोनों ओर होता है। अतः यह कौन जानता है कि ऋतु का मुख कौन सा है—

उभयतो मुखमृतुपात्रं भवति । को हि तद् वेद यद् ऋतूनां मुखम् ।

यह कथन ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से भी यथार्थ है। ऋतुयें सूर्य की स्थिति पर

अवलम्बित होती हैं, पर सौर मास की तिथि सदा अनिश्चित रहती है। फलतः ऋतु का आरम्भ जानना एक कठिन व्यापार है कि किसी भी ऋतु का आरम्भ कब से, किस तिथि से नियमतः होता है।

मास

वर्ष में नियत रूप से, बारह महीने होते हैं परन्तु कभी-कभी एक अधिक मास भी होता है। इस अधिक मास की गणना वैदिक आर्यों के उत्कृष्ट ज्योतिष—ज्ञान का पर्याप्त परिचायक है। वरुणसूक्त में इस अधिमास की सत्ता का परिवाचक मंत्र यह है—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥ (ऋ० सं० १।२५।८)

इन मासों के वैदिक नाम भी विलक्षण हैं—

वैदिक नाम	आधुनिक नाम	ऋतु
मधु	चैत्र	वसन्त
माधव	वैशाख	
शुक्र	जेठ	ग्रीष्म
शुचि	आषाढ़	
नभ	श्रावण	वर्षा
नभस्य	भाद्र	
ईष	कुआर	शरद्
ऊर्ज	कार्तिक	
सह	अगहन	हेमन्त
सहस्य	पूस	
तप	माघ	शिशिर
तपस्य	फागुन	

संसर्प = अधिमास (पुरुषोत्तम मास)

अंहस्पति = क्षयमास

ये नाम तैत्तिरीय-संहिता में दो बार आये हैं (१।४।१४,४।४।११) इन नामों के अतिरिक्त तैत्तिरीय-ब्राह्मण (३।१०।१) में इन मासों के लिए अरुण, अरुणरजा, पुण्डरीक आदि नाम पाये जाते हैं। संवत्सर के २४ अर्धमासों के लिए भी नाम दिये गये हैं। वेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि मध्वादि और अरुणादि के नाम तो वेदों में अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनमें चन्द्रमा के पूर्ण होने की तथा तज्जन्य विशिष्ट मास—नाम की कल्पना संहिता भाग में उपलब्ध नहीं होती। ब्राह्मणकाल में फाल्गुनी (पौर्णमासी) आदि नाम प्रचलित थे, परन्तु फाल्गुन, चैत्र आदि मास-नाम तो

नहीं मिलते; संहिताकाल में तो फाल्गुनी आदि नाम भी नहीं मिलते। किस गणना से धीरे-धीरे फागुन, चैत्र, वैशाख आदि नामों का उदय कालान्तर में, अर्थात् ब्राह्मणकाल के अनन्तर हुआ इसका सुन्दर वर्णन श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' (हिन्दी सं०) में किया है (पृष्ठ ५४-५६)।

अयन

सूर्य की गति से सम्बन्ध रखने से अयन दो होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। सायन मकरारम्भ से लेकर कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण होता है और कर्कारम्भ से लेकर मकरारम्भ तक दक्षिणायन होता है। सूर्य विषुवद् वृत्त के चाहे जिस ओर हो, उत्तरायण में प्रतिदिन क्रमशः उत्तर की ओर और दक्षिणायन में दक्षिण की ओर खिसकता रहता है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट शब्दों में इन दोनों का प्रतिपादन नहीं है, परन्तु इस तथ्य के संकेत देने वाले उल्लेख अवश्य मिलते हैं। शतपथ-ब्राह्मण (२।१।३) का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ते देवा ऋतवः। शरद् हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो······। स सूर्यो यत्रोदगावर्तते, देवेषु तर्हि भवति। यत्र दक्षिणावर्तते, पितृषु तर्हि भवति॥

इस कथन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सूर्य वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओं में उत्तरायण होता है और अन्य तीन ऋतुओं में दक्षिण दिशा की ओर मुड़ता है। फलतः इसे दक्षिणायन भली-भाँति कह सकते हैं। यहाँ इन शब्दों के अभाव में भी उनके नाम का स्पष्ट संकेत है। उपनिषत्काल में नाम भी मिलते हैं। नारायण उपनिषद् (अनु० ८०) में 'उदगयन' शब्द मिलता है जहाँ ज्ञानी को उस अयन में मृत्यु होने पर देवमार्ग से जाकर आदित्य के साथ सायुज्य की प्राप्ति होती है। दक्षिणायन में मरने पर पितृमार्ग से जाकर चन्द्रमा के साथ सायुज्य की उपलब्धि होती है। इन वक्तव्यों को दृष्टि में रख कर देखने से स्पष्ट है कि वैदिक युग में अयन का तत्त्व निर्दिष्ट किया गया था और देवता तथा पितरों से उनका सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। अन्य ग्रन्थों में देवयान तथा पितृयान की संज्ञायें उल्लिखित हैं। नाम न होने पर भी यहाँ उसका संकेत स्पष्टतः हो जाता है।

नक्षत्र

नक्षत्रों का ज्ञान किस प्रकार संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में शनैः शनैः परिवर्धित होता गया—इसका परिचय तत्तत् ग्रन्थों के अध्ययन से भली-भाँति लग सकता है, विशेषतः तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण के द्वारा। ऋग्वेद में दो-चार ही नक्षत्रों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। पुष्य वाचक 'तिष्य' का उल्लेख (५।५४।१३) तथा (१०।६४।८) मंत्रों में, चित्रा का (४।५१।२,) रेवती का उल्लेख

४।५२।४७ में उपलब्ध होता है। इनके नक्षत्रवाची होने में संदेह नहीं है। एक मंत्र में दो नक्षत्रों का एकत्र उल्लेख किया गया है—

सूर्याया वहतुः प्रागाद् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥
(ऋ० सं० १०।८५।१३)

सूर्य की दुहिता सूर्या के पतिगृह जाने का प्रसंग है। मंत्र का तात्पर्य है कि सविता ने जो दहेज (वहतुः, अपनी कन्या के वास्ते दिया, वह सूर्या से पहिले ही आगे गया। अघा (मघा) नक्षत्र में गायों का मारते हैं (पीटते हैं, आगे चलने के लिए) और अर्जुनी (फल्गुनी) नक्षत्र में कन्या को ले जाते हैं। यही मंत्र अथर्व संहिता में भी आया है (१४।१।१३)। वहाँ 'अघासु' के स्थान पर 'मघासु' और 'अर्जुन्योः' के स्थान 'फल्गुनोषु' पाठ उपलब्ध होता है। फ़लतः ऋग्वेद के मंत्र में 'अघा' का अर्थ 'मघा' तथा अर्जुनी का अर्थ फल्गुनी है। ध्यान देने की बात है कि तैत्तिरीय वेद तथा वेदोत्तर कालीन ज्योतिष ग्रन्थों में इन शब्दों के लिङ्ग, वचन तथा क्रम वे ही माने जाते हैं जो ऋग्वेद के पूर्वोक्त मंत्र में हैं। आज भी 'फल्गुनी' विवाह-कालोन कन्या-यात्रा के लिए शुभ नक्षत्र माना जाता है। यह संकेत ज्योतिष की वैदिक परम्परा का स्पष्ट सूचक है।

तैत्तिरीय-संहिता (४।४।१०), तैत्तिरीय-ब्राह्मण (१।५।१) तथा (३।१।४।६) अथर्वसंहिता (१९।७)—इनका एकत्र अनुशीलन करने से नक्षत्रों, उनके रूप, उनकी संख्या तथा उनके देवता के विषय में प्रचुर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है[1]। यहाँ २७ नक्षत्रों के नाम वे ही हैं जिनसे हम अवान्तर कालीन ग्रन्थों में परिचित हैं। नक्षत्र शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण का यह वचन क्षत न होने के कारण ही 'नक्षत्र' नामकरण का कारण बतलाता है—

न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्।
(तै० ब्रा० २।७।१८।३)

निरुक्त के अनुसार 'नक्षत्र' की व्युत्पत्ति नक्ष् गतौ धातु से है। नक्ष् का अर्थ है चलना। फलतः 'नक्षत्र' शब्द का सम्बन्ध इसी धातु से उपपन्न होता है। वह अर्थ वस्तुतः तै० ब्रा० (१।५।२) के एक वाक्य के ऊपर आश्रित है—

अमुं स लोकं नक्षते। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्।

इसका तात्पर्य यही है कि यज्ञ करनेवाला व्यक्ति उस लोक (स्वर्ग लोक) में

१. द्रष्टव्य दीक्षित—भारतीय ज्योतिष (हिन्दी सं०), पृष्ठ ७४ तथा ७५, (प्रकाशक हिन्दी समिति, लखनऊ १९५७)।

जाता है और वह 'नक्षत्र' बनकर वहाँ वास करता है। इस लोक के पुण्यात्मा ही उस स्वर्गलोक में नक्षत्रों के रूप में परिणत हो जाते हैं। अन्य बहुत सी ज्ञातव्य बातें नक्षत्रों के विषय में यहाँ दी गयी हैं। किसी प्राचीन समय में तारा तथा नक्षत्र में अन्तर नहीं माना जाता था, परन्तु तैत्तिरीय वेद ने दोनों का अन्तर स्पष्ट शब्दों में किया है।

ब्राह्मणों में इन नक्षत्रों के विषय में बड़ी रोचक आख्यायिकायें उपलब्ध होती हैं जो पुराणों में परिबृंहित रूप से मिलती हैं। ऐसी ही मनोरंजक कथा में रोहिणी, मृग तथा मृगव्याध के विषय में ऐतरेय-ब्राह्मण (१३ । ९) में उपलब्ध होती हैं जिसका उल्लेख कालिदास ने अपने शकुन्तला नाटक में तथा पुष्पदन्त ने महिम्नःस्तोत्र में किया है।

ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के ज्योतिष-विषयक निर्देशों से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऋग्वेद में वसन्त संपात मृगशीर्ष में पड़ता था और तदनुसार वेद का आविर्भाव काल विक्रम से चार हजार वर्ष पूर्व होना चाहिए।[१]

वैदिक साहित्य में इस प्रकार खगोल-विषयक महत्त्वशाली सामग्री उपलब्ध होती है। ज्योतिर्विज्ञान के विकास के निमित्त इसका परिचय नितान्त आवश्यक है।

वेद तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होनेवाले इन तथ्यों को देख कर हम भली-भाँति कह सकते हैं कि ज्योतिषशास्त्र की नींव बहुत ही गहरी तथा प्राचीन है। वैदिक आर्य स्वयं खगोल का ज्ञान रखते थे, नहीं तो इतना सटीक वर्णन इतने प्राचीन युग में सम्भव नहीं था। आगे चल कर ज्योतिष एक वेदांग ही माना जाने लगा, जिसकी सहायता से वेद के कर्मकाण्ड का मर्म समझा जाता था।

वेदांग ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष ही भारतीय ज्योतिषशास्त्र का सबसे आदिम तथा प्राचीनतम स्वतन्त्र लक्षण ग्रन्थ है। इसके दो पाठ उपलब्ध होते हैं—एक आर्च (ऋग्वेद से सम्बद्ध) और दूसरा याजुष (यजुर्वेद से सम्बद्ध)। विषय दोनों में प्रायः एक समान ही है, परन्तु श्लोकों की संख्या में अन्तर है। यजुर्वेदीय ज्योतिष में ४४ श्लोक हैं, जब कि ऋग्वेदीय में केवल ३६। दोनों में अधिकांश श्लोक भी एक ही हैं, परन्तु श्लोकों के क्रमों में अन्तर है। विद्वानों का कथन है कि दोनों में श्लोकों के अन्तर का कारण यह है कि यजुर्वेदीय ज्योतिष में टीका के रूप में कुछ श्लोक बढ़ा दिये गये हैं।

---

१. द्रष्टव्य—लोकमान्य का 'ओरायन' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' पृष्ठ १११-११४।

वेदांग ज्योतिष परमाण में तो थोड़ा है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से नितान्त गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है। इसके अर्थ समझने का उद्योग बहुत दिनों से होता आ रहा है। सोमाकर के भाष्य को अपूर्ण जानकर सुधाकर द्विवेदी ने एक नवीन व्याख्या लिखी। पाश्चात्य ज्योतिषी तथा भारतीय विद्वानों ने इस पर बहुत माथा लगाया है और उसके श्लोकों के मूल अर्थ को समझाने का यत्न किया है। वेदांग ज्योतिष में पञ्चाङ्ग-पद्धति स्थूल रूप से वही है जो आजकल प्रचलित है। महीने चन्द्रमा के अनुसार चलते थे, प्रत्येक मास ३० भागों में बांटा जाता था, जिन्हें तिथि कहते थे। वर्ष में साधारणतया बारह महीने होते थे, परन्तु आवश्यकतानुसार वर्ष का आरम्भ तथा ऋतु का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए एक महीना बढ़ा भी दिया जाता था।

वेदांग ज्योतिष में पाँच वर्ष का युग माना गया है और बताया गया है कि एक युग में १८३० दिन होते हैं तथा ६२ चान्द्रमास होते हैं। इस प्रकार एक चान्द्रमास का मान २९·५१६ दिन निकलता है जो, वास्तविकता से कम है। यदि लम्बा युग चुना गया रहता जैसा कि पिछले ज्योतिष ग्रन्थों में किया गया है, तो ऐसी त्रुटि नहीं होती। इसी प्रकार बहुत सी नक्षत्र सम्बन्धी गणनाओं की चर्चा यहाँ है। आठ श्लोकों में बतलाया गया है कि पूर्णिमा या अमावस्या पर चन्द्रमा अपने नक्षत्र में किस स्थान पर रहता है। विषुवत् की गणना का प्रकार भी यहाँ बतलाया गया है। विषुवत् पर दिन और रात बराबर होते हैं। वर्ष में ऐसे दिन का पता लगाना ज्योतिषियों के लिए एक बहुत ही आवश्यक कार्य रहा है। ग्रहों के योग से जो शुभाशुभ फल उत्पन्न होते हैं, उनका भी वर्णन इस ग्रन्थ में है।

वेदांग ज्योतिष के रचयिता का नाम लगध बतलाया गया है। यह कहना कठिन है कि लगध कौन थे, क्योंकि संस्कृत साहित्य में इनका नाम अन्यत्र नहीं है। ग्रन्थ में दिये गये साधनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसका रचना-काल १२०० ई० पूर्व है।

ज्योतिष के इतिहास में वेदांग ज्योतिष प्राचीनतम काल की समाप्ति का सूचक है। इसके अनन्तर तथा आर्यभट (षष्ठ शतक) के बीच का काल एक प्रकार से अन्धकारयुग है। ईस्वी के आरम्भ काल में संहिताओं का प्रणयन हुआ जिनमें आकाशीय पिण्डों की गति तथा स्वरूप आदि के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक गवेषणायें हैं। इस प्रकार प्रथम शती से लेकर पंचम शती के काल को हम ज्योतिष के इतिहास में 'संहिता-युग' के नाम से व्यवहृत करते हैं। आर्यभट से लेकर भास्करा-चार्य तक का समय ज्योतिष का सुवर्ण युग है जिसमें अनेक प्रतिभाशाली ज्योतिषियों तथा गणितज्ञों ने अपनी मौलिक गवेषणा और पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याओं के द्वारा इस

शास्त्र को खूब ही चमका दिया। विश्व के इतिहास में ज्योतिर्विज्ञान का उत्कर्ष इस युग की प्रौढ रचनाओं के ही कारण है।

सिद्धान्त युग

वेदांग ज्योतिष से आरम्भ कर जो युग वराहमिहिर तक चला आता है उसे हम सिद्धान्त युग के नाम से पुकार सकते हैं, क्योंकि इस युग में सिद्धान्तों का प्रचलन विशेष रूप से हुआ है। यह युग हमारे लिये अन्धकारमय ही होता, यदि वराह-मिहिर ने उस युग में प्रचलित पाँच सिद्धान्तग्रन्थों का सारांश अपने पंचसिद्धान्तिका में नहीं दिया होता। वराह-मिहिर स्वय एक प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे और वे एक स्वतत्र सिद्धान्त-ग्रन्थ के बनाने की क्षमता रखते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा न कर उस युग के सिद्धान्त ग्रन्थों का जो परिचय प्रस्तुत किया वह इतिहास की दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली है।

'पञ्चसिद्धान्तिका' की जो प्रति आज उपलब्ध है तथा जिसे डॉ० थीबो और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने अंग्रेजी अनुवाद तथा संस्कृत टीका के साथ सन् १८८९ ई० में प्रकाशित किया था वह अनेक स्थलों पर अशुद्ध तथा भ्रष्ट है। तथापि दोनों सम्पादकों के अश्रान्त परिश्रम से इस ग्रन्थ का उद्धार करना ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन पाँच सिद्धान्तों के नाम हैं—पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर तथा पैतामह। इनके विषय में वराहमिहिर ने स्वयं लिखा है कि "इन पाँचों में पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाटदेव हैं। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक सिद्धान्त उसी के निकट है, सूर्यसिद्धान्त सबसे अधिक स्पष्ट है, तथा शेष दोनों, अर्थात् वासिष्ठ सिद्धान्त तथा पितामह सिद्धान्त बहुत भ्रष्ट हैं।" पितामह सिद्धान्तमें गणना के लिये ८० ई० को आदिकाल माना गया है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना का काल यही है, अर्थात् प्रथम शती।

इन सिद्धान्त ग्रन्थों में सूर्य-सिद्धान्त नामक ग्रन्थ अलग से भी उपलब्ध है और इसका सारांश पंचसिद्धान्तिका में भी दिया गया है। दोनों की तुलना करने से दोनों में अन्तर प्रतीत होता है। जान पड़ता है कि प्राचीन सूर्य सिद्धान्त में नये संशोधन किये गये हैं जिनका लक्ष्य यह था कि सूर्य चन्द्रमा आदि ग्रहों के चक्कर लगाने का समय (जिसका पारिभाषिक नाम भगण है) आँख से देखे गये या यन्त्रों से नापे गये (वेध-प्राप्त) मानों के यथासम्भव निकट आ जाय। इस प्रकार संशोधित सूर्य-सिद्धान्त, यद्यपि इसका संशोधन आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था, पुराने ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक शुद्ध फल देता है। सूक्ष्म विवेचन के आधार पर थीबो तथा सुधाकर द्विवेदी का कहना है कि वराहमिहिर ने अपने समय में प्रचलित सूर्यसिद्धान्त

का सच्चा सारांश दिया था। इससे विश्वास है कि अन्य सिद्धान्तों का विवरण भी यथार्थ तथा अपनी ओर से बिना किसी विवरण के है।

(१) **पितामह-सिद्धान्त**—पंचसिद्धान्तिका के बारहवें अध्याय में केवल पांच श्लोकों में इसका परिचय दिया गया है जिससे पता चलता है कि इसका मत वेदांग ज्योतिष से मिलता जुलता है और उसी के समान पाँच वर्षों का युग माना गया है। वर्ष में महत्तम दिनमान १८ मुहूर्त माना गया है तथा लघुतम दिनमान १२ मुहूर्त।

(२) **रोमक-सिद्धान्त**—रोमक सिद्धान्त का लेखक श्रीषेण हैं। परन्तु थीबों का मत है कि श्रीषेण ने कोई मौलिक ग्रन्थ न लिख कर किसी पुराने रोमक सिद्धान्त को नया रूप दिया है। प्राचीन टीकाकारों ने अनेक बार श्रीषेण को रोमक-सिद्धान्त का रचयिता माना है। पंचसिद्धान्तिका के प्रथम अध्याय में रोमक-सिद्धान्त की युग-सम्बन्धी कल्पनायें निबद्ध हैं जिनका प्रचार प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी मेटन ने ४३० ई० पूर्व किया था। इनके अनुसार वर्षमान ठीक यही है जो यूनानी ज्योतिषी हिपार्कस (१४६–१२७ ई० पूर्व) ने अपने ग्रन्थ में दिया है। यह वर्षमान है ३६५ दिन ५ घण्टा, ५५ मिनट, १२ सेकन्ड। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य बातों में भी रोमक सिद्धान्त यवन-ज्योतिष से समानता रखता है। परन्तु कई बातों में भिन्नता भी है। इसलिए हम रोमक-सिद्धान्त को यूनानी ज्योतिष का अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं मानते। वराहमिहिर से पूर्व भारत तथा यूनान में आवागमन विशेष था। इसलिए यूनानी ज्योतिष का भी आगमन इसी विचार—विनिमय का एक स्फुट रूप है। पंचसिद्धान्तिका में रोमक सिद्धान्त के अतिरिक्त, रोमक देश, यवनपुर यवनाचार्य आदि शब्द भी आये हैं। यवनपुर का जो देशांतर दिया गया है उससे पता चलता है कि यह मिश्र देश का प्रसिद्ध नगर सिकन्दरिया रहा होगा जिसकी स्थापना सन् ३३२ ई० पूर्व सिकन्दर महान् ने डाली और जो उस युग में तथा रोमन काल में अपनी विद्या, वैभव तथा विश्वविद्यालय के लिए पाश्चात्य देश में सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

(३) **पुलिश सिद्धान्त**—पंचसिद्धान्तिका में इसके सिद्धान्तों का परिचय पाठों की अशुद्धि के कारण विशुद्ध रूप से नहीं मिलता। यहाँ ग्रहणों की गणना के लिए भी नियम दिये गये हैं, परन्तु वे सूर्यसिद्धान्त तथा रोमक-सिद्धान्त की अपेक्षा बहुत ही स्थूल है। यहाँ वर्ष का मान ३६५ दिन, ६ घण्टा, १२ मिनट का माना गया है तथा उज्जैन और काशी से यवनपुर का देशांतर भी बतलाया गया है। भट्टोत्पल ने बृहत्-संहिता की टीका में तथा पृथूदक स्वामी ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त की टीका में पुलिश-सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जो इस ग्रन्थ से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता हैं। उसमें वर्ष का मान ३६५ दिन, ६ घण्टा, १२ मिनट, ३६ सेकण्ड था, जो उससे भिन्न है।

(४) **वसिष्ठ-सिद्धान्त**—इसका बहुत ही संक्षिप्त विवरण मिलता है। इसका बहुत कुछ सिद्धान्त-पितामह सिद्धान्त की तरह मिलता है। वराहमिहिर स्वयं इसे

भ्रष्ट मानते हैं। ब्रह्मगुप्त ने स्फुटसिद्धान्त में विष्णुचन्द्र के द्वारा लिखे गये वशिष्ठ-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। सम्भव है कि विष्णुचन्द्र ने मूलवसिष्ठ-सिद्धान्त का एक संशोधित संस्करण निकाला था जिसे ब्रह्मगुप्त ने बहुत ही निम्नकोटि का माना था। आजकल 'लघुवसिष्ठ-सिद्धान्त' के नाम से जो ग्रन्थ प्रकाशित है वह इससे भिन्न है।

(५) **सूर्यसिद्धान्त**—वराहमिहिर ने स्वयं ही सूर्यसिद्धान्त को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। आज भी सूर्यसिद्धान्त उपलब्ध है जिसका अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित है।[1] यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ से अनेक बातों में भिन्नता रखता है। इस संशोधित सूर्यसिद्धान्त में १४ अधिकार या अध्याय हैं। पहले अध्याय में इस ग्रन्थ के रहस्य को बतलाने वाले स्वयं भगवान् सूर्य बतलाये गये हैं और उन्हीं के उपदेश को सुनकर मय नामक असुर ने इसका निर्माण किया। इसके मूल रचयिता का पता नहीं चलता। यहाँ ग्रहों की मध्यगतियों का वर्णन है। सूर्य, चन्द्रमा तथा बुध आदि ग्रह समानकोणीय वेग से नहीं चलते, परन्तु गणना की सुविधा के लिए यह मान लिया जाता है कि वे समान वेग से चलते हैं। इस कल्पना के अनुसार गणना करने से जो स्थिति प्राप्त होती है उसे मध्यमज्या मध्यम स्थिति कहते हैं। ग्रह की गतियों का वर्णन करने के अनन्तर बीजसंस्कार करने का उपदेश है। गणना और वेध में अन्तर होने के कारण बीज-संस्कार आवश्यक समझा गया, अर्थात् युग में सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के भगणों की संख्या में परिवर्तन कर दिया गया। दूसरे शब्दों में उनकी दैनिक गति बदल दी गयी। यह लगभग १६वीं शताब्दी में किया गया होगा। सूर्य-चन्द्र को जो सारिणी बरजेस ने अपने अनुवाद ग्रन्थ में दी है उससे पता चलता है कि सूर्यसिद्धान्त के मान पर्याप्त शुद्ध हैं। आधुनिक का सूर्य-वर्षमान ३६५ दिन, ६ घण्टा, ९ मिनट, १०·८ सेकण्ड है। सूर्यसिद्धान्त में यह मान ३६५ दिन ६ घण्टा, १२ मिनट, ३६·६ सेकण्ड है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि आजकल भी वैज्ञानिक गणना के समकक्ष होने के कारण सूर्यसिद्धान्त की गणना पर्याप्त रूपेण शुद्ध, प्रामाणिक तथा यथार्थ है और इसीलिए इसके आधार पर बने हुए पञ्चांग आदि भी उपयोगी तथा उपादेय हैं।

दूसरे अध्याय में ग्रहों की स्पष्ट स्थिति का वर्णन है और इसके लिए ज्या-सिद्धान्त का उपयोग किया गया है। ग्रहण के विषय में चन्द्रमा का व्यास ४८० योजन बतलाया गया है। पृथ्वी के बताये गये व्यास (१६०० योजन) से तुलना

---

1. (क) महावीर प्रसाद श्रीवास्तव कृत विज्ञान भाष्य के साथ विस्तृत हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक—विज्ञान परिषद् प्रयाग।
   (ख) पादरी बरजेस द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम सं० १८६० ई०, द्वितीय सं० १९३५, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

करने पर चन्द्रमा का व्यास पृथ्वी के व्यास का ०·३३ है, जो वास्तविक माप ०·२७ से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु सूर्य के व्यास का वर्णन बिलकुल ही अशुद्ध है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से चौगुना यहाँ बतलाया गया है, जो वास्तविक व्यास से बहुत ही अशुद्ध है। इसी प्रकार सूर्यग्रहण बतलाने की पद्धति में बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ कई नियम बतलाये गये हैं, यद्यपि अनेक संशोधनों के छोड़ देने के कारण से अन्तिम परिणाम ठीक नहीं निकलता। इसके अनन्तर ग्रहयुति, नक्षत्रयुति आदि का वर्णन है। एक अध्याय में ज्योतिष के यन्त्रों के बनाने का वर्णन है। अन्तिम अध्याय (मानाध्याय) में अयन, संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, चान्द्र तथा सावन वर्ष के समयों का विवेचन किया गया है। यहाँ बतलाया गया है कि सावन दिन सूर्य के एक उदय से लेकर दूसरे उदय तक के समय को कहते हैं।

रचना-काल—संशोधित सूर्यसिद्धान्त का समय क्या है; एक विषम पहेली है। यह एक समय की रचना न होकर भिन्न भिन्न शताब्दियों के संशोधनों के जोड़ने से बना है। इसमें परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त में आजकल ठीक पाँच सौ श्लोक मिलते हैं और उसका पाठ वही है जो इसके भाष्यकार रंगनाथ ने १६०३ ई० में स्थिर कर दिया। उसके अनन्तर क्षेपक मिलाना कठिन हो गया। परन्तु वराह-मिहिर के काल से १७शती के आरम्भ तक नये-नये संशोधन समय-समय पर जोड़े ही जाते रहे। यह ग्रन्थ की उत्तमता का पर्याप्त सूचक है कि जैसे जैसे वेध से पता चला कि आँख से देखी हुई बातों तथा शास्त्रीय गणना में अन्तर पड़ता है वैसे वैसे ज्योतिषियों ने उसके अंकों को थोड़ा थोड़ा बदल कर उसे अधिक उपयोगी तथा शुद्ध बना दिया। यह ५०० ई० में मूलतः लिखा गया और भारतीय ज्योतिष के इतिहास में यह ऐसा ग्रन्थरत्न है जिसकी प्रभा समय के परिवर्तन से धीमी न होकर बढ़ती ही जाती है।

आर्यभट

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास की परम्परा निश्चित रूप से आर्यभट से आरम्भ होती है। वेदांग ज्योतिष की रचना लगभग १५०० ई० पूर्व मानी जाती है। उसके बाद एक हजार वर्ष तक किसी भी ज्योतिषी का पता नहीं चलता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय ३०० ई० पूर्व में ज्योतिष की विशेष उन्नति हो चुकी थी। जैनियों के **सूर्यप्रज्ञप्ति** तथा **चन्द्र-प्रज्ञप्ति** नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो कौटिल्य के एक शताब्दी पीछे के हैं। उनका विषय विश्व की रचना है तथा इनमें सूर्य-चन्द्रविषयक कल्पनायें जैनधर्म के अनुसार निर्दिष्ट की गयी हैं।

आर्यभट का जन्म ४७६ ई० में कुसुमपुर (पटना) में हुआ था। इन्होंने २३ वर्ष के वय में ४९९ ई० में अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो इन्हीं के नाम पर आर्यभटीय

कहलाता है। इस ग्रन्थ में शककाल तथा विक्रम संवत् की चर्चा नहीं है और ग्रहों की गणना के लिये ३६०० कलिसंवत् (४९९ ई०) को निश्चय किया है। पंचम शती के मध्य में 'महासिद्धान्त' के रचयिता एक दूसरे ज्योतिषी इसी नाम के हुए हैं। उनसे इनको पृथक् करने के लिए इन्हें आर्यभट प्रथम कहना उचित होगा। ये बड़े ही प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में लिखित सिद्धान्तों को अपने अनुभवों से शोधकर इस आर्यभटीय ग्रन्थ की रचना की है। आर्यभटीय की रचना-पद्धति बहुत ही वैज्ञानिक है तथा भाषा बहुत ही संक्षिप्त है जिससे इनके सिद्धान्त कुछ दुरूह से लगते हैं।

सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिना वा॥
(गोलपाद। श्लोक ४९)

आर्यभटीय के सिद्धान्त

आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खण्डों में विभाजित हैं—(१) गीतिकापाद, (२) गणितपाद, (३) कालक्रियापाद, (४) गोलपाद। गीतिकापाद केवल ११ श्लोकों का है और जो विषय यहाँ वर्णित हैं वह सूर्यसिद्धान्त के कई अधिकारों में हैं। लम्बी संख्याओं को श्लोक में रखने की दृष्टि से इन्होंने अक्षरों के द्वारा संख्या प्रकट करने की नवीन रीति का प्रचलन किया। इस पद्धपि के अनुसार 'क' से लेकर 'म' तक के वर्ण क्रमशः १ से लेकर २५ संख्या के द्योतक हैं। 'य' का मूल्य है ३० तथा उसके अनन्तर के हकार तक के सभी वर्णों के मूल्य में १० की वृद्धि होती गयी है। इस प्रकार य = ३०, र = ४०, ल = ५०, व = ६०, श = ७०, ष = ८०, स = ९०, ह = १००। मात्राओं तथा स्वरों का मूल्य इनके विलक्षण हैं। वह इस प्रकार है—

अ = १, इ = १००, उ = $१००^२$,
ऋ = $१००^३$, लृ = $१००^४$, ए = $१००^५$,
ऐ = $१००^६$, ओ = $१००^७$, औ = $१००^८$,

(२) आर्यभट का मूल सिद्धान्त है कि पृथ्वी का दैनिक भ्रमण होता है, अर्थात् नाव के चलने के समान पृथ्वी भी सदा चला करती है तथा सूर्य स्वयं स्थिर है। (गोलपाद ९ श्लोक)। इस सिद्धान्त से इनकी विचार-स्वतंत्रता का परिचय मिलता है। इनके इसी सिद्धान्त के कारण वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त आदि ज्योतिषियों ने इनकी निन्दा की है।

(३) युगों के परिमाण में भी इनका नवीन मत है जहाँ प्रत्येक महायुग में

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग भिन्न भिन्न परिमाण के माने जाते हैं, वहाँ इन्होंने सबको समान ही माना है।

आर्यभट ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी बातें लिखी हैं जिससे पता चलता है कि चैत्र शुक्ला प्रतिपद् से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरम्भ होती है। यहाँ ग्रहों की मध्यमगति तथा स्पष्टगति सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय (गोलपाद) में ५० श्लोक हैं जिसमें गोल-सम्बन्धी अनेक नियम, युगसम्बन्धी नवीन कल्पनायें, सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना आदि अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों की समीक्षा की गयी है। पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के विषय में आर्यभट ने सुन्दर उदाहरण देकर लिखा है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दिशा में चलता हुआ देखता है, वैसे ही लंका (भूमध्यरेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं (श्लोक ९)। इसके अतिरिक्त खगोल-सम्बन्धी बहुत-सी बातें दी गयी हैं। इस प्रकार ज्योतिष सिद्धान्त सम्बन्धी सभी बातें और उच्च गणित की कुछ बातें संक्षेप रूप से यहाँ लिखी गयी हैं।

आर्यभटीय[1] के ऊपर चार टीकायें मिलती हैं, जिनके रचयिताओं के नाम हैं—(१) भास्कर प्रथम, (२) सूर्यदेव, यज्वा, (३) परमेश्वर, (४) नीलकंठ। परमेश्वर की 'भट-दीपिका' के साथ उदयनारायण सिंह ने हिन्दी में टीका की है। सूर्यदेव यज्वा की अप्रकाशित टीका 'आर्यभटप्रकाश' पहले से अच्छा बतलाया जाता है।

वराहमिहिर

अवन्ति के सूर्यभक्त वराहमिहिर का स्थान ज्योतिष—जगत् में वस्तुतः सूर्य के सदृश है। ये अवन्ति के निवासी थे। इन्होंने अपने समय की सुस्पष्ट चर्चा नहीं की है, तथापि 'पञ्चसिद्धात का' नामक अपने करणग्रन्थ में गणितारम्भ का वर्ष ४२७ शकसंवत् (५०५ ई०) है। उस समय यदि इनकी उम्र पचीस वर्ष की मान ली जाय तो इनका जन्मकाल ४८० ई० अनुमानतः माना जा सकता है। फलतः वराहमिहिर का जीवन-काल षष्ठशती का पूर्वार्ध मानना सर्वथा उचित है। इनके पिता का नाम आदित्यदास था, जो इनके विद्यागुरु भी थे। 'कापित्थक' इनका वासस्थान था। यह स्थान आज भी उज्जयिनी के पास 'कामथा' नाम से प्रख्यात है। सूर्य को प्रसन्न कर इन्होंने अशेष ज्ञान प्राप्त किया था इनके पुत्र पृथुयशस् ने 'षट्पञ्चाशिका' का निर्माण किया जो आज भी प्रचलित है।

---

१. अंग्रेजी में इसके कई अनुवाद मिलते हैं—(१) पी० सी० सेनगुप्त कलकत्ता १९२० तथा (२) डब्ल्यू० ई० क्लार्क, शिकागो १९३० । इन दोनों से पहिले डा० कर्न ने इसका अनुवाद हालेन्ड से १८७४ ई० में प्रकाशित किया था।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ अपने विषय की प्रौढ, प्रामाणिक रचना में हैं। प्रधान ग्रन्थों के नाम में—(क) पञ्चसिद्धान्तिका (जिसका ऐतिहासिक महत्त्व पूर्व में वर्णित है), (ख) बृहज्जातक (जातक के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ); (ग) बृहद्यात्रा तथा बृहद्विवाहपटलयात्रा। (घ) बृहत्संहिता।

लाटदेव

वाराहमिहिर ने पञ्चसिद्धांतिका में जिन पाँच ग्रन्थों का संग्रह किया है उनसे प्रथम दो, अर्थात् पौलिश और रोमक, के ये रचीयता माने जाते है। भास्कर प्रथम द्वारा रचित महाभास्करीय से ज्ञात होता है कि ये आर्यभट के शिष्य थे। इनका समय संवत् ५६२ से ६६५ के बीच में माना जा सकता है। रोमक सिद्धान्त की रचना-शैली से यह ज्ञात होता है कि यह ग्रीक (यूनानी) सिद्धान्तों पर आश्रित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सिकन्दरिया के सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद तालोमी के सिद्धान्तों के आधार पर इसकी रचना हुई है। इसका प्रमाण वे यवनपुर के मध्य-कालीन सिद्ध किये गये अहर्गण को रखते हैं। ब्रह्मगुप्त ने इसके सिद्धान्तों की खूब ही निन्दा की है। पुलिशसिद्धान्त नामक ग्रन्थ का उल्लेख भट्टोत्पल ने वाराहमिहिर के 'बृहत्संहिता' की टीका में और पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के 'स्फुटसिद्धान्त' की टीका में किया है। अलबेरूनी के मतानुसार अलेकजेंड्रियावासी पोलस के यूनानी सिद्धान्तों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। डा० कर्न ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार प्राचीन भारतीयों को 'यवनपुर' (वर्तमान सिकन्दरिया) ज्ञात था तथा वे वहाँ के अक्षांश, देशान्तर आदि से पूर्ण परिचित थे। यह सिद्धान्त-ग्रन्थ रोमकसिद्धान्त की अपेक्षा बहुत ही स्थूल है। गणना की सुविधा के लिये सन्निकट मानों और सन्निकट नियमों से काम चलाया गया है। प्राचीन मूल ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है।

भास्कर प्रथम

ये भास्कर लीलावती के सुप्रसिद्ध रचयिता भास्कराचार्य से भिन्न थे। इनके दो ग्रन्थ आजकल पाये गये हैं—(१) महाभास्करीय, (२) लघुभास्करीय। इन दनों ग्रन्थों में इन्होंने आर्यभट के सिद्धान्तों को प्रमाणस्वरूप दिया है। इनका जन्मस्थान अश्मक बतलाया जाता है, जो नर्मदा और गोदावरी के बीच में कहीं था। इन दोनों ग्रन्थों का उपयोग दक्षिण भारत में पंद्रहवीं शताब्दी तक होता रहा है।

ब्रह्मगुप्त

ज्योतिष के आचार्यों में ब्रह्म गुप्त का स्थान बहुत हो ऊँचा है। प्रसिद्ध भास्करा-चार्य ने इनको 'गुणकचक्रचूडामणि' कहा है और इनके मूलांको को अपनी रचना

सिद्धान्तशिरोमणि का आधार माना है। इनका जन्म ई० सन् ५९८ में पंजाब के 'भिलनालका' नामक स्थान में हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—(१) ब्राह्मस्फुटसिद्धांत, (२) खण्डखाद्यक। इन ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में भी हुआ है जिसमें 'अस् सिन्ध हिन्द' ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त का तथा 'अल् अर्कन्द' खण्डखाद्यक का अनुवाद है। इन्होंने कई स्थानों पर इसका निर्देश किया है कि आर्यभट, श्रीषेण, विष्णुचन्द्र आदि की गणना में ग्रहों का स्पष्ट स्थान शुद्ध नहीं आता और इसलिये वे ग्राह्य नहीं हैं। आगे चल कर आपने यह भी लिखा है कि ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से दृग्गणितैक्य होता है। इसलिए यह मान्य है।

तन्त्रभ्रन्शे प्रतिदिनमेवं विज्ञाय धीमता यत्नः।
कार्य्यस्तस्मिन् यस्मिन् दृग्गणितैक्यं सदा भवति ॥
(तन्त्रपरीक्षाध्याय ६०)

इस कथन से यह स्पष्ट है कि इन्होंने ग्रन्थों की रचना ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करके ही की थी। ये ही प्रथम ज्योतिषी थे जो प्रयोगों पर अटूट आस्था रखते थे। एक स्थल पर इन्होंने कहा भी है कि जब कभी गणना और वेध में अन्तर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिये।

ब्राह्मस्फुट में २४ अध्याय इस प्रकार हैं—मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्य्यग्रहणाधिकार, उदयास्ताधिकार, चन्द्रशृङ्गोन्नत्यधिकार, चन्द्रच्छायाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, तन्त्रपरीक्षाध्याय, गणिताध्याय, मध्यगति-उत्तराध्याय, स्फुटगति-उत्तराध्याय, त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, ग्रहणोत्तराध्याय, शृङ्गोन्नत्युट्टराध्याय, कुट्टकाध्याय, शंकुच्छायादिज्ञानात्याय, छन्दश्चित्युत्तराध्याय, गोलाध्याय, यन्त्राध्याय, मानाध्याय और संज्ञाध्याय। इस ग्रन्थ में न केवल ज्योतिष का, बल्कि बीजगणित, अंकगणित और क्षेत्रमिति का भी प्रामाणिक विवरण हमें प्राप्त होता है। इन अध्यायों में—ग्रहों की मध्यम गति की गणना, इनकी स्पष्ट गति जानने की रीतियाँ, दिशा, देश और काल जानने की रीतियाँ, चन्द्र एवं सूर्य्यग्रहण की गणना, ग्रहों का एक दूसरे के पास आना, चन्द्रमा के वेध से छाया का ज्ञान, नक्षत्रों के साथ ग्रहों की युति आदि का विवरण भली-भाँति शास्त्रीय ढंग से किया गया है।

गोलाध्याय नामक अध्याय में भूगोल और खगोल सम्बन्धी गणना है। इसमें भी कई खंड हैं—ज्या (Sine) प्रकरण, स्फुटगतिवासना, ग्रहणवासना, गोलबन्धधिकार। इनमें भूगोल तथा खगोल सम्बन्धी परिभाषायें और ग्रहों के बिम्बों के व्यास आदि जानने की रीतियाँ दी गई है।

ब्रह्मगुप्त की दूसरी रचना 'खण्डखाद्यक' है जिसे इन्होंने शक ५८७ (६६५ ई०) में अपनी ६९ वर्ष के वय में लिखा था। यह ग्रन्थ आर्यभट के सिद्धान्तों का अंशतः पक्षपाती है। इसमें दस अध्याय हैं जिनमें आरम्भ के आठ अध्याय तो केवल आर्यभटके

के अनुकरणमात्र हैं और उत्तरभाग के तीन अध्यायों में आर्यभट्ट की आलोचना संशोधनों के साथ की गई है। पूर्व खण्डखाद्यक के आठ अध्याय इस प्रकार है—तिथि, नक्षत्रादि की गणना, पंच ताराग्रहों को मध्य और स्पष्ट गणना, त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणादिका उदयास्ताधिकार, चन्द्रशृंगोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार।

कल्याण वर्मा

इनका समय ई० सन् ५७८ माना जाता है। इन्होंने यवनों के होराशास्त्र का सार 'सारावली' नामक ग्रन्थ में दिया है। यह बहुत ही विशाल है और जातकशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ में ४२ अध्याय है जिसमें ढाई हजार के लगभग श्लोक हैं। भट्टोत्पल ने वृहज्जातक की टीका में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

लल्ल

इनके पिता का नाम भट्ट त्रिविक्रम था। आर्यभट्ट प्रथम इनके गुरु माने जाते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिष्यधी वृद्धि' है जो आर्यभट के सिद्धान्तों का अनुसरण कर लिखा गया है। इसमें गणिताध्याय और गोलाध्याय नामक दो प्रकरण है। गणिताध्याय में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, पर्वसंभवाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, महापाताधिकार, और उत्तराधिकार नामक अध्याय हैं। गोलाध्याय मे छेदाधिकार, गोलबन्धाधिकार, मध्यगतिवासना, भूगोलाध्याय, ग्रहभ्रमसंस्थाध्याय, भुवनकोश, मिथ्याज्ञानाध्याय, यन्त्राध्याय और प्रश्नाध्याय नामक अध्याय हैं। लल्ल का एक अन्य ग्रन्थ 'रत्नकोश' भी है, जो एक संहिता ग्रन्थ है। शिष्यधीवृद्धि ग्रन्थ के निर्माण का मुख्य उद्देश्य आर्यभट के सिद्धान्तों को विद्यार्थियों के लिए सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करना था। जैसा इस श्लोक से ज्ञात भी होता है—

> विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीतं
> तंत्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः।
> कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तैः
> कर्म ब्रवीम्यहमतः क्रमशस्तदुक्तम्॥
>
> मध्यमाधिकार श्लो० २।

लल्ल के समय के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने इनका समय ४२१ शक सं० बतलाया है अर्थात् इन्हें ब्रह्मगुप्त से प्राचीन माना है, परन्तु इधर के अनुसंधानों से ये ब्रह्मगुप्त से लगभग एक शती पीछे सिद्ध किये जाते हैं। इनके ग्रन्थ का विषय निरूपण ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के आधार पर ही

प्रतीत होता है। ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थ में ज्योतिष तथा गणित दोनों का समुचित वर्णन किया है, परन्तु इन्होंने विषय की व्यापकता के कारण अपने को केवल ज्योतिष के वर्णन में ही सीमित किया है। लल्ल का समय ६७० शक (=७४८ ई०) निश्चित होता है।

आर्यभट द्वितीय

आर्यभट द्वितीय का ज्योतिष एवं गणित दोनों में महत्त्वपूर्ण है। इनका समय ९५० ई० के लगभग माना जाता है। सुधाकर द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'गणक-तरंगिणी' में इनका उल्लेख नहीं किया है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'महासिद्धान्त' है जिसमें ज्योतिष एवं गणित दोनों का समावेश है। इस ग्रन्थ में अट्ठारह अधिकार है जिसमें सब मिलाकर कुल ६२५ आर्या छन्द है। गोलाध्याय नामक चौदहवें अधिकार में पाटीगणित के प्रश्न है। १५वें अध्याय में क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रश्नोत्तराध्याय (१७) और कुट्टका-ध्याय भी है जिनमें ग्रहों की मध्यगति तथा कुट्टक सम्बन्धी प्रश्नों पर क्रमशः विचार किया गया है।

आर्यभट का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य संख्याओं में लिखने की नवीन पद्धति है जो आर्यभट प्रथम की पद्धति से सर्वथा भिन्न है। इसे 'कटपयादि' पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में मात्राओं के लगाने से संख्या में कोई भेद नहीं माना जाता। यह रीति आर्यभट प्रथम की रीति से अपेक्षाकृत सरल है—क्योंकि इसके याद करने में सुगमता है। यह रीति इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म	...	...	...	...	....
य	र	ल	व	श	ष	स	ह	...	...

अब तक के ज्योतिषियों ने जैसे ब्रह्मगुप्त, लल्ल आदि ने अयन-चलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। आर्यभट द्वितीय ही सर्वप्रथम ज्योतिषी हैं जिन्होंने इसकी कल्पभगण की संख्या का निर्देश किया है, जो बहुत ही अशुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट का समय वह था जब अयनगति के सम्बन्ध में हमारे सिद्धान्त निश्चित नहीं हुए थे। मुंजाल की पुस्तक 'लघुमानस' में अयन-चलन के स्पष्ट एवं शुद्ध उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि आर्यभट इनके कुछ पूर्व में हो चुके थे। मुंजाल का समय ८५४ शक (९३२ ई०) हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इनका समय ८०० शक (८७८ ई०) के आसपास होगा।

मुंजाल

इनका समय ८५४ शक के आसपास माना जाता है क्योंकि इन्होंने अपनी पुस्तक 'लघुमानस' में ग्रहों का ध्रुवकाल ८५४ शक ठहराया है। आगे चल कर भास्कराचार्य द्वितीय एवं मुनीश्वर ने मुंजाल के द्वारा बताये गये अयनगति का वर्णन किया है। इन प्रमाणों से यह निश्चित है कि ये ई० ९३२ के लगभग वर्तमान थे। मुंजाल अपने समय के एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी रह चुके हैं। ये ही सर्वप्रथम ज्योतिषी हैं जिन्होंने ताराओं का निरीक्षण कर नये विचारों को प्रस्तुत किया। अयनगति के सम्बन्ध में भी इनका महत्त्वपूर्ण योग है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'लघुमानस' है जिसमें आठ अधिकार हैं।

उत्पल

उत्पल का नाम ज्योतिष ग्रन्थों के टीकाकारों में अमर रहेगा। वृहज्जातक की टीका में इन्होंने उसके लिखे जाने के समय का उल्लेख किया है ८८८ शक (९६६ ई० चैत्र शुक्ल ५ गुरुवार)। इससे ज्ञात होता है कि ये दशक शती में आविर्भूत थे। इनकी पाँच टीकायें उपलब्ध हैं (१) वृहज्जातक (२) वृहत्-संहिता की टीका (३) खण्डखाद्यक की टीका (४) षट्पंचाशिका की टीका जिसके रचयिता वराहमिहिर के पुत्र बतलाये जाते हैं। (५) लघुजातक की टीका। इन टीकाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय का समस्त उपलब्ध ज्योतिष साहित्य उत्पल के अध्ययन का विषय था और इसी लिये इनकी टीकायें प्रौढ़, पांडित्यपूर्ण तथा प्रमेयबहुल हैं।

पृथूदक स्वामी

इन्होंने ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त पर एक टीका लिखी है तथा इनके मत का उल्लेख भास्कराचार्य (द्वितीय) ने अपने ग्रन्थों का अनेक स्थानों पर किया है। दीक्षित के मतानुसार ये उत्पल के समकालीन थे। इन्होंने ब्रह्मगुप्त के दूसरे ग्रन्थ 'खण्ड खाद्यक' की भी टीका लिखी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस प्रकार उत्पल ने वराहमिहिर के मतों की अपनी टीकाओं के द्वारा अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के कठिन ग्रन्थों को अपनी व्याख्या के द्वारा सुबोध तथा सरल बनाया। ब्रह्मगुप्त (६ शती) तथा भास्कराचार्य (१२ शती) के मध्यकाल में इनका उदय माना जा सकता है—लगभग १०म शती।

श्रीपति

ये अपने समय के अद्वितीय ज्योतिर्विद थे। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं (१) गणित तिलक (२) बीजगणित (३) धी कोटि-करण (४) सिद्धान्तशेखर (५) ज्योतिष रत्नमाला, (६) जातकपद्धति (जातकग्रन्थ) (७) दैवज्ञ बल्लभ (८) श्रीपतिनिबन्ध (९) ध्रुवमानस करण (१०) श्रीपति समुच्चय। इनके पाटीगणित के ऊपर सिंहतिलक

नामक जैन आचार्य की एक 'तिलक' नामक टीका है। ये गणित के ही विशेषज्ञ नहीं थे प्रत्युत ग्रहवेध-क्रिया से भी परिचित थे। इनका प्रधान ग्रन्थ सिद्धान्तशेखर वेधक्रिया द्वारा ग्रह-गणित की वास्तविकता को जान कर लिखा गया है। धी—कोटिकरण में गणित का जो उदाहरण दिया गया है, उसमें ९६१ शक की चर्चा है। अतः इनका समय एकादश शतक का मध्यकाल ठहरता है (१०४० ई०)

शतानन्द

इनका ग्रन्थ 'भास्वती करण' वराहमिहिर के सूर्य्य सिद्धान्त के आधार पर १०२१ शक (१०९९ ई०) में लिखा गया था। यह ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध था और इसलिए इसकी अनेक टीकायें संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ में आठ अधिकार या अध्याय हैं जिनमें ग्रहों की गति के वर्णन के अतिरिक्त सूर्यग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण का वर्णन अलग अध्यायों में किया गया है।

भास्कराचार्य द्वितीय

भास्कराचार्य द्वितीय वास्तव में ज्योतिर्गगन के भास्कर थे। वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त के बाद इनके समान प्रतिभाशाली तथा सकलगुणसम्पन्न दूसरा ज्योतिर्विद् नहीं हुआ। इनका जन्म सह्याद्रि पर्वत के निकट विज्जडवीड ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम महेश्वर था जिनसे इन्होंने ज्योतिर्विद्या सीखी थी। इनका जन्म काल १०३६ शक (१११४ ई०) माना जाता है जिसका उल्लेख उन्होंने ने स्वयं किया है। ३६ वर्ष के वय में इन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की।

रसगुणपूर्णमही—समशकनृप—समयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः॥

गोलाध्याय का प्रश्नाध्याय ५८

इन्होंने अपने 'करण कुतूहल' ग्रन्थ का आरम्भ ११०५ शक (११८३ ई०) में किया जिससे प्रकट होता है कि कम से कम ७० वर्ष तक ये जीवित थे।

इनके रचित प्रख्यात ग्रन्थ चार हैं:—

(१) सिद्धान्तशिरोमणि (२) लीलावती
(३) बीजगणित (४) करणकुतूहल।

सिद्धान्त-शिरोमणि पर इन्होंने स्वयं वासना भाष्य लिखा जिससे इनके सरल तथा सरस गद्य का भी परिचय मिलता है। भास्कराचार्य एक सरस कवि भी थे जिसका प्रमाण उनका रमणीय ऋतु-वर्णन है।

सिद्धान्त शिरोमणि:—ज्योतिष सिद्धान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके गोलाध्याय में पंद्रह अध्याय है। प्रथक अध्याय का नाम गोल-प्रशंसा तथा दूसरे का

नाम गोलस्वरूप प्रश्नाध्याय है। इसमें प्रश्नरूप में पूछा गया है कि यह पृथ्वी आकाश में कैसे स्थिर है। इसका स्वरूप और मान क्या है ? आदि आदि

तीसरा अध्याय 'भुवन कोश' है जिसमें विश्व का स्वरूप बताया गया है। कि इसमें यह विशेष रूप से बतलाया गया है कि पृथ्वी का कोई आधार नहीं है, केवल अपनी शक्ति से स्थिर है। इन्होंने उल्लेख भी किया है 'पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, उससे वह आकाश में फेंकी गई भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है और वह भारी वस्तु गिरती हुई दिखायी पड़ती है, परन्तु पृथ्वी कहीं नहीं गिर सकती, क्योंकि आकाश सब ओर समान है'। अब इससे हम पता लगा सकते है कि न्यूटन (१६४३–१७२७ ई०) से पाँच शताब्दी पूर्व ही भास्कराचार्य ने गुरुत्वाकर्षण के मान्य सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि पृथ्वी समतल न होकर गोल है। प्रमाण में बतलाया है कि जैसे वृत्त की परिधि का छोटा सा भाग सीधा जान पड़ता है, वैसे ही 'इस भारी भूमि की तुलना में, मनुष्य अत्यन्त क्षुद्र होने के कारण, भूमि के ऊपर उसकी दृष्टि जहाँ तक जाती है वह सब समतल ही जान पड़ता है।' इसके अतिरिक्त पृथ्वी की परिधि, व्यास और इसके पृष्ठ के क्षेत्रफल का भी उल्लेख किया गया है। इसमें परिधि और व्यास का अनुपात बहुत ही शुद्ध (३·१४१६) दिया गया है।

चौथा अध्याय मध्यगति वासना है जिसमें सूर्य चन्द्रमा और ग्रहों की मध्यगतियों का उल्लेख है। पाँचवाँ अध्याय ज्योत्पत्ति हैं जिससे त्रिकोणमिति की जानकारी प्राप्त होती है। छठा अध्याय छेद्यकाधिकार है जिसमें छेद्यक बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। इसके अन्य अध्याय हैं—गोलबंधाधिकार त्रिप्रश्नवासना, ग्रहणवासना, दृक्कर्मवासना, शृंगोन्नतिवासना, यन्त्रवासना, ऋतुवर्णन, प्रश्नाध्याय और ज्योत्पत्ति। यन्त्राध्याय में उस समय में प्रयोग में लाये जाने वाले यन्त्रों का विस्तार-मय वर्णन है। ये यन्त्र है—गोल, नाडीवलय, यष्टि, शंकु, घटीयन्त्र, चक्र, चाप, तुर्य, फलक और धी। सिद्धान्तशिरोमणि पर आजकल अनेक टीकायें उपलब्ध हैं, जिसमें 'गणेश दैवज्ञ' की ग्रहामाधवाकार, नृसिंह की वासना-कल्पलता और वासना-वार्तिक एवं मुनीश्वर या विश्वरूप की मरीचि नामक टीकायें बहुत ही ख्याति-प्राप्त हैं।

ऊपर के वर्णन से भास्कराचार्य के विपुल महत्त्व का परिचय पाठकों को लग सकता है। पिछली सात शताब्दियों में ज्योतिष-विषयक ज्ञानका प्रकाशपुंज इसी ग्रन्थ से बिखरता रहा और इन्हीं के ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन तथा ऊहापोह आज के संस्कृत महाविद्यालयों में सम्पूर्ण भारत में होता है। भास्कराचार्य में ज्योतिषी तथा गणितज्ञ का अपूर्व सम्मिलन था और इसीलिए आलोचकों का कहना है कि इन्होंने गणित-ज्योतिष का विस्तार ही नहीं किया, प्रत्युत उपपत्ति-

सम्बन्धी बातों पर भी पूरा ध्यान दिया। परन्तु आकाश के प्रत्यक्ष वेध से इन्होंने बहुत कम काम लिया। और इन वेधों के लिए इन्होंने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को ही अपना आधार माना। सच तो यह है कि ज्योतिष शास्त्र में नवीन खोज करने वाली प्रतिभा भास्कर के बाद बहुत ही धीमी पड़ गयी। ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता रहा था, नवीन ग्रन्थों की भी रचना होती रही परन्तु उनमें उस मौलिक प्रतिभा की झलक तथा प्रेरणा की शक्ति बहुत ही कम दीख पड़ती है जिसका दर्शन हमें भास्कराचार्य के ग्रन्थों में होता है।

भास्करोत्तर काल

भास्कराचार्य के अनन्तर ज्योतिष शास्त्र के लेखक भारतवर्ष में इधर उधर मिलते हैं जिनमें फलित, जातक, मुहूर्त आदि विषयों का वर्णन मिलता है। इनमें से कतिपय अतिप्रसिद्ध ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का निर्देश नीचे किया जा रहा है :—

(१) **वल्लाल सेन**—प्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सेन के पिता महाराजाधिराज वल्लाल सेन ने ११६८ ई० में 'अद्भुत सागर' नामक संहिता का वृहद् ग्रन्थ बनाया जो बृहत्-संहिता के ढंग का है। इसमें अनेक प्राचीन आचार्यों तथा ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। इसमें ज्योतिष सम्बन्धी बहुत सी विलक्षण घटनाओं का उल्लेख है। (२) केशवार्क का 'विवाह वृन्दावन' (तेरह शती) नामक मुहूर्त ग्रन्थ विवाह-सम्बन्धी मूहूर्तों का अच्छा परिचय देता है। (३) ज्योतिर्विदाभरण नामक मुहूर्त ग्रन्थ जो किसी कालिदास के द्वारा विरचित बतलाया जाता है इसी युग की कृति है। (४) महेन्द्रसूरि का 'यन्त्र-राज' (रचनाकाल १२९२ शक) यन्त्रों की जानकारी के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ है।

(५) **मकरन्द**—इन्होंने १४७८ ई० में सूर्यसिद्धान्त के अनुसार तिथि आदि की जानकारी के लिए अपने ही नाम पर एक सारणी काशी में रची जिसके अनुसार काशी तथा मिथिला प्रान्तों में आज भी पंचांग बनाये जाते हैं।

(६) **गणेश दैवज्ञ**—इनका मुख्य ग्रन्थ 'ग्रह लाघव' है जो आजकल बहुत ही प्रसिद्ध है। इसके ऊपर अनेक टीकायें मिलती हैं। इनके पिता केशव और भी बड़े आचार्य तथा संशोधक थे। सूर्य, चन्द्रमा और ताराग्रहों का वेध करके गणना ठीक करने पर इन्होंने बड़ा जोर दिया है। केशव का मुख्य ग्रन्थ 'ग्रहकौतुक' है जिसका आरम्भ १४९६ ई० में किया गया था।

(७) **नीलकंठ**—इनका ताजिक नीलकंठी नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है जिसे वर्षफल बनाने के लिए ज्योतिषी लोग आज भी काम में लाते हैं। ये अकबर के दरबार के सभापंडित थे और १५८७ ई० में नीलकंठी का निर्माण किया। इन्हीं के अनुज रामदैवज्ञ की 'मुहूर्त चिन्तामणि' (रचना काल शक १५२२) नामक अत्यन्त प्रसिद्ध

ग्रन्थ है जो आजकल मुहूर्त के निर्णय करने में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के ऊपर इनके भतीजे गोविन्द ने 'पीयूषधारा' नामक टीका लिखी है।

(८) कमलाकर—कमलाकर पिछले युग के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इनका जन्म १६०८ ई० के लगभग हुआ था। इस प्रकार ये न्यूटन के समकालीन ज्योतिषी है। इनका महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रन्थ है—सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक जिसे इन्होंने काशी में १५८० शक में (१६५८ ई०) प्रचलित सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार लिखा था। इस ग्रन्थ में बहुत सी नवीन बातों का समावेश हैं जिससे पता चलता है कि ये मौलिक विचारधारा के थे। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में कहीं भी ध्रुव तारा की गति का वर्णन नहीं है परन्तु ये उसे गतिशील मानते थे जो आज की वैज्ञानिक गणना से प्रमाणित होता है। अंकगणित, रेखागणित, क्षेत्रमिति तथा ज्यासाधन की रीतियाँ कई बातों में नई हैं।

ज्योतिषी वेधशालायें

वेधशाला ज्योतिष गणना का प्रधान साधन है जिसके अभाव में ज्योतिष की उन्नति कथमपि नहीं हो सकती। भारत में वैज्ञानिक वेधशाला के निर्माण का श्रेय जयपुर नरेश सवाई जयसिंह द्वितीय (१६८६ ई०–१७४३ ई०) को प्राप्त है। यह महाराजा राजनीति के दाँवपेंच में ही कुशल नहीं थे प्रत्युत ज्योतिष से गाढ़ प्रेम तथा परिचय रखते थे। आकाशीय पिण्डों की वेधप्राप्त तथा गणना-प्राप्त स्थितियों के अन्तर को सुधारने के लिए जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, काशी तथा मथुरा में वेधशालायें स्थापित की जिनमें से अनेक वेधशालायें आज भी ठीक हैं तथा काम कर रही हैं। इन यन्त्रों को बनवाने के लिए उन्होंने अपने पंडितों को विदेशों में भी भेजा। ऐसे पंडितों में सम्राट् जगन्नाथ मुख्य थे। ये वेधशालायें भारतीय इतिहास के अन्धकारमय युग में उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रही हैं।

जयसिंह ने इन वेधशालाओं में आकाशीय पिण्डों की स्थिति नापने के लिए अनेक यन्त्रों का निर्माण किया है जिनमें यन्त्रराज, सम्राटयन्त्र, जयप्रकाश तथा रामयन्त्र मुख्य है। इनमें यन्त्रराज 'ऐस्ट्रोलेब' प्रतिनिधि का है जो अरबवालों से सीख कर बनाया गया है। इन यन्त्रों में सम्राट्-यन्त्र सबसे महत्त्वशाली है। इसी प्रकार दिगंशयन्त्र, नाडीवलय यन्त्र, दक्षिणोवृत्ति यन्त्र, षष्टांश यन्त्र तथा मिश्र यन्त्र अपनी उपयोगिता आज भी बनाये हुए हैं। सब वेधशालाओं में सब यन्त्र नहीं है। जयपुर तथा दिल्ली की वेधशाला सुरक्षित दशा में हैं। आधुनिक यन्त्रों से तुलना करने पर ये उतनी सूक्ष्म गणना में सफल नहीं हैं। परन्तु जिस युग में ये यन्त्र बनाये गये उस समय इनसे अधिक उपयोगी वैज्ञानिक यन्त्रों का निर्माण सम्भव नहीं था।

आधुनिक काल

जयसिंह के अनन्तर अंग्रेजों का शासन देश पर बढ़ता गया और इस प्रकार पश्चिमी ज्योतिष तथा गणित का प्रभाव भारत पर पड़ने लगा। गत डेढ़ सौ वर्षों में अनेक ऐसे ज्योतिषी उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने प्राचीन ज्योतिष तथा गणित का अध्ययन तथा अनुशीलन नयी पद्धति पर किया है। इन लोगों ने प्राचीन ग्रन्थों के संशोधित तथा आलोचनात्मक संस्करण भी निकाले, नई व्याख्यायें लिखी हैं तथा प्राचीन मतों को समझने तथा समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। इनमें से प्रसिद्ध आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) **बापूदेव शास्त्री** :—ये काशी के संस्कृत-महाविद्यालय के प्रधान गणिताचार्य थे। इनके बनाये गये अनेक संस्कृत तथा हिन्दी में ग्रन्थ हैं। रेखागणित त्रिकोणमिति, मायनवाद तत्त्वविवेकपरीक्षा तथा अंकगणित—ये प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इन्होंने अंकगणित तथा बीजगणित का निर्माण किया तथा सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय का तथा सूर्य सिद्धान्त का अंग्रेजी अनुवाद विल्किन्सन के सहयोग से किया (१८६१-६२ ई०)।

(२) **केरो लक्ष्मण छत्रे** :—इन्होंने 'ग्रह साधन कोष्टक' नामक मराठी ग्रन्थ फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर लिखा। नाविक पंचांग के अनुसार उन्होंने पंचांग भी प्रकाशित किया जो उस प्रदेश में खूब ही प्रसिद्ध है।

(३ **चन्द्रशेखर सिंह सामन्त** :—ये उड़ीसा के निवासी थे। अपने बनाये हुए यन्त्रों की सहायता से इन्होंने सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के मूलांकों का संशोधन कर एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है जिसका नाम सिद्धान्त-दर्पण है (जिसे अंग्रेजी भूमिका के साथ योगेशचन्द्र राय ने प्रकाशित किया है।)

(४) **शंकर बालकृष्ण दीक्षित**—ये पूना के बहुत ही बड़े ज्योतिषी थे। इनका सबसे उपयोगी तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' मराठी भाषा में है जिसमें लगभग ६०० पृष्ठों में वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के ज्योतिष तथा ज्योतिषियों का इतिहास बड़ी विवेचना के साथ दिया गया है (१८८८ ई०)। इसमें केवल इतिहास ही क्रमबद्ध रूप से नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष शास्त्र के तथ्यों तथा सिद्धान्तों का भी बड़ा ही विशद वर्णन है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लखनऊ से हिन्दी समिति ने प्रकाशित किया है भारतीय ज्योतिष नाम से (१९५६ ई०)।

(५) **केतकर**—इनका पूरा नाम वेंकटेश बापूजी केतकर था (१८५४ से १९३० ई०)। ये प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्योतिष के अद्वितीय मर्मज्ञ ग्रन्थकार थे। इन्होंने संस्कृत में बहुत से उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण किया है जिसमें ज्योतिर्गणित तथा

केतकी ग्रहगणित मुख्य हैं। पहला ग्रन्थ सिद्धान्त ज्योतिष का परिचायक है, तो दूसरा ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में अर्वाचीन ज्योतिष के अनुसार पंचांग बनाने का उपयोगी ग्रन्थ है। यह संस्कृत में अर्वाचीन ज्योतिष पर अद्वितीय पुस्तक है।

(६) बाल गंगाधर तिलक—(१८५६–१९२१) इनका ज्योतिष-सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'ओरायन' (अंग्रेजी) है जिसमें वेदों के काल की मीमांसा बड़ी ही प्रौढ़ युक्तियों के सहारे की गई है। ग्रंथ इतना पाण्डित्यपूर्ण है तथा शैली इतनी वैज्ञानिक है कि पूर्ण सहमत न होने पर भी मैक्समूलर जैसे विद्वान भी इसका लोहा मानते थे।

(७) सुधाकर द्विवेदी—(१८६०–१९१० ई०) काशीवासी महामहोपाध्याय सुधाकर जी एक बहुत ही बड़े प्रतिभाशाली ज्योतिषी तथा गणितज्ञ थे। उत्तर भारत में ज्योतिष तथा गणित के विपुल प्रचार का श्रेय इनके शिष्यों को है। इन्होंने अनेक प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों को शोध कर नवीन टीकायें लिखी हैं और अर्वाचीन उच्च गणित पर भी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। इनके अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में हैं जिनमें दीर्घवृत लक्षण, विचित्र प्रश्न, वास्तव चन्द्रशृंगोन्नति साधन, द्युतरचार, पिण्डप्रभाकर, भाभ्रमरेखा निरूपण, धराभ्रम, ग्रहण-करण, गोलीय रेखागणित, यूक्लिड की ६ठवीं, ११वीं और १२वीं पुस्तकों का संस्कृत में श्लोकबद्ध अनुवाद और गणक-तरंगिणी मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त यंत्रराज, लीलावती, बीजगणित, करण कुतूहल, पंचसिद्धान्तिका सूर्यसिद्धान्त, ब्राह्मस्फुट सिद्धांत, महासिद्धान्त, याजुष और आर्च ज्योतिष, तथा ग्रहलाघव पर आपने टीकाओं का निर्माण किया। इन टीकाओं के अतिरिक्त हिन्दी में चलन कलन, चलराशिकलन, और समीकरण—मीमांसा नामक पुस्तकों की भी रचना इन्होंने की है।

उपसंहार :—आज भी ज्योतिष-विज्ञान अध्ययन का एक महत्वशाली विषय है। विशुद्ध संस्कृत विद्यालयों में तथा आधुनिक अंग्रेजी विद्यालयों में इसका अध्ययन समीक्षण, तथा अनुसंधान बराबर हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन सिद्धांतों को हम नये पश्चिमी सिद्धांतों के साथ तुलना कर आवश्यक सुधार करें। आकाशीय पिण्डों का आधुनिक यंत्रों के द्वारा वेध करके प्राचीन गणना को विशुद्ध तथा वैज्ञानिक बनायें। यह तभी सम्भव है जब भारत सरकार एक राष्ट्रीय वेधशाला उज्जैन या काशी में स्थापित करे और इस आवश्यक सुधार की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो। हर्ष का विषय है कि भारत सरकार ने पंचांग-शोधन की दिशा में कदम बढ़ाया है। भारत की स्वतंत्रता का प्रभाव ज्योति-विज्ञान के अध्ययन पर अवश्य पड़ना चाहिये—ऐसा हमारा विश्वास है।

गणित शास्त्र का इतिहास

बहुत प्राचीन काल से विद्याओं में गणित विद्या अपना एक स्वतंत्र तथा प्रतिष्ठित स्थान धारण करती हुई आती है। छान्दोग्य उपनिषद् में राशि विद्या के नाम से अंकगणित का निर्देश किया गया है। सनत्कुमार के पूछने पर नारद जी ने अपनी अधीत विद्याओं की जो सूची दी है उसमें नक्षत्र विद्या के साथ राशिविद्या का भी महत्वपूर्ण उल्लेख है। (छान्दोग्य ७।१।२) अध्यात्मविद्या के जानने वालों के लिए गणित तथा जोतिष का ज्ञान प्राप्त करना इन विद्याओं[१] के आपेक्षिक महत्त्व की स्पष्ट सूचना है। जैनियों ने भी अपने सूत्र ग्रन्थों में 'गणितानुयोग' और 'संख्यान' को महत्त्व प्रदान किया है। बौद्धों ने भी गणित के महत्व को मानने में अपने को पीछे नहीं रक्खा। ललितविस्तर के अनुसार बुद्धने बाल्यावस्था में गणित सीखा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[२] (३०० ई० पू०) के अनुसार शिक्षा का आरम्भ चूड़ाकरण संस्कार के अनन्तर लिपि (अक्षर ज्ञान) तथा संख्यान अंक गणना) से होना चाहिए। हाथीगुम्फा के एक शिलालेख से पता चलता है कि कलिंग देश के जैन राजा खारवेल (१६३ ई० पू०) ने लेखा (लिखना), रूप (रेखागणित) तथा गणना सीखने में अपने जीवन के नव वर्ष, सोलह से पचीस वर्ष की अवस्था तक, व्यतीत किये थे। तब गणित विद्या का प्राचीन काल में कितना महत्त्व था तथा वह शिक्षा में कितनी आवश्यक समझी जाती थी, इसका परिचय ऊपर लिखित संकेतों से भलीभाँति मिलता है।

भारतीय गणित में प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन जैनियों के स्थानांगसूत्र के इस निर्देश से अच्छी तरह लग जाता है—

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने य।
जावान्तावति वग्गो भनो ततह वग्गवग्गो विकप्पो त॥
(सूत्र ७४७)

इस सूत्र में इतने विषयों का अन्तर्भाव गणित के भीतर किया गया है—(१) परिकर्म (२) व्यवहार, (३) रज्जु (रस्सी अर्थात रेखागणित) (४) राशि (त्रैराशिक) (५) कलास वर्ण (भिन्न सम्बन्धी परिकर्म) (६) यावत्-तावत् (जितना उतना अर्थात् साधारण समीकरण) (७) वर्ग (८) घन (९) वर्ग-वर्ग (चतुर्घात) तथा (१०) विकल्प (क्रमचय तथा संचय)। इस सूची पर दृष्टिपात करने सेपता लग सकता है कि भारतीय गणित प्राचीन काल में केवल जोड़ने घटाने तथा गुणाभाग के सामान्य नियमों तक ही नहीं सीमित था, प्रत्युत उसकी विशेष उन्नति भी उस युग में हो गई थी।

---

१. भगवतीसूत्र, सूत्र सं० ९० । उत्तराध्ययन सूत्र, सू० सं० ३५ । ७, ८
२. वृत्त-चौलकर्मा लिपिसंख्यानं चोपयुञ्जीत। (कौ० १।५।७)

गणित के अन्तर्गत सामान्य रीति से तीन विषयों का समावेश होता है—अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित। इन तीनों में रेखागणित का उदय सर्व-प्राचीन है। रेखागणित का उपयोग यज्ञयाग के लिए बनाई जाने वाली वेदियों के निर्माण से सम्बन्ध रखता है। कर्मकाण्ड में वेदी का निर्माण एक बड़ा ही विषम तथा रहस्यमय व्यापार है। भिन्न-भिन्न यज्ञों के लिए भिन्न-भिन्न आकारवाली वेदियों का निर्माण का ही वर्णन नहीं है, प्रत्युत उनमें लगने वाले ईंटों का संख्या का भी पूरा निर्देश किया गया है। इस विषय से सम्बद्ध तथ्यों का निर्देश जिन ग्रन्थों में पाया जाता है वे 'शुल्व सूत्र' के नाम से प्रख्यात है। ये ही शुल्व-सूत्र भारतीय क्षेत्रगणित के सबसे प्राचीन तथा विशद प्रतिपादक सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर प्रतिष्ठित रेखागणित शास्त्र भारतीय साहित्य में प्राचीनतम माना जा सकता। अन्य दो अंगों का उदय इसके अनन्तर की घटना है।

सिद्धान्त-ज्योतिष—गणित के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। विना गणित की सहायता के ज्योतिष का काम चल ही नहीं सकता। इसीलिए प्राचीन ज्योतिषियों ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में गणित का वर्णन एक या दो अध्याय में अवश्य ही किया है। आगे चल कर मध्ययुग में केवल गणित से सम्बन्ध रखने वाले स्वतंत्र गणित ग्रन्थों की रचना हुई। भारतवर्ष में अंकगणित के लिए दो नाम प्रयुक्त हैं—पाटीगणित तथा धूलिकर्म। पाटीगणित का अर्थ है लकड़ी की पट्टी पर लिख कर हिसाब लगाना। उस पाटी के ऊपर बालू या मिट्टी बिछा कर गणना करने की प्रथा भी थी जिससे 'धूलिकर्म' की संज्ञा पड़ी। अरबी भाषा में इन दोनों शब्दों का अनुवाद हुबहू मिलता है। पाटी गणित का अरबी पर्याय है 'इल्म-हिसाब-अल तख्त' तथा धूलिकर्म का अरबी शब्द है 'हिसाब अल गुबार।' पीछे चल कर कुछ लेखकों ने पाटीगणित के लिए 'व्यक्त गणित' शब्द का प्रयोग किया जो बीजगणित से इसको पृथक् करता है। अज्ञात संख्याओं के प्रयोग करने के कारण बीजगणित का नाम है 'अव्यक्त गणित'। पाटीगणित तथा बीज गणित दोनों का वर्णन प्रायः एक साथ ही संस्कृत ग्रंथों में मिलता है।

अंकगणित

अंकगणित के इतिहास में हिन्दुओं की महत्त्वपूर्ण देन सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। आज अंकगणित का जो विश्वव्यापी अभ्युदय दृष्टिगोचर हो रहा है उसका वास्तव में श्रेय भारतीयों को मिलना चाहिए। लोगों को सबसे पहली अड़चन यही पड़ी कि अंक कितने हैं तथा उन्हें चिन्हों के द्वारा कैसे प्रकट किया जाय। आज भी अनेक जातियाँ ऐसी हैं जो पाँच अथवा बीस से ऊपर की संख्या नहीं जानती हैं। प्राचीन सुसभ्य जातियों का ज्ञान इस विषय में कहीं अधिक था क्योंकि उन्होंने

उन्हें व्यावहारिक जीवन के लिए अधिक संख्या की आवश्यकता थी। परन्तु वैदिक आर्यों को अंकों का ज्ञान बहुत ही अधिक था। यजुर्वेद में (१७। २) संख्याओं का उल्लेख इस प्रकार है—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दस हजार), नियुत (१ लाख), प्रयुत (१० लाख), अर्बुद (१ करोड़), न्यर्बुद (१० करोड़), समुद्र (अरब), मध्य (१० अरब) अन्त (१ खरब), परार्ध (१० खरब)। मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। पंचविंश ब्राह्मण में न्यर्बुद तक तो ऊपरवाली नामावली है पर इसके आगे निखर्व, वाडव, अक्षिति आदि नाम हैं। सांख्यायन श्रौतसूत्र में न्यर्बुद के बाद निखर्व, समुद्र, सलिल, अन्त तथा अनन्त की गणना है। इसमें प्रत्येक अंक अपने पूर्ववर्ती अंक के दसगुना हैं। इसलिए इन्हें (दशगुणोत्तर) संख्या कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में भी इससे भी बढ़ कर उल्लेख है 'ललित-विस्तर' (प्रथम शती) में शतगुणोत्तर पद्धति पर कोटि से आरम्भ कर तल्लक्षण नामक संख्या सबसे अन्तिम मानी गई है। आजकल के गणना के अनुसार एक तल्लक्षण = $१०^{५३}$। कात्यायन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पालि व्याकरण' में कोटिगुणोत्तर पद्धति दी हुई है जिसके अनुसार अन्तिम संख्या है असंख्येय जो $(\text{कोटि})^{२०}$ $(= १०^{१४०})$ के बराबर है। ऐसी संख्याओं का निर्माण इस बात का सूचक है कि अधिक से अधिक अंकों की गणना भारतीय गणित शास्त्र में बड़ी आसानी के साथ का जा सकती है।

अंक-लेखन-प्रणाली

अंक लिखने की प्रणाली भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन युग से चली आ रही है। ऋग्वेद में अंकों के लिपिबद्ध होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध द्यूत सूक्त[1] में द्यूतकार अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ कह रहा है कि मैं 'एकपर' दाव लगाने के कारण हार गया। यहाँ 'एकपर' शब्द उस गोटी का सूचक है जिस पर एक का अंक लिखा रहता था। वैदिक कालीन द्यूत विद्या में अक्षों के ऊपर एक, दो, तीन और चार के अंक लिखने की प्रथा थी। ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में एक ऋषि का कथन है कि ऐसी हजार गायें मुझे मिलीं जिनके कान के ऊपर आठ लिखा था[2]। अथर्ववेद से भी पता चलता है कि उस युग में गाय के दोनों कानों के ऊपर मिथुन-चिन्ह बनाने की प्रथा थी।[3] पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में गायों के कानों

---

१. अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोः (१०। ३४। २)

२. इन्द्रेण युजा निःसृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत॥ (१०। ६२। ७)

३. लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि। अथर्व (६। १४१। २)

पर अंक लिखने की प्रथा का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि भारत में अंकों को लिपिबद्ध करने की प्रथा बहुत ही प्राचीन है। ब्राह्मी लिपि में अंकों के जो चिह्न मिलते हैं वे पाठकों को नितान्त प्रसिद्ध हैं।

भारत में अंकों का इतिहास जानने से पहले प्राचीन जगत् की अंक-प्रणाली का परिचय रखना आवश्यक है। विश्व के किसी भी देश में, किसी भी सभ्य तथा शिष्ट जाति में, एक से लेकर नव तक के अंकों के पृथक्-चिह्न नहीं बने और न शून्य का कहीं आविष्कार हुआ। अंकों के ये दश चिह्न भारतवर्ष के गणितज्ञों का महत्तम आविष्कार है और आज भी वह विश्व में सम्मानित तथा आहृत है। मिश्र के प्राचीन अंकक्रम में केवल १, १० तथा १०० इन तीन संख्याओं के ही मूल चिह्न थे। अन्य संख्यायें इन्हीं की सहायता से बनाई जाती थीं। एक से नौ तक की संख्याओं को लिखने के लिए १ चिह्न को (जो खड़ी लकीर के द्वारा सूचित किया जाता था) एक से नौ बार तक दुहराना पड़ता था। अन्य संख्यायें इसी प्रकार बनाई जाती थी। लाख को सूचित करने के लिए एक मेढक और १० लाख को बतलाने के लिए हाथ फैलाये हुए पुरुष का चिह्न, तथा करोड़ के लिए एक गोला रहता था। इस प्रकार मिश्रवासी करोड़ से ऊपर बढ़ ही न सके। फिनीशिया वालों ने २० के लिए एक नया चिह्न खोज निकाला था तथा अन्य बड़ी संख्याओं के लिए इसी का उपयोग बार बार दुहरा कर करते थे। यूनान और रोम में जो पश्चिमी सभ्यता के उद्गम स्थल माने जाते हैं—अंकों के केवल ६ चिह्न थे जो अक्षरों के ही संकेत भाग थे। वे ये हैं—१ = I, ५ = V, १० = X, ५० = L, १०० = C, १००० = M। इन्हीं का नाम रोमन अंकप्रणाली है जो अंग्रेजी पुस्तकों में भी देखने को मिलती है।

इस पूर्वपीठिका के अनन्तर भारतीय अंक प्रणाली के महत्त्व पर दृष्टि डालिए। भारतीयों ने सर्वप्रथम एक से लेकर नव तक के भिन्न भिन्न चिह्नों का खोज किया और शून्य नामक एक नवीन चिह्न को प्रस्तुत किया जो गणित के इतिहास में युगान्तरकारी आविष्कार है। शून्य का आविष्कार और उसकी सहायता से दस, सैकड़ा, हजार आदि संख्याओं का व्यक्त करना संसार की सबसे बड़ी खोजों में से एक है। शून्य का आविष्कार गणित के इतिहास में एक मौलिक तथा महत्वपूर्ण देन है जिसका गुणगान प्रत्येक देश का गणितज्ञ करता है। एक पाश्चात्य गणितज्ञ की यह उक्ति कितनी यथार्थ[1] है। इन्हीं दस चिन्हों की सहायता से भारतवर्ष में अंक

1. 'The inportance of the creation of zero mark can never be exaggerated. This giving to airy nothing, not merely a local habitation and name, a picture, a symbol, but helpful power, is the characteristic of the Hindu Race, whence it sprang. It is like coining the nirvana into dynamos. No

लिखने की नवीन पद्धति का अविष्कार किया जो दशमलव पद्धति के नाम से विख्यात है। यह पद्धति आजकल समस्त विश्व में व्याप्त है। इस पद्धति के अनुसार अंकों का स्थानीय मूल्य है जिसमें दहिने से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य दसगुना बढ़ जाता है।

स्थानमान सिद्धान्त के विषय में नयी खोजों का सारांश इस प्रकार है।—

(१) स्थानमान पद्धति का प्रथम प्रयोग ५९४ ई० के दानपत्र में मिलता है। इस प्रकार पुरालेख सम्बन्धी प्राचीनतम प्रमाण छठी शताब्दी का अन्त है। संसार का कोई भी देश इस पद्धति के प्रयोग का इतना भी प्राचीन उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकता।

(२) शब्दांकों के द्वारा स्थानमान सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रयोग तीसरी या चौथी शताब्दी का है। ऐसा प्रयोग अग्निपुराण, बख्शाली हस्तलिपि और पुलिश सिद्धान्त में मिलता है।

(३) गणित के ग्रन्थों में इस प्रणाली का सबसे पहला प्रयोग बख्शाली हस्तलेख (२०० ई०) में किया गया है, संख्याओं के लिखने में। उसके अनन्तर आर्यभटीय आदि ग्रन्थों में निश्चित रूप से किया गया है।

(४) वायु पुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण में यह पद्धति मिलती है। दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी लेखकों ने अपने सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए इस पद्धति को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (२।२।१७) में लिखा है कि यद्यपि रेखा एक ही है तो भी स्थानभेद के कारण उसका मान एक, दस, हजार आदि हो सकता है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में (३।१३) यही बात दुहराई गई है। जिस प्रकार एक ही रेखा सैकड़े के स्थान में होने पर एक सौ, दहाई के स्थान में होने पर दस और इकाई के स्थान में होने पर एक कहलाती है। शंकर (सप्तमशतक) तथा व्यासभाष्य (चतुर्थ शतक) से भी प्राचीन निर्देश वसुमित्र का है जिनका उल्लेख शान्तरक्षित-कृत 'तत्व संग्रह' के टीकाकार कमलशील (षष्ठ शतक) ने किया है। इस उद्धरण का सारांश यह है—'जिस प्रकार मिट्टी की गोली इकाई के स्थान में होने पर १ को सूचित करती है, दहाई के स्थान में होने पर १० को, सैकड़े के स्थान में होने पर १०० को और हजार के स्थान में होने पर १००० को, उसी प्रकार........'

---

single mathematical creation has been more potent for the general on-go of intelligence and power'—G. B. Halsted. 'On the foundation and technique of Arithmetic' नामक ग्रन्थ में, Chicago पृ० २०

वसुमित्र का समय प्रथम शती है। यह सबसे प्राचीन उदाहरण है। इससे निश्चित रूप से पता चलता है कि स्थानमान का सिद्धान्त प्रथम शताब्दी के अन्त तक इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि दार्शनिक ग्रन्थों में इसका प्रयोग दृष्टान्त के रूप में किया जाता था। दार्शनिक ग्रन्थ गणितीय दृष्टान्त का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब वह विषय जन-साधारण में प्रख्यात, प्रचलित तथा सुबोध हो।[1]

(५) शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रथम प्रयोग पिंगल के 'छन्दसूत्र' में मिलता है जो २०० ई० पू० माना जाता है। शून्य का चिह्न बिन्दु ही था, न कि लघुवृत्त। इसका उल्लेख सुबन्धु-की वासवदत्ता (पष्ठकशतक) में है। श्री हर्ष ने नैषधचरित में भी (लगभग १२ शती) शून्य के लिए बिन्दु का प्रयोग माना है।[2]

विदेशों में इस प्रणाली का प्रसार

भारतवर्ष का व्यापार मिश्र, सीरिया, फारस आदि देशों के साथ बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। मिश्र के साथ उसका सम्बन्ध अन्य देशों को अपेक्षा निकतम तथा प्राचीनतम था। यह तो निश्चित तथ्य है कि व्यापार के साथ साथ उस देश का कलाकौशल भी नये देश में प्रवेश करता है। फलतः भारतवर्ष के अंकों ने मिश्र के प्राचीन विद्याकेन्द्र अलेक्जेन्ड्रिया में द्वितीय शती में प्रवेश किया। किसी कारणवश एक से लेकर नव तक के अंक हो जा सके, शून्य का प्रवेश वहाँ न हो सका। इन अंकों को गोबार अंक के नाम से पुकारते हैं। मिश्र से इस प्रणाली को अरबवासियों ने भी सीखा। और जब यूनानी अकों का बहिष्कार उस देश में राजाज्ञा के द्वारा प्रचारित हुआ, तब ये अंक वहाँ प्रचलित थे। सीरिया वासी विद्वान सेवे-रस सेबोरत (६६२ ई०) के ग्रन्थ से पता चलता है कि सातवीं शताब्दी के आरम्भ के ही हिन्दू अंकों को ख्याति इफरात नदी के तट तक पहुँच गई था। उससे बड़े ही स्वाभिमान—भरे शब्दों में हिन्दुओं की प्रशंसा की है तथा स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुओं की गणना वर्णनातीत है और यह गणना नव चिह्नों की सहायता से की जाती है। यह नव अंकों ही की चर्चा नहीं है, परन्तु शून्य की ओर भी संकेत है।

अरब देश में ये हिन्दू अंक तथा दशमलव मान पद्धति का प्रचार अष्टम शती के मध्य में हुआ। यह युग खलीफा अलमन्सूर (७५३—७७४ ई०) के राज्यकाल से

---

१. डा० विभूतिभूषणदत्त तथा डा० अवधेश नारायण सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (पृष्ठ ७९-८०) प्रकाशक हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ—१९५६।

२. चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुति-कैतवात् तव।
ससारतारक्षि ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः॥
—नैषधचरित (९।१०४)

[illegible] है, जब सिन्ध प्रान्त से बगदाद को कुछ दूत गये थे जिनमें से ब्रह्मगुप्त रचित ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त एवं खण्डखाद्यक जैसे गणित के ग्रन्थों को साथ ले जाने वाले विद्वान भी सम्मिलित थे। इन्हीं विद्वानों की सहायता से अलफजारी और कदाचित् याकूब इब्न तारिक ने भी इनका अरबी में अनुवाद किया। ब्राह्मस्फुट के अरबी अनुवाद का नाम 'सिन्द हिन्द' तथा खण्डखाद्यक का नाम 'अर्सन्न' है। दोनों ही ग्रन्थों का अरब में बहुत प्रयोग हुआ और अरबी गणित पर इनका विशेष प्रभाव पड़ा। इसी युग में शून्य का भी प्रवेश यहाँ हुआ। अंकों को अरबी में हिन्दसाँ, हिन्दिसा, तथा हन्दसा कहते है। इस नाम के रहस्य को अनेक विद्वानों ने उद्घाटित किया है। अधिकारी विद्वानों का कथन है कि यह शब्द 'हिन्द' शब्द का विशेषण है जिससे इसका निश्चित अर्थ है भारतीय। अरब लोगों को अंक भारत से प्राप्त हुए थे, इसलिए उन्होंने इसे 'हिन्दसा' नाम से पुकारना उचित समझा। इस प्रकार हिन्दसा शब्द स्वतः ही उसने उद्गमस्थल का द्योतक है। अरबवासियों की अंक-लेखन-प्रणाली वही है जो भारतीयों की है अर्थात् वे अपने अक्षरों को तो दायें से बायीं ओर लिखते हैं, परन्तु इसके विपरीत अपने अंकों को हिन्द अंकों के समान बाईं से दाईं ओर लिखते हैं जो स्पष्टतः भारतीय लेखन शैली है। अरब के गणितज्ञों ने भारत के इस ऋण को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। अलबेरूनी (१०३० ई०) ही पहला ग्रन्थकार नहीं है जो इस ऋण को स्वीकार करता है। वस्तुतः इसके पूर्व अल नदीम (९८७ ई०), अबुल हसन (९४३ ई०), तथा जाहिद (८६९ ई०) ने स्पष्ट शब्दों में भारतीय अंक प्रणाली की प्रशंसा की है तथा अपने ऋण को भी स्वीकार किया है।

यूरोप देश के विद्वानों ने भारतीय अंक तथा स्थानमान सिद्धान्त को सीधे भारत से ग्रहण न कर अपने सारसिन (स्पेन के अरब निवासी) गुरुओं से ग्रहण किया और इसीलिए यह प्रणाली Arabic Notation (अरबी पद्धति) के नाम से विख्यात हो गई। मध्ययुग में स्पेन का कारडोभा विश्वविद्यालय समस्त विद्याओं के साथ साथ भारतीय विद्याओं के प्रसार का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ यूरोप भर के विद्वान् इन नाना विद्याओं को सीखकर अपनी जिज्ञासा की तृप्ति करते थे। इस प्रकार यूरोप में भारतीय गणित का प्रवेश तेरहवीं शती के आरम्भ में हुआ। इस प्रवेश का श्रेय है एक इटलीवासी लियोनार्डो नामक वणिक् को, जिसने इस विद्या को किसी मूरजातीय विद्वान् से सीखा था। अपने जन्मभूमि पीसा लौटने पर उसने १२०२ ई० में लिबर एबेकी (Liber Abbaci) नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें हिन्दुओं के अंकों को सर्वप्रथम यूरोप में समझाया गया। इनके पूर्व गरबर्ट (gerbert) नामक फ्रांसीसी विद्वान् ने भी इस विषय में विशेष कार्य किया था। उसने भी कारडोभा

नामक फ्रांसीसी विद्वान ने भी इस विषय में विशेष कार्य किया था। उसने भी कारडोवा में मुसलमान गुरुओं से हिन्दू गणित की शिक्षा ली थी। इस युग का सुप्रसिद्ध गणितज्ञ है मुहम्मद इब्न मूसा जो कि हिन्दुओं के अंकगणित तथा बीज-गणित का मध्ययुग के यूरोपीय गणितज्ञों के साथ शृंखला जोड़ने का काम करता है। इसके तीन शताब्दी के पश्चात् सोलहवीं शती से इन अंकों का प्रचार यूरोप में सामान्यतया सर्वत्र होने लगा।

चीन देश में भी इसका प्रचार ईस्वी सन् के आरम्भ काल में ही हो चला था। बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ यह पद्धति बौद्धों के द्वारा चीन देश में प्रथमत: लाई गयी।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि चीनी लोगों ने अपनी प्राचीन अंकलेखन-पद्धति को, जिसे वे ऊपर से नीचे को लिखते थे, छोड़ कर भारतीय प्रणाली को ग्रहण किया जिसमें अंक बाईं से दाईं ओर लिखे जाते हैं। बृहत्तर भारत के द्वीपों में भी इसका प्रसार गुप्त काल के अनन्तर होता गया और वहाँ की लेखन पद्धति पूर्णतया भारतीय है।

इस ऐतिहासिक विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक अंकप्रणाली तथा स्थानमान का सिद्धान्त, जिसने विश्व में गणित को आगे बढ़ाने में पूर्णतया सहायता दी, सम्पूर्णतया भारतीय है और भारतीयों के वैज्ञानिक अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण प्रतीक है।

शून्य का पर्याय अरबी में सिफर शब्द है। लियोनार्दो ने इसे 'जिफिरो' के नाम से पुकारा। और इसी जिफिरो से बाद में चल कर 'ज़ीरो' की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह अंग्रेजी का ज़ीरो शब्द अरबी माध्यम से गया हुआ संस्कृत का शून्य शब्द ही है। विज्ञान की उन्नति का आधार है गणितशास्त्र और इस शास्त्र को विकसित तथा परिबृंहित करने का श्रेय है शून्य के आविष्कार को। और यह आविष्कार भारतीय विद्वानों की महती देन है। धन्य है वह भारतीय मनीषी जिसने 'शून्य' का आविष्कार किया और धन्य है वह भारतीय गणित जिसने इसका प्रयोग कर इस शास्त्र को इतना उन्नत बनाया। विश्व की संस्कृति को भारत की यह देन सुवर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने पाटीगणित के अन्तर्गत बीस विषय और आठ व्यवहार सम्मिलित किये हैं। इन बीस विषयों के नाम ये हैं—

(१) संकलित (जोड़) (२) व्यवकलित अथवा व्युत्कलित (घटाना) (३) गुणन (४) भागहार (५) वर्ग (६) वर्गमूल (७) घन (८) घनमूल (९–१३)

---

1. Werner—Chinese Sociology. London, 1910.

पंचजाति (अर्थात् पाँच प्रकार के भिन्नों को सरल बनाने के नियम) (१४) त्रैराशिक (१५) व्यस्त त्रैराशिक (त्रैराशिक का उलटा) (१६) पंचराशिक (१७) सप्तराशिक (१८) नवराशिक (१९) एकादश राशिक (२०) भाण्ड-प्रतिभाण्ड (अदला बदला)। आठ व्यवहारों के नाम इस प्रकार हैं— (१) मिश्रण (२) श्रेढ़ी (Series) (३) क्षेत्र (क्षेत्रफल निकालना) (४) खात (खाईं आदि का घनफल जानने की रीति) (५) चिति (ढालू खाईं का घनफल जानने की रीति) (६) क्राकचिक (आरा चलाने वाले के काम का गणित) (७) राशि (अन्न के ढेर का परिमाण जानने की रीति) और (८) छाया (दीप और उसकी छाया से सम्बन्धित प्रश्न जानने की रीति)। इन नामों का उल्लेख पृथूदक स्वामी ने अपनी टीका में किया है। इन परिकर्मों में से केवल पहले आठ परिकर्मों को महावीर और उनके अनन्तर वाले गणितज्ञों ने मौलिक माना है। अन्य परिकर्म इन्हीं मौलिक परिकर्मों के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं। 'व्यवहार' की संज्ञा उन प्रश्नों के लिए प्रयुक्त है जिनमें विषम तथा कठिन गणित के नियमों का प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। अब इन मौलिक आठ परिकर्मों का वर्णन संक्षिप्त रूप से किया जा रहा है।

(१) **संकलित**—इसके अन्य नाम संकलन, मिश्रण, सम्मेलन, प्रक्षेपण, संयोजन, एकीकरण आदि हैं। संख्याओं को जोड़ने की दो प्रकार की विधि प्रचलित थी। एक का नाम था 'क्रमविधि' और दूसरे का नाम था 'उत्क्रम विधि'। पहले में इकाई के स्थान से जोड़ प्रारम्भ किया जाता था (दक्षिण से वाम की ओर) दूसरे प्रकार की विधि में अन्तिम स्थान से जोड़ प्रारम्भ किया जाता था। (वाम से दक्षिण ओर) आजकल क्रम-पद्धति का प्रयोग हम लोग करते हैं।

(२) **व्युत्कलित**—इसके अन्य पर्याय हैं—शोधन, पातन, वियोग आदि। घटाने पर जो बाकी बचता है उसे शेष या अन्तर कहते हैं। जिस संख्या में से कोई संख्या घटाई जाती है उसे कहते हैं संवंधन या वियोज्य और जो संख्या घटाई जाती है उसे कहते हैं वियोजक। यहाँ भी भास्कराचार्य ने क्रमविधि तथा उत्क्रमविधि दोनों का उल्लेख किया है।

(३) **गुणन**—इसके अन्य पर्याय हैं—हनन, वध, क्षय आदि। शुल्ब सूत्रों में 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग जोड़ और गुणा दोनों के लिए किया जाता था। बख्शाली हस्तलेख (२०० ई०) में गुणा करने के अर्थ में 'परस्परकृत' शब्द का प्रयोग किया गया है जो प्राचीनकाल का एक पारिभाषिक शब्द प्रतीत होता है। परन्तु आर्यभट प्रथम, ब्रह्मगुप्त और श्रीधर ने सर्वत्र 'हनन' शब्द का प्रयोग किया है। जिस संख्या को गुणा किया जाता है उसे 'गुण्य' कहते हैं और जिसके द्वारा गुणा किया जाता है उसे 'गुणक या गुणकार' और गुणा करने से जो संख्या मिलती है उसे 'गुणनफल या

प्रत्युत्पन्न' कहते हैं। ब्रह्मगुप्त ने गुणन की चार विधियों का वर्णन किया है—गोमूत्रिका, खण्ड, भेद और इष्ट। गुणा करने की जो सामान्य विधि है जिसमें एक अंक दूसरे अंक के ऊपर लिखा जाता है 'कपाट सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीधर ने गुणा करने की चार रीतियाँ दी हैं—(१) कपाट सन्धि (२) तस्थ (३) रूप-विभाग (४) स्थान विभाग। गुणक की तस्थ विधि वही है जिसे आजकल Cross multiplication Method कहते हैं। स्थान-खण्ड विधि के अनुसार गुण्य और गुणक अपना स्थान बदलते रहते हैं। गोमूत्रिका विधि स्थान-खण्ड विधि से मिलती है। इष्ट-गुणन विधि बीजगणित के सिद्धान्त का अंकगणित में प्रयोग है। इस विधि से दिये गये गुणक में से कोई संख्या घटा या बढ़ा दी जाती है जिससे गुणनफल बड़ी आसानी से निकल आवे। फिर इसी संख्या को गुण्य से गुणा करके गुणनफल में से घटाया या बढ़ाया जाता है। इस विधि को समझाने के लिए दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१) १३५ × १२ = १३५ × (१२ + ८) − (१३५ × ८)
= २७०० − १०८०
= १६२०

(२) १३५ × १२ = १३५ × (१२ − २) + (१३५ × २)
= १३५० + २७०
= १६२०।

(४) भागहार—इसके दूसरे नाम हैं—भाजन, हरण, छेदन आदि। जिस संख्या को भाग देना हो उसे कहते हैं भाज्य या हार्य। जिस संख्या से भाग देना हो उसे कहते हैं भाजक, भागहार या हिन्दी में केवल हर। भाग देने पर जो उत्तर आता है उसे लब्धि या लब्ध कहते हैं। यूरोप के विद्वान पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी तक भाग की क्रिया को बहुत ही 'क्लिष्ट' समझते थे। परन्तु भारतवर्ष में बहुत पहले से ज्ञात होने के कारण यह कठिन नहीं माना जाता था। इसलिए सर्वविदित तथा अत्यन्त साधारण होने के कारण आर्यभट ने अपने ग्रन्थ में इसकी प्रक्रिया का उल्लेख ही नहीं किया और पीछे के गणितज्ञों ने भी इसी का अनुसरण किया। भाग देने की एक ही विधि है जो आजकल की प्रचलित विधि से मिलती है। इस विधि का आविष्कार सम्भवतः भारत में चतुर्थ शती में हुआ। यहाँ से नवीं शती में यह अरब पहुँची जहाँ पर वह गैली (गैलिया या बटेल्लो) विधि के नाम से प्रख्यात है।

(५) वर्ग—संस्कृत में इसे कृति भी कहते हैं। कृति का अर्थ है करना, बनाना या कर्म। यह शब्द कार्य विशेष के सम्भवतः चित्रीय प्रदर्शन का भाव धारण

करता है। गणित में ये दोनों शब्द प्रचलित हैं परन्तु वर्ग का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसकी परिभाषा आर्यभट प्रथम के अनुसार इस प्रकार है—"समचतुरस्र (अर्थात् वर्गाकार क्षेत्र) और उसका क्षेत्रफल वर्ग कहलाता है। दो समान संख्याओं का गुणन भी वर्ग है।" वर्ग निकालने की अनेक विधियाँ संस्कृत ग्रन्थों में मिलती हैं। ब्रह्मगुप्त ने बीजगणित के इस सिद्धान्त का उपयोग वर्ग निकालने में किया है।

$$न^2 = (न - क)(न + क) + क^2$$

यहाँ यदि न = १५, क = ५ तो इसका परिकर्म इस प्रकार होगा—

$$१५^2 = (१५ - ५)(१५ + ५) + ५^2$$
$$= १० \times २० + २५$$
$$= २२५$$

इस नियम को ब्रह्मगुप्त ने इस प्रकार बतलाया है 'दी हुई संख्या में कोई कल्पित संख्या जोड़ दो, पुनः दी हुई संख्या में कल्पित संख्या घटा दो, दोनों को गुणा करो, और गुणनफल में कल्पित संख्या का वर्ग जोड़ दो। इस प्रकार दी हुई संख्या का वर्ग प्राप्त होता है।'[1] भास्कराचार्य के अनुसार वर्ग निकालने की पद्धति इससे भिन्न है। उनका लीलावती में कहना है कि दो भागों के गुणन का दुगुना और उन भागों के वर्गों का जोड़ करने से वर्ग निकलता है। उदाहरण—$(क + ख)^2 = २ क ख + क^2 + ख^2$। यदि १५ का वर्ग निकालना हो तो इस विधि से यह प्रक्रिया होगी।

$$(१० + ५)^2 = १०० + १०^2 + ५^2$$
$$= १०० + १०० + २५$$
$$= २२५$$

(६) **वर्गमूल**—ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में वर्गमूल के लिए 'कृतिपद' शब्द का प्रयोग किया है जिसमें कृति का अर्थ है वर्ग तथा पद का अर्थ है मूल। वर्गमूल या मूल शब्द बहुत ही प्राचीन है क्योंकि यह जैनियों के 'अनुयोगद्वार सूत्र' (१०० ई० पू०) में तथा गणित के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वर्गमूल के लिए शुल्व सूत्रों में करणी शब्द का प्रयोग है। ज्यामिति में समकोण त्रिभुज के कर्ण को करणी कहते हैं। पिछले युग में करणी शब्द का प्रयोग Surd के लिए रूढ़ि हो गया। यह ऐसा वर्गमूल है जो पूर्णतया निकाला तो नहीं जा सकता; पर रेखा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसकी विधि का वर्णन आर्यभट, श्रीधर तथा महावीर ने प्रायः एक समान ही दिया है। यह स्पष्ट है कि हिन्दू अंकों के साथ

---

१. ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लो० ६३ (उत्तरार्ध)।

वर्गमूल निकालने की विधि भी आठवीं शताब्दी में अरब में पहुँची, क्योंकि यह विधि बिल्कुल इसी रूप में वहाँ प्राप्त होती है। फिर यूरोप में भी इस पद्धति ने यात्रा की और धीरे-धीरे वहाँ भी गृहीत की गई।

(७) घन—आर्यभट ने अपने ग्रन्थ में घन की यह परिभाषा दी है—'तीन समान संख्याओं का गुणनफल घन है।' जिस पिण्ड में बारह बराबर भुजाएँ हैं उसे भी घन (Cube) कहते हैं। घन निकालने की विधि श्रीधर, महावीर, भास्कराचार्य आदि ने भिन्न-भिन्न तरीके से दी है। भास्कराचार्य तथा श्रीपति का नियम इस प्रकार है—

$$(\text{क}+\text{ख})^3 = \text{क}^3 + ३\,\text{क}\,\text{ख}\,(\text{क}+\text{ख}) + \text{ख}^3$$

(८) घनमूल—इसे घनपाद भी कहते हैं। इनके नियम बड़े ही क्लिष्ट तथा पेचीदे हैं। इनका वर्णन गणित ग्रन्थों में विस्तार के स्थान किया गया है।

(क) गणित साहित्य

आर्यभट—आर्यभटीय के गणितपाद में अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित के प्रश्न दिये हैं। श्लोक तो इसमें केवल ३० ही हैं परन्तु इन्हीं में आर्यभट ने कठिन से कठिन प्रश्नों को निपटा दिया है। यहाँ वर्ग, क्षेत्रफल, घन, घनफल, वर्गमूल तथा घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोल का घनफल, विषम-चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के सम्पात से भुज की दूरी और क्षेत्रफल निकालने के साधारण नियम बड़ी सुन्दरता से दिये गये हैं। आर्यभट ने लिखा है कि यदि किसी वृत्त का व्यास २००० हो तो उसकी परिधि ६२८३२ होती है। इसका तात्पर्य यह है कि इससे परिधि और व्यास का सम्बन्ध चौथे दशमलव स्थान तक शुद्ध आता है अर्थात् π (पाई) = ३·१४१६। इस अध्याय में आगे चलकर वृत्त, त्रिभुज और चतुर्भुज खींचने की रीति, समतल के परखने की रीति, आदि अनेक रेखागणित-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान सुन्दरता से दिये गये हैं। समकोण त्रिभुज के भुजों और कर्ण के वर्गों का सम्बन्ध शुल्व सूत्रों में हजारों वर्ष पहले निश्चित किया गया था और जो वर्तमान पश्चिमी गणित में पैथेगोरस के नियम के नाम से प्रसिद्ध है वह यहाँ भी वर्णित तथा निर्णीत है। इसके अतिरिक्त

$$(\text{क}+\text{ख})^2 - (\text{क}^2+\text{ख}^2) = २\,\text{क}\,\text{ख}$$

बीजगणित के इस समीकरण का रेखागणित की पद्धति से समाधान करना आर्यभट के पाण्डित्य का द्योतक है।

इसके अतिरिक्त अंकगणित के अनेक सिद्धान्तों का वर्णन इन कतिपय श्लोकों में दिया गया है। त्रैराशिक निकालने का नियम, भिन्न के हरों को सामान्य हर में बदलने की रीति, भिन्नों को गुणा और भाग देने की रीति, Indeterminant समीकरण जैसे ($ax+b=0$) तथा कुट्टक नियम आर्यभट ने भली-भाँति बतलाया है।

गणिताध्याय के इस सामान्य परिचय से आलोचक को समझते देर न लगेगी कि इन्होंने अंक, बीज तथा रेखा इन तीनों गणितों से सम्बद्ध सिद्धान्तों तथा नियमों का विवेचन बड़े संक्षेप में किया है। सच तो यह है जिस प्रकार आर्यभट हमारे प्रथम ज्योतिषी हैं, उसी प्रकार वे हमारे प्रथम गणितज्ञ भी हैं। इन्हीं से स्फूर्ति लेकर पिछले युग के गणितज्ञों ने अपने ज्योतिष ग्रन्थों में गणित का समावेश किया।

ब्रह्मगुप्त

आर्यभट के अनन्तर **ब्रह्मगुप्त** महनीय गणितज्ञ हुए। ब्रह्मगुप्त ने अपने विश्रुत ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' के दो अध्यायों में गणित के विषयों का सन्निवेश किया। दूसरा १२वाँ अध्याय (गणिताध्याय) शुद्ध गणित के सम्बन्ध में है। इसमें जोड़ना, घटाना, गुणा, भाग, वर्ग तथा वर्गमूल, घन तथा घनमूल, भिन्नों को जोड़ घटाना आदि, त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, भाण्ड-प्रतिभाड (बदले के प्रश्न) मिश्रक व्यवहार आदि पाटीगणित से सम्बन्ध रखते हैं। श्रेढ़ी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार (त्रिभुज चतुर्भुज आदि क्षेत्रों के क्षेत्रफल जानने की रीति), चिति व्यवहार (ढालू खाई का घनफल जानने की रीति), खात व्यवहार (खाई का क्षेत्रफल निकालना), क्राकचिक व्यवहार (आरा चलाने वालों का उपयोगी गणित), राशि व्यवहार (अन्न के ढेर के परिमाण जानने की विधि), छाया व्यवहार (दीप स्तम्भ तथा उसकी छाया से सम्बन्ध प्रश्न) आदि इस प्रकार के कर्म इस अध्याय में बतलाये गये हैं।

इस ग्रंथ का १८वाँ अध्याय (कुट्टकाध्याय) में कुट्टक निकालने की अनेक विधियाँ दी गई हैं। डा० कोलब्रुक ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इस अध्याय के भीतर अनेक खण्ड हैं, प्रथम खण्ड तो जोड़, घटाना, गुणा, भाग के साथ करणी के जोड़, बाकी, गुणा, भाग करने की रीति को बतलाता है। करणी या करणीगत संख्या से तात्पर्य ऐसी राशियों से है जिनमें वर्गमूल, घनमूल आदि निकालना पड़े। दूसरे खण्ड में बीजगणित के प्रश्न हैं जैसे एकवर्ण समीकरण, वर्ग समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण आदि। तृतीय खण्ड का नाम बीजगणित सम्बन्धो 'भावितबीज' है। चतुर्थ खण्ड वर्ग-प्रकृति नामक है। पाँचवें खण्ड में अनेक उदाहरण हैं। १०३ श्लोकों में पूर्ण होने वाला यह अध्याय गणित के मुख्य विषयों का विवरण देता है।

श्रीधर

श्रीधराचार्य की त्रिशती, त्रिशतिका अथवा गणितसार एक ही ग्रंथ के नाम हैं। ग्रंथ के आदिम पद्य में श्रीधर ने स्वयं लिखा है[1] कि यह ग्रन्थ उनके पाटीगणित का सार है। फलतः उनका कोई बड़ा ग्रन्थ एतद्-विषय का होना चाहिये जिसका सार संकलन 'त्रिशती' में किया गया है। सौभाग्यवशात् इस बृहत् ग्रंथ का संकेत मिलता है। राघवभट्ट ने शारदा तिलक की अपनी व्याख्या 'पदार्थादर्श' में श्रीधर की 'बृहत्पाटी' के विषय में लिखा है[2] कि—"श्रीधर ने 'बृहत्पाटी' में दो प्रकारों का वर्णन कर उसके संग्रहभूत त्रिशती ग्रन्थ में स्थूल ही प्रकारों को दिखलाया है। भास्कराचार्य ने लीलावती में स्थूल के समान सूक्ष्म प्रकारों को भी कहा है।" इसका स्वारस्य यह है कि त्रिशती का मूलभूत ग्रन्थ 'बृहत्पाटी' है। भास्कराचार्य का अनन्तर वर्णन श्रीधर की पूर्वभाविता का द्योतक है। मक्किभट्ट ने श्रीपति के 'सिद्धान्त शेखर' की अपनी व्याख्या ('गणित-भूषण' नाम्नी) में श्रीधर के किसी 'नवशती' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[3] बहुत सम्भव है कि राघवभट्ट द्वारा निर्दिष्ट 'बृहत्पाटी' तथा मक्किभट्ट द्वारा उल्लिखित 'नवशती' एक ही अभिन्न ग्रन्थ हैं। सिद्धान्त-शेखर के सम्पादक की सम्मति भी इसी पक्ष में है। फलतः श्रीधर के बड़े ग्रन्थ का नाम नवशती था जिसमें नाम्ना नव सौ पद्यों की सत्ता प्रतीक होती है और यह पाटीगणित का ग्रन्थ था। त्रिशती या त्रिशतिका इसका सारसंग्रह है।

त्रिशती का संस्करण म० म० सुधाकर द्विवेदी ने काशी से प्रकाशित किया था। यह गणित का बड़ा ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। भास्कराचार्य ने अपनी 'लीलावती' का निर्माण इसी ग्रन्थ के आदर्श पर किया। त्रिशती (गणितसार) के विषयों के निर्देश से उसके महत्त्व का परिचय मिल सकता है। गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति-भागानुबन्ध, भागमातृजाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड-प्रतिभाण्ड, मिश्रक व्यवहार, भाव्यक व्यवहार सूत्र, एकपत्रीकरण सूत्र, सुवर्ण गणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रय-विक्रय सूत्र, श्रेढी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, खात व्यवहार, चिति

---

१. नत्वा शिवं स्वविरचित-पाट्या गणितस्य सारमुद्धृतम्
लोक-व्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्री श्रीधराचार्यः।

२. तत्र भगवता श्रीधराचार्येण बृहत्पाट्यां प्रकारद्वयमुक्त्वा तत् संग्रहे त्रिशती-ग्रन्थे स्थूला एक प्रकाराः प्रदर्शिताः। काशी संस्कृत सीरीज, १६३४ पृ० ९९।

३. कोट्यादि लक्षणं श्रीधराचार्येण नवशत्यामुक्तम्।
—सिद्धान्त शेखर पृ० १७ (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३२)

व्यवहार, काष्ठ व्यवहार, राशि व्यवहार, छाया व्यवहार आदि गणितों का विवरण है। भास्कराचार्य ने बीजगणित के अन्त में श्रीधर के बीजगणित के अति विस्तृत होने का उल्लेख किया है[1]। पाटीगणित तथा बीजगणित के रचयिता एक ही व्यक्ति को मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्राचीन काल में योग्य गणितज्ञ गणित के दोनों विभागों पर ग्रन्थ लिखते थे। भास्कराचार्य इसके प्रबल उदाहरण हैं। श्रीधराचार्य इस विषय में भास्कराचार्य के आदर्श प्रतीत होते हैं। श्रीधरने गुणन की जो पारिभाषिकी संज्ञा "प्रत्युत्पन्न" दी है, वह वास्तव में विलक्षण है और वह भास्कर के पाटीगणित में उपलब्ध नहीं होती।

ध्यातव्य है कि श्रीधर की 'नवशती' का केवल उद्धरण ही प्राप्त है। ग्रन्थ का हस्तलेख भी कहीं नहीं मिलता। राघवभट्ट ने अपने पदार्थादर्श की रचना १४९३ ई० में तथा मक्किभट्ट ने अपने 'गणितभूषण' का निर्माण १३७७ ई० में की थी। इनमें निर्दिष्ट होने से श्रीधर का समय १४ शती से प्राचीन होना चाहिये, परन्तु कितना प्राचीन ? इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है।

श्रीधर के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। म० म० सुधाकर द्विवेदी 'न्यायकन्दली' के रचयिता दार्शनिक श्रीधर से गणितज्ञ श्रीधर की एकता मानकर उनका समय ९१३ शक मानते हैं[2], क्योंकि न्यायकन्दली का यही निर्माणकाल है। परन्तु जब तक दोनों ग्रन्थकारों का ऐक्य प्रमाणों से पुष्ट न हो जाय, तब तक यह निर्माणकाल मानना उचित नहीं प्रतीत होता। दीक्षित का कथन है कि महावीर के 'गणितसार संग्रह' ग्रन्थ में श्रीधर के मिश्रक व्यवहार के कुछ वाक्य आये हैं जिससे श्रीधर महावीर से पूर्वकालीन लेखक सिद्ध होते हैं। महावीर का समय ७७५ शक सं० (=८५३ ई०) है।[3] अतः श्रीधर का समय एतत्पूर्व कभी होना चाहिये। सम्भवतः अष्टम शती ई० में श्रीधर का आविर्भाव हुआ था।

श्रीपति

ये सिद्धान्त-ज्योतिष के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त गणित के भी महनीय विद्वान थे। गणित-सम्बन्धी इनकी दो रचनाएँ बड़ी ही प्रौढ़ हैं।— (१) गणित-तिलक (२) बीजगणित। गणित-तिलक श्रीपति की विद्वत्ता का प्रतिपादक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें केवल १२५ पद्य हैं जिनमें सिद्धान्त का और उससे सम्बद्ध प्रश्नों का वर्णन

---

१. ब्रह्माह्वय-श्रीधर-पद्मनाभ बीजानि यस्मादतिविस्तृतानि ॥

२. द्रष्टव्य गणकतरङ्गिणी पृ० २४–२५ (काशी)।

३. भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २३०।

किया गया है। गणित के आठ मौलिक परिकर्मों का वर्णन यहाँ प्रथमतः दिया गया है। तदनन्तर 'कला-सवर्ण' के नाना भेदों तथा जातियों का उदाहरणपूर्वक वर्णन ग्रन्थ की मौलिकता तथा नवीनता का पर्याप्त सूचक माना जा सकता है। अन्त में त्रैराशिक, पंचराशिक, एकपत्रीकरण, समीकरण के पूर्व ही कला सवर्ण की भिन्न-भिन्न चार जातियों का वर्णन किया गया है। 'कला-सवर्ण' शब्द गणित का पारिभाषिक शब्द है। कला का अर्थ है भिन्न और सवर्ण का अर्थ है एक रूप में लाना। जोड़ने, घटाने के पहले भिन्नों के हर को समान रूप में लाना पड़ता है। इसी प्रक्रिया का नाम कला-सवर्ण है।

इस ग्रन्थ के ऊपर जैन गणितज्ञ 'सिंह तिलक सूरि'[1] की महत्त्वपूर्ण टीका है जिसमें श्रीपति के सूत्रात्मक श्लोकों की पूर्ण तथा प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनके देश काल का पूरा पता नहीं चलता। ये अपने को **'विबुध चन्द्र गणभृत्'** का शिष्य बतलाते हैं। इनकी तीन रचनायें मिलती हैं—(१) गणित तिलक वृत्ति (२) लीलावती वृत्ति सहित मन्त्रराज रहस्य (३) वर्धमान विद्याकल्प। इन्होंने अपनी इस वृत्ति में श्रीधर-कृत त्रिशतिका, भास्कराचार्य की लीलावती, लीलावती वृत्ति तथा ब्राह्मीपाटी ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिससे इनका काल १२ शती ई० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

पाटीगणित तथा वीजगणित के अतिरिक्त इनका सर्वश्रेष्ठ प्रख्यात ज्योतिष सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ है—सिद्धान्त-शेखर, जिसके ऊपर मक्किभट्ट का भाष्य अधूरा ही प्राप्त हुआ है[2]। आरम्भ के तीन अध्याय तथा चतुर्थ के आधे तक ही वह भाष्य उपलब्ध हुआ है। शेष अध्यायों का व्याख्यान स्वयं सम्पादक ने लिखकर पूरा किया है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान भास्कराचार्य के द्वारा उल्लिखित होने की घटना से लगाया जा सकता है। सिद्धान्त ज्योतिष का यह ग्रन्थ प्रौढ़ तथा प्रामाणिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थों का नाम यह है—

(१) जातक-पद्धति (अथवा श्रीपति-पद्धति); (२) ज्योतिष-रत्नमाला (या श्रीपति रत्नमाला); (३) रत्नसार, (४) श्रीपति निबन्ध; (५) श्रीपति-समुच्चय; (६) धीकोटिद (करण) तथा (७) ध्रुवमानस (करण)। इन ग्रन्थों के

---

१. सिंहतिलक सूरि कृत टीका के साथ प्रकाशित (गायकवाड संस्कृत सीरीज, संख्या ७८, १९३७ ई०)।

२. सं० मक्किभट्ट के भाष्य (रचनाकाल—१३७७ ई०) के साथ पण्डित बबुआमिश्र के द्वारा सम्पादित कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है (कलकत्ता, १९३२ ई०)।

निर्माण से श्रीपति के ज्योतिषशास्त्रीय बहुल पाण्डित्य, अलोक-सामान्य प्रतिभा तथा व्यापक वैदुष्य का परिचय भलीभाँति लग सकता है।

ज्योतिष रत्नमाला के टीकाकार महादेव के कथनानुसार श्रीपति काश्यप-गोत्री, केशवभट्ट के पौत्र तथा नागदेव के पुत्र थे। ध्रुवमानस करण में श्रीपति ने अपना परिचय स्वयं लिखा है जो महादेव के कथन का पोषक है—

> **भट्टकेशवपुत्रस्य नागदेवस्य नन्दनः।**
> **श्रीपती रोहिणीखण्डे ज्योतिः शास्त्रमिदं व्यधात्॥**

'ज्योतिष रत्नमाला' की स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है श्रीपति द्वारा निर्मित मराठी भाषा में, जिससे प्रतीत होता है कि ये महाराष्ट्र के निवासी थे अथवा ऐसे स्थान में रहते थे जहाँ मराठी बोली जाती थी। श्रीपति को महाराष्ट्रीय पण्डित मानना सर्वथा उचित है। इस रत्नमाला के आदिम द्वितीय श्लोक में इन्होंने वराह तथा लल्ल के द्वारा निर्मित शास्त्र का अनुशीलन कर ग्रन्थ लिखने की बात लिखी है—

> **विलोक्य गर्गादि-मुनि-प्रणीतं**
> **वराह-लल्लादि-कृतं च शास्त्रम्**

फलतः इनका समय वराह मिहिर (६०० ई०) तथा लल्ल (७४८ ई०) के पश्चात् है। सिद्धान्तशेखर का उल्लेख भास्कराचार्य (१२ शती) ने किया है[1] जिससे इन्हें १२ शती से पूर्व होना चाहिये। 'धीकोटिद' करण ग्रन्थ में ९६१ शक सं० (= १०३९ ई०) करण का काल माना गया है[2] जो स्वयं लेखक का काल है। उस समय यदि ये लगभग चालीस वर्ष के हों, तो इनका जन्मकाल ९९९ ई० के पास मानना चाहिये। ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं निर्दिष्ट होने से श्रीपति का आविर्भाव-काल एकादश शती का पूर्वार्ध माना जाना चाहिये। (लगभग १००० ई० से लेकर १०५० ईस्वी तक)। ये बड़े ही निरभिमानी, काव्य-कला निष्णात तथा पक्षपातहीन दैवज्ञ थे। रत्नमाला का यह अन्तिम श्लोक इनकी इस मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचायक है—

> **भ्रातरद्यतन - विप्रनिर्मितं**
> **शास्त्रमेतदिति मा वृथा त्यज।**
> **आगमोऽयमृषिभाषितोपमो**
> **नापरं किमपि भाषितं मया॥**

---

१. त्रिनवभवन जातेति स्वोक्त-सिद्धान्तशेखरोक्त लक्षणेनापि पातो गतः (गणिताध्याय—पाताधिकार)।

२. सुधाकर द्विवेदी—गणकतरंगिणी पृष्ठ २८—२९।

महावीर—गणित-सार-संग्रह

महावीराचार्य ने इस ग्रन्थ को 'अमोघवर्ष' राजा के राज्य काल में लिखा था। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं इसके मंगलाचरण में किया है। यह अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-वंशीय राजा था जिसकी उपाधि 'नृपतुंग' थी। शासन काल ८१४ ई०—८७७ ई०। अतः महावीर का समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। ये कर्नाटक देश के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इस प्रकार महावीर ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य के मध्यवर्ती युग के प्रतिनिधि गणितज्ञ हैं।

'गणितसार संग्रह' भारतीय गणित का पूर्ण परिचायक ग्रन्थ है जिसमें पाटी-गणित के साथ क्षेत्रगणित के भी अंग सम्मिलित हैं। ग्रंथ के नव अध्याय है जिनके नाम से ही इसके व्यापक विषय का परिचय मिल सकता है। इनके नाम हैं—(१) संज्ञा (२) परिकर्म (३) कला-सवर्ण (४) प्रकीर्तक (५) त्रैराशिक (६) मिश्रण (७) क्षेत्रगणित (८) खात और (९) छाया। ग्रंथ के विषय तो वेही हैं जो ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन गणितज्ञों के हैं, परन्तु प्रश्नों की सिद्धि के लिए नये-नये नियमों का आविष्कार ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिभा के बल पर किया है।

जैन गणित

जैन सम्प्रदाय ने गणित को विशेष महत्त्व प्रदान किया। जैनों की परम्परा के अनुसार प्रत्येक आगम के लिए चार अनुयोग आवश्यक बतलाये गये हैं जिनमें 'गणितानुयोग' भी अन्यतम है। भगवती सूत्र का कहना है कि जैन मुनि के लिए संख्यात (अंकगणित) और ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक होता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर अंकगणित में पारंगत बतलाये जाते हैं। इसीलिए महावीराचार्य ने उन्हें 'संख्या-ज्ञान-प्रदीप' कहा है।

जैन धार्मिक साहित्य में सूर्यप्रज्ञप्ति (प्राकृत नाम सूरपन्नत्ति) तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति (प्राकृत नाम चन्द पन्नत्ति) में ज्योतिष शास्त्र का विषय विवेचित किया गया है। सूर्य-प्रज्ञप्ति जैनागमों का पाँचवा उपांग है और चन्द्रप्रज्ञप्ति सातवाँ उपांग। नाम से तो पता चलता है कि एक में सूर्य का भ्रमण तथा दूसरे में चन्द्र का भ्रमण विवृत होगा, परन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय सूर्य-प्रज्ञप्ति के समान ही है। सूर्य-प्रज्ञप्ति में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का विवरण १०८ सूत्रों में विस्तार से दिया गया है। इसमें २० प्राभृत (खण्ड) हैं जिनका वर्ण्य विषय इस प्रकार है—सूर्य के मण्डलों की गति संख्या, सूर्य का तिर्यक् गमन, प्रकाश्य क्षेत्र का परिमाण, संवत्सर के आदि-

---

१. मद्रास सरकार ने अंग्रेजी अनुवाद के सहित १९१२ में प्रकाशित किया।

अन्त तथा भेद, चन्द्रमा की वृद्धि और ह्रास, शीघ्र गति और मन्द गति का निर्णय, चन्द्र सूर्य आदि का उच्चत्वमान, चन्द्र-सूर्य का परिमाण आदि-आदि।

जैनियों के अनुसार दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता है![1] इन दो सूर्यों में से दक्षिण दिशा का सूर्य दक्षिणार्ध मण्डल का, और उत्तर दिशा का सूर्य उत्तरार्ध मण्डल का परिभ्रमण करता है। इस जम्बू द्वीप में दो सूर्य हैं। जैनमत में ब्राह्मण पुराणों की भाँति इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र स्वीकार किये गये हैं। इस असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीच में मेरु पर्वत अवस्थित है। पहिले जम्बूद्वीप है, उसके बाद लवण समुद्र है। जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भारतवर्ष अवस्थित है और उत्तर भाग में ऐरावत वर्ष है। इन दोनों वर्षों में भिन्न-भिन्न सूर्यों की अवस्थिति है। एक सूर्य भारतवर्ष में है और दूसरा ऐरावत वर्ष में है। ये सूर्य ३० मुहुर्त में एक अर्धमण्डल का तथा ६० मुहुर्त में समस्त मण्डल का चक्कर लगाते हैं। परिभ्रमण करते हुए इन सूर्यों में कितना अन्तर होता है—इस तथ्य का भी उद्घाटन किया गया है। दशम प्राभृत में २२ अध्याय हैं जिनमें नक्षत्रों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक जोतिष सम्बन्धी विषयों का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है—नक्षत्रों का योग, उनका कुल, अमावस्या तथा पौर्णमासी को चन्द्र के साथ संयुक्त होनेवाले नक्षत्रों का उल्लेख, चन्द्र के परिभ्रमण का मार्ग, नक्षत्रों के देवता आदि। नक्षत्रों के गोत्रों का उल्लेख एक विशिष्ट तथ्य है जैसे पुनर्वसु का वशिष्ट गोत्र, हस्त का कौशिक, मूल का कात्यायन आदि। इन २८ नक्षत्रों में सम्पाद्यमान हितकारी भोजनों का भी निर्देश एक मननीय विचार है। इस प्रकरण को 'नक्षत्र भोजन' कहते हैं उदाहरणार्थ कृत्तिका नक्षत्र में दही, आर्द्रा में नवनीत, पुनर्वसु में घृत, पुष्प में घृत, श्रवण मे खीर, आदि-आदि। इन नक्षत्रों में तत्तत् पदार्थों के हितकारी होने का रहस्य भी विचारणीय है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जैन आगमों का षष्ठ उपांग है। इसमें भौगोलिक विषयों के साथ ज्योतिष विषयों का भी विस्तृत सन्निवेश है। इस प्रज्ञप्ति के अन्तिम (सप्तम) वक्षस्कार (खण्ड) में ज्योतिः शास्त्र का वर्णन दिया गया है जैसे -- जम्बूद्वीप में दो सूर्य, दो चन्द्र, ५६ नक्षत्र और १७६ महाग्रह प्रकाशित करते हैं। संवत्सर पाँच प्रकार

---

१. ब्रह्मगुप्त ने स्फुट-सिद्धान्त में तथा भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' में जैनों को दो सूर्य तथा दो चन्द्र की मान्यता का खण्डन किया है। डा० थीबो के कथनानुसार भारतवर्ष में आने से पूर्व यूनानी लोगों में भी उक्त सिद्धान्त मान्य था। द्रष्टव्य डा० थीबो का 'आन दी सूर्य विज्ञप्ति' शीर्षक निबन्ध (जनरल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता. जिल्द ४९)

के बतलाये गये हैं—(१) नक्षत्र, (२) युग, (३) प्रमाण, (४) लक्षण, (५) शनेश्चर और इनके भी अवान्तर भेद होते हैं। अनन्तर नक्षत्रों के देवता, गोत्र, आकार, कुल आदि का सूर्य-चन्द्र के परिभ्रमण आदि का विवरण जैन मान्यता के अनुसार यहाँ दिया गया है। ब्राह्मण ज्योतिषियों के ग्रंथों के तथ्यों के साथ इनकी तुलना करने से उस युग की जैन मान्यता का स्वरूप भलीभाँति समझा जा सकता है।[1]

मलयगिरि ने इन तीनों के ऊपर संस्कृत में टीका लिखी है[2]। आचार्य मलयगिरि (१२वीं शती) हेमचन्द्र ने सहाध्यायी थे—इसका पता जिनमण्डन गणि कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' से चलता है। मलयगिरि हेमचन्द्र को गुरुवत् मानते थे और इसलिए अपने ग्रंथ में उनकी एक कारिका को 'तथा चाहुः गुरवः' कहकर उद्धृत किया है। इस टीका के अध्ययन से जैनाधर्मानुयायियों की ज्योतिष कल्पना का और भी अधिक परिचय मिलता है।

ज्योतिष्करण्डक भी इसी युग का ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में ज्योतिष तथा गणित दोनों का मिश्रण है। विशुद्ध गणितीय ग्रन्थों में महावीराचार्य का यह ग्रन्थ अनुपम है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सिंहतिलक सूरि नामक जैन गणितज्ञ में श्रीपति के गणित तिलक के ऊपर एक बड़ी प्रामाणिक वृत्ति लिखी है। जैनियों के गणित साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है त्रिलोकसार जिसकी रचना नेमिचन्द्र ने की है। इस ग्रन्थ के छः अधिकारों में गणित की दृष्टि से प्रथम अधिकार अत्यधिक महत्व का है। त्रिलोकसार में चौदह धाराओं का वर्णन किया गया है। क्षेत्रमिति के बहुत से आवश्यक नियमों का वर्णन ग्रन्थ की उपादेयता का द्योतक है।[3]

जैन आगम के सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'अंग' कहलाते हैं जो अर्धमागधी में निबद्ध हैं। इनमें रेखागणित के पारिभाषिकों शब्दों का अत्यन्त प्राचीन उल्लेख है और साथ ही साथ क्षेत्रमिति का भी विवरण है। भगवती-सूत्र में पाँच रेखाकृतियों के नाम दिये गये हैं—त्र्यस्र (त्रिभुज), चतुरस्र (चतुर्भुज) आयत, वृत्त, परिमण्डल (Ellipse)।

इनमें से प्रत्येक दो प्रकार का होता है। समतल होने पर उसका नाम है प्रस्तर तथा ठोस होने पर घन। इस प्रकार इन ठोसों के नाम मिलते हैं—घन त्यस्र, घन

---

१. इन तीनों प्रज्ञप्तियों के विषयों के निमित्त द्रष्टव्य 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' द्वितीय भाग (प्र० जैनाश्रम, वाराणसी) पृ. १०५-१२६

२. इन टीकाओं के विवरण के लिए द्रष्टव्य 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग तीसरा पृ. ४२१-४२६ (प्रकाशक—जैनाश्रम वाराणसी, १९६८)

३. द्रष्टव्य डा० सत्यप्रकाश रचित 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' पृ० ६१-६५ (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।

चतुरस्र, घनायत, घन वृत्त तथा घन परिमण्डल। आजकल की ठोस ज्यामिति में तो इन सब ठोसों का विवरण मिलता ही है। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन युग में भी इनकी रचना पद्धति ज्ञात थी जो गणित के इतिहास में महत्त्व का सूचक है। परिधि और व्यास के सम्बन्ध का भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है—(१) √१० (२) तीन से थोड़ा अधिक (त्रिगुणं सविशेषं) (३) ३·१६ । पहला निर्देश भगवती सूत्र (सू० ९१), जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० ३), और सूर्यप्रज्ञप्ति (सू० २०) तथा तत्वार्थसूत्र भाष्य में मिलता है। दूसरा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० १९) और उत्तराध्ययन सूत्र (३६ । ५९) में दिया गया है। तीसरा जीवाजीवाभिगम सूत्र (११२) में दिया है। जैनियों के ग्रन्थों में मायावर्ग (मैजिक स्क्वायर) बनाने की भी अनेक विधियों का उल्लेख मिलता है। इन कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्देशों से आलोचक का पता[१] लग सकता है कि जैन गणित की अपनी अलग महत्ता है। जैन अंगों तथा ग्रन्थों की वैज्ञानिक छानबीन करने से अनेक महत्त्वपूर्ण तत्वों की अवगति हो सकती है जो आजकल भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।[२]

भास्कराचार्य

लीलावती पाटीगणित का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है भास्कराचार्य काव्यकला में निष्णात पण्डित थे। वे रूखे-सूखे खूसट ज्यौतिषी न थे, फलतः उनके उदाहरणों में कवि-सुलभ कोमल शब्द-विन्यास है। यह पाटीगणित तथा क्षेत्रमिति (मेन्सुरेशन) का सम्मिलित ग्रन्थ है। भास्कर ने क्षेत्र व्यवहार को अंकगणित के भीतर ही समाविष्ट किया है। आजकल यह 'रेखागणित' के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। भास्कर के समय १२ शती तक रेखागणित उतना विकसित नहीं हो पाया था। इसकी विशेष उन्नति १८वीं शती में हुई जब जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह (द्वितीय) ने पण्डित जगन्नाथ सम्राट् से पश्चिमी रेखागणित 'यूक्लिड' का संस्कृत में अनुवाद कराकर प्रचारित किया। भास्कर की प्रतिभा अलौकिक थी। उसका परिचय क्षेत्रमिति वाले प्रश्नों के समाधान के अवसर पर पदे पदे होता है। सरस प्रश्नों का एक ही नमूना देखिये—

1. Dr. B. Dutta 'The Jain School of Mathematics' (pp. 141–142)—The Bulletin of Calcutta Mathematical Society Vol 21, No. 2, 1929.

२. एच० आर० कापडिया—गणित तिलक की अंग्रेजी भूमिका—पृ० २२-४७। (गायकवाड संस्कृत सीरीज नं० ७८, १९३७)।

बाले मराल-कुल-मूल-दलानि सप्त
तीरे विलास-भरमन्थरगाण्यपश्यम् ।
कुर्वंश्च केलि-कलहं कलहंसयुग्मं
शेषं जले वद मराल-कुल-प्रमाणम् ॥

आशय है कि हंससमूह के वर्गमूल का सप्तगुणित आधा ($\frac{7}{2}$) को क्रीडा की थकावट से धीरे-धीरे सरोवर के तट पर जाते हुए मैंने देखा और शेष दो हंसों को पानी में क्रीडा कलह करते देखा, तो हंसों की संख्या बताओ ।

'लीलावती' के नामकरण के विषय में पण्डित-समाज में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं । कोई तो इसे उनकी विधवा कन्या के नाम पर निर्मित बतलाते हैं, जिसे पढ़ाने के लिए ग्रन्थ का निर्माण हुआ, तो कोई अपत्याभाव से नितान्त दुःखित अपनी धर्मपत्नी के मनोविनोदार्थ इसकी रचना बताते हैं । इसमें दूसरा पक्ष बाधित है । भास्कर के पौत्र चंगदेव ने अपने पितामह के तथा तद्वंशीय अन्य विद्वानों के ग्रन्थों के अध्यापनार्थ 'पाटण' नामक ग्राम में (महाराष्ट्र—खानदेश) एक मठका निर्माण कराया था । इस शिलालेख में भास्कर के पूरे वंश का वर्णन है जो भास्करोक्त वर्णन से मेल खाता है । भास्कराचार्य के आदि पुरुष त्रिविक्रम भट्ट दमयन्तीचम्पू के लेखक थे तथा भास्कर के वेदविद्या में निपुण, राजा जैत्रपाल द्वारा सम्मानित पुत्र का नाम लक्ष्मीधर था[1] । फलतः भास्कराचार्य का वंश उनके अनन्तर भी चलता रहा—इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है ।

ग्रन्थ में सब मिलाकर २७८ पद्य हैं । बीच में उदाहरणों का स्पष्टीकरण गद्य में भी किया है । विविध परिमाणों के पैमाना तथा परार्ध-पर्यन्त संख्या देने के बाद पूर्णाङ्कों का योग, अन्तर, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन तथा घनमूल दिये गये हैं जिन्हें परिकर्माष्टक कहते हैं । भिन्न का परिकर्माष्टक, इष्टकर्म, त्रैराशिक, पञ्चराशिक, श्रेढी, क्षेत्रों तथा घनों के क्षेत्रफल, घनफल, कुट्टक, पाक्षिक विपर्यय, सर्वांशिक विपर्यय से सम्बद्ध बातें तथा उदाहरण दिये गये हैं । ग्रन्थ की प्रसिद्धि इसके वैशद्य तथा व्यापकत्व

---

१. लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो
वेदार्थवित् तार्किक चक्रवर्ती ।
क्रतु-क्रिया-काण्डविचार-सारो
विशारदो भास्करनन्दनोऽभूत् ॥

पूरे शिलालेख के लिए द्रष्टव्य गणकतरंगिणी पृ० ३१—४१
तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिष पृ० ३४३—३४५ ।

के ऊपर आश्रित है। टीका सम्पत्ति तथा विभिन्न भाषाओं में अनुवाद इसके सद्यः प्रमाण हैं।

टीका सम्पत्ति

लीलावती के ऊपर टीका लिखना मध्ययुगीय ज्योतिषियों की विद्वत्ता की कसौटी थी। व्याख्या में कतिपय के नाम ये हैं—(१) गंगाधर की गणितामृत सागरी (१३४२ शक); (२) गणेशदैवज्ञ की बुद्धिविलासिनी (१४६७ शक); (३) धनेश्वर दैवज्ञ की लीलावतीभूषण; (४) मुनीश्वर की लीलावतीविवृति (१५४७ शक); (५) महीधर की लीलावती विवरण; (६) रामकृष्ण की गणितामृतलहरी; (७) नारायण की पाटीगणित-कौमुदी; (८) सूर्यदास की गणितामृतकूपिका; (९) बापूदेव शास्त्री की टिप्पणी सहित व्याख्या तथा (१०) सुधाकर द्विवेदी की उपपत्ति सहिता सुधाकरी टीका। इनके 'बीजगणित' पर कृष्णदैवज्ञ की बीजनवाङ्कुर टीका (१५२४ शक) तथा सूर्यदास की टीका उपलब्ध होती है।

इन दोनों ग्रन्थों के अनुवादों को कमी नहीं है। बादशाह अकबर के समय में फैज़ी ने लीलावती का अनुवाद फारसी में किया (१५८७ ई०) और शाहजहाँ के समय में अताउल्लाह रसीदी ने बीजगणित का अनुवाद फारसी में किया (१६३४ ई०)। १९वीं सदी में अंग्रेजों का जब परिचय इन ग्रन्थों से हुआ, तब से इनके अनुवाद प्रस्तुत किये गये। अंग्रेजी में अनेक अनुवाद हैं जिनमें स्ट्रेची[1] ने बीजगणित का १८१३ ई० में, टेलर[2] ने लीलावती का १८१६ में तथा कोलब्रूक[3] ने दोनों का अनुवाद १८१७ ई० में किया। भारतीय भाषाओं में भी अनेक अनुवाद उपलब्ध होते हैं।

बीजगणित नामक ग्रन्थ के आरम्भ में भास्कराचार्य ने बीजगणित की उपयोगिता बतलाई है। उनका कहना है कि व्यक्त गणित के प्रश्नों का उत्तर तब तक ठीक रूप से नहीं दिया जा सकता, जब तक बीजगणित की युक्तियों का उपयोग न किया जाय। इसलिए अंकगणित की सुव्यवस्था के लिए बीजगणित की सत्ता आवश्यक है।[4] भास्कराचार्य ने इस गणित के लिए बीज-क्रिया का उपयोग किया है। इस ग्रन्थ की रचना लीलावती की रचना के अनन्तर हुई। भास्कराचार्य का यह बीजगणित विषय के स्पष्ट विवेचन से इतना मौलिक है कि अपने विषय का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ

---

1. E. Strachey. 2. J. Tayler. 3. Henry Thomas Colebrooke.

४. पूर्वं प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तबीजं प्रायः प्रश्ना नो विनाऽव्यक्त-युक्त्या।
ज्ञातुं शक्या मन्दधीभिर्नितान्तं यस्मात्तस्माद् वच्मि बीजक्रियां च॥

बीजगणित श्लोक १।२

माना जाता है। इसीलिए इनका अनुवाद मध्ययुग (१६वीं शती) में फारसी में हुआ तथा १९वीं शती के आरम्भ में अंग्रेजी में हुआ। ग्रन्थ के आरम्भ में धन, ऋण आदि का वर्णन देकर, बीजगणित के अनुसार जोड़, घटाना, गुणा आदि का वर्णन दिया गया है। इसके अनन्तर करणी के छः प्रकार का वर्णन है। तदनन्तर कुट्टक सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशद विस्तृत विवरण है। वर्गप्रकृति तथा चक्रवाल के वर्णन के अनन्तर समीकरण तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। एकवर्ण समीकरण में क का मूल्य निकालने की विधि है और अनेकवर्ण समीकरण में क और ख दोनों अज्ञात संख्याओं के मूल्य निकालने का वर्णन है। इस प्रकार बीजगणित से सम्बद्ध समस्त विषयों का सांगोपांग विवेचन ग्रन्थ को उपयोगी तथा उपादेय बना रहा है।[1]

भास्कर एक प्रतिभाशाली कवि थे और उन्हें अपने कवित्व का समुचित अभिमान था। सिद्धान्तशिरोमणि के तेरहवें अध्याय में रचित ऋतुवर्णन उनकी कवि-प्रतिभा का पर्याप्त परिचायक है। यह ऋतु-वर्णन वर्ण्य विषय से साक्षात् सम्बद्ध नहीं है और सरस कवि के मधुर उद्गार का मधुमय प्रतीक है। कविता की यह प्रशस्ति कितनी सुन्दर तथा श्लेषमयी है—इसे विशेष बतलाने की आवश्यकता नहीं है—

सरसमभिलपन्ती सत्कवीनां विदग्धा-
नवरतरमणीया भारती कामितार्थम्।
न हरति हृदयं वा कस्य सा सानुरागा
नवरत रमणीया भारती कामितार्थम्॥

—सिद्धान्त शिरोमणि १३। १२

सिद्धान्तशिरोमणि का स्वोपज्ञ भाष्य (वासना भाष्य सरल टीका-प्रणयन का आदर्श उपस्थित करता है जिसमें सरल-सुबोध शब्दों में मूल के निगूढ अर्थ को अनायास समझाया गया है। फलतः भास्कराचार्य ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित पण्डित थे—यह कथन पुनरुक्तिमात्र ही है।

नारायण पण्डित

पाटीगणित के इतिहास में लीलावती का यदि कोई स्पर्धी ग्रंथ है, तो वह नारायण पण्डित की गणित-कौमुदी ही है। नारायण के देश का पता नहीं चलता, परन्तु

---

1. पं० विशुद्धानन्द गौड़ रचित सं० हि० टीका समेत १९४३, मास्टर खेलाडीलाल (काशी)। सं० चौखम्भा काशी संस्कृत सीरीज, नं० १४८, काशी, १९४९, हिन्दी तथा नवीन संस्कृत टीका के साथ।

ग्रंथ के अन्तिम श्लोक[1] में ग्रंथ का रचना-काल १२७८ शक (= १३५६ ई०) बतलाया गया है जिससे इनका आविर्भाव काल चतुर्दश शती का मध्यकाल सिद्ध होता है।[2] प्रतिपादन की शैली लीलावती की परिपाटी को स्पर्श करती है। ग्रंथकार के पिता नृसिंह श्रौतस्मार्तार्थ-वेत्ता सकल-गुणनिधि तथा शिल्प-विद्या-प्रगल्भ बतलाये गये हैं। गणितकौमुदी के प्रश्न लीलावती के समान ही ललित भाषा में निबद्ध हैं। नारायण के कथनानुसार गणित कौमुदी से पूर्व 'बीजगणित' की रचना की गई थी।[3] फलतः अव्यक्त तथा व्यक्त उभयविध गणितों के प्रौढ़ प्रतिभाशाली ज्योतिर्विद् प्रतीक होते हैं। इन दोनों ग्रन्थों की पुष्पिका एक समान है जो दोनों के लेखकों की अभिन्नता का स्पष्ट प्रमाण है। दोनों की पुष्पिका में ग्रंथकार अपने को 'सकल कलानिधि श्रीमन्नृसिंह-नन्दन गणित-विद्या-चतुरानन नारायण पण्डित' बतलाता है। दोनों में भेद मानने का अवसर नहीं है।

'गणित कौमुदी' को अनेक विशिष्टताओं में गणित के कठिन प्रश्नों के समाधान की नवीन रीति के साथ 'माया वर्ग' (मैजिक स्वायर) की रचना के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। यह जानने की बात है कि मायावर्ग की प्रथम रचना तथा आविष्कृति का श्रेय हिन्दू गणितज्ञों को है। नारायण से पहिले भी मायावर्ग की रचना के नियम निर्दिष्ट थे, परन्तु इसे तांत्रिक पूजा का गुह्य अंग मानकर गणितज्ञ लोग अपने ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं करते थे। इससे पूर्व भैरव तथा शिव-ताण्डव तन्त्रों में इसकी निर्माण-विधि बतलाई गई है। परन्तु गणितज्ञों में नारायण ही इस विद्या के प्रथम प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। यूरोप में १५ शती में इस विद्या का उदय हुआ जिससे लगभग एक सौ वर्ष पूर्व गणित कौमुदी में यह विषय वैज्ञानिक रीति से विन्यस्त है और यह इस ग्रन्थ की महती विशिष्टता है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

---

१. ग्रन्थ का प्रकाशन सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (नं० ५७) में दो खण्डों में हुआ है—प्रथम खण्ड १९३६ में और दूसरा खण्ड १९४२ में। सम्पादक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका मननीय तथा द्रष्टव्य है।

२. गजनग रविमित शाके दुर्मुखवर्षे च बाहुले मासि ॥
धातृतिथौ कृष्णदले गुरौ समाप्तिगतं गणितम् ॥

३. अत्र पाटीगणिते खहरे कृते लोकस्य व्यवहृतौ प्रतीतिर्नास्तीत्यतो खहरो नोक्तः। अस्मदीये बीजगणिते बीजोपयोगित्वात् तत्र खहरः कथितः (शून्यपरिकर्म में नारायण का वचन) 'नारायणीय बीजम्' नाम से इसकी एक अपूर्ण प्रति सरस्वती भवन में उपलब्ध (प्रकाशित) है।

मुनीश्वर (विश्वरूप)

सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में मुनीश्वर नामक एक प्रख्यात ज्योतिर्विद हो गये हैं जिन्होंने सिद्धान्त तथा पाटीगणित दोनों के ऊपर टीका और स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन्होंने भास्कराचार्य के लीलावती तथा सिद्धान्तशिरोमणि दोनों के ऊपर प्रख्यात व्याख्यायें लिखीं। लीलावती की व्याख्या का नाम 'निसृष्टार्थदूती' है, तथा सिद्धान्तशिरोमणि की व्याख्या का नाम 'मरीचि' है जो प्रमेयों के बाहुल्य, प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण तथा सिद्धान्तों के तर्कयुक्त विवरण के कारण भाष्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसके पूर्वार्ध की रचना १५५७ शक में (= १६३५ ई० में) हुई तथा उत्तरार्ध का निर्माण उसके तीन वर्ष पीछे १५६० शक में (= १६३८ ई० में) हुआ। मुनीश्वर को बादशाह शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था जिसके राज्याभिषेक का ठीक-ठीक समय हिजरी सन् में इन्होंने यहाँ दिया है जो ४ फरवरी १६२८ ई० में सूर्योदय से ३ घड़ी बाद सिद्ध होता है। ये काशीवाशी थे तथा ज्योतिर्विदों के प्रख्यात वंश में उत्पन्न हुए थे[1]। इनके पिता रंगनाथ ने सूर्यसिद्धान्त के ऊपर 'गूढ़ार्थ-प्रकाशक' नामक टिप्पण १५२५ शक (= १६०२ ई०) में लिखा जो एशिएटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इनके टिप्पण से पता चलता है कि उस समय पर यूरोप-निवासी (फिरंग नाम से प्रख्यात भारत में आने लगे थे। मुनीश्वर ने दो स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया था—

(१) **सिद्धान्त सार्वभौम**—यह सिद्धान्त ज्योतिष का महनीय ग्रन्थ हैं जिसके ऊपर ग्रन्थकार के स्वोपज्ञ टीका लिखी। ग्रन्थ का रचना-काल—१५६८ शक (= १६४६ ई०) तथा टीका का निर्माण-काल १५७२ शक (= १६५० ई०) है।

(२) **पाटीसार**—पाटीगणित के ऊपर इनकी स्वतन्त्र रचना है। इन ग्रन्थों में मरीचिभाष्य ही अत्यन्त उदात्त तथा प्रौढ़ ग्रन्थ माना जाता है। इस भाष्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि मुनीश्वर भास्कराचार्य के परमभक्त थे और इसलिए भास्कर के विरोधी कमलाकर भट्ट के साथ इनका महान् संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष के खण्डन मण्डन के प्रमापक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।[2] मरीचिभाष्य का नई टीका तथा हिन्दी विवृति के साथ पण्डित केदारदत्त जोशी ने काशी से हाल में सम्पादन किया है[3]। वह सर्वथा स्तुत्य तथा प्रशंसनीय है। मुनीश्वर 'विश्वरूप' के नाम भी प्रख्यात थे।

---

१. इस वंश के वर्णन के लिए द्रष्टव्य गणक तरङ्गिणी पृष्ठ ७९--८१।

२. द्रष्टव्य गणक-तरंगिणी पृष्ठ ९२।

३. हिन्दू विश्वविद्यालय की ज्यौतिष ग्रन्थमाला में प्रकाशित, वि० सं० २०२०। ईसवी सन् १९६४; दो खण्डों में प्रकाशित।

(ख) बीजगणित

'बीजगणित' नाम की उत्पत्ति का श्रेय भारतीय गणितज्ञ आर्यभट को देना उचित है। 'बीजगणित' का तात्पर्य उस गणित से है जिसमें बिना किसी अंक की सहायता से गणित का विधान किया जाता है। 'बीजगणित' का शाब्दिक अर्थ है मूल अक्षरों से सिद्ध होने वाला गणित। 'अव्यक्त गणित' इसी का नामान्तर है। पाटी-गणित या 'अङ्कगणित' को व्यक्त गणित कहा जाता है, क्योंकि वह व्यक्त अंकों के द्वारा सम्पन्न होता है। उससे भिन्न होने के हेतु अक्षरों की सहायता से साध्य होने के कारण इसे 'अव्यक्त गणित' कहा जाता है।

यूरोपीय देशों में इस विद्या को 'अलजब्रा' कहा जाता है। इस नामकरण का अपना एक विशिष्ट कारण है।

'अलजब्रा' नाम का उदय

'अलजब्रा' का नामकरण आकस्मिक है। यह अरब के एक ,मान्य गणितज्ञ के द्वारा प्रणीत ग्रंथ के नाम पर है। इस गणितज्ञ का नाम था—मुहम्मद इब्न मूसा अल खोवारिज्मी [अर्थात् खोवारिज्म (प्रसिद्ध नाम ख्वारेज्म) के निवासी, मूसा के पुत्र मुहम्मद] इसने बगदाद में ८२५ ईस्वी के आसपास एक प्रख्यात ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसका नाम है—'अलजब्र वल मुकाबला:'। इस ग्रंथनाम की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं हो सकी थी। अब इसका अर्थ लगा है। अलजब्र अरबी का शब्द है और इसी का समानार्थक फारसी शब्द है 'मुकाबला:'। अर्थात् इन भिन्न-भाषीय शब्दों का एक ही अर्थ है—समीकरण। यही समीकरण बीजगणित का विशिष्ट विषय माना जाता था और यूरोप के अनेक देशों में बीजगणित का यही अर्थ आज भी समझा जाता है। किसी अज्ञात संख्या का ज्ञात संख्या के साथ समीकरण करने से अज्ञात संख्या का परिचय मिल जाता है और यह परिचायक गणितशास्त्र ही बीजगणित है।

जैसे $क^{२} + २ क = २४$ इस समीकरण का निर्धारण कर अज्ञात 'क' का मूल्य ४ होता है। और यही मूलतः कार्य था बीजगणित का। इसीलिए मुहम्मद इब्न मूसा ने अपने ग्रंथ का नाम इसी समीकरण की मुख्यता के कारण दिया। इसी ग्रन्थ ने यूरोप पर अपना प्रकृष्ट प्रभाव जमाया। इसका अनुवाद ११४० ई० के आसपास चेस्टर के राबर्ट नामक विद्वान् ने किया और तब से यह यूरोप में बीजगणित का सर्वमान्य ग्रन्थ हो गया। और इसी ग्रन्थ के आदि शब्द के आधार पर यह अव्यक्त गणित 'अलजब्रा' के नाम से प्रख्यात हो गया।

बीजगणित के आविष्कार करने का श्रेय भारतीयों को है। इस विषय में आलोचकों के दो मत नहीं है। गणित के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक काजोरी का अनुमान तो

यह है कि बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियोफान्तस[1] (२४६–३३० ई० को बीजगणित का प्रथम आभास भारत से हां मिला था। १९वीं सदी के गणितज्ञ द मोरगाँ ने लिखा है कि दियोफान्तस का बीजगणितीय ज्ञान भारतीय विज्ञान के सामने नाममात्र का है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल का कथन है कि यदि अकरणीगत[2] और करणीगत[3] संख्याओं और राशियों के मान-निर्धारण में व्यक्तगणित के प्रयोग का नाम बीजगणित हो, तो उसके आविष्कार का सम्पूर्ण श्रेय हिन्दुओं को ही है।

यूनानी बीजगणितज्ञ

दियोफेन्टस ग्रीक देश का निवासी था, परन्तु उसके जन्मस्थान का पता नहीं चलता। विशेषज्ञों की सम्मति है कि यदि उसका ग्रन्थ ग्रीक भाषा में निबद्ध नहीं होता, तो कोई भी उसे ग्रीक मानने के लिए तैयार नहीं होता। ८४ वर्ष की आयु में लगभग ३३० ईस्वी में उसकी मृत्यु हुई। अपनी पूरी आयु का षष्ठांश उसने बिताया बाल्यकाल में, द्वादशांश यौवन में, तदनन्तर सप्तमांश बिताया कुमारावस्था में। अनन्तर वह गृहस्थ बना। पुत्र भी उसे हुआ, परन्तु वह भी उसके जीवन काल में ही गतायु हो गया। उसके प्रधान ग्रन्थ का नाम है—'अरिथमेटिका' जो तेरह खण्डों में समाप्त हुआ था, परन्तु जिसका केवल सात खण्ड ही आज उपलब्ध है। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में उसने बीजगणित से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले नियमों का वर्णन किया है। ये नियम एकदम नूतन हैं तथा यूनान की गणितीय परम्परा से नितान्त असम्बद्ध हैं। इन नियमों के आविष्कार की प्रेरणा दियोफेन्टस को कहाँ से प्राप्त हुई है? इस समस्या का पूरा समाधान अभी तक नहीं हो पाया है। परन्तु 'गणित का इतिहास' के प्रणेता डा० एफ० काजोरी की मान्यता है कि ये नियम उसे भारतीय पण्डितों के बीजगणित से प्राप्त हुये थे, अन्यथा इनके उद्गम की समस्या असमाहित ही रह जाती है।[4] यूनानी गणित की परम्परा से उनकी प्राप्ति होना नितान्त असम्भव व्यापार है।

निष्कर्ष यह है कि दियोफान्तस नामक यूनानी गणितज्ञ ने चौथी सदी के मध्यकाल में तेरह अध्यायों में 'पाटी-गणित' के जिस ग्रन्थ को लिखा था, उसके केवल एक अध्याय में ही बीजगणित का वर्णन है। इसने सरल समीकरणों और वर्गात्मक समीकरणों की नींव डाली। परन्तु इस ग्रन्थ का बहुल प्रचार न हो सका, क्योंकि

---

1. Diophantus. 2. Rational. 3. Irrational.

४. द्रष्टव्य काजोरी का ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आफ मैथेमेटिक्स' (न्यूयार्क; १९०६) पृष्ठ ७४–७७।

उसके ग्रन्थ का पता चला सोलह शती के मध्य में इटली के एक पुस्तकालय में, जब उसका लातिनी भाषा में अनुवाद किया जाइलैण्डर नामक विद्वान् ने १५७५ ई० में। इससे पहिले ही मुहम्मद बिन मूसा का पूर्वोक्त ग्रन्थ यूरोप के विद्वानों में प्रख्यात हो गया था और बीजगणित की नींव मध्ययुग में इसी ग्रन्थ की सहायता से पड़ चुकी थी। मूसा का अरबी में लिखा ग्रन्थ भारतीय बीजगणित के आधार पर ही लिखा गया है। जिस हिन्दू गणितज्ञ ने भारत में बीजगणित की नींव डाली, वे आर्यभट ही है। इनके अनन्तर ब्रह्मगुप्त ने बीजगणित का परिष्कार तथा परिबृहण किया। इन्हीं के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ और यहीं से अरब वालों ने यह विद्या सीखी। कोलब्रुक ने अनेक तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मगुप्त का बीजगणितीय वर्णन अरबों वालों के वैज्ञानिक उत्थान से पूर्व का है। इसलिए स्पष्ट है कि बीजगणित की उद्भावना तथा प्रेरणा का श्रेय हिन्दूओं को ही है। भास्कराचार्य (१२ शती) ने बीजगणित के ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र की ओर भी अधिक प्रगति की और अनेक नवीन तथ्यों का वर्णन कर इसे पूर्णरूपेण विज्ञान की कोटि में प्रस्तुत कर दिया।

यूरोप के बीजगणित तथा भारतीय बीजगणित को एक श्रृंखला में लाने का श्रेय अरब के विख्यात गणितज्ञ मुहम्मद इब्न मूसा को ही है। मुहम्मद के ऊपर ब्रह्मगुप्त का प्रभाव पड़ा और मूसा के ग्रन्थों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में होकर यूरोप में बीजगणित को प्रगति देने में समर्थ हुआ। इतना ही नहीं, चीन के गणित पर तथा उसके द्वारा जापान के गणित पर भी भारतीय बीजगणित का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विलियम्स का कहना है कि हिन्दुओं की बीजगणितीय प्रक्रिया चीन साम्राज्य के गणितज्ञों को ज्ञात थी, और यद्यपि दोनों देशों का बौद्धिक आदान-प्रदान बहुत दिनों से बन्द था तो भी इसका अनुशीलन आज भी चीन में उसी रीति से विद्यमान है। इन सब निर्देशों से स्पष्ट है कि वर्तमान बीजगणित का मूल आर्यभट और उससे पूर्व के युग में भी प्रतिष्ठित था। तथ्य तो यह है कि ज्योतिष के सिद्धान्तों के विकास के साथ-साथ बीजगणित का भी विकास होता आया, और इस प्रकार हिन्दुओं को बीजगणित का ज्ञान कम-से-कम ३००० ई० पूर्व है। मैक्डानाल्ड ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—ये ग्रन्थ एक से अधिक अज्ञात संख्याओं के समीकरण और एक से ऊँचे स्थल[1] के समीकरण की रीति बताते हैं। इन विषयों में भारतीय बीजगणित सिकन्दरिया के यूनानी गणितकार डियोफान्तुस् की गणित से आगे बढ़ी हुई है। भारतीय ग्रन्थकारों ने विश्लेषण-क्रिया को बहुत दूर तक पहुँचाया था और उनका बीजगणित में महत्त्वपूर्ण आविष्कार द्वितीय स्थल की असीमाबद्ध[2] संख्याओं के समाधान की क्रिया है।"

1. Degree. 2. Indeterminate.

सिद्धान्त

भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में बीजगणित के चारों क्रियाओं—जोड़, बाकी, गुणा, भाग का वर्णन तथा वर्ग तथा वर्गमूल नियमों का सरल रीति से वर्णन किया है। शून्य के विषय में भास्कर ने जो नियम दिये हैं वे बड़े ही मौलिक तथा सैद्धान्तिक महत्त्व के हैं। उन नियमों का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार है—शून्य को किसी राशि में जोड़ दो या किसी राशि में से घटा दो तो धन या ऋण राशि का विपर्यास (अदला बदला) नहीं होता। पर यदि शून्य में से धन राशि घटाओगे तो ऋण और ऋण राशि घटाओ, तो धन हो जाता है। शून्य के गुणन में गुणनफल शून्य ही होता है। केवल भाग में भेद होता है। यदि किसी राशि को शून्य से भाग दे तो 'खहार' राशि प्राप्त होगी। खहार का तात्पर्य अनन्त संख्या है।" इस प्रकार भास्कराचार्य ने बीजगणित के इन समीकरणों को सिद्ध किया है—

$क + ० = क$, $क - ० = क$, $क \times ० = ०$, $क \div ० = \infty$, $०^2 = ०$, $\sqrt{०} = ०$, $० - (क) = - क$, $० - (- क) = + क$। बीजगणित की दृष्टि से ये तथ्य बड़े ही मौलिक हैं।

समीकरण[1]

ब्रह्मगुप्त ने समीकरण के लिए समकरण तथा समीकरण दोनों शब्दों का प्रयोग 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' में किया है (१८। ६३)। इसके टीकाकार पृथूदक स्वामी ने इसके लिए साम्य शब्द का भी प्रयोग किया है। श्रीपति इसे 'सदृशीकरण' कहते हैं तथा नारायण पण्डित समीकरण, साम्य तथा समत्व इन तीनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। समीकरण में प्रयुक्त अव्यक्त राशियों का नामकरण इस प्रकार है—यावत्-तावत् (या), कालक (का), नीलक (नी), पीतक (पी), लोहितक (लो), हरीतक (ह), श्वेतक (श्वे), चित्रक (चि), कपिलक (क), पिंगलक (पि), धूम्रक (धू), पाटलक (पा), शवलक (श), श्यामलक (श्या), और मेचक (में)। नारायण पण्डित ने वर्णमाला के क आदि अक्षरों का ही प्रयोग किया है। भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में रत्नों के नाम के प्रथमाक्षरों को अव्यक्त राशियों के लिए प्रयुक्त किया है जैसे माणिक्य (मा), इन्द्रनील (नी), मुक्ताफल (मु) इत्यादि।

समीकरणों के अनेक प्रकार संस्कृत के एतद्विषयक ग्रन्थों में दिये गये हैं। जिन्हें यावत्-तावत् (Simple equation), वर्ग (quadratic), घन (cubic), वर्गवर्ग (Biquadratic), कहा जाता था। ब्रह्मगुप्त ने इनका नाम रक्खा—(१) एकवर्ण

---

1. Equation.

समीकरण जिसमें एक अज्ञात हो, (२) अनेकवर्ण समीकरण जिसमें अनेक अज्ञात हों और (३) भावित समीकरण जिसमें कई अव्यक्तों का गुणन हो।

पृथूदक स्वामी ने एक भिन्न ही वर्गीकरण किया है। उनकी दृष्टि में ये चार प्रकार के होते हैं—(१) रैखिक (Linear) समीकरण एक अव्यक्त राशि वाला (२) अनेक अव्यक्त राशि वाला रैखिक समीकरण (३) एक, दो या अनेक अव्यक्त राशियों वाला द्वितीय, तृतीय और उच्च घातों के समीकरण और (४) कई अव्यक्त के गुणन वाले समीकरण। तीसरे कोटि के समीकरण को 'मध्यमाहरण' भी कहते हैं।

कुट्टक (Indeterminate equations)

प्रथम घात (Degree) के अनिर्णीत विश्लेषण को भारतीय गणित में कुट्टक, कुट्टाकार या कुट्ट नाम से पुकारते हैं। ये नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यदि किसी दी हुई संख्या को किसी ऐसी अज्ञात संख्या से गुणा करे और फिर इसमें कोई क्षेपक घटावें या जोड़े और फिर किसी दिये गये भागहार से भाग दे कि अन्त में शून्य शेष बचे तो उस गुणक को कुट्टक कहते हैं। कुट्टक की यही परिभाषा भिन्न-भिन्न गणित ग्रन्थों में मिलती है। आर्यभटीय की टीका में कुट्टक और कुट्टाकार नामों का प्रयोग है। ब्रह्मगुप्त ने भी अपने ग्रन्थ में कुट्टक, कुट्टाकार और कुट्ट इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया है। महावीराचार्य ने कुट्टीकार शब्द का विशेष प्रयोग किया है। कुट्टक की प्रक्रिया में आने वाले शब्दों के लिए भास्कराचार्य की शब्दावली महावीर की शब्दावली से भिन्न है। जो कुछ भी हो भारतीय बीजगणित में कुट्टक की मीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कुट्टक की सहायता से खर – कय = ± ग इस प्रकार के समीकरणों का हल होता था। इस समीकरण का समीचीन समाधान सबसे पहले आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने किया था। ब्रह्मगुप्त और महावीर की भी मीमांसा बड़ी सुन्दर है। आर्यभट द्वितीय ने भी इसकी मीमांसा विस्तार से की है और इसके सम्बन्ध में कई प्रक्रियायें दी हैं। भास्कराचार्य के बीजगणित का कुट्टकाध्याय सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है।

चक्रवाल विधि (Cyclic Method)

इस विधि का प्रयोग 'न क² + त = ख²' इस प्रकार के समीकरणों के लिये किया जाता है जो विशेष महत्त्व का है। इस चक्रवाल का संकेत तो ब्रह्मगुप्त की विधि में भी मिलता है पर इसका विस्तार से वर्णन भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित के एक पूरे अध्याय में किया है।

इसके अतिरिक्त पूर्णाङ्क भुजाओं वाले समकोण त्रिभुज के बनाने के लिए तथा दिये गए कर्ण के अनुसार समकोण त्रिभुज बनाने के निमित्त जिस बीजगणितीय नियम

की आवश्यकता होती है, उसका अनेकशः वर्णन संस्कृत के अनेक गणित ग्रन्थों में मिलता है। इन त्रिभुजों के निर्माण की विधि तो शुल्ब सूत्रों में भी दी गई है परन्तु उसके लिए उपयोगी अनेक बीजगणितीय प्रक्रिया का वर्णन पिछले युग के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिया है। पैथेगोरस के नाम से विख्यात साध्य की—समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के समान होता है—बीजगणित की विधि से दो सिद्धियाँ भास्कराचार्य ने दी हैं जिनमें से एक वही है जिसे यूरोप में वालिस (१६१६–१७०३ ई०) ने अपने कोणविभाग-विषयक ग्रन्थ में सर्वप्रथम दिया था। इसी प्रकार चलन-कलन (Differential Calculus) का सिद्धान्त यूरोप में सर्वप्रथम न्यूटन ने सत्रहवीं सदी में प्रतिपादित किया था। परन्तु भारतवर्ष में उससे कम से कम पाँचसौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य (१२वीं शती) 'तात्कालिकी गति' के नाम से इस गणित का आविष्कार कर चुके थे। बाद के भारतीय गणितज्ञों ने इसका महत्त्व उतना सही समझा और इसलिए उसे विकसित करने की जगह उसका खण्डन ही किया।[1]

करणी (Surds)

करणी की परिभाषा यह है—'यस्य राशेमूलेऽपेक्षिते निरग्रं मूलं न संभवति स करणी' अर्थात् जिस राशि का पूरा (निरग्र) मूल नहीं मिले उसे करणी कहते हैं। भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में करणीसम्बन्धी संकलन, व्यवकलन, गुण, भागहार, वर्ग तथा वर्गमूल निकालने से सम्बन्ध रखने वाली सभी प्रक्रियायें दी हैं। दो करणियों के योग का नाम है 'महती संज्ञा' और उसके घात को (गुणन को) दुगुना करें, तो इसका नाम है—लघु संज्ञा'।

$$\text{करणी} = \sqrt{\text{क}} + \sqrt{\text{ख}} \quad \text{या} \quad \sqrt{\text{क}} - \sqrt{\text{ख}}$$

$$\text{इसके वर्ग करने पर होता है} = \text{क} + \text{ख} \pm २\sqrt{\text{कख}}$$

इसमें (क + ख) का नाम है महती संज्ञा तथा $२\sqrt{\text{कख}}$ का नाम है 'लघुसंज्ञा'।

करणियों का जोड़-घटाना, गुणा-भाग आदि निकालने के लिए भास्कराचार्य ने भिन्न-भिन्न विधियों का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि १२वीं शती तक भारतीयों ने बीजगणित के जिन बड़े-बड़े नियमों का आविष्कार कर दिया था उनमें से महत्त्वपूर्ण कतिपय नियम ये हैं—

(१) ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना।

(२) वर्ग, घन और अनेक घात समीकरणों को सरल करना।

(३) अंकपाश, एकादिभेद और कुट्टक के नियम।

---

१. सुधाकर द्विवेदी—चलन कलन, काशी १८८६ ई०, पृ० ५।

(४) एकवर्ण और अनेकवर्ण समीकरण ।

(५) केन्द्रफल वर्णन करना जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का उपयोग हो ।

(६) असीमाबद्ध समीकरणों का हल । इसका पता पश्चिमी जगत् में सबसे पहले १६२४ ई० में लगा । भारत में आर्यभट ने पंचमशतो में ही इसका वर्णन सबसे पहले किया है ।

(७) द्वितीय घात का असीमाबद्ध समीकरण । पश्चिम में इसका सर्वप्रथम खोज यूलर (१७०७–८३ ई०) ने किया था । भारतीयों ने बीजगणित के इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की सर्वप्रथम खोज की थी । इसकी प्रशस्ति विख्यात अमेरिकन गणितज्ञ डा० कजोरी ने की है ।[1]

इस प्रकार बीजगणित का आविष्कार और विकास तथा ज्यामिति और खगोल में इसका प्रयोग भारतीयों ने पहले पहल किया था । अरब में इसका प्रचार भारतीयों के द्वारा ही हुआ । उन्हीं से सीख कर अरबी विद्वान् मूसा तथा याकूब ने अरब में इसे प्रचारित किया, जहाँ से यह यूरोप में फैला । चीन और जापान में भी इसके प्रचार का श्रेय भारत का ही है ।

(ग) रेखागणित

रेखागणित का भी आविष्कार भारतवर्ष में ही हुआ और वह भी अत्यन्त प्राचीन काल में । ऐसे प्रबल प्रमाण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट पता चलता है कि ऋग्वेद के युग में भी रेखागणित के मान्य सिद्धान्तों का उदय हो चुका था । रेखागणित का यथार्थ भारतीय नाम 'शुल्ब' है । इसीलिए रेखागणित की प्रक्रिया को अर्थात् त्रिकोण, चतुर्भुज वृत्त आदि बनाने को 'शुल्बीक्रिया' के नाम से पुकारते हैं । रेखागणित को रज्जु शब्द के द्वारा भी पुकारते थे । कात्यायन ने अपने 'शुल्बसूत्र' के आरम्भ में इस विद्या के लिए रज्जु शब्द का ही प्रयोग किया है । संस्कृत में शुल्ब तथा रज्जु का समान ही अर्थ है रस्सी जिससे कोई लम्बाई नापी जाय । शुल्ब शब्द संस्कृत की शुल्ब धातु से निकला है जिसका अर्थ होता है मापना । अतएव शुल्ब का अर्थ 'नापने की विद्या' या रेखागणित होना स्वाभाविक है । शुल्बसूत्र में रज्जु शब्द से रेखा का भी बोध होता है । उदाहरण के लिए 'अक्ष्णया रज्जु । जिसका अर्थ है कर्ण रेखा । 'मानव शुल्ब

---

1. The glory of having invented general methods in this most subtle branch of mathematies belongs to the Indians.

—History of Mathematics, New York 1909.

सूत्र' में रेखागणित के विज्ञान को 'शुल्व विज्ञान' कहा गया है। इसी प्रकार रेखागणित के विशेषज्ञ को शुल्वविद् तथा पूछने वाले को शुल्ब-परिपृच्छक नाम दिया गया है। ये सब प्रमाण सिद्ध करते हैं कि इस शास्त्र का प्राचीन संस्कृत नाम **शुल्बविद्या** या **शुल्बविज्ञान** है।

भारतीय रेखागणित का प्रभाव पंचम शती ई० पूर्व में ही यूनानी रेखागणित पर पड़ा था। यूनानी लेखक 'डिमाक्रितास' (४४०, ई० पू०) के ग्रन्थों में रेखा-गणितज्ञ के लिए एक विलक्षण शब्द प्रयुक्त है जिसका अर्थ है 'रस्सी तानने वाला'। यह शब्द निश्चय ही शुल्ब सूत्रों में प्रयुक्त 'समसूत्र निरंचक' शब्द का पर्यायवाची है। यूनानी शब्द की विचारधारा न तो यूनानियों की है, और न उनके माने गये आचार्य मिश्र वासियों की है। रस्सी से भूमि नापने की कला निश्चित रूप से भारत में उत्पन्न हुई। पाली साहित्य में 'रज्जुक' तथा 'रज्जुग्राहक' शब्दों का प्रयोग राजा के भू-सर्वेक्षकों के लिए किया गया है। रज्जुक का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी बहुशः मिलता है। वैदिक काल में यज्ञयाग के अनुष्ठान के लिए उपयुक्त वेदी का निर्माण नितान्त आवश्यक माना जाता था। भारत में रेखागणित का उदय इसी 'चितिविद्या' से सम्बन्धित है।

शुल्बसूत्र

भारतवर्ष में रेखागणित के प्राचीन इतिहास को जानकारी के लिए शुल्बसूत्रों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। शुल्वसूत्र वेदांग के अन्तर्गत कल्पसूत्र का अन्यतम अंग है। कल्पसूत्र का मुख्य विषय है वैदिक कर्मकाण्ड। ये मुख्यतया दो प्रकार के हैं—गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्र जिनमें गृह्यसूत्र का मुख्य विषय है विवाहादि संस्कारों का विस्तृत वर्णन। श्रौत सूत्रों में श्रुति में प्रतिपादित नाना यज्ञ-यागों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। शुल्वसूत्र इन्हीं श्रौतसूत्रों के एक उपयोगी अंश है 'शुल्व' शब्द का अर्थ है रज्जु। अर्थात् रज्जु के द्वारा नापी गई वेदि की रचना शुल्वसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

सिद्धान्त की दृष्टि से तो प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट 'शुल्बसूत्र' होता है, परन्तु व्यवहारतः ऐसी बात यही है। कर्मकाण्ड के साथ मुख्यतः सम्बद्ध होने के कारण शुल्वसूत्र यजुर्वेद की ही शाखा में पाये जाते हैं। यजुर्वेद की अनेक शाखाओं में शुल्वसूत्रों का अस्तित्व पाया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक ही शुल्बसूत्र है—कात्यायन शुल्बसूत्र, परन्तु कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध छः शुल्बसूत्र मिलते हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। इनके अतिरिक्त आपस्तम्ब शुल्ब (११ । ११) की टीका में करविन्द स्वामी ने मशक शुल्ब तथा हिरण्यकेशी शुल्ब का उल्लेख किया है जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आपस्तम्ब शुल्ब (६ । १०) में हिरण्यकेशी शुल्ब से एक उद्धरण भी उपलब्ध होता है।

इन सात उपलब्ध सूत्रों में बौधायन शुल्ब ही सबसे बड़ा तथा सम्भवतः सबसे प्राचीन शुल्बसूत्र है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में ११६ सूत्र हैं जिनमें मंगलाचरण के अनन्तर वर्णन है शुल्व में प्रयुक्त विविध मानों का (सूत्र ३–२१); याज्ञिकवेदियों के निर्माण के लिए मुख्य रेखागणितीय तथ्यों का (सूत्र २२–६२) तथा विभिन्न वेदियों के क्रमिक स्थान तथा आकार प्रकारका वर्णन है। (सूत्र ६३-११६)। द्वितीय परिच्छेद में ८६ सूत्र हैं जिनमें वेदियों के निर्माण के सामान्य नियमों के बहुशः वर्णन (१–६१ सूत्र) के पश्चात् गार्हपत्यचिति तथा छन्दश्चिति[१] के बनावट का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय परिच्छेद में ३२३ सूत्र हैं जिनमें काम्य इष्टियों के १७ प्रभेदों के लिए वेदि के निर्माण का विशद विवरण है। इनमें से कई वेदियों की रचना बड़ी ही पेचीदी है, परन्तु अन्यों की रचना अपेक्षाकृत सरल है।

आपस्तम्ब का शुल्वसूत्र ६ 'पटल' (अध्याय) में विभक्त है जिनके भीतर अन्य अवान्तर वर्ग हैं। इस प्रकार इसमें २१ अध्याय तथा २२३ सूत्र हैं। प्रथम पटल (१–३ अध्याय) में वेदियों की रचना के आधारभूत रेखागणितीय सिद्धान्तों का विवेचन है। द्वितीय पटल (४–६ अध्याय) वेदिके क्रमिक स्थान तथा उनके रूपों का वर्णन करता है। यहाँ इनके बनाने के ढंग या प्रक्रिया का भी विवरण दिया गया है। अन्तिम १५ अध्यायों में काम्य इष्टि के लिए आवश्यक विभिन्न वेदियों के आकार-प्रकार का विशद विवेचन है। यहाँ बौधायन तथा आपस्तम्ब ने प्रायः समस्त काम्येष्टियों का समान रूप से विवेचन किया है। अन्तर इतना ही है कि आपस्तम्ब की अपेक्षा बौधायन में अधिक विस्तार तथा विभेदों की सत्ता मिलती है। आपस्तम्ब अपेक्षाकृत सरल तथा संक्षिप्त है।

बौधायन के टीकाकार[२]

बौधायन के दो टीकाकारों का पता चलता है जिनमें से एक उतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते, परन्तु दूसरे टीकाकार पर्याप्तरूपेण प्राचीन प्रतीत होते हैं—

---

१. 'छन्दश्चिति' मन्त्रों के द्वारा निर्मित वेदि है। इसमें वेदिका निर्माता बाज की आकृति वाली वेदि की रूपरेखा पृथ्वी के ऊपर खींचता है तथा मंत्रों का उच्चारण करता है। ईंटों को रखने की वह कल्पना करता है अर्थात् मन्त्रों को पढ़ता जाता है तथा ईंटों को रखने की कल्पना करता है, परन्तु वस्तुतः वह रखता नहीं। इसीलिए यह वेदि छन्दश्चिति के नाम से प्रसिद्ध है।

२. बौधायन शुल्बसूत्र (सटीक) को अंग्रेजी अनुवाद के साथ डा० थिबो ने प्रकाशित किया पण्डितपत्र में भाग ९ तथा १०।

(क) **द्वारकानाथ यज्वा**—ये आर्यभट से पश्चाद्वर्ती निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में आर्यभटीय के एक सिद्धान्त का निर्देश किया है। शुल्वसूत्र के अनुसार व्यास तथा परिधि का सम्बन्ध एक नियम में बताया गया है, परन्तु द्वारकानाथ यज्वा ने इस नियम में शोधन उपस्थित किया है जिससे π का मूल्य आधुनिक गणना के अनुसार ही ३'१४१६ तक सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य गणना के लिए भी यज्वा ने अपनी विमल प्रतिभा का परिचय दिया है। इस व्याख्या का नाम है—शुल्बदीपिका।

(ख) **वेंकटेश्वर दीक्षित**—इनकी टीका का नाम शुल्ब मीमांसा है। ये यज्वा की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं।

आपस्तम्ब[1] शुल्ब के टीकाकार

टीका की दृष्टि से यह शुल्वसूत्र बहुत ही लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर चार टीकायें प्रसिद्ध हैं—

(क) **कपर्दि स्वामी**—इन टीकाकारों में ये ही सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने इन ग्रन्थों की टीकायें की हैं—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब सूत्र-परिभाषा, दर्शपौर्णमास सूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र आदि। शूलपाणि, हेमाद्रि तथा नीलकण्ठ ने इनके मत का उद्धरण अपने ग्रन्थों में किया है। इस निर्देश से इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। शूलपाणि का समय ११५० ई० के आसपास है। वेदार्थदीपिका के रचयिता षड्गुरुशिष्य (११४३ ई०—११९३ ई०) के ये गुरु थे। हेमाद्रि का भी काल १३ शती है, क्योंकि ये देवगिरि के राजा महादेव (१२६० ई०–१२७१ ई०) तथा उनके भतीजे और उत्तराधिकारी रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के महामात्य थे। इस प्रकार शूलपाणि तथा हेमाद्रि के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण कपर्दि स्वामी का समय १२वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। ये दक्षिण भारत के निवासी प्रतीत होते हैं; अपनी टीका में इन्होंने कतिपय नियमों तथा रचनाप्रकारों का सरल विवरण दिया है।

(ख) **करविन्द स्वामी**—इन्होंने आपस्तम्ब के पूरे श्रौत सूत्र के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है। इनके समय का निर्धारण अभी तक ठीक ढंग से नहीं किया जा सका है। इन्होंने बिना नाम निर्देश किये ही आर्यभट प्रथम (जन्मकाल ४७६ ई०) के ग्रन्थ आर्यभटीय (रचनाल ४९९ ई०) के कतिपय निर्देशों को अपने ग्रन्थ में

---

१. प्रथम तीन टीकाओं के साथ मैसूर प्राच्य विद्या संशोधन संस्था द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ सं० ७३।

उल्लिखित किया है जिनसे ये पञ्चमशती से अर्वाचीन तो निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं। इनकी टीका का नाम शुल्ब-प्रदीपिका है और यह मूलग्रन्थ को समझने के लिए एक उपयोगी व्याख्या है।

(ग) **सुन्दरराज**—इनकी टीका का नाम 'शुल्बप्रदीप' है जो ग्रन्थकार के नाम पर 'सुन्दरराजीय' के भी नाम से प्रख्यात है। इनके भी समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ के प्राचीन हस्तलेख का समय सम्वत् १६३८ (= १५८१ ई०) है जो तंजोर के राजकीय पुस्तकालय में (नं० ९११६०) सुरक्षित है। फलतः इनका समय १६वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। इन्होंने बौधायन शुल्ब के टीकाकार द्वारकानाथ यज्वा के कतिपय वाक्यों को अपनी टीका में उद्धृत किया है।

(घ) **गोपाल**—इनकी व्याख्या का नाम है—आपस्तम्बीय शुल्ब भाष्य। इनके पिता का नाम गार्ग्य नृसिंह सोमसुत् है। इससे प्रतीत होता है कि ये कर्मकाण्ड में दीक्षित वैदिक परिवार में उत्पन्न हुए तथा कर्मकाण्डीय परम्परा से पूर्ण परिचित थे।

कातीय शुल्ब के टीकाकार

कात्यायन शुल्ब सूत्र का प्रसिद्ध नाम है कात्यायन शुल्ब परिशिष्ट अथवा कातीय शुल्ब परिशिष्ट। यह दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग सूत्रात्मक है तथा छः कंडिकाओं में विभक्त होकर इसमें १०१ सूत्र हैं। इसमें वेदियों की रचना के लिए आवश्यक रेखागणितीय तथ्य, वेदियों का स्थान क्रम तथा उनके परिमाण का पूरा वर्णन है। यहाँ काम्य इष्टियों की वेदियों का वर्णन नहीं है, क्योंकि कात्यायन ने श्रौतसूत्र के १७वें अध्याय में इसका वर्णन पहिले ही किया है। द्वितीय खण्ड श्लोकात्मक है जिसमें ३९ श्लोक मिलते हैं। यहाँ मापने वाली रज्जुका, निपुण वेदिनिर्माता के गुणों का तथा उनके कर्तव्यों का तथा साथ ही साथ पूर्वभाग में वर्णित रचनापद्धति का भी विवरण दिया गया है। इसी द्वितीय खण्ड का नाम कातीय परिशिष्ट है, क्योंकि इसमें पूर्वखण्ड के विषयों का संक्षेप में पुनः वर्णन दिया गया है। पूर्व दोनों शुल्बसूत्रों की अपेक्षा इसमें कतिपय रोचक विशिष्टता पाई जाती है। कात्यायन ने वेदि के निर्माण के आवश्यक समस्त रेखागणितीय नियमों का विवरण विशेष क्रमबद्ध रूप से यहाँ प्रस्तुत किया है।

इसके ऊपर पाँच टीकायें उपलब्ध होती हैं—

(क) कर्काचार्यकृत भाष्य (चौखम्भा से प्रकाशित)।

(ख) **महीधर**—महीधर काशी के रहने वाले प्रकाण्ड वैदिक थे। वेद तथा तन्त्र के विषय में इनके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थरत्न आज भी मिलते हैं। इन्होंने अपने 'मन्त्र महोदधि' की समाप्ति १५८९ ईस्वी में तथा विष्णुभक्ति कल्पलता-प्रकाश

की रचना १५९७ ईस्वी में की। कातीय शुल्वसूत्रों की व्याख्या का रचनाकाल संवत् १६४६ (= १५८९ ईस्वी) है।

(ग) **राम या राम बाजपेय**—ये नैमिष (= लखनऊ के पास निमिखार) के निवासी थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की है जिनमें मुख्य हैं—क्रमदीपिका, कुण्डाकृति (टीका के साथ), शुल्ववार्तिक, सांख्यायन गृह्य पद्धति, समरसार (टीका के साथ), समरसारसंग्रह, शारदातिलकतन्त्र की व्याख्या तथा कातीय शुल्वसूत्र की टीका। कुण्डाकृति की रचना का समय १५०६ विक्रमी (= १४४९ ईस्वी) दिया गया है। फलतः राम के आविर्भाव का काल १५ शती का मध्य भाग है। राम अपने विषय के विज्ञ पण्डित प्रतीत होते हैं। इन्होंने शुल्बसूत्रों में उल्लिखित √२ का जो मूल्य दिया है वह शुल्वसूत्र में दिये गये मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म तथा ठीक है।- शुल्ब के अनुसार √२ का मूल्य है—१·४१४२१५६८६३ तथा राम के अनुसार √२ का मूल्य है—१·४१४२१३५०२······। आजकल की गणना के अनुसार √२ का मूल्य है १·४१४२१३५६। इन तीनों की तुलना करने से स्पष्ट है कि शुल्वसूत्रों का निर्णय ५ दशमलव अंकों तक ही ठीक है, परन्तु राम की गणना ७ दशमलव अंकों तक ठीक उतरती है। यह टीकाकार की सूक्ष्म गणना-पद्धति का विशद प्रतीक है।

(घ) गंगाधर कृत टीका।

(ङ) विद्याधर गौड रचित वृत्ति (प्र० अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८५)।

शुल्बसूत्रों में सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण ये ही तीनों ग्रन्थ हैं—बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन के शुल्बसूत्र जिनके अनुशीलन से जैनधर्म के उदय से पूर्व भारतीय रेखागणित का विशिष्ट रूप आलोचकों के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इन तीनों में अनेक नवीन तथ्यों का संकलन है जो एक दूसरे के परिपूरक हैं। इनसे अतिरिक्त शुल्बसूत्र उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं तथा महत्त्व की दृष्टि से सामान्य ग्रन्थमात्र हैं। इन ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

(क) **मानव शुल्बसूत्र**—गद्य तथा पद्य से मिश्रित यह छोटा ग्रन्थ है। इनमें अनेक नवीन वेदियों का वर्णन मिलता है जो पूर्वोक्त ग्रन्थों में नहीं मिलता। वहाँ 'सुपर्ण चिति' के नाम से उस प्रसिद्ध वेदि का वर्णन है जो 'श्येन चिति' के नाम से अन्यत्र प्रसिद्ध है।

(ख) **मैत्रायणीय शुल्बसूत्र**—मानव शुल्ब का यह एक दूसरा संस्करण है। दोनों का विषय ही एक समान नहीं है, बल्कि दोनों में एक समान श्लोक भी मिलते हैं। परन्तु दोनों में कतिपय अन्तर भी है विशेषतः क्रम-व्यवस्था में।

(ग) बाराह शुल्बसूत्र—यह मानव तथा मैत्रायणीय शुल्व के समान ही है। कृष्णयजुः से सम्बद्ध होने के कारण इन तीनों में समानता होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं है।

टीकाकार—काशी के निवासी तथा नारद के पुत्र शिवदास ने मानव शुल्बों पर एक टीका लिखी है। शिवदास के अनुज शंकर भट्ट ने मैत्रायणीय शुल्व पर टीका रची है। दोनों भाइयों ने अपनी टीकाओं में राम वाजपेय के मत का उल्लेख किया है जो निश्चय ही कात्यायन शुल्व के टीकाकार राम ही है। शिवदास ने वेदभाष्यकार सायण के मत का उल्लेख किया है जिससे इनका समय १४ शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। शुल्वसूत्रों से सम्बद्ध यही प्राचीन साहित्य है।

चितिविद्या

यज्ञयाग का अनुष्ठान प्रत्येक वैदिक आर्य के लिए प्रधान कर्त्तव्य था। अग्नि की उपासना वैदिक धर्म का मेरुदण्ड है। अग्नि की उपासना करने के लिए अर्थात् यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान के लिए वेदि की रचना नितान्त आवश्यक होती है। प्रत्येक यज्ञ के लिए वेदि का आकार निश्चित रहता है कि वह वर्गाकार होगी या आयताकार या वृत्ताकार। इतना ही नहीं, उसमें ईंटों की संख्या तथा ईंटों के आकार का भी निर्धारण किया गया था। जिस आकार की जितनी ईंटें किसी विशिष्ट वेदि के निर्माण के लिए निर्दिष्ट थीं, उनका ठीक-ठीक जानना एकदम जरूरी होता था (यावतीर्वा यथा वा) इसमें त्रुटि होने पर यज्ञ का विधान न पूरा माना जाता था और न वह उद्दिष्ट फल देने की क्षमता ही रखता था। इसीलिए वैदिक कर्मकाण्ड में वेदिनिर्माण एक महत्त्वशाली कला है। वेदि के निर्माण का पारिभाषिक नाम है अग्निचयन या केवल चिति तथा उसके निर्माण में कुशल व्यक्ति का नाम है—अग्निचित्।

यज्ञ दो प्रकार का होता है—नित्य तथा काम्य। नित्य यज्ञ के अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होता है जिससे उसका साधन करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य होता था। काम्य इष्टि किसी कामना विशेष से किये जानेवाले यज्ञ का साधारण अभिधान था। इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के यज्ञ प्रधान थे—(१) इष्टियाग—प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णमासी के दिन फल, घी आदि नाना द्रव्यों से अग्नि का हवन किया जाता था। (२) पशुयाग (या निरूढ पशुबन्ध) जो प्रतिवर्ष किया जाता था, विशेषतः वर्षा ऋतु में अमावास्या या पूर्णमासी के दिन (३) सोमयाग—यह यज्ञ बहुत विशाल तथा व्ययसाध्य होता था और इसलिए यह प्रायः कम किया जाता था। परन्तु प्रत्येक हिन्दू के घर में तीन पीढ़ियों में एक बार तो इसे करना बहुत ही आवश्यक माना जाता था। प्रत्येक याग के लिए वेदि-विधान आवश्यक होने से वैदिक युग में नाना आकृति वाली अनेक वेदियाँ बनाई जाती थीं। नित्य याग के लिए इन तीन

अग्नियों की स्थापना की जाती थी—(क) गार्हपत्य, (ख) आहवनीय तथा (ग) दक्षिण। गार्हपत्य की वेदि किन्हीं आचार्यों के मत में वर्गाकार होती थी और अन्य आचार्यों के मत में वृत्ताकार होती थी। आवहनीय की वेदि सदा वर्गाकार होती थी तथा दक्षिणाग्नि की वेदि अर्धवृत्ताकार होती थी। आकार में भिन्नता होने पर भी उनका क्षेत्रफल एक समान ही होता था। वह नियत क्षेत्रफल था एक वर्गव्याम (व्याम=९६ अंगुलि)। इसी प्रकार सौमिकी वेदि (जो महावेदि के नाम से भी प्रख्यात थी) आकार में समद्विबाहुचतुर्भुज Trapezium होती थी।जसका सामना होता था २४ पद, आधार ३० पद तथा ऊँचाई होती थी ३६ पद। सौत्रामणी वेदि इस महावेदि के क्षेत्रफल के तृतीयांश होती थी तथा पैतृकी वेदि सौत्रामणी की नवमांश होती थी। प्राग्-वंश आयताकार होता था।

काम्य इष्टियों के अनेकविध होने से उनके लिए व्यवहृत होने वाली वेदियों की भी आकृतियाँ नाना प्रकार की होती थीं। इनमें श्येनचिति एक आदर्श वेदि मानी जाती थी। इस वेदि का शरीर होता था चार वर्ग पुरुष (पुरुष = व्याम = ९६ अंगुलियाँ)। दोनों पक्षों में होता था एक वर्ग पुरुष तथा एक 'अरत्नि' (= पुरुष का $\frac{१}{५}$) से बना आयत तथा पुच्छ होता था एक वर्ग पुरुष तथा एक 'प्रादेश' (= पुरुष का $\frac{१}{१०}$) से बना आयत। दूर से देखने में यह चिति बाज पक्षी के आकार के समान प्रतीत होती थी और इसीलिए दूसरा अन्वर्थक नाम था—श्येनचिति (= बाज की आकृति वाली वेदि)। इस आदर्श वेदि का आयाम ७$\frac{१}{२}$ वर्ग पुरुष होता था और इसीलिए इसका पूरा नाम था—सप्तविध-सारत्नि-प्रादेश-चतुरस्र श्येनचित्, जो इसके रूप तथा परिमाण का पूरा परिचायक था।

अन्य काम्येष्टियों के लिए विभिन्न आकार की वेदियाँ बनाई जाती थीं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—(१) वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ श्येन (अर्थात् पंखों को टेढ़ा करने वाला तथा पूँछ को फैलाने वाला बाज); (२) प्रउग (समद्विबाहु त्रिभुज), (३) उभयतः प्रउग (दोनों ओर से समद्विबाहु त्रिभुज या Rhombus); (४) परिचाय्य (= वृत्ताकार); (५) कूर्म (कछुआ की आकृति वाली वेदि) आदि। परन्तु इन समस्त प्रभेदों में वही क्षेत्रफल होना चाहिए जो आदर्श वेदि (= श्येन चिति) का होता था, अर्थात् ७$\frac{१}{२}$ वर्ग पुरुष।

ये वेदियाँ ईंटों के द्वारा रची जाती थीं जिनके पाँच तह होते थे और इस प्रकार वेदियाँ साधारण रीति से घुटनों तक ऊँचाई में होती थीं (अर्थात् ३२ अंगुलि)। ईंटों की संख्या में तथा उनके आकार में भी भिन्नता रहती थी (इष्टका यावतीर्वा यथा वा)। वर्गाकृति गार्हपत्यवेदि के प्रत्येक तह में २१ ईंटे लगाये जाते थे, जो या तो वर्गाकार होते थे या आयताकार। चौकोनी श्येनचिति में

२०० वर्गाकार ईंटे हर एक तह में लगाये जाते थे। काम्य इष्टि की वेदियों के रूप में भले ही अन्तर हो, परन्तु इनमें ईंटों की संख्या सदा २०० ही होती थी। इस नियम का पालन करना अनिवार्य था। कभी-कभी एक ही वेदि भिन्न-भिन्न आकार में बनाई जाती थी। ऊपर कहा गया है कि काम्य अग्नि का क्षेत्रफल सदा ७½ वर्ग पुरुष होता था, परन्तु यह प्रथम रचना के समय की बात है। दूसरी बार रचना के समय यह क्षेत्रफल एक वर्गपुरुष और बढ़ा दिया जाता था। तृताय रचना में दो वर्गपुरुष और बढ़ा दिये जाते थे। इसी प्रकार १०१½ वर्गपुरुष तक यह वृद्धि की जाती थी। चितिविद्या या अग्निचयन का यह संक्षिप्त परिचय शुल्बसूत्रों के आधार पर है।

चितिविद्या का उद्भव

ऐतिहासिकों के लिए ध्यान देने की बात यह है कि चितिविद्या का उद्भव शुल्बसूत्र-युग (६०० ई० पू०–४०० ई० पू०) से भी प्राचीनतम काल में हुआ था। तथ्य तो यह है कि अग्निचयन वैदिक कर्मकाण्ड का मौलिक उपकरण है। इसके बिना किसी भी यागविधान की कल्पना नहीं की जा सकती। वेदों का संकलन भी यागविधान की ही दृष्टि से किया गया है (वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः) वेदों की प्रवृत्ति यज्ञों के ही लिए है। फलतः वैदिक युग के अत्यन्त प्राचीन काल में भी वेदि की रचना अज्ञात कला नहीं थी। अतएव शुल्बसूत्रों में उपलब्ध होने पर भी अग्निचिति का इतिहास उससे कहीं अधिक प्राचीन है, इसकी कल्पना हम भलीभाँति कर सकते हैं। इसके लिए यथेष्ट प्रमाण भी बहुशः उपलब्ध हो रहे हैं।

शुल्बसूत्र अपने नियमों की परिपुष्टि में अनेक स्थलों पर 'इति ह विज्ञायते' कहकर ब्राह्मण ग्रंथों के अपने आधारों की ओर संकेत करते हैं। डा० गार्बे ने सप्रमाण दिखलाया है कि आपस्तम्ब शुल्बसूत्र में दिये गये उद्धरण तैत्तिरीय ब्राह्मण अथवा तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मणतुल्य भागों अथवा तैत्तिरीय आरण्यक से अक्षरशः मिलते हैं। बौधायन शुल्ब ने तो स्पष्ट रीति से विशिष्ट अन्य ब्राह्मणों का नाम निर्देश कर अपने ब्राह्मण (अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण) को अपने तथ्यों की पुष्टि में उद्धृत किया है। कात्यायन शुल्बसूत्र में 'इति श्रुतिः' कहकर दो स्थलों पर श्रुति का प्रामाण्य उपस्थित किया गया है। निश्चित है कि शुल्बसूत्रों ने संहिता तथा ब्राह्मणों में प्रदत्त वर्णन के आधार पर अपने नियमों का विवरण दिया है।

अग्निचयन का प्राचीनतम इतिहास संहिता तथा ब्राह्मणों के अध्ययन से स्पष्टतः परिज्ञात हो सकता है। ऋग्वेद में इस विद्या का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यजुर्वेद में इसकी निःसंदिग्ध स्थिति है। विषय भी वही है जो शुल्बसूत्रों में ऊपर विवेचित हुआ है। कारण स्पष्ट है। यजुर्वेद तो वैदिक कर्मकाण्ड का आधारपीठ है और

इसीलिए अग्निचयन का वहाँ विशद तथा विस्तृत विवेचन आश्चर्य का विषय नहीं है। ऋग्वेद में वेदि में अग्नि के जलने का सामान्य उल्लेख ही नहीं, प्रत्युत आहवनीयादि त्रिविध वेदियों का स्पष्टतः निर्देश इस मन्त्र में मिलता है—

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समिधिरे।

(ऋग्वेद ५।११।२)

इस मन्त्र में 'त्रिषधस्थ' का तात्पर्य उस अग्नि से है जो तीन स्थानों में स्थित किया जाता है। यह त्रिविध अग्नि का विशद उल्लेख है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में (१।१५।१२; ६।१५।१६ तथा १०।८५।२७) 'गार्हपत्य' अग्नि के नाम का निर्देश भी किया गया है। तैत्तिरीय संहिता तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मणों में अग्नि की नाना वेदियों के रूप का स्पष्ट निर्देश किया गया है। ऋग्वेद के काल में इस प्रकार गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का संकेत स्पष्ट रूप से मिलता है। इनके स्थानक्रम का वर्णन शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में इसी रूप में पाया जाता है। तैत्तिरीयसंहिता (६।२।४।५), मैत्रायणी संहिता (३।८।४), कठ-संहिता (२५।३) तथा कपिष्ठल संहिता (३८।६) में सौमिकी वेदि ('महावेदि') का वही आकार-वर्णन मिलता है जो ऊपर शुल्वसूत्रों के आधार पर दिखलाया गया है। तैत्तिरीय संहिता में श्येनचिति का भी वर्णन वही है जो ऊपर दिया गया है। शतपथ में यह सुपर्ण गरुत्मान् (सुन्दर पंख वाले पक्षी) के नाम से उल्लिखित किया गया है। फलतः यह तो निश्चित है कि त्रेता अग्नि का सामान्य रूप तो ऋग्वेदकाल (४००० ई० पूर्व) में ही ज्ञात था, परन्तु अग्निचयन का विद्या रूप से परिशीलन तथा उदय तैत्तिरीय संहिता के प्राचीन काल (३००० ई० पू०) की एक सुव्यवस्थित तथा प्रामाणिक घटना है। ब्राह्मण युग में इस विद्या की और भी उन्नति हुई जिसका परिचय हमें शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से होता है। १४ काण्डात्मक शतपथ का तीन भाग से अधिक भाग में ५ काण्डों से (६–१० काण्ड) अग्निचयन का पूरा सम्बन्ध है। गार्हपत्य की वेदि एक वर्ग व्यास (=पुरुष) की वृत्ताकार होती है तथा आह्वनीय वेदि उसी आकार की वर्गाकार की होती है—इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन शतपथ ब्राह्मण (७।१।१।३७; ७।२।२।१) में सबसे पहिले उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता (५।२।५।१) में आहवनीय के एक वर्गपुरुष होने का संकेत मिलता है। व्याम तथा पुरुष एक ही परिमाण के सूचक हैं (= ९६ अंगुलियाँ)।

इस विशिष्ट अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुल्वसूत्रों में वर्णित वेदियों का आकार-प्रकार कोई नई वस्तु न होकर संहिताकालीन परम्परा की एक विशिष्ट शृंखला है। इस प्रकार इस वर्णन के आधारभूत सिद्धान्तों की सत्ता केवल शुल्बों के ही युग के लिए मान्य नहीं है, प्रत्युत वह तैत्तिरीय संहिता (३००० ई० पू०)

तथा शतपथ ब्राह्मण (२००० ई० पू०) के युग में भी उसी प्रकार मान्य तथा अनिवार्य थी। अब इन आधारभूत मौलिक तथ्यों का वर्णन आगे किया जायगा।

चिति के मूलस्थ रेखागणितीय तथ्य

अग्निचयन के लिए दिये गये नियमों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय रेखागणित-सम्बन्धी अनेक तथ्यों का ज्ञान हमें होता है। ये तथ्य जब तक सिद्ध नहीं माने जाँयगे तबतक वह यज्ञीय वेदि की रचना कथमपि साध्य कोटि में नहीं आती। ये तथ्य कल्पना-प्रसूत नहीं हैं, प्रत्युत प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किये गये हैं। इनमें से मुख्य तथ्यों का यहाँ संकेत किया जाता है :—

(१) दी गई सीधी रेखा के ऊपर वर्ग बनाना।

(२) वर्ग को वृत्त में परिवर्तन करना अथवा वृत्त को वर्ग के रूप में बदलना। यह पता लगता है आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नि की रचना के प्रसंग से। आहवनीय वर्गाकार वेदि है तथा गार्हपत्य वृत्ताकार। दोनों का रूप भले ही भिन्न हो, परन्तु इनका क्षेत्रफल समान ही रहता है। फलतः इन दोनों वेदियों का निर्माण इस तथ्य के आधार पर ही आश्रित है।

(३) दी गई भुजाओं वाला आयत बनाना।

(४) समद्विबाहु Trapezium (विषम चतुर्भुज) बनाना जिसका सामने का आकार, आधार तथा ऊँचाई दी गई है तथा इसका क्षेत्रफल निकालना।

(५) दिये गये वर्ग से कई गुना बड़े वर्ग की रचना करना।

(६) एक आयत को वर्गों के रूप में बदलना अथवा वर्ग को आयत के रूप में बदलना।

(७) वर्ग के समान क्षेत्रफल वाले त्रिकोण या Rhombus (समचतुर्भुज) की रचना करना।

(८) सबसे महत्त्वपूर्ण रेखागणितीय नियम यही है—आयत के कर्ण (Diagonal) के ऊपर बनाया गया वर्ग क्षेत्रफल में उन दोनों वर्गों के योग के समान होता है जो इस आयत की दोनों भुजाओं के ऊपर बनाये जाते हैं।

यह सिद्धान्त पश्चिमी रेखागणित में बहुत ही प्रसिद्ध है जिसके सर्वप्रथम सिद्ध करने का श्रेय ग्रीस देश के प्रख्यात गणितज्ञ तथा दार्शनिक पाइथेगोरस (५३२ ई० पू०) को दिया जाता है और इसीलिए यह सिद्धान्त 'पाइथेगोरसीय सिद्धान्त' के नाम से बहुधा प्रसिद्ध है, यद्यपि आधुनिक अनुसन्धान से पाइथेगोरस इसके वास्तव उद्भावक प्रमाणित नहीं होते। पश्चिमीय गणित में यह समकोण त्रिभुज के कर्ण (Hypotenuse) के वर्ग से सम्बद्ध माना जाता है, परन्तु शुल्बसूत्रों में इसका निरूपण आयत के कर्ण

(Diagonal) के वर्ग के सम्बन्ध में किया गया है। बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन ने प्रायः समान शब्दों में इस नियम का निर्देश किया है। कात्यायन शुल्ब-सूत्र का प्रतिपादन इस प्रकार है[1]—

दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुः तिर्यङ्मानी पार्श्वमानी च यत् पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोतीति क्षेत्रज्ञानम् (कात्या० शुल्ब २।११)

इस नियम का अक्षरशः अर्थ यही है कि आयत का कर्ण दोनों क्षेत्रफलों को उत्पन्न करता है जिसे उसकी लम्बाई तथा चौड़ाई अलग-अलग उत्पन्न करती हैं।

इस नियम को कल्पना वैदिक ऋषियों को आकस्मिक नहीं हो गई, प्रत्युत इसकी खोज उन्होंने युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर की थी; इसका भी परिचय हमें शुल्बसूत्रों के अध्ययन से लगता है। कात्यायन शुल्ब ने दो नियमों का उल्लेख किया है जो पूर्वोक्त सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं—

(१) एक आयत लो जिसकी चौड़ाई एक पाद है और लम्बाई तीन पाद है। इसका कर्ण (diagonal) दशगुने को उत्पन्न करने वाला है अर्थात् यह एक पदवाले वर्ग के दस गुना वर्ग उत्पन्न करता है—

$$१^२ + ३^२ = १०$$

(२) एक आयत लो जिसकी चौड़ाई दो पाद है तथा लम्बाई ६ पाद है। इसका कर्ण ४० गुने को उत्पन्न करता है अर्थात् एक पाद वाले वर्ग के चालीस गुने वर्ग को पैदा करता है—

$$२^२ + ६^२ = ४०$$
$$४ + ३६ = ४०$$

ये दोनों नियम[2] इस बात के पर्याप्त पोषक हैं कि शुल्बसूत्रों के युग में पाइथेगोरस का सिद्धान्त प्रमाणों के आधार पर निर्धारित किया गया था। वह कल्पना-प्रसूत तथ्य नहीं है, प्रत्युत प्रयोगसिद्ध है।

ऊपर चितिविद्या के प्रसंग में दिखलाया गया है कि त्रेता अग्नि की उपासना ऋग्वेदीय युग में विस्तार से होती थी फलतः ऋग्वेद (४००० ई० पू०) के युग में भी इस रेखागणितीय तथ्य की उद्भावना हो चुकी थी। भारतीयों ने ज्यामिति सम्बन्धी नियमों को सबसे पहिले खोज निकाला था—इसका यह विशद निदर्शन है।

---

1. बौधायन शुल्ब १।४८ तथा आपस्तम्ब शुल्ब।
2. द्रष्टव्य कात्यायन शुल्बसूत्र २।८–९

इस विषय का वैज्ञानिक वर्णन डाक्टर विभूतिभूषण दत्त ने अपने गवेषणा-पूर्ण मौलिक ग्रन्थ 'The Science of the Shulba' में बड़े विस्तार के साथ किया है।[१]

(९) वृत्तखंड की ज्या और इस पर से खींचे गए कोदंड तक के लम्ब के ज्ञात होने पर (१) वृत्त का व्यास निकालना और (२) वृत्त खंड का क्षेत्रफल निकालना। ये दोनों विधियों को ब्रह्मगुप्त ने दिया है।

त्रिकोणमिति—भारतीयों को त्रिकोणमिति का ज्ञान बहुत ही व्यापक था। इन लोगों ने ज्या (Sine) और उत्क्रम ज्या (Reversed Sine) की सारिणियाँ बना ली थीं जिनमें वृत्तपाद (Quadrant) के चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है। ज्या को अंग्रेजी मे (Sine) कहते हैं जिसकी उत्पत्ति संस्कृत-पर्याय शिंजिनी के अरबी रूपान्तर से हुआ है। ज्याओं का प्रयोग प्राचीन यूनानी नहीं जानते थे। प्राचीन भारतवासियों की ज्योतिष सारिणियों से सिद्ध होता है कि गोलीय (Spherical) त्रिकोणमिति से भी पूर्ण परिचित थे।

Coordinate Geometry.

पश्चिमी जगत में ठोस ज्यामिति के सिद्धान्तों के पता लगाने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध तत्वज्ञ डेकार्ते (१५९६–१६५० ई०) को दिया जाता है। परन्तु भारतवर्ष में वाचस्पति मिश्र ने इस ज्यामिति के नियमों का ऊहापोह इससे लगभग आठ शताब्दी पूर्व किया। वाचस्पति ने किसी भी अण्ड की दैशिक स्थिति के निर्णय करने के लिए जिस नियम का उल्लेख किया है, उसके आधार पर डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने यह तथ्य निकाला है[२]।

(३) फलित ज्योतिष

ज्योतिष की प्रतिपाद्य तीन ही मुख्य शाखाये हैं जिनके नाम वराहमिहिर के अनुसार हैं—(क) सिद्धान्त, (ख) संहिता, (ग) होरा। इस वर्गीकरण के कारण ज्योतिष 'त्रिस्कन्ध' कहलाता है।

(क) जिस शाखा में गणित-द्वारा ग्रहों को आकाशीय स्थिति का निर्धारण किया जाता है उसे सिद्धान्त कहते हैं। कालगणना, ग्रहगति-गणना, अङ्कगणित,

---

1. Dr. B. Datta—Science of the Sulba, Calcutta University, Calcutta, 1932.

२. द्रष्टव्य उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ—Positive Sciences of Ancient Hindus (नया सं०. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६५)।

बीजगणित, रेखागणित; पृथ्वी-नक्षत्र-ग्रहों की संस्था का निरूपण तथा ग्रहवेध के लिए यन्त्रों का निर्माण—आदि अनेक वस्तु सिद्धान्त के प्रतिपाद्य हैं। 'तन्त्र' तथा 'करण' का भी अन्तर्भाव इस स्कन्ध में किया जाता है। 'तन्त्र' में युगादि से काल गणना करके ग्रहों का आनयन किया जाता है[1], परन्तु 'करण' में किसी नियत शकवर्ष से ही ग्रहों का साधन किया जाता है। उदाहरणार्थ सूर्यसिद्धान्त है सिद्धान्त ग्रन्थ; आर्यभटीय आदि है तन्त्र ग्रन्थ तथा ग्रहलाघव, केतकी ग्रहगणित आदि 'करण ग्रन्थ' हैं।

(ख) **संहिता**—ज्योतिष की जिस शाखा में ग्रहों की तात्कालिक स्थिति से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, राष्ट्रीय लाभ तथा हानि आदि पूरे राष्ट्र के लिए उपयोगी सार्वभौम शुभाशुभ फलों का निर्देश किया जाता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। वराहमिहिर ने 'संहिता' के प्रतिपाद्य विषयों के अन्तर्गत अनेक विषयों का विवरण दिया है जिनमें राष्ट्र की समृद्धि तथा अकाल-सूचक ग्रहचारों के अतिरिक्त, वास्तु-विद्या, अङ्ग-विद्या (जैनियों की 'अंगविज्जा'), वायसविद्या, प्रासादलक्षण, प्रतिमालक्षण, वृक्षायुर्वेद, दकार्गल (पृथ्वी में पानी मिलने वाले स्थानों का निर्देश) आदि विचित्र तथा विलक्षण (आधुनिक दृष्टि से) विद्यायें सन्निविष्ट मानी जाती है।[2] प्राचीनकाल में यही स्कन्ध प्रमुख माना जाता था और इसलिए इस शाखा के लेखक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है। ऐसे आचार्यों में काश्यप, गर्ग, देवल, पराशर, वृद्धगर्ग, वसिष्ठ आदि के नाम ही उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत भट्टोत्पल की व्याख्या के अनुसार इनके लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि ये ग्रन्थ दशम शती के उत्तरार्ध तक उपलब्ध होते थे जब भट्टोत्पल ने वराहमिहिर के ग्रन्थों पर अपनी विशिष्ट विवृतियाँ लिखीं। वराहमिहिर की बृहत्-संहिता इस स्कन्ध का सर्वप्रमुख ग्रन्थ है जिसके उदय ने प्राचीन संहिताओं को निरस्त कर दिया।

(ग) **होरा**—अंग्रेजी के घंटावाची शब्द का उच्चारण उसके आदि अक्षर के अनुच्चरित होने के हेतु 'अवर' है, परन्तु उसका आद्यवर्ण हकार है (Hour = हवर)। इसी शब्द से 'होरा' शब्द की उत्पत्ति आज मानी जाती है। परन्तु वराहमिहिर का कहना है कि 'अहोरात्र' शब्द के आदि तथा अन्त वर्णों के लोप हो जाने से 'होरा' निष्पन्न होता है और इसलिए यह संस्कृत शब्द है, यूनानी नहीं। 'होरा' की आधुनिक संज्ञा 'जातक' है। ज्योतिष की जिस शाखा में प्राणी के जन्मकालिक ग्रहों की स्थिति से उसके जीवन में घटित होने वाली अतीत, भविष्य तथा वर्तमान बातें बताई

---

१. द्रष्टव्य बृहत्-संहिता प्रथम खण्ड उत्पलटीका पृ० ६३–६४।

२. द्रष्टव्य वही पृ० ७८–७३।

जाती हैं वह जातक (जात–क) कहलाता है ।[१] होरा के ही अन्तर्गत अरबी भाषा से अनूदित ताजिक शास्त्र भी है। ताजिक में किसी मनुष्य के वर्षप्रवेश-काल की ग्रहस्थिति पर से वर्षभर में होने वाले शुभाशुभ का तथा प्रश्नकालिक ग्रहस्थिति से फलादेश का विचार किया जाता है। इस शास्त्र के समस्त पारिभाषिक शब्द अरबी भाषा के ही हैं।

इन तीनों स्कन्धों में सिद्धान्त के ऊपर दैवज्ञों का विशेष आग्रह होने से उसका साहित्य विपुल है। संहिता आरम्भ में बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा मानी जाती थी, पर अब उसका आदर नहीं है। होरा तथा मुहूर्त आदि का सम्मिलित अभिधान फलित ज्योतिष है।

जातक का उदय वराहमिहिर से मानना ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थ नहीं है। बृहज्जातक में वराह ने पराशर को दो बार उद्धृत किया है। उसकी टीका में भट्टोत्पल ने गार्गी, बादरायण, याज्ञवल्क्य तथा माण्डव्य के जातक-सम्बन्धी वचनों को उद्धृत किया है जो वराहमिहिर से पूर्वकालीन हैं। बृहज्जातक (७।७) में वराह ने विष्णुगुप्त का संकेत किया है जिसे भट्टोत्पल चाणक्य के साथ अभिन्न मानते हैं। यदि यह अभेदकल्पना प्रामाणिक हो, तो आर्य चाणक्य के समय में विक्रमपूर्व चतुर्थ शती में जातक-स्कन्ध का उदय सम्पन्न हो गया था।

वराहमिहिर

फलित ज्योतिष के प्राचीन आचार्यों में वराहमिहिर का महत्त्व सर्वातिशायी है। इन्होंने सिद्धान्त के विषय में दो ग्रन्थों का निर्माण किया है पञ्चसिद्धान्तिका तथा 'जातकार्णव'। दोनों करण-ग्रन्थों में 'पञ्चसिद्धान्तिका' विश्रुत तथा प्रकाशित है, परन्तु 'जातकार्णव' आज भी काठमाण्डू (नेपाल) के वीर पुस्तकालय में हस्तलेख के रूप में ही प्राप्त है। वराहमिहिर की विशेष अभिरुचि फलित ज्योतिष की ओर थी और इस स्कन्ध की समृद्धि में उनका विशेष हाथ है। होरा (जातक) के विषय में इनका (१) बृहज्जातक[२] ग्रन्थ सर्वमान्य तथा लोकप्रिय है जिसमें जन्मकुण्डली का विचार विस्तार से किया गया है। इसी का लघुरूप है (२) लघुजातक और इन दोनों के ऊपर भट्टोत्पल की व्याख्या प्रकाशित है। (३) बृहद्-यात्रा (योगयात्रा) का प्रधान विषय राजाओं की युद्धविषयक यात्रा है और इस विषय में इसका प्रामुख्य है। युद्ध में सफलता के प्रतिपादक ग्रहों तथा मुहूर्तों का सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ का

---

१. द्रष्टव्य बृहत्-संहिता प्रथम भाग पृ० ६६–६९ ।

२. भट्टोत्पल की टीका के साथ प्रकाशित काशी से तथा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित 'सेक्रेड बुक्स आफ हिन्दूज' ग्रन्थमाला में प्रयागसे ।

वैशिष्ट्य है। (४) बृहद्-विवाह-पटल[1] ग्रन्थ में नामानुसार ही विवाह का विवेचन है तथा शुभाशुभ सूचक लग्नों तथा मुहूर्तों का विवरण है। इस ग्रन्थों के प्रणयन के अनन्तर[2] वराहमिहिर ने अपनी प्रतिभा तथा वैदुषी का द्योतक वह ग्रन्थ लिखा जिसके कारण उनका नाम ज्योतिष के इतिहास में अमर है। वह ग्रन्थ है—बृहत्-संहिता जो ग्रंथकार के नाम से 'वाराही संहिता' भी कहलाता है।

बृहत्संहिता—वराहमिहिर के अलौकिक पाण्डित्य, विस्तृत ज्ञान तथा विशाल दृष्टिकोण के पूर्ण परिचायक होने से निश्चित रूपेण एक अद्भुत ग्रंथ है। यह वस्तुतः प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान का एक विश्वकोश[3] ही है जिसमें उस युग की नाना विद्याओं का विशाल समुच्चय एकत्र किया गया है। इसकी लोकप्रियता के कारण ततःप्राचीन संहिताओं का लोप ही हो गया। संहिता-स्कन्ध का यही एकमात्र प्रतिनिधि ग्रंथ है। ग्रंथ में एक सौ छः अध्याय हैं। प्रारम्भिक अध्यायों में राजा के लिए फलित ज्योतिषी की विशेष आवश्यकता बतलाई गई है। जिस प्रकार प्रदीप-हीन रात्रि तथा आदित्य-विहीन आकाश होने पर मनुष्य रास्ते में अन्धे के समान घूमता रहता है और अपने गन्तव्य स्थान को नहीं पाता, उसी प्रकार ज्योतिषी-रहित राजा की दशा है। इनका तो दृढ़ निश्चय है कि सांवत्सरिक (वर्षफल बतलाने वाले ज्योतिषी) से विहीन देश में कल्याणकामी व्यक्ति को कभी वास नहीं करना चाहिये। ज्योतिषी देश की आँख है। उसके निवास-स्थान पर कभी कोई पाप कर नहीं सकता। फलतः फलित ज्योतिष को वराहमिहिर बड़े ही गौरव तथा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

फलित ज्योतिष के अनेक प्रामाणिक ग्रंथ उस युग में विद्यमान थे जिनमें 'वृद्धगर्ग संहिता' या गार्गी संहिता पर्याप्त रूपेण प्रसिद्ध थी। इसके अनेक उद्धरण यहाँ मिलते हैं। ग्रन्थ १०६ अध्यायों में विभक्त है जिनमें ग्रह-नक्षत्रों की गति का, मानव जीवन पर उनके प्रभाव का तथा भू-गति का वर्णन उपलब्ध होता है। सामान्यतः विषयों के निर्देश पर दृष्टि डालने से उनकी व्यापकता तथा विशालता का परिचय किसी भी

---

१. सरस्वती भवन में एतन्नामक ग्रन्थ किसी पीताम्बर द्वारा प्रणीत उपलब्ध है। ये वराहमिहिर के पश्चात्कालिक ग्रन्थकार हैं।

२. द्रष्टव्य बृहत्संहिता १।१० तथा उसकी भट्टोत्पली टीका।

३. डा० कर्नद्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८६२ ई०, विजयनगरम् संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी में म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा दो भागों में सम्पादित (१८९५ ई०-१८९७ ई०) इसी का नवीन परिशोधित सं० (प्र० वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी १९६८)

आलोचक को हो सकता है। इसमें सूर्य की गति, चन्द्रमा के परिवर्तन तथा ग्रहों से युति तथा ग्रहण का वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रों का मानव जीवन तथा भाग्य के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन कर भारतीय भूगोल का संक्षिप्त तथा रोचक वर्णन भी है (अ० १४)। राजाओं के युद्ध तथा भाग्य विपत्ति आदि सूचक ग्रहों को योजना बतलाई गयी है तथा वस्तुओं के भाव में वृद्धि तथा न्यूनता का भी निर्देश है। तालाब खोदवाना, बागीचा लगवाना, मूर्ति निर्माण, गृह-निर्माण आदि का वर्णन अनेक अध्यायों का विषय है (अ० ५३–५९) उसके अनन्तर बैल, कुत्ता, मुर्गा, कछुआ, घोड़े, हाथी, मनुष्य तथा स्त्रियों के विशिष्ट चिह्नों का विवरण है (अ० ६१–७३) क्षत्रियों की प्रशंसा में एक बड़ा ही कवित्वमय अध्याय है जिसके अनन्तर उस युग के अन्तःपुर के जीवन (७४ अ०) का वर्णन कामशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के समान यहाँ भी दिया गया है। वास्तुविद्या, भूगर्भादिविद्या, प्रासाद, प्रतिमा, गवाश्व और पुरुष के लक्षण ५२–६७ अध्यायों तक वर्णित हैं।

बृहत्-संहिता में ज्योतिष के विषयों के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य विषयों का समावेश बड़े आग्रह के साथ है। १४ अध्याय में तात्कालिक भारतीय भूगोल का बड़ा ही सर्वाङ्गीण विवेचन है। यहाँ बहुत से अज्ञात अथवा अल्पज्ञात देशों, नदियों तथा पर्वतों का विवरण बड़ा ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक है। 'दकार्गल विद्या' वह विद्या है जिसके द्वारा भूमि के अन्दर जलस्रोत का परिज्ञान होता था और इसी के द्वारा कूपखनन विद्या का पूरा परिचय निकलता था। इसका भी विवरण एक पूरे ५३वें अध्याय में हैं। इस प्रकार शकुन का वर्णन तो ऐसे ग्रन्थ का आवश्यक अंग है ही। निष्कर्ष यह है कि बृहत्-संहिता सचमुच भारतीय विद्याओं का विश्वकोश है।

वराहमिहिर के श्लोकों में कवित्व है। विलक्षण शब्दों के प्रयोग से इसका भाषा-शास्त्रीय अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। स्त्रीकी प्रशंसा का यह पद्य सचमुच एक रमणीय सुभाषित है—

रत्नानि विभूषयन्ति योषा
भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना
नो रत्नानि विनाङ्गनाङ्गसङ्गम्॥

(बृहत्-संहिता ७३।२)

आब्रह्मकीटान्तमिदं निबद्धं
पुंस्त्रीप्रयोगेण जगत् समस्तम्।
व्रीडात्र का? यत्र चतुर्मुखत्व—
मीशोऽपि लोभाद् गमितो युवत्याः॥

(वही, ७३।२०)

वराहमिहिर के देशकाल का पता चलता है। वे उज्जयिनी के निवासी थे। अपने पूज्य पिता आदित्यदास से उन्होंने ज्योतिष विद्या का अध्ययन किया था।[1] वराह ने अपने करण-ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका में गणितारम्भ का वर्ष ४२७ शक माना है (=५०५ ईस्वी)। अत: उनका आविर्भाव काल षष्ठी शती का आरम्भिक काल भलीभाँति माना जा सकता है। वे ज्योतिर्विदों के एक विद्वान् कुल में उत्पन्न हुए थे। ये यवन ज्योतिष के भी विशेषज्ञ थे। बहुत सम्भव है कि इन्होंने यवन भाषा का अध्ययन कर उसके ज्योतिष का पूर्ण परिचय प्राप्त किया था। बृहज्जातक में क्रिय, तावुरि, जितुम, लेप आदि यवन ज्योतिष-शास्त्र की पारिभाषिक संज्ञायें इस अनुमान को पुष्ट करती हैं। बृहत्संहिता में यवन दैवज्ञों की प्रशंसा भी की गई है[2]—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥

बृहज्जातक में वराह ने मय, यवन, मणित्थ, शक्ति, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन, जीवशर्मा तथा सत्याचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है। वराह के पुत्र पृथुयश ने 'षट्पञ्चाशिका' की रचना की है जो भट्टोत्पल की वृत्ति के साथ बहुश: प्रकाशित है।

आजकल जातक स्कन्ध के कतिपय ग्रन्थ विख्यात हैं जिनमें पाराशरी तथा जैमिनि-सूत्र मुख्य हैं। पाराशरी के दो संस्करण हैं—लघु पाराशरी तथा बृहत् पाराशरी। लघुपाराशरी बड़ी लोकप्रिय है। बृहत् पाराशरी के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ की प्रामाणिकता में विद्वानों को सन्देह है। पराशर तो नि:सन्देह वराह-पूर्व दैवज्ञ हैं, परन्तु उनका मूल ग्रंथ-मूल पाराशरी—कहीं उपलब्ध है या नहीं? भट्टोत्पल के प्रामाण्य पर इतना ही ज्ञात होता है[3] कि पराशर-रचित ज्योतिष के तीनों स्कन्ध उस युग में सुने जाते थे। पराशरी संहिता उपलब्ध थी, परन्तु पराशर-जातक का दर्शन उन्हें नहीं हुआ था। दशम शती में ही पराशर-जातक की यह दशा थी, तो

---

१. आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः
कापित्थके सवितृलब्धवर-प्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्
होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥
बृहज्जातक का उपसंहार श्लोक।

२. बृहत्संहिता २ अ०, १४ श्लोक।

३. पाराशरीया संहिता केवलमस्माभिर्दृष्टा, न जातकम्। श्रूयते स्कन्धत्रयं पराशरस्येति। तदर्थं वराहमिहिरः शक्तिपूर्वैरित्याह।
बृहज्जातक ७।१ की टीका।

आज उसकी उपलब्धि दुराशामात्र ही सिद्ध होगी। लघु पाराशरी का अपर नाम उडुदाय-प्रदीप है जिसके प्रथम श्लोक में पाराशरी होरा के अनुसार दैवज्ञों के सन्तोषार्थ उडुदाय प्रदीप के निर्माण की बात कही गई है। फलतः यह ग्रंथ पराशर मतानुसारी अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वराह से प्राचीन पराशर का यह ग्रंथ कथमपि नहीं है।

जैमिनिसूत्र—एक छोटा-सा चार अध्यायों का सूत्रात्मक ग्रंथ आजकल प्रचलित है। वराह तथा भट्टोत्पल के ग्रंथों में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। फलतः यह कोई प्राचीन आर्षग्रन्थ नहीं है। सुनते हैं कि दक्षिण के मलावार प्रान्त में इसका विशेष प्रचलन है।

जातक स्कन्ध में भृगुसंहिता की पर्याप्त प्रख्याति है। इसमें प्रत्येक समय घड़ी, पल आदि में जन्मे हुये व्यक्तियों की कुण्डली का फलादेश बड़े विस्तार से दिया गया है। असली भृगुसंहिता का पता नहीं चलता, अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुई है। जो प्रकाशित है वह उतनी प्राचीन तथा प्रामाणिक नहीं है। काशी, पूना आदि अनेक नगरों में भृगुसंहिता के साहाय्य से फलादेश बताने वाले दैवज्ञ विद्यमान हैं, परन्तु वे अपनी पोथी गोपनीय रखते हैं। अतः इस ग्रंथ का समीक्षण नहीं किया जा सकता। वराह तथा उत्पल के द्वारा इस ग्रन्थ का निर्देश न किया जाना इसके आर्षत्व का पर्याप्त बाधक है।

जातक-विषयक बृहत् साहित्य विद्यमान है जो अभी प्रकाश में नहीं आया है।[1]

मुहूर्त-विषयक ग्रन्थ

'मुहूर्त' से तात्पर्य शुभ मुहूर्त से है जब विवाह, यात्रा आदि शुभ कार्यों का सम्पादन सिद्धिप्रद होता है। वराहमिहिर ने ऐसे ग्रंथों की रचना कर इस साहित्य को अग्रसर किया। मध्ययुग में ऐसे ग्रंथों की संख्या पर्याप्त रूपेण विस्तृत थी। इनमें मुहूर्त-चिन्तामणि अपनी लोकप्रियता में अद्वितीय है। इसके विद्वान् रचयिता राम या रामभट्ट काशी के विद्वान् दैवज्ञों के कुल में हुये थे। इस ग्रन्थ की रचना काशी में १५२२ तक (=१६०० ई०) में की गई। इससे पहिले राम दैवज्ञ ने रामविनोद नामक करण-ग्रंथ लिखा था जिसका आरम्भ वर्ष शक १५१२ (=१५९० ई०) है। इनका ग्रथ मुहूर्तचिन्तामणि आजकल मुहूर्त जानने के लिए सर्वोत्तम ग्रंथ है। इसके ऊपर ग्रन्थकार ने 'प्रमिताक्षरा' नाम्नी स्वोपज्ञ टीका लिखी तथा ग्रंथकार के भ्रातुष्पुत्र गोविन्द ने 'पीयूषधारा' नामक व्याख्या रची। ये टीकायें प्रसिद्ध हैं और यह सटीक ग्रंथ बहुत स्थानों से प्रकाशित है।

---

१. द्रष्टव्य दीक्षित—भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ ६३६–६४०।

रामदैवज्ञ के पिता अनन्त ने महादेव द्वारा रचित 'कामधेनु' पर अपनी टीका लिखी है। अनन्त अपने मूल स्थान से, जो गोदावरी के पास विदर्भ देश में धर्मपुरी नामक ग्राम था, काशी आये और इनका परिवार काशी में ही बस गया। यह बादशाह अकबर का शासन-काल था और इस समय अरबी ज्योतिष का प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर पड़ रहा था। इसी से प्रभावित होकर अनन्त के ज्येष्ठ पुत्र नीलकण्ठ ने १५०९ शक (= १५८७ ई०) में ताजिक[1] के ऊपर अपना प्रख्यात ग्रंथ बनाया जो इन्हीं के नाम पर ताजिक नीलकण्ठी कहलाता है। ताजिक को संस्कृत में समातन्त्र (या वर्षतन्त्र) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यक्ति का वर्षफल बतलाया जाता है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है तथा इस पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। नीलकण्ठ अकबर के दरबार के प्रधान पण्डित थे और इस प्रकार इन्हें राजाश्रय प्राप्त था। इस घटना का उल्लेख नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द ने मुहूर्तचिन्तामणि की अपनी पीयूषधारा के अन्त में किया है।[2] नीलकण्ठ ने ही टोडरमल के नाम पर टोडरानन्द ग्रंथ का निर्माण किया। यह एक उपयोगी संग्रहग्रन्थ है।

नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने अपने पितृव्य रामदैवज्ञ के 'मुहूर्तचिन्तामणि' के ऊपर अपनी पीयूषधारा नाम्नी व्याख्या लिखी १५२५ शक (= १६०३ ई०) में। इस टीका के आरम्भ में गोविन्द ने अपने वंश का विस्तृत वर्णन किया है जिससे इस वंश के विद्वानों का पूरा परिचय प्राप्त होता है।

मुहूर्त के विषय में अन्य ग्रंथों के नाम ये हैं—केशव-रचित मुहूर्ततत्त्व (र० का० १४२० शक), नारायण-रचित मुहूर्त-मार्तण्ड (र० का० १४९३ शक); शिव ज्योतिषी-रचित मुहूर्त चूड़ामणि (र० का० १५४० श०); रघुनाथ ज्योतिषी द्वारा काशी में निर्मित मुहूर्तमाला (र० का० १५८२ शक=१६६० सन् औरंगजेब के समय की रचना)[4] कच्छ निवासी महादेव ज्योतिषी द्वारा रचित मुहूर्त-दीपक (र० का० १५८३ श०); गणपति ज्योतिषी द्वारा निर्मित मुहूर्त-गणपति (र० का०

---

१. अरबी के लिए फारसी शब्द है 'ताजी' और इसी का संस्कृत रूप है ताजिक अर्थात् अरबी ज्योतिष।

२. पृथ्वीशाकब्बरस्य स्फुरदतुलसभा-मण्डनं पण्डितेन्दुः।
साक्षात् श्रीनीलकण्ठः समजनि जगतीमण्डले नीलकण्ठः॥

३. दीक्षित—भारतीय ज्योतिष पृ० ६२०–६२४।

४. जित्वा दाराशाहं सुजाशाहं मुरादशाहं च।
औरंगजेबशाहे शासत्यवनीं ममायमुद्योगः॥
—ग्रन्थकार का कथन।

१६०७ शक=१६८५ ई०)। विवाह आदि के विषय में भी अनेक मुहूर्त ग्रंथों का अस्तित्व है। फलित ज्योतिष का विशाल साहित्य आज भी प्रकाशन की अपेक्षा रखता है।

संस्कृत में अरबी ज्योतिष ग्रन्थ

अष्टादश शती के आरम्भ में उत्पन्न सवाई जयसिंह द्वितीय, जिन्होंने जयपुर नगर का निर्माण कर उसे अपनी राजधानी बनाई, ज्योतिष तथा गणित के महनीय विद्वान् थे। जयपुर, दिल्ली, मथुरा, उज्जैन तथा काशी—इन पाँच स्थानों पर आकाशीय पिण्डों के वेध के निमित्त इन्होंने वेधशालायें बनाईं जिनमें से कुछ आज भी अच्छी दशा में हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। ये कर्मकाण्ड में भी विशेष रुचि रखते थे। इन्होंने अपने जीवन की सन्ध्या में एक महनीय अश्वमेध यज्ञ भी किया था—सं० १७९९ की आषाढ़ वदी द्वितीया को (=१७४२ ई०)। कुछ लोगों को इस अश्वमेध की सत्ता में विश्वास नहीं है, परन्तु जयपुर के महाकवि कृष्ण कवि ने, जो इस यज्ञ में वैदिक सदस्यों में अन्यतम थे, 'ईश्वर विलास' नामक महाकाव्य में (चतुर्थ तथा पंचम सर्ग) इसका सांगोपांग वर्णन किया है। फलतः समसामयिक प्रमाण पर आधारित होने से इस यज्ञ का अस्तित्व पूर्णतया समर्थित है। महाराज जयसिंह द्वितीय का जन्म १६८६ ई० में हुआ तथा मृत्यु १९४३ ई० में ५७ वर्ष की आयु में हुई। अश्वमेध की समाप्ति से एक वर्ष के बाद महाराज की मृत्यु हुई थी। महाराज ने जगन्नाथ सम्राट् नामक ज्योतिर्विद् के द्वारा उस युग के मान्य दो अरबी ज्योतिष ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में कराया था।

पंडित सुधाकर द्विवेदी ने अपनी 'गणक तरंगिणी' में एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार जयसिंह ने औरंगजेब के दरबारी सभासदों के वचन को असत्य साबित करने के लिए महान् उद्योग किया था। उन लोगों की धारणा थी कि कोई भी संस्कृत-पंडित अरबी और फारसी में दक्षता नहीं प्राप्त कर सकता। जयसिंह जब १६७२ ई० में शिवाजी से लड़ने के लिए औरंगजेब के द्वारा दक्षिण भेजे गये तब वे अपने साथ पंडित जगन्नाथ को अरबी और फारसी सिखलाने के लिए लाये। जगन्नाथ की अवस्था उस समय २० वर्ष की थी। परन्तु उसी समय वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उत्तर भारत में आकर उन्होंने अरबी और फारसी में बड़ी दक्षता प्राप्त की और अपने आश्रयदाता जयसिंह के आग्रह तथा प्रेरणा पर अरबी भाषा के दो ग्रंथों का अनुवाद संस्कृत में किया।

रेखागणित अरबी से अनूदित ग्रंथों में यह प्रथम है। रेखागणित[1] में पन्द्रह अध्याय है तथा ४७८ साध्य तथा क्षेत्रों का वर्णन है। पूरा ग्रंथ गद्य में लिखा गया है। आरम्भ में परिभाषाओं का वर्णन है जो रेखागणित की मौलिक कल्पनायें हैं। इसमें प्रमेयोपपाद्य तथा वस्तूपपाद्य दोनों का वर्णन सिद्धान्त रूप से प्रथमतः किया गया है। तदनन्तर उसकी उपपत्ति दिखलाई गई है। उनमें से कुछ प्रमेयोपपाद्य के नमूने इस प्रकार है—

१—तत्र यावत्यो रेखा एक-रेखायाः समानान्तरा भवन्ति ता रेखाः परस्परं सामानान्तरा एक भविष्यन्ति।

२—यस्य त्रिभुजस्य न्यूनकोणोस्ति तत्कोण सन्मुख-भुज-वर्ग इतर भुजवर्ग-योगान्न्यूनो भवति।

३—यद्वृत्तद्वयमेकस्मिश्चिह्नेऽन्तर्मिलति तद्वृत्तद्वयस्य केन्द्रमेकत्र न भवति।

ग्रंथ के प्रथम चार तथा छठवें अध्याय का विषय समतल ज्यामिति से है। पंचम अध्याय में समानुपात के नियम दिये गये हैं जिनका उपयोग छठे अध्याय में किया गया है। ७, ८ और ९वें अध्याय का सम्बन्ध पाटीगणित से है। दस से लेकर पन्द्रहवें अध्याय का विषय ठोस ज्यामिति से है जिसके ठीक-ठीक समझने के लिए बीच के तीन अध्यायों में अंकगणित का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों में घनक्षेत्र जैसे घन (Cube) शंकु (Cone) सूचिफलक घनक्षेत्र (Pyramid) समतल मस्तक-परिधिरूप-शंकु घनक्षेत्र (Cylinder) छेदितघन क्षेत्र (Prism) गोलक्षेत्र (Spheres) और घनहस्त क्षेत्र या समानान्तर-धरातल-घनक्षेत्र (Parallelepiped) का सैद्धान्तिक विवरण है। इन अध्यायों के अनुशीलन से रेखागणित तथा ठोस ज्यामिति के प्रायः सभी मुख्य सिद्धान्त समीचीन रूप से यहाँ दिखलाये गये हैं।

इस ग्रन्थ के द्वारा यू कलीद का रेखागणित संस्कृत पंडितों के लिए सुलभ हो गया। युक्लीद के जन्म स्थान का तो ठीक परिचय नहीं, परन्तु उनके काल का पता है। ये मिश्र के अधिपति टालमी (३२३—२८४ ई० पू०) के राज्यकाल तथा आश्रय में रहते थे। ये यूनानी गणितज्ञ थे तथा अपने से पूर्व रेखागणित के सिद्धान्तों को एकत्र कर इन्होंने एक मौलिक तथा युगान्तरकारी ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसके सिद्धान्त हजारों वर्षों तक अकाट्य थे।

---

१. संस्करण, के० पी० द्विवेदी द्वारा सम्पादित तथा अंग्रेजी में अनूदित। बाम्बे संस्कृत सीरीज, २ भाग, १९०१—१९०२ ई०।

एक भ्रान्ति का निराकरण

अरबी से अनूदित दूसरे ग्रन्थ के विषय में पर्याप्त भ्रान्ति है। जयपुर के संस्थापक तथा निर्माता राजाधिराज जयसिंह द्वितीय की आज्ञा से जगन्नाथ सम्राट् नामक ज्योतिषी ने अरबी भाषा में निबद्ध यवन ज्योतिष के प्रख्यात ग्रन्थ 'अलमजिस्ती' का संस्कृत में अनुवाद किया और वह ग्रन्थ 'सिद्धान्त सम्राट्' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक भ्रान्त धारणा है जो अपना खण्डन चाहती है। इस धारणा का, मेरी जानकारी में, प्रथम उल्लेख म० म० सुधाकर द्विवेदी ने अपने 'गणक तरंगिणी' में १८९२ ई० में किया और इससे चार वर्ष पीछे (१८९६ ई०) लिखे गये मराठी ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास' में श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने पृष्ठ ४०१ पर इस बात की पुनरुक्ति की। तब से यह घटना प्रख्यात हो चली।[1] परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है।

जयसिंह के आदेशानुसार जगन्नाथ सम्राट् ने सिद्धान्त विषय में दो ग्रन्थों का प्रणयन किया (१) सिद्धान्त-कौस्तुभ तथा (२) सिद्धान्त-सम्राट्। इनमें से प्रथम ग्रन्थ ही अलमजिस्ती का अक्षरशः अनुवाद है और इस तथ्य का उल्लेख ग्रन्थ के आरम्भ में जगन्नाथ ने इन शब्दों में किया है—

अरबी-भाषया ग्रन्थो मिजास्ती नामकः स्थितः।
गणकानां सुबोधाय गीर्वाण्या प्रकटीकृतः॥

'सिद्धान्त सम्राट्' ग्रन्थ जगन्नाथ की सिद्धान्त के विषय में स्वतन्त्र रचना है, न कि मिजास्ती का अनुवाद (जैसा साधारणतया समझा जाता है)। इन दोनों ग्रन्थों के आरम्भिक पाँच श्लोक जिनमें देवता की स्तुति तथा जयसिंह की प्रशस्ति है एक ही हैं। सिद्धान्त सम्राट् के आरम्भ के षष्ठ श्लोक में श्री जयसिंह की तुष्टि के निमित्त इस ग्रन्थ के निर्माण की बात कही गई है—

ग्रन्थं सिद्धान्त-सम्राजं सम्राट् रचयति स्फुटम्।
तुष्ट्यै श्री जयसिंहस्य जगन्नाथाह्वयः कृती[2]॥

---

१. डा० गोरखप्रसाद ने 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में पृष्ठ २१८ पर इसे दुहराया है (लखनऊ १९५६)।

२. इस श्लोक के बाद 'अरबीभाषया ग्रन्थो मिजास्ती नामकः स्थितः' श्लोक गणकतरंगिणी पृष्ठ १०३ पर निर्दिष्ट है, परन्तु इस ग्रन्थ के किसी भी हस्तलेख में यह श्लोक नहीं मिलता। यह श्लोक-निर्देश ही सिद्धान्त-सम्राट् को अनुवाद बतलाने के लिए उत्तरदायी है। वस्तुतः यह भ्रान्ति है।

दोनों ग्रन्थों के वर्ण्यविषयों की तुलना करने से इस पार्थक्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। मूल अरबी ग्रन्थ अलमजिस्ती १३ खण्डों में विभक्त है और सिद्धान्त कौस्तुभ भी उसी प्रकार १३ अध्यायों में विभक्त है तथा पूर्ण है। 'सिद्धान्त सम्राट्' अभी तक अधूरा ही मिला है जिसमें केवल चार अध्याय ही मिलते हैं। यन्त्राध्याय, मध्यमाधिकार तथा स्पष्टाधिकार तो पूर्णरूपेण प्राप्त हैं। त्रिप्रश्नाधिकार अधूरा ही है जिसमें केवल दो प्रश्नों का ही उत्तर है; तृतीय प्रश्न खण्डित है। व्यापक रूप से विषय की तुलना वैशद्य के लिए आवश्यक है।[1]

अलमिजास्ती का परिचय

सिद्धान्त कौस्तुभ के मूलभूत अरबी ग्रन्थ अलमिजास्ती या अलमिजिस्ती का परिचय विषय की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक है। यवन (यूनानी) ज्योतिषियों में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी का नाम था टालमी था जो जात्या तो यवन था, परन्तु यवन देश से बाहर मिश्र देश (इजिप्ट) की राजधानी अलेक्जैंड्रिया का निवासी था। उसका पूरा यूनानी नाम क्लाडियस टालिमेइयस था जो अंग्रेजी में संक्षिप्त होकर टालमी हो गया। वह प्राचीन युग का सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी, गणितज्ञ तथा भौगोलिक था। उसके जीवन की घटनायें आज भी अन्धकार-पूर्ण है। केवल इतना ही ज्ञात है कि वह १२१ ईस्वी से लेकर १५१ ई० तक अलेकजैंड्रिया में हो ताराओं तथा ग्रहों का वेध करता था। इसी से उसका जीवन काल लगभग १०० ईस्वी से लेकर १७० ई० तक माना जाता है। अरबी लेखकों के अनुसार वह ७८ वर्ष की आयु में मरा। जो कुछ हो, ईस्वी के द्वितीय शती में इस प्रख्यात यवन ज्योतिर्विद् ने अपना जीवन यापन किया। टालमी ने अपने पूर्ववर्ती यवन ज्योतिषी हिपार्कस (१४० ई० पू०) की गणना को आधार मान कर ही आकाशीय पिण्डों की गणना तथा निरीक्षण का अपना कार्य सम्पन्न किया। विश्व के विषय में उनका मुख्य सिद्धान्त पृथ्वी-केन्द्रीय मानने में है अर्थात् टालेमी के अनुसार विश्व का पृथ्वी ही केन्द्र है जिसके चारों ओर सब ग्रह अपना भ्रमण किया करते हैं। हिपार्कस की गणना को स्वयं अनुभव से उन्होंने पुष्टकर उसे आगे बढ़ाया तथा तारापुञ्जों की सूची तैयार की। उनका यह कार्य बड़े महत्त्व का माना जाता है और मध्ययुग के यूरोप में इन्हीं के मत का बोलबाला था।

---

1. 'सिद्धान्त कौस्तुभ' का नाना प्रतियों के आधार पर सम्पादित करने का श्रेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धाता डा० मुरलीधर चतुर्वेदी को है। उन्होंने सिद्धान्त सम्राट् के अधूरे उपलब्ध अंश को भी परिशिष्ट के रूप में समाविष्ट किया है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही है।

टालोमी ने अपने इन निरीक्षणों तथा गणनाओं को एक विशाल ग्रन्थ में अंकित किया जिसका यूनानी लोगों के नाम दिया मैथिमैटिके सिनटैक्सि[1] जिसका अर्थ है—गणित संहिता। इस ग्रंथ का प्रथम शब्द है मजेस्ट (अर्थात् उत्तमोत्तम)। अरब वालों ने जब इस ग्रंथ का अरबी में अनुवाद किया, तब अरबी उपसर्ग 'अल' लगातार इसी शब्द के आधार पर पूरे ग्रन्थ का नामकरण किया अलमैजेस्ट (जिसका शाब्दिक अर्थ है ग्रन्थराज, उत्तम ग्रन्थ)। अरबी भाषा में इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम अनुवाद ८२७ ई० में सम्पन्न हुआ था जिसका अनुवाद यूरोप की नाना भाषाओं में कालान्तर में होता रहा। सर्वत्र यूनानी मूल नाम के स्थान पर अरबी नाम ही प्रख्यात हो गया। इसलिए जगन्नाथ सम्राट् ने भी अरबी ग्रन्थ को मिजास्ती नाम से उल्लिखित किया है।

मिजास्ती में १३ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पृथ्वी, उसका रूप, उसका बेलाग स्थित रहना, आकाशीय पिण्डों का वृत्तों में चलना, सूर्यभाग की तिर्यक्ता तथा उसके नापने की रीति, तथा ज्योतिष के लिए आवश्यक समतल और गोलीय त्रिकोणमिति—ये सब विषय वर्णित हैं। द्वितीय खण्ड में खगोल-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। तृतीय खण्ड में वर्ष की लम्बाई, सूर्य कक्षा की आकृति आदि की गणना विधि का विवेचन है। इस खण्ड के प्रथम अध्याय में टालेमी ने बतलाया है कि सिद्धान्त ऐसा होना चाहिये जो सरलतम हो और जो वेधप्राप्त तथ्यों से विपरीत या विरुद्ध न हो। चतुर्थ खण्ड में चन्द्रमा की गति तथा चान्द्रमास की लम्बाई बतलाई गई है। पञ्चम खण्ड में ज्योतिष-सम्बन्धी यन्त्रों की रचना, सूर्य-चन्द्रमा के व्यास, सूर्य की दूरी आदि विषयों का विवरण है। षष्ठ खण्ड में चन्द्रमा और सूर्य की युतियों तथा ग्रहणों पर विचार किया गया है। सप्तम-अष्टम खण्डों में उत्तरी ताराओं तथा दक्षिणी ताराओं की क्रमशः सूची है, दोनों सूचियों में मिलाकर कुल ताराओं की संख्या १,०२२ दी गई है। प्रत्येक तारे का भोगांश और शर बतलाये गये हैं तथा उनके चमक का भी संकेत है। अष्टम में आकाशगंगा का भी वर्णन किया गया है। अन्त के पाँच खण्डों में (खण्ड नवम से लेकर त्रयोदश तक) ग्रहसम्बन्धी अनेक बातें दी गई हैं।

इस संक्षिप्त विवरण से इस ग्रन्थ की महत्ता तथा उपादेयता का परिचय किसी भी पाठक को हो सकता है। अलमैजेस्ट यवन ज्योतिष के उच्चतम ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। इसी के अनुवाद-पुनरनुवाद से अरब तथा यूरोप के विभिन्न देशों को ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्तों का परिचय मिलता रहा। टालेमी के बाद डेढ़ हजार

---

१. टालेमी के जीवनचरित तथा ग्रन्थ के विषय में देखिये अमेरिकन इन्साइक्लोपीडिया (विश्वकोश) भाग २२, पृष्ठ ७५२—७५३।

साल तक कोई बड़ा ज्योतिषी नहीं हुआ जो अपने अनुभवों से तथा वेधों से नये सिद्धान्तों का निर्माण करता। ज्योतिषियों की कमी नहीं थी, परन्तु वे सब टालेमी के भाष्यकार ही हुए। फलत: टालेमी के सिद्धान्तों से हिन्दुओं को परिचित कराने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर जयसिंह ने इनके ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत कराया।

अरब लोगों भी कोई नवीन आविष्कार करने में समर्थ नहीं हुए, परन्तु उन लोगों ने टालेमी के सिद्धान्तों को सर्वात्मना स्वीकार कर लिया। उलूगवेग इतिहास प्रसिद्ध तैमूरलंगका (लगभग १४२० ई०) पौत्र था। उसने समरकन्द में १४२० ई० में एक प्रख्यात वेधशाला का निर्माण कराया और यहीं से ग्रहों का वेधकर टालेमी के सिद्धान्तों में त्रुटियों का विस्तार से शोधन किया। उसने ताराओं तथा आकाशीय पिण्डों की जो सारणी प्रस्तुत की, उसने टालेमी की प्राचीन सारिणी को निरस्त कर दिया।

सिद्धान्त कौस्तुभ

सिद्धान्त कौस्तुभ तथा सिद्धान्त सम्राट् के हस्तलेख आपस में इतने मिले जुले हैं कि दोनों का पार्थक्य करना कठिन व्यापार है। यही कारण है कि 'सिद्धान्त सम्राट्' को ही प्रख्याति हो सकी और 'सिद्धान्त कौस्तुभ' विलुप्त-सा हो गया। परन्तु हस्तलेखों की छानवीन से दोनों की पृथक् सत्ता सप्रमाण सिद्ध हो सकी है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ११ पद्य उपलब्ध होते हैं जिनमें आरम्भ के दो पद्य मंगलाचरण के विषय में हैं तथा आगे के पाँच पद्य जयसिंह की प्रशस्ति के विषय में हैं। अन्तिम चार पद्य ग्रन्थ की उपयोगिता तथा उद्देश्य के विषय में हैं। सिद्धान्त के वर्णन के निमित्त ही इस ग्रन्थ की रचना है (श्लोक ९)। सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रन्थों के अध्ययन से भ्रान्ति का निवारण नहीं होता। अत: इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है (श्लोक १०)। तदनन्तर इसके अनुवाद होने की सूचना इस पद्य में है (श्लोक ११)––

अरबी भाषया ग्रन्थो मिजस्ति नामकः स्थितः।
गणकानां सुबोधाय गीर्वाणया प्रकटीकृतः॥

इसमें १३ अध्याय, १४१ प्रकरण तथा १९६ क्षेत्र हैं। इस विषय-सूची से ग्रन्थ के स्वरूप का परिचय मिलता है। भाषा बड़ी सरल है। भाव समझने में कठिनाई नहीं होती। समग्र ग्रन्थ गद्य में है। मूल ग्रन्थ से क्षेत्रों का वर्णन तो किया गया है, परन्तु उनके द्योतक रेखाचित्र नहीं हैं। इसकी पूर्ति विद्वान् सम्पादक ने बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय से की है। ऊपर मिजास्ती के १३ अध्यायों का विषय प्रतिपादित

किया गया है। इस ग्रन्थ के अध्यायों का वर्ण्यविषय भी तदनुसार ही है। फलतः वर्ण्यविषयों की समता के कारण तथा ग्रन्थकार के स्पष्ट उल्लेख के हेतु सिद्धान्त-कौस्तुभ ही मिजास्ती का संस्कृत अनुवाद है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में सम्राट् जगन्नाथ ने लिखा है कि राजाधिराज के तोषणार्थ सिद्धान्तसार (अपर नाम कौस्तुभ) का अमुक अध्याय समाप्त हुआ जिससे इसका सिद्धान्तसार नाम भी प्रतीत होता है।[1]

सिद्धान्त-सम्राट्

इसके आरम्भ में प्रथम सात श्लोक तो कौस्तुभ के ही श्लोक हैं। अष्टम श्लोक में कहा गया है कि राजा जयसिंह ने गोल के विचार में दक्ष तथा गणित में प्रवीण ज्योतिर्विदों को तथा यन्त्र बनाने वालों (कारु) को बुलाकर गोलादि यन्त्रों के द्वारा आकाशीय पिण्डों का वेध किया। उन्हीं के प्रसन्नतार्थ इस सिद्धान्त सम्राट् की रचना की गई। समग्र ग्रन्थ पद्यबद्ध है। प्रथम अध्याय में यन्त्रों का वर्णन गद्य में किया गया है। इस अध्याय में ८ यन्त्रों का विवरण तथा उपयोग सरल गद्य में दिया गया है--नाडीवलय यन्त्र, गोल यन्त्र, दिगंश यन्त्र, दक्षिणोदक्भित्ति यन्त्र, वृत्तषष्ठांश-संज्ञक यन्त्र, सम्राट् यन्त्र, जयप्रकाश यन्त्र, क्रान्तिवृत्त यन्त्र। जयसिंह की वेधशालाओं में ये यन्त्र बनवाये गये हैं। अतः यह यन्त्राध्याय लेखक के स्वानुभव के ऊपर आश्रित है। तदनन्तर मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार तथा त्रिप्रश्नाधिकार—ये तीन अध्याय है—प्रथम दो पूर्ण तथा अन्तिम अपूर्ण। सिद्धान्त पद्यों में प्रतिपादित हैं और उपपत्तियाँ गद्य में। फलतः वर्ण्यविषयों की भिन्नता के कारण यह ग्रन्थ अनुवाद न होकर मौलिक रचना है। और जगन्नाथ ने स्वयं इसके स्वरूप का परिचय दिया है—

> तेन श्री जयसिंहेन प्रार्थितः शास्त्रसंविदा।
> करोति जगन्नाथः सम्राट् सिद्धान्तमुत्तमम् ॥[2]

इस मौलिक कृति का अनुशीलन तथ्यों की जानकारी के लिए गम्भीरता से करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्त कौस्तुभ तथा रेखागणित

ये दोनों ग्रन्थ अरबी भाषा में लिखे गये ग्रन्थों के अनुवाद हैं। रेखागणित के मूल

---

१. उदाहरण के लिए द्रष्टव्य—

> राजाधिराज-प्रभुतोषणार्थे सम्राट् जगन्नाथकृते सुशिल्पे।
> सिद्धान्तसारे खलु कौस्तुभेऽस्मिन् अध्याय आगाद् विरतिं तु षष्ठः ॥

२. आरम्भ का ६ म श्लोक।

अरबी ग्रन्थ की प्रस्तावना[१] से यह पता चलता है कि मूल अरबी लेखक ने प्रथमतः मजिस्ती नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया और उसके अनन्तर रेखागणित की रचना की। उन्होंने हज्जाज तथा साबित नामक अरबी लेखकों की रचनाओं का इसमें उद्धरण दिया है, विशेषतः साबित के ग्रन्थ का। इन दोनों ग्रन्थों के अरबी लेखक का नाम है नसीर एद्दीन (पूरा नाम नसीर एद्दीन अहम्मद बिन हुसेन अल-तूस्सी)। ये फारस के ज्योतिषी थे जिनकी मृत्यु १२७६ ई० में हुई। इन्होंने यूक्लिड के रेखागणित को अरबी भाषा में अनुवाद किया था। इस प्रकार जगन्नाथ ने नसीर के ही दोनों ग्रन्थों का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया जिनमें से एक का विषय है ज्योतिष और दूसरे का रेखागणित। रेखागणित अरबी ग्रन्थ का अनुवाद अवश्य है परन्तु ग्रन्थ में मौलिकता कम नहीं है। जगन्नाथ सम्राट् स्वयं बड़े गणितज्ञ के और इसलिए इन्होंने अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एक ही प्रमेय को सिद्ध करने के लिए दी हैं। शुल्ब सूत्रों के ऊपर दिये गये वर्णन से स्पष्ट है कि रेखागणित का उदय सर्वप्रथम भारतवर्ष के मनीषियों के द्वारा किया गया। आर्यभट तथा उनके बाद के गणितज्ञों ने अपने ग्रन्थों में ज्यामिति-सम्बन्धी क्षेत्रों का उपयोग खूब किया है। परन्तु अर्वाचीन रेखागणित की आवश्यकता मध्ययुग में अवश्य प्रतीत होती थी। इसकी यथार्थ पूर्ति जगन्नाथ सम्राट् ने की। और इसलिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

हयत

हयत नामक ग्रन्थ अरबी ज्योतिष के किसी फारसी ग्रन्थ का संस्कृतानुवाद है अथवा अरबी ज्योतिष के विभिन्न ग्रन्थों के अनुशीलन पर अवलम्बित एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। 'हयत' शब्द साक्षात् अरबी का है, जिसका अर्थ होता है आकाशचारी ग्रहनक्षत्रादि पिण्ड। फलतः उन पिण्डों के गति, मान आदि से सम्बद्ध ग्रन्थ को उस नाम से अभिहित करना यथार्थ है। ग्रन्थकार के देश और काल अनुमानतः ज्ञात हो सकते हैं। ग्रन्थ के अन्तरंग परीक्षण से प्रतीत होता है कि इसकी रचना वाराणसी में ही हुई है।

ग्रन्थ में चार अध्याय है—(१) संज्ञाध्याय, (२) गोलाध्याय, (३) भूगोलाध्याय तथा (४) प्रकीर्णक। संज्ञाध्याय में ज्योतिष की तथा भूगोल की प्रख्यात अरबी पारिभाषिकी संज्ञायों का संस्कृत में लक्षण दिया गया है। समग्र ग्रन्थ संस्कृत गद्य में है। जैसे—

यदि कोणा न्यूनाधिकाश्च स्युः, तदा अधिक कोणो 'मुनफरजे' संज्ञः न्यूनकोणो 'हाद्दे' संज्ञः।

---

१. द्रष्टव्य के० पी० त्रिवेदी की अंग्रेजी भूमिका पृ० ३७—३९।

अर्थात् अधिक कोण की संज्ञा 'मुनफरजै' है तथा न्यूनकोण की हाद्दे। एक बार व्याख्यात हो जाने पर ग्रन्थकार अगले अध्यायों में उन्हीं संज्ञायों का प्रयोग करता है।

दूसरे अध्याय में वृहद्वृत्त, लघुवृत्त तथा चापका निरूपण, नक्षत्र ग्रहों की गोलगति, सूर्यादि का गोल-स्वरूप, ग्रहों की तथा तद्सम्बन्ध शरों की व्यवस्था, आदि विषयों का विधिवत् प्रतिपादन है। ग्रहस्पष्टीकरण की विधि, अयनांश का संस्कार, क्रान्तिवृत्तीय ग्रहस्थान—आदि की वर्णन ज्योतिष की विचार दृष्टि से इस अध्याय को विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

भूगोल के प्रकरण में भूगोल के विभिन्न विभागस्थ देशों की आकृति तथा निवासियों का वर्णन उपलब्ध होता है। आरम्भ में ग्रंथकार का कथन है कि पृथ्वी गोलाकार है, उसका सतह बाहुल्येन जल से आवृत है, चतुर्थ भाग से न्यून ही भूमि वसति के योग्य है। जिस चतुर्थांश में मनुष्य रहते है, उसका नाम 'रूबैम-सकून' है। इसी प्रकार दिन के आरम्भ विषयक विभिन्न सिद्धान्तों का भी विवरण दिया गया है। प्रसिद्ध संवत्सर चार प्रकार के बतलाये गये हैं—हिजरी, फ़ुरसी, रूमी (ईशवीय) तथा मलकी। इनके अनुसार मासों के नाम, मासों की दिनसंख्या तथा वर्षों के दिन निर्दिष्ट किये गये हैं।

प्रकीर्णक अध्याय सबसे छोटा है। इसमें पृथ्वी के व्यास तथा परिधि, तथा भूपृष्ठ का संख्यात्मक मान दिया गया है। अन्त में किबलै साधन दिशा का ज्ञान बतलाया गया है! मक्का नगर की दिशा का पता लगाने की विधि बतला कर ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

ग्रन्थ[1] का वैशिष्ट्य—ग्रहों की गति के वर्णन प्रसंग में गोल स्थिति का वर्णन, तथा ग्रहों का गतिविज्ञान चित्र के समान स्पष्ट उपस्थित किया गया है। यहाँ गोल की स्थितियों का विशद तथा रोचक वर्णन भारतीय ज्योतिष की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। इस वर्णन से ग्रह-गति का ज्ञान सुखपूर्वक किया जा सकता है। चन्द्र की सूक्ष्मगति के निरूपण के लिए गोलचतुष्टय की कल्पना, बुधगति की सूक्ष्म विवेचना के निमित्त भी गोलचतुष्टय की कल्पना भारतीय ज्योतिष में नहीं मिलती। भूगोलाध्याय में विभिन्न स्थानों में गोल के स्वरूप का वर्णन अतीव चमत्कारी है। अरबी ज्योतिष मूलतः यवन ज्योतिषी टालेमी की गणना के आधार पर ही प्रवृत्त होता है, परन्तु उसमें अनेकत्र

---

१. सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (सं० ९६) में प्रकाशित। प्र० अनुसन्धान विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १०२४ वि० सं०; सम्पादक विभूतिभूषण भट्टाचार्य, ग्रन्थाध्यक्ष सरस्वती भवन। सरस्वती भवन की तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित यह संस्करण सम्पादक के विशद पाण्डित्य तथा अश्रान्त परिश्रम का द्योतक है।

मौलिकता विराजमान है। अरब ज्योतिषियों ने स्वयं ग्रहों का वेध कर जो परिणाम निकाला है, वह नितान्त सूक्ष्म है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अरबी ज्योतिष की मौलिकता का भी परिचय आलोचकों को भलीभाँति लग सकता है। इस ग्रंथ के अन्तिम अध्याय में (पृ० १३५–१३६ पर) शुल्बसूत्रों में व्याख्यात प्रसिद्ध दिक्साधन पद्धति अंगीकृत की गई है। इस रीति के अनुसार अंकनीय वृत्त की संज्ञा 'दायरै हिन्दी' या 'दायरै हिन्दसी' दी गई है। यह नाम इस तथ्य का प्रमापक है कि अरब की दिक्साधन पद्धति भारतीय ज्योतिष से उद्भूत है तथा यवन ज्योतिष में उस प्रकार की किसी पद्धति का अभाव भी इससे सद्यः उद्घोषित होता है। फलतः अरबी तथा भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों की पुंखानुपंख तुलना करने के लिए इस ग्रंथ का अनुशीलन नितान्त उपादेय तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

ग्रन्थ का देशकाल

ग्रंथकार ने इस ग्रंथ में कहीं भी न तो अपने नाम का संकेत किया है, न ग्रंथ रचना स्थल का ही और न रचना काल का ही। ग्रंथ के अन्तरंग अनुशीलन से इसका यत्किञ्चित् परिचय दिया जा सकता है। अनेक वर्णनों से पता चलता है कि रचयिता काशी का निवासी था। ग्रंथ में अक्षांश-चर्चा के समय लेखक काशी के अक्षांश की चर्चा करता है, भारत के किसी भी अन्य स्थान के नहीं। लंका की तुलना में सूर्य के उदयास्त का विवरण काशी नगरी से ही दिया गया है। इस विवरण के पढ़ने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ग्रंथकार काशी में बैठकर इस ग्रंथ का प्रणयन कर रहा है।[1] इसका रचनाकाल भी अनुमानतः सिद्ध किया जा सकता है। एक स्थान पर (पृष्ठ ६९) ११७८ हिजरी वर्ष में अयनांश का ज्ञान बतलाया गया है। इस वर्ष में समस्त ग्रहों का अयनांश विधिवत् वेध द्वारा अनुभव कर लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथ का रचना-काल ११७८ हिजरी वर्ष है[2] (अर्थात् १७६४ ई०)। यह ग्रंथ सवाई

---

१. द्रष्टव्य हयत पृष्ठ २२।

२. हिजरी वर्ष को ईस्वी सन् में परिवर्तन करने की सरल विधि इस प्रकार है। हिजरी वर्ष में २ से गुणाकर ६५ से भाग दे। पूर्ण संख्या को जो भजन-फल-रूप में उपलब्ध होती है हिजरी वर्ष से घटावे और तदनन्तर ६२२ जोड़े, प्राप्त फल ही ईस्वी वर्ष होगा। हिजरी वर्ष के चान्द्रमास होने के कारण वर्ष के दिन ३५४ ही होते हैं। इसी से यह वैषम्य है।

$$\frac{११७८ \times २}{६५} = ३६ \text{।} (११७८ - ३६) + ६२२ = १७६४ \text{ ई०}$$

जयसिंह द्वितीय के द्वारा आरब्ध परम्परा को अग्रसर करता है और उसकी मृत्यु के २५ वर्षों के भीतर ही निर्मित हुआ है।

ग्रंथकार भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का भी प्रकृष्ट विद्वान् है साथ ही साथ अरबी ज्योतिष का तथा फारसी भाषा का भी। इस ग्रन्थ का प्रणयन भारतीय पण्डितों के कालज्ञान का पर्याप्त सूचक है। मुसलमानों के समय में अरबी ज्योतिष का ज्ञान नितान्त आवश्यक होने के कारण संस्कृतज्ञ पण्डितों को इस विषय का पूर्ण परिचय देने के लिए ही इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इस पद्धति का अनुसरण कर आधुनिक ज्योतिषियों को भी यूरोपीय ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का परिचय संस्कृत के माध्यम से करना नितान्त समुचित है। इस ओर हमारे विज्ञ दैवज्ञों को ध्यान देना चाहिये।

उकरा

इस ग्रंथ का प्रकाशन अरबी ज्योतिष के संस्कृत अनुवाद की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण श्रृंखला है। हयत के समान इस ग्रन्थ के मूल लेखक तथा अनुवादक अज्ञात नहीं हैं, प्रत्युत ग्रन्थ के आरम्भ में इन तथ्यों का ग्रंथकार द्वारा ही उल्लेख है। ग्रंथ के आरम्भ तथा ग्रंथान्त की पुष्पिका से पता चलता है कि इसके मूल लेखक का नाम सावजूसयूस था। यह पुस्तक मूलतः यूनानी भाषा में लिखी गई थी जिसका अरबी में अनुवाद किया अबुल अब्बरस अहमद की आज्ञा से कुस्ताविनी लूका बालवक्की-संज्ञक लेखक ने और संस्कार किया साबित् विनिकुर्स नामक विद्वान् ने। नसीर तूसी ने इस पर टीका लिखी। नयन-सुखोपाध्याय ने इस अरबी ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद किया। इस ग्रंथ के दो हस्तलेख काशी से प्राप्त हुये हैं और 'सरस्वती भवन' (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का पुस्तकालय) में सुरक्षित है।[1] एक प्रति का लेखन-काल १८५९ संवत् है (= १८०२ ई०)। फलतः ग्रन्थ की रचना १८वीं शती के उत्तरार्ध से कथमपि पश्चात्-कालीन नहीं हो सकती।

ऊपर दिये गये विवरण से मूल ग्रन्थ के अनुवाद तथा व्याख्यान का भलीभाँति परिचय मिलता है मूल ग्रन्थ के टीकाकार नसीरतूसी एक विख्यात फारस देशीय ज्योतिर्विद् थे जो १३वीं शती के उत्तरार्ध में जीवित थे (१२७६ ई०)। वे अपने युग के एक वरिष्ठ ज्योतिषी थे। इन्होंने टालेमी के यूनानी ग्रन्थ 'सिनटैक्सिस' की आलोचना लिखी, टालेमीय सिद्धान्तों में उन्होंने अपनी अरुचि दिखलाई और अपने स्वतन्त्र मत के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रणयन कर अरबी ज्योतिष को वैज्ञानिक

---

१. इन्हीं प्रतियों के आधार पर यह संस्कृत ग्रन्थ श्री विभूति भूषण भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है. (१९६८)

आधार पर प्रतिष्ठित किया।[१] इनके द्वारा टीका-प्रणयन से मूल ग्रन्थ का रचनाकाल १३वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। उससे प्राचीन होगा उसका अरबी मूल और उससे भी प्राचीनतर होना चाहिये उसके यूनानी मूल ग्रन्थ को। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुवाद-पुनरनुवाद की एक लम्बी परम्परा हमारे सामने आती है। संस्कृत उकरा ग्रन्थ के अनुवादक नयनसुखोपाध्याय भी महाराज जयसिंह के प्रभावक्षेत्र के बहिर्मुख नहीं प्रतीत होते। मेरी दृष्टि में यह प्रति नयनसुखोपाध्याय के समय से बहुत पीछे की नहीं प्रतीत होती है। अतएव जयसिंह (मृत्युकाल १७४३ ई०) के कुछ ही समय बाद इस ग्रन्थ का प्रणयन काशी में हुआ—यह तथ्य मानना अनुचित नहीं है।

उकरा नाम मूल अरबी ग्रन्थ का प्रतीत होता है जिसे अनुवादक महोदय ने संस्कृत अनुवाद में ज्यों का त्यों रख लिया है। इसमें तीन अध्याय हैं और सब मिलाकर ५९ क्षेत्र हैं। प्रथम अध्याय में २२ क्षेत्र हैं। अध्याय के आरम्भ में परिभाषायें दी गई हैं। तदनन्तर क्षेत्रों का वर्णन है। प्रति-क्षेत्र के वर्णन में प्रथमतः साध्यनिर्देश है, तदनन्तर क्षेत्र की निर्माण-विधि तथा उपपत्ति दी गई है। अन्त में उससे सिद्ध किया गया तथ्य प्रतिपादित है। सर्वत्र यही रीति है। द्वितीय अध्याय में २३ क्षेत्रों का विवरण पूर्वोक्त शैली से दिया गया है। तृतीय अध्याय में १४ क्षेत्रों का वर्णन यथाविधि किया गया है। समग्र ग्रन्थ गोलीय रेखागणित का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अनुशीलन से अरबी ज्योतिष के अनेक तथ्यों का यथावत् परिचय संस्कृतज्ञ ज्योतिर्विदों को हो सकता है। और इसी महनीय उद्देश्य की पूर्ति इस अनुवाद के मूल में कार्य कर रही है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इसके प्रकाशन से एक विशेष अभाव की पूर्ति निःसन्देह हो सकेगी।

प्राचीन फ़ारसी तथा अरबी में संस्कृत ज्योतिष

प्राचीन पारसीक देश पर ससानियन वंश का राज्य था और इस वंश के शासक बड़े विद्याप्रेमी तथा विद्वानों के गुणग्राही थे। ऐसे राजाओं में तृतीय शती में विद्यमान राजा अर्दशीर प्रथम तथा राजा शापूर प्रथम के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

---

१. इनके ज्योतिष-सम्बन्धी कार्यों के लिए द्रष्टव्य डा० सत्यप्रकाश रचित ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० ३३–३८ (प्रकाशक इण्डियन इन्सिच्यूट आफ ऐस्ट्रॉनौमिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली, १९६६)।

आगे चलकर इसी वंश में षष्ठ शती में खुसरो अनूशीरवान का नाम विद्याप्रेम के तथा न्यायशीलता के कारण विशेष महत्त्व रखता है और इसीलिए वे 'न्यायी नौशेरवाँ' के नाम से जनसाधारण में प्रख्यात हैं। इस प्राचीन काल में भी भारतीय ज्योतिष का प्रभाव इस देश की ज्योतिर्विद्या पर पड़ा—यह नितान्त महत्त्व की घटना है।

ससान वंश के काल का पहलवी (प्राचीन फारसी) में रचित कोई भी ज्योतिष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु उस युग में इन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता पिछले युग के ग्रन्थों के साक्ष्य पर चलता है। नवम शती का पहलवी डेनकार्ट नामक ग्रन्थ सप्रमाण बतलाया है कि तृतीय शती में अर्दशीर प्रथम तथा शापूर प्रथम ने यूनानी तथा भारतीय ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों का पहलेवी में अनुवाद कराया और ये अनुवाद ग्रन्थ षष्ठ शती में खुसरो अनूशीरवान के समय में पुनः संशोधित किये गये। फारस के प्रख्यात बादशाह हारूँ-अल-रशीद के पुस्तकालय के एक अधिकारी सह्ल इब्न नौबख्त का कथन है कि बादशाह अर्दशीर तथा शापूर के शासनकाल में यूनानी ज्योतिष ग्रन्थों के साथ 'फ्रमस्प' नामक किसी भारतीय ज्योतिर्विद् के ग्रन्थ का भी अनुवाद पहलवी में कराया गया था और अनूशीरवान के समय तक सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थों का अनुवाद कार्य चलता रहा। यह तो हुई तृतीय शती की बात।

पञ्चमशती के मध्य में ४५० ई० के लगभग पहलवी में ज्योतिष के मौलिक ग्रन्थ का निर्माण हुआ जिसकी काल-गणना विष्णुधर्मोत्तर पुराण के पैतामह सिद्धान्त के नियमों के अनुसार की गई। बादशाह की आज्ञा से जो ग्रहसारणी प्रस्तुत की गई उसका फारसी नाम है जीज-अल-शाह (राजकीय सारणी)। इसका निर्माण षष्ठ शती से पूर्व कभी उस देश में किया जा चुका था। परन्तु ५५६ ईस्वी में खुसरो अनूशीरवान ने पता चलाया कि वह सारणी अपर्याप्त है और अपने ज्योतिषियों को आदेश दिया कि वे उसमें सुधार कर उसे पूर्ण करें। बसरा शहर के निवासी फारसी यहूदी माशा-अल्लाह (आविर्भाव ७५० ई० से ८१५ ई० का मध्यकाल) के कथन को आधार मान कर अलहाशिमी नामक लेखक (समय ८७५ ई०) ने लिखा है कि नौशेरवाँ ने अपने ज्योतिषियों को अलमजेस्त और अरकन्द की सहायता से ग्रह-सारिणी के शोधन के लिए आदेश दिया। उन लोगों ने अरकन्द को ही अधिक पसन्द किया और उसी के आधार पर संशोधन कर जीज अलशाह का एक नवीन सुसंस्कृत परिशोधित संस्करण तैयार किया।

ये दोनों ग्रन्थ दो पद्धतियों के आधार पर निर्मित किये गये थे। अलमजेस्त का अनुवाद तो पहलवी में तृतीयशती में ही हो चुका था। और पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि षष्ठ शती में अर्कन्द भी पहलवी में विद्यमान था। परन्तु अर्कन्द क्या है? यह एक विषम पहेली है। यह किसी भारतीय ज्योतिष ग्रन्थ का अनुवाद प्रतीत

होता है। कुछ विद्वान् अर्कन्द को ब्रह्मगुप्त के प्रख्यात ग्रन्थ 'खण्ड खाद्यक' का फारसी अनुवाद बतलाते हैं। दोनों ग्रन्थों में प्रतिपाद्य तथ्यों की समता है अवश्य, परन्तु कालबाधित होने से इस कथन पर आस्था नहीं की जा सकती। ब्रह्मगुप्त ने ५५६ ई० से लगभग एक शताब्दी बाद ठीक ६६५ ई० में अपना 'खण्ड-खाद्यक' रचा। फलतः दोनों ग्रन्थों में ऐक्य स्थापित करना असम्भव है। परन्तु आर्यभट के आर्धरात्रिक सिद्धान्त में वे ही प्राचल (पारामीटर) विद्यमान हैं। ये आर्यभट खुसरो के द्वारा ज्योतिर्विदों की मण्डली एकत्र किये जाने के अर्धशताब्दी पूर्व ही वर्तमान थे। इसलिए एक विद्वान् की सम्मति है कि अर्कन्द शब्द संस्कृत शब्द अहर्गण का पहलवी अपभ्रंश है। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ का उसे द्योतक मानना यथार्थ नहीं है।

जीज-अल-शाह (राजकीय सारिणी) पहलवी भाषा में लिखी गई थी जिसका अन्तिम संशोधन राजा यज्दिजिर्द तृतीय के समय में किया गया, जिसने ६३२ ई० से लेकर ६५२ ई० राज्य किया। इस पहलवी ग्रन्थ का अनुवाद हारूँ-अल-रशीद के राज्यकाल में अल-तामीमी नामक विद्वान् ने अरबी में किया, परन्तु इसका पूरी प्रति उपलब्ध नहीं होती। अल-हाशोमी तथा अल-बीरूनी के ग्रन्थों में विशेषतः इसके कुछ अंश मिलते हैं। इसके परीक्षण से पता चलता है कि इसने अर्कन्द में दिये गये प्राचल का उपयोग किया है। जीज-अल-शाह के ये उपलब्ध अंश भी बड़े महत्त्व के हैं जिनमें आकाशपिण्डों की गति, सूर्य तथा चन्द्र के ग्रहण, आदि की गणना बड़ी सत्यता से दी गई है। यह ग्रन्थ 'कर्दज' शब्द के प्रयोग करने का अभ्यासी है। यह शब्द वस्तुतः संस्कृत शब्द 'क्रमज्या' का ही विकृत रूप है। क्रमज्या का उपयोग पौलिश सिद्धान्त से गृहीत होने का उल्लेख वराहमिहिर ने किया है। 'कर्दजों' का इस्लामी ज्योतिष पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है विशेष करके स्पेन में, जहाँ से ये १२ शती में यूरोप में प्रचलित हो गये।

ससानवंशीय प्राचीन फारस में भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का ही प्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत भारतीय फलित ज्योतिष का भी। प्रथम शती ईस्वी में सिडोन के निवासी डोरोथिअस ने ज्योतिष के विषय में कविताबद्ध पोथी लिखी। यद्यपि यह मूल यूनानी भाषा में उपलब्ध नहीं होती, परन्तु इसका प्रभाव पिछले युग के ज्योतिर्विदों पर विशेष रूप से पड़ा। तृतीय शती में इसका अनुवाद पहलवी में हुआ और इसी अनुवाद का अरबी भाषा में अनुवाद किया फारसी विद्वान् उमर इब्न अल-फर्रुखान अल-तबरी ने। यह अरबी अनुवाद उपलब्ध है और इसके परीक्षण से पता चलता है कि फारसी संस्करण के निर्माता विद्वान् ने भारतीय ज्योतिष की बहुत-सी उपादेय सामग्री का उपयोग इस संस्करण के लिए किया है, विशेषतः नवांश विषयक सिद्धान्त का। यह घटना ४०० ईस्वी के आसपास की है। यह निश्चित

प्रमाण है कि प्राचीन फारस के ज्योतिर्विदों को भारतीय ज्योतिष के कुण्डलीविज्ञान का पूरा-पूरा पता था और कुण्डली बनाने की विद्या उन लोगों ने भारतीयों से सीखी थी। एक विद्वान् का कथन है कि नवम शती में अरबी ज्योतिषियों ने, विशेषत: अल-कश्रानी और अल-सैमारी ने भारतीय ज्योतिष की जो विपुल सामग्री अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की है, वह प्राचीन फारस के द्वारा ही उन्हें प्राप्त हुई थी।

सिन्दहिन्द की रचना

अब अरबी ज्योतिष के ऊपर भारतीय ज्योतिष के प्रभाव का निरीक्षण करें। खुसरो अनूशीरवान तथा यज्दिजिर्द तृतीय के शासन काल में प्रस्तुत किये गये जीज-अल-शाह के अरबी संस्करण के द्वारा अष्टम शती के अन्त में अरब लोगों को भारतीय ज्योतिर्विद्या से परिचय प्राप्त हो गया। परन्तु अरब लोगों ने साक्षात् रूप से भारतीयों से सम्पर्क में आकर इस विद्या का प्रभूत ज्ञान प्राप्त किया। दशम शती के आरम्भ में उत्पन्न इब्न अल-अदमी नामक अरबी ज्योतिषी ने लिखा है कि बगदाद के शासक अलमंसूर के दरबार में एक अज्ञातनामा ज्योतिषी भारत से आया और फ़ज़ारी तथा याकूब-इब्न-तारीक नामक ज्योतिर्विदों के साहाय्य से सिन्दहिन्द नामक ग्रन्थ का अनुवाद प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के केवल खण्ड ही मिलते हैं, परन्तु उतने अंश के परीक्षण से भी उसमें भारतीय ज्योतिष प्रक्रिया का ज्ञान उपलब्ध होता है। सिन्द-हिन्द के वर्ण्यविषयों का प्रचुर ज्ञान अल-ख्वारिज्मी के द्वारा ८३० ई० के आसपास लिखित जीज (सारिणी) से होता है। आजकल इसके विषय का ज्ञान हमें अनुवादों की सहायता से यथार्थतः होता है। तोलेदान अल-मज्रीती नामक विद्वान् ने दशम शती के अन्त में मूल अरबी के जीज का संशोधित संस्करण निकाला जिसका १२ शती के आरम्भ में बाथ के अडेलार्ड नामक विद्वान् ने लातिनी भाषा में अनुवाद किया। इस लैटिन अनुवाद के परीक्षण से स्पष्ट है कि स्थान-स्थान पर परिवर्तन तथा संशोधन होने पर भी सिन्दहिन्द का संस्कृत मूल ब्रह्मगुप्त विरचित ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त ही है। अल-ख्वारिज्मी के मूल ग्रन्थ पर टीका का प्रणयन ८७५ ई० के आसपास किया गया। काहिरा के पुस्तकालय में उपलब्ध इस टीका का हस्तलेख जब प्रकाशित होगा, तब इस ग्रन्थ के विषय में अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा।

नवमशती के अरबी ग्रन्थों में अर्जभर (या आर्यभट) का नाम प्रायः उल्लिखित मिलता है, परन्तु उनके सम्प्रदाय के तथ्यों का पता नहीं चलता। इससे यह सन्दिग्ध है कि इनके ग्रन्थ का अनुवाद अरबी में हो गया था अथवा यह केवल नाम से परिचित था। परन्तु इतना निश्चित है कि जीज-अल्-शाह के पिछले दो संस्करण (अरकन्द के ऊपर आधारित) तथा सिन्दहिन्द (ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त पर आश्रित)—ये ही

दोनों ग्रन्थ अरब लोगों के आकाशीय गणित के ऊपर निर्मित प्रथम ग्रन्थ हैं जो अरबों के ज्योतिष विषयक परिचय के पर्याप्त सूचक हैं। अल्-मा-मून के शासन काल में अलमेजेस्त का अनुवाद यूनानी भाषा से सीधे तौर पर अरबी में किया गया और भारतीय ज्योतिष का प्रभाव अब धीरे-धीरे अरब से कम होने लगा। अरबों ने दार्शनिक क्षेत्र में अरस्तू तथा प्लोटिनस के सिद्धान्तों को अपनाया और अब उन्हें भारतीय सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा कम हो चली, परन्तु केवल स्पेन में सिन्दहिन्द का प्रभाव १२वीं शती तक चलता रहा और यह प्रभाव इतना सुदीर्घकालीन तथा व्यापक था कि यूरोप में लैटिन भाषा में लिखित ज्योतिष का प्रथम गम्भीर ग्रन्थ ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के अनुवाद के संशोधित संस्करण का केवल अनुवाद ही था और इस प्रकार भारतीय ज्योतिष की विद्या सिन्दहिन्द के इस परोक्ष अनुवाद के द्वारा समग्र यूरोप में व्याप्त हो गयी।

फलित ज्योतिष का प्रभाव

भारत के सिद्धान्त ज्योतिष के साथ ही साथ फलित ज्योतिष का भी प्रभाव अरब के ज्योतिषियों पर पड़ा। भारतीय फलित की बहुत सी बातें पहलवी के द्वारा अरबवासियों को प्राप्त हुई थीं, क्योंकि पहलवी भाषा में भारतीय फलित के अनेक सिद्धान्त निबद्ध पाये जाते हैं। परन्तु फलित ज्योतिष के विषय में अरब को भी भारत से साक्षात् सम्पर्क की कमी नहीं थी। कनक नामक एक दैवज्ञ के भारत से बगदाद में जाने तथा हारूँ-अल-रशीद के दरबारी ज्योतिषियों में अन्यतम होने का उल्लेख मिलता है। बहुत सम्भव है कि यह कनक दैवज्ञ वही कनकाचार्य हैं जिनके वियोनि-जन्म-विषयक मत का उल्लेख कल्याणवर्मा ने अपने ग्रन्थ 'सारावली' में किया है।[1] कनक के समस्त ग्रन्थों की तो उपलब्धि नहीं होती, परन्तु उनके कुछ अंश इब्न हिबिन्ता के द्वारा तथा अन्य स्रोतों से आज भी उपलभ्य हैं। नवम शती के आरम्भ में अनेक अरबी ग्रन्थों में भारतीय फलित दैवज्ञों के नाम मिलते हैं। इनके विचित्र अरबी नामों में एक ऋषि का, एक राजा का तथा एक जिन का नाम मिलता है जो निश्चयेन भारतीय फलित ज्योतिषियों के नामों के संकेत हैं। अरब वालों ने भारत के फलित ज्योतिष को, सिद्धान्त ज्योतिष के समान ही, बाइजेन्टियम तथा पश्चिम लैटिन देशों को धरोहर के रूप में दिया। ११वीं शती में एल्यूथिनस जेबेलेनुस् नामक ज्योतिषी ने चार खण्डों में पूरबी यूनानी भाषा में एक विशाल ग्रन्थ का

---

१. दैवविदां प्रीतिकरं विश्वसनीयं समस्त लोकस्य।
कनकाचार्यस्य मताद् वियोनि-संज्ञं प्रवक्ष्यामि॥
सारावली, १ श्लोक ५५ अ०, काशी सं० १९५२।

संकलन किया जो अखमत् नामक किसी फारसी के ग्रन्थ का अनुवाद कहा जाता है। इस ग्रन्थ के प्रति पृष्ठ पर भारतीय फलित का भूरिशः प्रभाव पदे पदे लक्षित होता है।

नवम शती का सबसे बड़ा अरबी फलित ज्योतिषी था आबू मशहर अल-बल्खी। इसने अपने ग्रन्थों में भारतीय, फारसी तथा यूनानी ज्योतिष की परम्पराओं को एक सूत्र में समन्वित कर बाँधने का श्लाघनीय प्रयास किया है। उसने भारतीय फलित के सिद्धान्तों को प्राप्त किया फारसी स्रोतों से, कनक के समान दैवज्ञों से तथा सम्भवतः अपने व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा भी। वह भारत के राजाओं के सम्पर्क में सम्भवतः आया था, क्योंकि उसके शिष्य शाहदान के मधूकरात से पता चलता है कि उसने किसी भारतीय नरेश के पुत्र की कुण्डली ८२६ ई० में तैयार की थी। उसके ग्रन्थों में पूर्वोक्त तीनों सम्प्रदायों की मूल बातें एकत्र सम्मिलित की गई हैं। ग्रहों की गति का मध्यमान उसने ग्रहण किया सिन्दहिन्द से, जो ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ है। उसने युगसिद्धान्त के आधार पर गणना की और तीन लाख ६० हजार वर्षों का युगमान माना। ग्रहों का समीकरण उसने फारसी जीज-अल्-शाह (राजकीय सारणी) से लिया और हम देख चुके हैं कि यह सारणी अर्कन्द के ऊपर आधारित है। इस प्रकार अनेक ज्यौतिष सम्प्रदायों का एकत्रीकरण कर उनमें परस्पर सन्तुलन बैठाना इस वरिष्ठ ज्योतिषी का ही महनीय कार्य है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भारतीय सिद्धान्त तथा भारतीय फलित—उभय प्रकार के ज्योतिष ने ससानवंशीय ईरान के ऊपर तथा आरम्भिक इस्लाम पर अपना अमिट प्रभाव डाला। यह तो अभी तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ है। आज भी संस्कृत, ग्रीक, फारसी, अरबी तथा लैटिन भाषा में हजारों हस्तलेख पड़े हैं जिनके अध्ययन से इस विषम समस्या का समाधान भली भाँति निकाला जा सकता है।[1]

---

१. विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य डा० डेविड पिंग्रे का एतद्विषयक गवेषणात्मक निबन्ध (जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, खण्ड ३३, १९६८ ई०; पृष्ठ १—८)। लेखक ने ऊपर निबद्ध तथ्यों के लिए इसी ग्रन्थकार को प्रमाणभूत माना है जिनका इस विषय का शोध नितान्त स्तुत्य है।

तृतीय परिच्छेद

साहित्यशास्त्र
का
इतिहास

विना न साहित्यविदा परत्र
गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः॥

—मङ्खक

उपकारकत्वात् अलङ्कारः सप्तममङ्गम्।
ऋते च तत्स्वरूप-परिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः।

—राजशेखर

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुभगं भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयतात्॥

—अभिनवगुप्त

तृतीय परिच्छेद

साहित्यशास्त्र का इतिहास

भारतवर्ष का यह सुन्दर देश सदा से प्रकृति-नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति-देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा का निकेतन बनाया है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभामय है। इसका बाहरी रूप कितना सुन्दर है—उत्तर में हिम से आच्छादित हिमकिरीटी हिमालय है, जिसकी शुभ्र शिखर-श्रेणी सौन्दर्य का मूर्तिमान् अवतार है। दक्षिण में नीलआभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चपल लहरियाँ इसके चरण-युगल को धोकर निरन्तर शोभा का विस्तार करती हैं। पश्चिम में अरब का प्रभामण्डित अर्णव और पूरब में श्यामल वंगाल की खाड़ी। मध्य देश में बहती हैं गंगा-यमुना की विमल धाराएँ। इस बाह्य रूप के समान ही इसका अभ्यन्तर भी सुन्दर तथा अभिराम है। इसे ललित कला तथा कमनीय कविता की जन्मभू म मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन काल में कोमल कविता का उद्‌गम इसी भारत-भूतल पर सम्पन्न हुआ।

नामकरण

आलोचनाशास्त्र की उत्पत्ति इस देश में अपेक्षाकृत प्राचीन समय में हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। आलोचना-शास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है—**अलंकारशास्त्र**। साहित्यशास्त्र भी इसी का अभिधान है, परन्तु कालक्रम से इसकी उत्पत्ति मध्ययुगीन तथा अवान्तर-कालीन है। 'अलंकारशास्त्र' नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है जब अलंकार का तत्त्व काव्यमयी अभिव्यंजना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलंकार-युग हमारे शास्त्र के आद्य आचार्य भामह से भी प्राचीनतर है तथा वह उद्भट, वामन तथा रुद्रट के समय तक विद्यमान था। इन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम से इसका पूरा परिचय मिलता है। भामह के ग्रन्थ का नाम है—काव्यालंकार। इसके टीकाकार उद्भट के ग्रन्थ का अभिधान है—काव्यालंकार-सार-संग्रह। वामन तथा रुद्रट के ग्रन्थों का नाम भी इसी शैली पर 'काव्यालंकार' है। दण्डी के ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' अलंकार के तत्त्व पर आश्रित नहीं है; फिर भी, दण्डी 'अलंकार'

को काव्य में आवश्यक उपकरण मानने में इन सब आचार्यों में अप्रतिम हैं। साहित्य-शास्त्र के आरम्भयुग में 'अलंकार' ही कविता का सबसे अधिक महत्त्वशाली उपकरण माना जाता था। अलंकारयुग इस शास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलंकार की गहरी मीमांसा करने से एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, तो दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के द्वारा काव्य में प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न 'ध्वनि' के सिद्धान्त का भी उद्गम हुआ। 'वक्रोक्ति' तो अलंकार-युग की ही देन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीलिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' को 'काव्यालंकार' के नाम से अभिहित किया है[1]। कुमारस्वामी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण आदि विषयों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य-दृष्टि से ही इस शास्त्र का 'अलंकारशास्त्र' अभिधान युक्तियुक्त है[2]। इस आलोचनाशास्त्र में विवेच्य विषय तो अनेक हैं—रस, ध्वनि, गुण, दोष आदि; परन्तु प्राधान्य है अलंकार का ही। और 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता के ही हेतु यह 'अलंकारशास्त्र' के नाम से प्रख्यात है।

वामन ने 'अलंकार' शब्द के अभिप्राय को और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टि में अलंकार केवल शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्य का मूलभूत तत्त्व है। वामन के लिए अलंकार सौन्दर्य का ही प्रतीक है—सौन्दर्यमलंकारः (वामन—काव्यालंकार १।१।२)। काव्य में जितने शोभाधायक तत्त्व हैं—दोषों का अभाव तथा गुणों का सद्भाव—जिनके द्वारा काव्य की विशिष्टता अन्य प्रकार के शब्दार्थों से सिद्ध होती है उन सबका सामान्य अभिधान है—अलंकार। वामन के हाथ में आकर इस शब्द ने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाने लगा।

सौन्दर्यशास्त्र

हमारे आलोचकों की सूक्ष्म गवेषणा काव्य के तत्त्वों में 'सौन्दर्य' पर जाकर टिकी थी। वे भली भाँति जानते थे कि काव्य में सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है जिसके अभाव में न तो अलंकार में अलंकारत्व रहता है और न ध्वनि में ध्वनित्व। दण्डी के शब्दों में काव्य में शोभा करने वाले धर्मों का ही नाम अलंकार है।

---

१. काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। —व० जी० १।२

२. यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकार-शास्त्रमुच्यते। —प्रतापरुद्रीय की टीका–रत्नापण, पृ० ३

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।

—काव्यादर्श २।१

यदि अलंकार में शोभाधायक गुण का अभाव हो, तो यह 'भूषण' न होकर निःसन्देह 'दूषण' बन जायगा । अभिनवगुप्त ने अलंकार के लिए चारुत्व के अतिशय को नितान्त आवश्यक माना है[1] । चारुत्व के अतिशय से विरहित अलंकार की काव्य में कोई भी उपादेयता नहीं होती । जो सोने की अँगूठी अँगुलियों की शोभा बढ़ाने में समर्थ नहीं होती, वह सर्वथा त्याज्य ही है, स्पृहणीय नहीं । अतः अलंकार का सर्वमान्य गुण है चारुत्व, सौन्दर्य ।

भोजराज का भी यही मत है । उन्होंने दण्डी के मत का अनुसरण कर 'काव्यशोभाकरत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण माना है । और 'धूमोऽयमग्नेः' (अग्नि के कारण यह धूम है)—वाक्य किसी प्रकार के सौन्दर्य के अभाव में किसी भी अलंकार का उदाहरण नहीं बन सकता; ऐसा वे मानते हैं । अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्रमीमांसा' में इसी बात पर विशेष जोर देते हुए लिखा है—

सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलंकारतां भजते । अतः 'गोसदृशो गवयः' इति नोपमा ।

—चित्रमीमांसा, पृ० ६ ।

'गाय के सदृश गवय होता है' इस वाक्य में सादृश्य होने पर भी उपमा अलंकार का इसीलिए अभाव है कि यहाँ किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है । अलंकार के लिए यह सामान्य नियम है कि वह हृदयावर्जक होता हुआ काव्य की शोभा का विधायक ही होता है ।

अलङ्कार के लिए ही इस आवश्यक उपकरण की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत ध्वनि के लिए भी । किसी काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सद्भाव ही 'ध्वनि' के लिए पर्याप्त नहीं होता, प्रत्युत उसे सुन्दर भी होना ही चाहिए । असुन्दर प्रतीयमान अर्थ से 'ध्वनि' का उदय कभी नहीं होता । अभिनवगुप्त का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण अलंकार के औचित्य से सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ

---

१. तथा जातीयानामिति । चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः । सुलभिता इति यत् क्लिष्टैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम् । उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति......एवमन्यत् । न चैवमादि काव्योपयोगीति ।

—लोचन, पृ० २१०

शरीरवाले वाक्य को काव्य की पदवी दी जाती है[1]। इसलिए ध्वनन व्यापार होने पर 'ध्वनि' सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनि के लिए केवल ध्वनन व्यापार की ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य-मण्डित होने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अभिनवगुप्त की उक्ति नितान्त स्पष्ट है—

तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः। (लोचन, पृ० २८)

इसलिए अभिनवगुप्त का यह परिनिष्ठित मत है—सौन्दर्य ही काव्य की, कला की, आत्मा है—

यथोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अंगीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति—(लोचन, पृ० ३३)।

इस अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों को हटाकर. अन्तस्तल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे जब तक उसमें 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्यतत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरंग से अपरिचित ही विद्वान् यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह केवल बहिरंग की समीक्षा को ही अपना सर्वस्व मानता है तथा अलंकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभांतत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है। परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है।

सौन्दर्य को अत्यन्त महत्त्वशाली मानने पर भी हमारा शास्त्र 'सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से अभिहित होते-होते बच गया। .ऐसा होने पर यह पाश्चात्यों के 'एस्थेटिक्स' का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला की ही द्योतना करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं (जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदि) में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत करता है। अतः दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है।

---

१. गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्य-रूपताव्यवहारः—(लोचन, पृ० १७)।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुग में हमारे शास्त्र के लिए 'साहित्यशास्त्र' का अभिधान पड़ा। सबसे प्रथम राजशेखर ने (१० शतक) इस शब्द का प्रयोग हमारे शास्त्र के लिए किया है—**पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः** (काव्यमीमांसा, पृ० ४)। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के परस्पर वैयाकरण सम्बन्ध की घटना जागरूक है। इस शब्द की उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षण से हुई। भामह का लक्षण है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** (काव्यालंकार १।१६) और साहित्य की व्युत्पत्ति है—**सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्।** आनन्दवर्धन के समय में इस शब्द की महत्ता अंगीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तक ने इस शब्द के वास्तव महत्त्वपूर्ण तात्पर्य का प्रकाशन कर इसकी महिमा का स्फुटीकरण किया। कुन्तक 'साहित्य' के अभिप्राय-प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात् इस शब्द का गौरव बढ़ने लगा और रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराज के ग्रन्थ के समधिक लोकप्रिय होने से यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार 'अलंकारशास्त्र' के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

क्रियाकल्प

इन अभिधानों की अपेक्षा इस शास्त्र का एक प्राचीनतम नाम है—**क्रियाकल्प,** जिसका उल्लेख चौंसठ कलाओं की गणना में कामशास्त्र में किया गया है। 'काव्य-क्रिया' के अनन्तर दो सहायक विद्याओं के नाम आते हैं—(१) अभिधानकोश, (२) छन्दोज्ञान। तदनन्तर क्रियाकल्प का नाम कलाओं की गणना में आता है। यह विद्या भी काव्य-विद्या से ही सम्बद्ध होनी चाहिये। और है भी यह वैसी ही। क्रियाकल्प का पूरा नाम है **काव्यक्रियाकल्प,** अर्थात् काव्यक्रिया की विधि या आलोचनाशास्त्र। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग साहित्य-ग्रन्थों में मिलता भी है। ललितविस्तर में कलाओं की गणना में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख है। कामशास्त्र की टीका जयमंगला के अनुसार इसका अर्थ है—**क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः** (अलंकारशास्त्र)। दण्डी इस नाम से परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है—

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्—(काव्यादर्श १।९)।

यहाँ 'क्रियाविधि' क्रियाकल्प का ही नामान्तर है और दण्डी के टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या इसी अर्थ में की है। रामायण के उत्तरकाण्ड में अनेक कलाओं

और विद्याओं के साथ इस शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। ९४वें अध्याय में (श्लोक ४–१०) वाल्मीकि ने लवकुश के गायन को सुननेवाले विद्वानों की चर्चा की है जो राम की सभा में उपस्थित थे। उनमें पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्व, कला-मात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दसि परिनिष्ठित लोग उपस्थित थे। इनके साथ उपस्थित थे—

"क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्" (श्लोक ७)।

व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के साथ अलंकारशास्त्र का ही निर्देश युक्ततर प्रतीत होता है। इस श्लोक में दो प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। एक तो वे हैं जो सामान्य रूप से काव्य को जानते हैं (काव्यविदः) और दूसरे वे हैं जो काव्य की समीक्षा के वेत्ता हैं। दोनों में यह सूक्ष्म अन्तर अभीष्ट है। एक तो सामान्य रूप से काव्य को समझते-बूझते हैं और दूसरे काव्य के अन्तरंग को पहचाननेवाले हैं (क्रिया-कल्पविदः)। इस व्याख्या से इस शास्त्र के नाम तथा गुण की गरिमा का पता भलीभाँति चलता है।

अतः दण्डी, वात्स्यायन तथा रामायण के साक्ष्य पर यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचना-शास्त्र का प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओं में अन्यतम कला मानी जाती थी।

शास्त्र का प्रारम्भ

भारतीय साहित्य में अलंकारशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है जिसके सिद्धान्त का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भकाल से लेकर आज तक—लगभग २००० वर्ष के सुदीर्घ काल में—होता चला आ रहा है, परन्तु इस शास्त्र का आरम्भ किस काल में हुआ ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरम्भ में इस शास्त्र के उदय की चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलंकार-ग्रंथ में अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु अब तक अज्ञात होने के कारण इस वर्णन की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत सम्भव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों, जो या तो सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखर के अनुसार काव्यमीमांसा का प्रथम उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने ६४ शिष्यों को दिया। स्वयंभू ब्रह्मा ने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं में सबसे वन्दनीय सर्व-शास्त्रवेत्ता थे, सरस्वती के पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापति ने प्रजाओं की

हितकामना से प्रेरित होकर इन्हों काव्यपुरुष को काव्य-विद्या की प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्या को अठारह अधिकरणों में लिखकर अठारह शिष्यों को अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु के द्वारा प्रदत्त विद्या के बहुल प्रचार के लिए काव्य के अठारहों अङ्गों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया[1]। सहस्राक्ष ने कविरहस्य का, उक्तिगर्भ ने औक्तिक का, सुवर्ण-नाभ ने रीतिनिर्णय का, प्रचेतायन ने अनुप्रास का, चित्राङ्गद ने यमक और चित्र का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्त्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का, पाराशर ने अतिशय का, उतथ्य ने अर्थश्लेष का, कुबेर ने उभयालंकारिक का, कामदेव ने विनोद का, भरत ने रूपक-निरूपण का, नन्दिकेश्वर ने रसाधिकारिक का, धिषण ने दोषाधिकरण का, उपमन्यु ने गुणोपादानिक का तथा कुचमार ने औपनिषदिक का स्वतन्त्र शास्त्रों में वर्णन किया।

इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) कामशास्त्र में उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किये गये हैं। (कामसूत्र १।१।१३, १७)। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को रूपक का शास्त्रकर्ता मानना उचित ही है। नन्दिकेश्वर का रसविषयक ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में उनका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ पंचसायक तथा रतिरहस्य में नन्दीश्वर कामशास्त्र के एक आचार्य माने गये हैं। अभिनय-विषयक इनका ग्रन्थ अभिनय-दर्पण के नाम से प्रसिद्ध है[2]। संगीतरत्नाकर में शाङ्गंदेव नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य मानते हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर के द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का परिचय नहीं मिलता।

वेदों में अलंकार

वैदिक साहित्य में अलंकार शास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेद के षडङ्गों में ही अलंकार शास्त्र की गणना है, परन्तु इस शास्त्र के मूलभूत अलंकार उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलंकारों में उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है।

---

१. राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० १।

२. 'अभिनय-दर्पण' संस्कृत मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता संस्कृत सीरीज में (नं० ५, १९३४ ई०) प्रकाशित हुआ है। इसके पहले डा० कुमारस्वामी ने इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर' के नाम से प्रकाशित किया है।

इसका सम्बन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। आर्यों की प्राचीनतम कविता ऋग्वेद में उपनिबद्ध है। बहुत से अलंकारों के उदाहरण ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलते हैं। उषा-विषयक इस ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गई हैं—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

(ऋ० वे० १।१४।७)

अतिशयोक्ति अलंकार का यह उदाहरण देखिये—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० वे० १।१६४।२०)

रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोपनिषद् १।३।३)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलंकारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों? उपमा शब्द भी ऋग्वेद (५।३४।९;१।३१।१५) में उपलब्ध होता है जिसका सायण ने अर्थ किया है—उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। यह केवल सामान्य निर्देश है।

निरुक्त में 'उपमा'

उपमा के वर्णन तथा विभाजन का निश्चित रूप से विवेचन निघण्टु तथा निरुक्त में मिलता है। भाषा के सामान्य विवेचन के अनन्तर उसे शोभित करनेवाले अलंकारों की ओर लेखकों की दृष्टि जाना स्वाभाविक है। निरुक्त में अलंकार शब्द पारिभाषिक अर्थ में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्क ने 'अलंकरिष्णु' शब्द का प्रयोग अलंकृत करने के शीलवाले व्यक्ति के अर्थ में अवश्य किया है। यह शब्द इसी अर्थ में शतपथ ब्राह्मण (३।५।१।३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८।८।५) में भी उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों (अव्ययों) का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद

तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमा के लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमा का लक्षण इस प्रकार है[1]—उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति—अर्थात् उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहाँ होती है जहाँ स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ गुण की समानता के कारण सदृश मानी जाय[2]। गार्ग्य का यह भी उल्लेख है कि उपमान को उपमेय की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं, जहाँ हीन गुणवाले उपमान से अधिक गुणवाले उपमेय की तुलना की गई है और इस प्रसंग में ऋग्वेद से उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्य के इस उपमा-लक्षण को देखकर किसी भी आलोचक को मम्मट के सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षण का स्मरण आये बिना नहीं रहेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार से (६०० ईसा-पूर्व) पूर्व ही उपमा की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्क ने पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है[4]। उपमा के द्योतक निपात—इव, यथा, न, चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदों के प्रयोग होने पर यास्क के अनुसार 'कर्मोपमा' होती है। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋ० वे० १।५०।३) = 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है।

भूतोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित स्वयं उपमान बन जाता है। रूपोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता रखता है। सिद्धोपमा में उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढ़कर रहता है। वत् प्रत्यय के जोड़ने पर यह उपमा निष्पन्न होती है—'ब्राह्मणवत्', 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद अर्थोपमा है जिसका दूसरा नाम लुप्तोपमा है। यह पिछले आलंकारिकों का रूपकालंकार है। इस उपमा के उदाहरण हैं—'सिंहः पुरुषः' तथा 'काकः पुरुषः'। यास्क के अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द

---

१. अथात उपमा यत् अतत् तद् सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३।

२. एवं एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यात् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य—निरुक्त की टीका। ३।१३।

३. साधर्म्यमुपमा भेदे—काव्यप्रकाश १०।१।

४. यास्क—निरुक्त ३।१३।१८।

पूजा के अर्थ में और श्वा तथा काक, निन्दा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस विभाजन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय में अलंकार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

पाणिनि और उपमा

पाणिनि के (५०० ईसा-पूर्व) समय में उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी। इसीलिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमिति तथा सामान्य जैसे अलंकार शास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं[1]। पूर्ण उपमा के चार अंग होते हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म। और इन चारों का स्पष्ट निर्देश पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र में किया है। इतना ही नहीं, कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्ययों, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर सादृश्य के कारण जो व्यापक प्रभाव पड़ता है उसका पाणिनि के सूत्रों में स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषय में पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों (२।१६, ४।१८) में स्वरविधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पड़ता है उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य (२।१।५५) में की है। उनका कहना है कि मान वह वस्तु है जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है; जैसे—'गौरिव गवयः' गाय के समान नीलगाय होती है[2]। काव्यपद्धति से 'गौरिव गवयः' चमत्कारविहीन होने के कारण उपमालंकार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमा-निरूपण महत्त्व रखता है।

व्याकरण का अलंकारशास्त्र पर प्रभाव

अलंकारशास्त्र के उदय का इतिहास जानने के लिए उसपर व्याकरणशास्त्र के व्यापक प्रभाव को समझ लेना भी आवश्यक है। उपमा का श्रौती तथा आर्थी रूप में

---

१. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २।३।७२।
उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २।१।५६।

२. मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यद् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति। पाणिनि २।१।५५ पर महाभाष्य।

विभाजन पाणिनि के सूत्रों पर ही अवलम्बित है। जहाँ यथा, इव, वा आदि पदों के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है वहाँ आर्थी उपमा होती है। पाणिनि के 'तत्र तस्येव' सूत्र के अनुसार 'इव' के अर्थ को द्योतित करने के लिए जब वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा—'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः' अर्थात् मथुरा के समान पाटलिपुत्र में महल हैं। यहाँ 'मथुरावत्' पद में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से युक्त होने पर जोड़ा गया है। यहाँ 'मथुरावत्' का अर्थ है 'मथुरायामिव'। इसी प्रकार 'चैत्रवत् गोविन्दस्य गावः' इस वाक्य में 'वत्' प्रत्यय षष्ठी विभक्ति से युक्त पद में जोड़ा गया है, चैत्रवत्—चैत्रस्य इव। परन्तु जहाँ क्रिया के साथ सादृश्य का बोध कराना अभीष्ट होता है वहाँ भी 'वति' प्रत्यय जोड़ा जाता है और वहाँ आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीते' इस वाक्य में आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र के अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पद के प्रयोग करने पर 'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक के अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधार में 'क्यप्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर तथा 'क्यङ्' प्रत्यय के विधान करने पर कई प्रकार की लुप्तोपमाएँ उत्पन्न होती हैं। उपमा का यह समग्र विभाजन पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही किया गया है। इस विभाजन को सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने किया था। अतः यह अर्वाचीन आलंकारिकों के प्रयत्न का फल नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्र के आदिम युग से सम्बन्ध रखता है।

उपमा के विषय में ही व्याकरण का प्रभाव नहीं लक्षित होता, प्रत्युत 'संकेत' के विषय में भी। संकेत-ग्रह के विषय में भी आलंकारिक वैयाकरणों का ही अनुयायी है[1]। नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत मानते हैं। मीमांसक केवल जाति में ही शब्दों का संकेत मानता है और जाति के द्वारा वह व्यक्ति का आक्षेप स्वीकार करता है। परन्तु आलंकारिक वैयाकरणों के 'चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिः' सिद्धान्त का अनुगमन करता है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द का संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द में हुआ करता है और आलंकारिकों का भी यही मत है। इतना ही नहीं, ध्वनि तथा व्यञ्जना के मौलिक सिद्धान्त भी वैयाकरणों के तथ्यों पर ही आश्रित हैं। ध्वनि की कल्पना स्फोट के ऊपर पूर्णतः अवलम्बित है, यह मम्मट ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। वैयाकरण स्फोट को अभिव्यञ्जित करनेवाले केवल शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करता है। परन्तु आलंकारिक ध्वनि के अर्थ को विस्तृत कर व्यंजना में समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनों के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है—

---

१. संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

—काव्यप्रकाश २।४

"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

—काव्यप्रकाश, उद्योग १

भारतीय दार्शनिकों के मतों का खंडन कर आलंकारिकों ने 'व्यञ्जना' नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए अश्रान्त परिश्रम किया है उस व्यापार की उद्भावना वैयाकरणों ने पहिले ही की थी[1]। स्फोट की सिद्धि के लिए व्यञ्जना की कल्पना व्याकरणशास्त्र में की गई है। इसी कल्पना के आधार पर आलंकारिकों ने भी व्यञ्जना का अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है। अतः आनन्दवर्धन ने व्याकरण को अलंकार का उपजीव्य स्पष्टतः स्वीकार किया है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।"

—ध्वन्यालोक, उद्योत १

इस उपर्युक्त वर्णन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन सिद्धान्तों को आधार मान कर अलंकारशास्त्र विकसित होनेवाला था वे विक्रम से बहुत पूर्व व्याकरण के आचार्यों द्वारा उद्भावित किये गये थे। अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास की खोज करते समय उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होता है कि अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ भी उतना ही प्राचीन है, जितना वैयाकरणों के द्वारा इस शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है।

वाल्मीकि—प्रथम आलोचक

इस प्रसङ्ग में संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राचीन काव्यों का अनुशीलन भी अनेक अंश में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के आदिकवि ही नहीं थे प्रत्युत आदिम आलोचक भी थे। कारयित्री प्रतिभा के विलास से कविता होती है और भावयित्री प्रतिभा का परिणाम भावकता होती है। वाल्मीकि में यह दोनों प्रकार की प्रतिभा पूर्ण रूप से विद्यमान थी। व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर जिस ऋषि के मुँह से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

---

१. पतञ्जलि—महाभाष्य।

यह श्लोक बरबस निकल पड़ता है वह निःसन्देह सच्चा कवि है। जो व्यक्ति इसकी व्याख्या करते समय—

समाचरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—बालकाण्ड २।४०

लिखकर 'शोक' का 'श्लोक' के साथ समीकरण करता है वह निःसन्देह एक महनीय भावक है, आलोचक है। कविता का मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होनेवाले भावों को शब्दों के द्वारा प्रकट करनेवाली ललित वस्तु का ही नाम 'कविता' है। जब तक कवि का हृदय भावों के द्वारा पूर्ण होकर उन भावों को अपने श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए छलक नहीं उठता; अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द का कमनीय कलेवर जब तक भाव धारण नहीं करता तब तक 'कविता' का जन्म नहीं होता। इसका व्याख्याता एक महनीय आलोचक है। महाकवि कालिदास[1] तथा आनन्दवर्धन[2] ने शोक तथा श्लोक का समीकरण करनेवाले वाल्मीकि को महान् कवि होने के अतिरिक्त महान् आलोचक भी माना है। तथ्य यह है कि संस्कृत कविता के जन्म के साथ ही साथ संस्कृत आलोचना-शास्त्र का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार वाल्मीकि रामायण को उपजीव्य मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य लिखने की स्फूर्ति प्राप्त की, उसी प्रकार आलंकारिकों ने भी काव्य-स्वरूप का संकेत इसी आदिम महाकाव्य से ग्रहण किया।

वाल्मीकि-रामायण के आधार पर प्रवर्तित प्रथम महाकाव्य के रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। इनका 'जाम्बवतीविजय' नामक महाकाव्य यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता, तथापि सूक्ति-संग्रहों तथा अलंकार-ग्रन्थों के उल्लेख से उसका सरस तथा चमत्कारपूर्ण होना निःसन्देह सिद्ध होता है। यह महाकाव्य कम से कम १८ सर्गों में लिखा गया था[3]। पतंजलि ने वररुचि के द्वारा निर्मित 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। कात्यायन ने अपने वार्तिक में आख्यायिका नामक ग्रन्थों का

---

१. तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

रघुवंश १४।७०

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थः, तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥

ध्वन्यालोक १।८

३. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास (अष्टम सं०) पृष्ठ १६३।

उल्लेख किया है, जिसकी व्याख्या करते समय पतंजलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भेमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उदाहरणरूप में निर्देश किया है। आजकल उपलब्ध न होने पर भी प्राचीन काल में इनकी सत्ता अवश्य विद्यमान थी। पतंजलि ने अन्य बहुत से श्लोकों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने दो महाकाव्यों—सौन्दरनन्द और बुद्धचरित—की रचना की। कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का सन्देश जनता के हृदय तक पहुँचाना ही उनका महनीय उद्देश्य था। इस युग के कवियों में हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ई० के आस-पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य-मिश्रित फड़कती भाषा में किया है। यह शिलालेख चम्पूकाव्य-शैली का उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक संवत् (१५० ई०) में निबद्ध रुद्रदामन का गिरनार पर्वत पर उट्टंकित शिलालेख भाषा के सौन्दर्य तथा प्रवाह के कारण गद्य-काव्य का आनन्द देता है। इस शिलालेख में रुद्रदामन को यौधेयों का उत्सादक, महती विद्याओं का पारगामी, स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त तथा उदार एवं अलंकारमंडित गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया है—

"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन······ शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुल-कीर्तिना······स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य ··· स्वयमधि-गतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या-स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।"

—रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

इस शिलालेख से स्पष्ट है कि द्वितीय शतक में काव्य के गद्य और पद्य—दो भेद स्वीकृत किये गये थे। अलंकार-ग्रंथों में उल्लिखित बहुत से गुणों की कल्पना की जा चुकी थी। इस लेख में उल्लिखित स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार काव्य 'काव्यादर्श' में निर्दिष्ट प्रसाद, माधुर्य, कान्ति तथा उदारता नामक गुणों का क्रमशः प्रतिनिधि प्रतीत होता है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस काल के पहले—विक्रम के आविर्भाव के कम से कम तीन सौ वर्ष पहले—आलोचना की शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नहीं होते। यदि ऐसा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं होता तो काव्य का गद्य-पद्य में विभाजन, महाकाव्य की कल्पना, आख्यायिका का निर्माण और काव्य के विभिन्न गुणों का निर्देश भला कैसे सम्भव था?

नाट्य की प्राचीनता

ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलंकार के निरूपण से कहीं प्राचीन है। पाणिनि के समय में ही नटों को

शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रंथों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रों में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[1]। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' नामक नाटकों के अभिनय का विस्तृत उल्लेख किया है[2]। भरत का नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है, जिसमें अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलंकार, दश गुण एवं दश दोषों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में पहले नाट्यग्रन्थों में वर्णित किया जाता था। सर्वप्रथम भामह को इसे स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में वर्णित करने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने कुछ ऐसे अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जो पहले से ही स्वीकृत थे। मेधावीरुद्र नामक आचार्य के नाम का तो इन्होंने स्पष्टतः ही उल्लेख किया है। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका के अनुसार काव्यादर्श की रचना के पूर्व 'काश्यप' तथा 'वररुचि' एवं अन्य आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की थी। काव्यादर्श की ही एक दूसरी 'श्रुतानुपालिनी' टीका काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी को दण्डी से पूर्ववर्ती अलंकार का आचार्य मानती है। सिंहली भाषा में निबद्ध 'सिय-बस-लकर' नामक अलंकार-ग्रन्थ में भी आचार्य काश्यप का उल्लेख मिलता है। काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी तथा भामह के पूर्ववर्ती निःसन्देह प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके ग्रन्थों तथा मतों से हम आज नितान्त अपरिचित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) में राज्यशासनवाले प्रकरण में अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणों का उल्लेख किया गया है[3]। कौटिल्य ने राजकीय शासनों (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणों से युक्त होना लिखा है। ये अलंकार-ग्रंथों में वर्णित काव्यगुणों के निश्चित प्रकार हैं। इन सब उल्लेखों से यही तात्पर्य निकलता है कि अलंकारशास्त्र का उदय भरत से बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डी में जो अलकारशास्त्र की सामग्री उपलब्ध होती है वह कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु सिद्धान्त-दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ विक्रम संवत् से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ, इस सिद्धान्त के मानने में विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती।

---

१. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। (४।३।११०)
कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः। (४।३।१११)

२. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।
—महाभाष्य भाग २ पृ० ३४, ३६ (कीलहार्न का संस्करण)

३. कौटिल्य—अर्थशास्त्राधिकरण।

सर्वांग सम्पूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप में था और इसलिए प्रथमतः अलंकारशास्त्र नाटचशास्त्र के अन्तर्गत आता था। पर साहित्य की उन्नति होने पर, काव्य नाटक के अन्तर्हित नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटक का अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिए तीन अवस्थाओं में अध्ययन किया जा सकता है। पहिली तो वह अवस्था है जब अलंकारशास्त्र नाटचशास्त्र के अन्तर्गत था। दूसरी वह जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था और तीसरी वह अवस्था जब नाटचशास्त्र अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहिली अवस्था में वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भ में एक नयी विद्या के लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्था में विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया।

अब कालक्रम के अनुसार इस शास्त्र के प्रधान आचार्यों का ऐतिहासिक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—भरत

भरत का नाट्यशास्त्र दो-तीन स्थानों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण काव्यमाला, बम्बई से सन् १८९४ ई० में प्रथमतः प्रकाशित हुआ था। इसका नवीन संस्करण काशी संस्कृत सीरीज काशी से सन् १९२९ ई० में निकला। यह संस्करण काव्यमाला वाले संस्करण की अपेक्षा कहीं अधिक विशुद्ध तथा विश्वसनीय है। अभिनवभारती के साथ यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में चार खण्डों में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण का वैशिष्ट्य है भरत की एकमात्र उपलब्ध तथा सर्वश्रेष्ठ व्याख्या अभिनव-भारती का प्रकाशन। इसका प्रथम खण्ड १९२६ ई० में, द्वितीय खण्ड १९३६ में, तृतीय खण्ड १९५४ ई० में तथा चतुर्थ खण्ड १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रथम तीन खण्डों के सम्पादक थे श्री रामकृष्ण कवि तथा अन्तिम खण्ड के श्री जे० एस० पदे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक डा० मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र का विशेष प्रशंसनीय अनुसन्धान किया है और नाट्यशास्त्र का मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद पृथक्-पृथक् दो-दो भागों में प्रकाशित किया है। नाट्यशास्त्र का द्वितीय खण्ड (अठाइस अध्याय से छत्तीस अध्याय तक) मूल का संस्करण १९५६ में तथा अनुवाद १९६१ में प्रकाशित हुआ। प्रथम खण्ड (आरम्भ के २७ अ०) का संस्करण १९६७ में तथा अनुवाद (प्रथम बार १९५४ तथा संशोधित सं० १९६७) में प्रकाशित है (प्रकाशक—मनीषा ग्रन्थालय, कलकत्ता)।

यह समस्त ग्रन्थ ३६ अध्यायों में विभक्त है जिनमें लगभग पाँच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों में ही निबद्ध हैं। कहीं कहीं विशेषतः अध्याय ६, ७ तथा २७ में कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठे अध्याय में रस-निरूपण के अवसर पर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने अपनी कारिकाओं की पुष्टि में अनुवंश्य श्लोकों को उद्धृत किया है।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य-परम्परा से आनेवाले श्लोक 'अनुवंश्य' कहे जाते हैं[2]। इनकी रचना भरत से भी किसी प्राचीन काल में की गई थी। प्रमाणभूत होने के कारण ही भरत ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में इनका उद्धरण किया है। वर्तमान नाटचशास्त्र किसी एक समय की अथवा किसी एक लेखक की रचना नहीं है। इस ग्रन्थ के गाढ़ अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निर्माण अनेक लेखकों द्वारा अनेक शताब्दियों के दीर्घ व्यापार का परिणत फल है। आजकल नाटचशास्त्र का जो रूप दिखाई पड़ता है वह अनेक शताब्दियों में क्रमशः विकसित हुआ है। नाटचशास्त्र में तीन स्तर दीख पड़ते हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य, (३) श्लोक या कारिका। इन तीनों के उदाहरण हमें इसमें देखने को मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप छठे और ७वें अध्याय में आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई जिसमें भरत के सूत्रों का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओं का है जिनमें नाटकीय विषयों का बड़ा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया।

विषय-विवेचन

नाटचशास्त्र के अध्यायों की संख्या में भी अन्तर मिलता है। उत्तरी भारत के पाठ्यानुसार उसमें ३७ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण भारतीय तथा प्राचीनतर पाठ्यानुसार उसमें ३६ अध्याय ही हैं और यही मत ही उचित प्रतीत होता है। अभिनव ने भरतसूत्र की संख्या में ३६ बतलाया है[3]—यहाँ सूत्र से अभिप्राय भरत के अध्यायों

---

१. नाट्यशास्त्र पृ० ७५-७६ (बडोदा सं० १९२६)।

२. ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः। —अभिनवभारती अध्याय ६

३. षट्त्रिंशकात्मक जगत् गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बित बिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं तदर्थविवेकि धाम। —अभिनवभारती पृ० १, श्लोक २

से ही प्रतीत होता है। नाटचशास्त्र में उतने ही अध्याय हैं जितने शैवमतानुसार विश्व में तत्त्व होते हैं। काव्यमाला संस्करण में ३७ अध्याय हैं, काशी संस्करण में ३६। अभिनवगुप्त की मान्यता पर ३६ अध्यायों में ग्रन्थ का विभाजन प्राचीनतर तथा युक्ततर है।

नाटचशास्त्र का विषय-विवेचन बड़ा ही विपुल तथा व्यापक है। नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है नाटच का विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ ही साथ छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी प्रथम विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। इसीलिए प्राचीन ललितकलाओं का इसे विश्वकोश मानना ही न्याय्य है। इसके अध्यायों का विषय-क्रम इस प्रकार है—(१) अध्याय में नाटच की उत्पत्ति, (२) अध्याय में नाटचशाला (प्रेक्षागृह), (३) अ० में रंगदेवता का पूजन, (४) अ० में ताण्डव सम्बन्धी १०८ करणों का तथा ३२ अंगहारों का वर्णन, (५) अ० में पूर्वरंग का विस्तृत विधान, (६) अ० में रस तथा (७) अ० में भावों का व्यापक विवरण। अष्टम अध्याय से अभिनय का विस्तृत वर्णन आरम्भ होता है—(८) अध्याय में उपांगों द्वारा अभिनय का वर्णन, (९) अ० में हस्ताभिनय, (१०) अ० में शरीराभिनय, (११) अ० में चारी (भौम तथा आकाश) का विधान, (१२) अ० में मण्डल (आकाशगामी तथा भौम) का विधान, (१३) अ० में रसानुकूल गतिप्रचार, (१४) अ० में प्रवृत्तधर्म की व्यञ्जना, (१५) अ० में छन्दोविभाग, (१६) अ० में वृत्तों का सोदाहरण लक्षण, (१७) अ० में वागभिनय जिसमें लक्षण, अलंकार, काव्यदोष तथा काव्यगुण का वर्णन है (अलंकारशास्त्र), (१८) अ० में भाषाओं का भेद तथा अभिनय में प्रयोग, (१९) अ० में काकुस्वर व्यञ्जना, (२०) अ० में दशरूपकों का लक्षण, (२१) अ० में नाटकीय पंचसन्धियों तथा सन्ध्यंगों का विधान, (२२) अ० में चतुर्विध वृत्तियों का विधान, (२३) अ० में आहार्य अभिनय, (२४) अ० में सामान्य अभिनय, (२५) अ० में बाह्य उपचार, (२६) अ० में चित्राभिनय, (२७) अ० में सिद्धि व्यञ्जन का निर्देश। अठाईसवें अध्याय से संगीतशास्त्र का वर्णन (२८ अ० से ३३ अ० तक) हुआ है—(२८) अ० में आतोद्य, (२९) अ० में ततातोद्य, (३०) अ० में सुषिरातोद्य का विधान वर्णित है। (३१) अ० में ताल, (३२) अ० में ध्रुवाविधान, (३३) अ० में वाद्य का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम तीन अध्यायों में विविध विषयों का वर्णन है—(३४) अ० में प्रकृति (पात्र) का विचार, (३५) अ० में भूमिका की रचना तथा (३६) अ० में नाटच के भूतल पर अवतरण का विवरण है। यही है संक्षिप्त विषय-क्रम है नाटचशास्त्र का।

नाट्यशास्त्र का विकास

भरत का मूल सूत्रग्रन्थ किस प्रकार वर्तमान कारिका के रूप में विकसित हुआ?

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना अभी तक सम्भव नहीं है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय से प्रतीत होता है कि कोहल नामक किसी आचार्य का हाथ इस ग्रन्थ के विकास के मूल में अवश्य है। भरत ने स्वयं भविष्यवाणी की है कि—'शेषं प्रस्तार-तन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति'। इससे कोहल को इस ग्रन्थ को विस्तृत तथा परिवर्धित करने का श्रेय प्राप्त है। 'कोहल' नाम के आचार्य का, नाट्याचार्य के रूप में, परिचय हमें अनेक अलंकारग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत (श्लोक ८१) में भरत के साथ कोहल का भी नाम नाट्य के प्राचीन आचार्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते हैं (संगीत रत्नाकर ११५)। हेमचन्द्र ने नाटक के विभिन्न प्रकारों के विभाजन के अवसर पर भरत के साथ कोहल का भी उल्लेख किया है[1]। शिंगभूपाल ने भी रसार्णवसुधाकर में भरत, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग के साथ कोहल को भी मान्य नाट्यकर्ता के रूप में निर्दिष्ट किया है—(विलास १, श्लोक ५०–५२)। कोहल के नाम से एक 'तालशास्त्र' नामक संगीत ग्रन्थ का भी वर्णन मिलता है। कोहल के साथ दत्तिल नामक आचार्य का नाम भी संगीत के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'दत्तिलकोहलीय' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसमें कोहल तथा दत्तिल के संगीत-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने भरत के एक पद्य (६।१०) की टीका लिखते समय लिखा है कि यद्यपि नाट्य के पाँच ही अंग होते हैं, तथापि कोहल और अन्य आचार्यों के मत के अनुसार एकादश अंगों का वर्णन मूल ग्रन्थ में यहाँ किया गया है[2]। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के विस्तृतीकरण में आचार्य कोहल का विशेष हाथ है। कोहल के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाट्य के आचार्यों के नाम भी उल्लिखित हैं[3]। इनके मत का भी समावेश वर्तमान नाट्यशास्त्र में किया प्रतीत होता है। 'आदिभरत' तथा 'वृद्धभरत' के नाम भी इस प्रसंग में यत्र-तत्र लिये जाते हैं। परन्तु वर्तमान जानकारी की दशा में भरत के मूल ग्रन्थ का विकास वर्तमान रूप में किस प्रकार सम्पन्न हुआ, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता।

---

१. प्रपञ्चस्तु भरत कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः।

हेमचन्द्र—काव्यानुशासन, पृ० ३२५, ३२६

२. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पंचांगं नाट्यम्.........अनेन तु श्लोकेन कोहलादिमतेन एकादशांगत्वमुच्यते।

अभिनवभारती ६।१०

३. नाट्यशास्त्र—३७।२४

'भावप्रकाशन' के अनुशीलन से पता चलता है कि शारदातनय की सम्मति में नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषय की सुगमता के लिए उसका आधा ही भाग है अर्थात् वह छः हजार श्लोकों में ही निबन्ध है[1]। इनमें से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता को शारदातनय 'वृद्धभरत' के नाम से तथा वर्तमान नाट्यशास्त्र के कर्ता को केवल 'भरत' के नाम से पुकारते हैं[2]। धनञ्जय[3] तथा अभिनवगुप्त[4] दोनों ग्रंथकार भरत को 'षट्साहस्रीकार' के नाम से उल्लिखित करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी नाट्यशास्त्र के विषय में बड़ी जानकारी की बात लिखी है। उनका कहना है कि जो आलोचक इस ग्रन्थ को सदाशिव, ब्रह्म तथा भरत, इन तीनों आचार्यों के मतों का संक्षेप मानते हैं वे नास्तिक हैं। प्रस्तुत ग्रंथ केवल भरत के ही मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है[5]। परन्तु उनकी सम्मति में भी इस नाट्यशास्त्र में प्राचीन काल की भी उपादेय सामग्री संगृहीत की गई है। भरत ने अपने मत की पुष्टि में जिन अनुवंश्य श्लोकों या आर्याओं का उद्धरण अपने ग्रन्थ में, विशेषतः षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में, दिया है वे भरत से प्राचीनतर हैं और पुष्टि तथा प्रामाण्य के लिए ही यहाँ निर्दिष्ट की गई हैं।

काल

भरत के आविर्भाव-काल का निर्णय भी एक विषम समस्या है। महाकवि भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' कहा है[6] जिससे भरत के ग्रन्थ का सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका अभिनव-भारती की रचना ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की। भरत का सबसे प्राचीन निर्देश कालिदास महाकवि की विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। कालिदास का कथन है कि भरत देवताओं के नाट्याचार्य थे तथा नाटक का मुख्य उद्देश्य आठ

---

१. एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः॥

—भावप्रकाशन पृ० २८७

२. भावप्रकाशन, पृ० ३६।

३. दशरूपकालोक ४।२।

४. अभिनवभारती पृ० ८, २४ (प्रथम भाग)।

५. अभिनवभारती पृ० ८ (प्रथम भाग)।

६. उत्तर-रामचरित ४।२२।

रसों का विकास करना था तथा नाटक के प्रयोग में अप्सराओं ने भरत को पर्याप्त सहायता दी थी—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥
विक्रमोर्वशीय २।१८

कालिदास के द्वारा उल्लिखित नाट्य की यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्र में निःसन्देह उपलब्ध होती है। रघुवंश[1] में भी कालिदास ने नाट्य को 'अंगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है जो मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भरत की इस कारिका से समानता रखता है—

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।
नाट्यशास्त्र।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरत के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' से पूर्ण परिचित थे। अतः नाट्यशास्त्र का समय कालिदास से अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र के निर्माण की यह पश्चिम अवधि है। इसकी पूर्व अवधि का पता अब तक नहीं लगता। वर्तमान नाट्यशास्त्र में शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियों का वर्णन है जिन्होंने भारतवर्ष के ऊपर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास आक्रमण किया। वर्तमान नाट्यशास्त्र का यही समय है। मूल सूत्रग्रन्थ की रचना सम्भवतः ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई, क्योंकि संस्कृत के इतिहास में 'सूत्रकाल' यही है जब सूत्ररूप में शास्त्रीय ग्रंथों के रचने की परिपाटी सर्वत्र प्रचलित थी। इतना तो निश्चित है कि कारिकाग्रंथ मूल सूत्रग्रंथ के बहुत ही पीछे लिखा गया, क्योंकि इसमें भरत नाट्यवेद के व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि रूप में उल्लिखित किये गये हैं[2]। इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र का रचना-काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।

भरत के टीकाकार

भरत का ग्रंथ विपुल व्याख्यासम्पत्ति से मण्डित है। अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

---

१. रघुवंश १९।३६।
२. भरत के काल-निर्णय के लिये विशेष विवरण के लिये देखिये—
डा० डे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, भाग १, पृ० ३२-३६।
डा० काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९ ५८ (१९६६)।

(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शंकुक, (४) भट्टनायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर, (९) मातृगुप्ताचार्य ।

(१) **उद्भट**— इनका नाम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (६।१०) में दिया है। शार्ङ्गदेव ने भी इनको भरत का टीकाकार बतलाया है[1] । परन्तु इनकी टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है ।

(२) **लोल्लट**—ये भरत के निश्चित रूप से टीकाकार थे। इनका परिचय केवल अभिनवगुप्त के उल्लेखों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत मम्मट (काव्यप्रकाश ४।५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ६७, टीका पृ० २१५), मल्लिनाथ (तरला पृ० ८५, ८८) और गोविन्दठक्कुर (काव्यप्रदीप ४।५) के निर्देशों से भी प्राप्त होता है। लोल्लट के कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र तथा राजशेखर ने 'आपराजिति' के नाम से उल्लिखित किया है। इससे इनके पिता का नाम 'अपराजित' होना सिद्ध होता है[2] । अभिनवगुप्त ने काश्मीरी उद्भट के मत का खण्डन करने के लिए लोल्लट का उल्लेख किया है, जिससे इनका उद्भट के बाद होना सिद्ध होता है। नाम की विशिष्टता से स्पष्ट है कि लोल्लट काश्मीर के ही निवासी थे।

(३) **शंकुक**—अभिनवगुप्त ने शंकुक को भट्टलोल्लट के मत के खण्डनकर्ता के रूप में चित्रित किया है। कल्हण पण्डित ने राजतरंगिणी में किसी शंकुक कवि तथा उनके काव्य 'भुवनाभ्युदय' का नामोल्लेख किया है[3] । यह निर्देश काश्मीर नरेश अजितपीड के समय का है, जिनका काल ८१३ ई० के आसपास है। यदि हमारे आलंकारिक शंकुक कवि शंकुक के साथ अभिन्न व्यक्ति माने जायँ, तो उनका समय नवम शताब्दी का आरम्भकाल (८२० ई०) माना जा सकता है।

(४) **भट्टनायक**—इन्होंने शंकुक के अनन्तर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, क्योंकि ये अभिनवभारती में शंकुक के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए दिखलाये गये हैं। इनके कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र, महिमभट्ट, माणिक्यचन्द्र आदि ग्रन्थकारों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है। ये श्लोक इनके 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ

---

१. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥
—संगीतरत्नाकर

२. द्रष्टव्य भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० ५३ ।

३. कविर्बुधमनः सिन्धुशशांकः शंकुकाभिधः ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥
(राजतरंगिणी ४।७०५)

से उद्धृत किये गये हैं। यह भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या से नितान्त पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है, जो अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया था और ध्वनि का मार्मिक खण्डन होने के कारण 'ध्वनिध्वंस के नाम से विख्यात था। भट्टनायक आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से पूर्णतः परिचित थे। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम इनका उल्लेख किया है। अतः इनका आविर्भावकाल आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्ययुग में हुआ था। अतः इनका नवम के अन्त तथा दशम शतक के आरम्मकाल में आविर्भूत होना सिद्ध है। कल्हण ने काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र तथा उत्तराधिकारी शंकरवर्मा के समय के किसी भट्टनायक नामक विद्वान् का राजतरंगिणी में उल्लेख किया है[1]। बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों[2]।

(५) राहुल—अभिनवगुप्त ने इनके मत का उल्लेख अनेक स्थलों पर अपनी अभिनवभारती में किया है। अभिनवभारती के प्रथम खण्ड में दो स्थानों पर इनका प्रामाण्य उद्धृत हुआ है। पृ० ११५ (अ० ४।६८) पर राहुलकृत 'रेचित' शब्द की व्याख्या उद्धृत की गई है तथा पृ० १७२ (अ० ४।२६७) पर राहुल के नाम से यह पद्य निर्दिष्ट किया गया है—

परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः।
सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्॥

(६) भट्टयन्त्र तथा (७) कीर्तिधराचार्य के नाट्यविषयक मत का उल्लेख अभिनवभारती में पृ० २०८ पर एक बार किया गया है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन नाट्याचार्य थे। भरत के टीकाकार होने की बात अन्य प्रमाणों से अपनी पुष्टि चाहती है।

(८) वार्तिक—अभिनवभारती के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त से पहिले नाट्यशास्त्र पर 'वार्तिक ग्रन्थ' की रचना हो चुकी थी जिसका उल्लेख उन्होंने नाट्य तथा नृत्य के पार्थक्य दिखलाने के अवसर पर किया है (पृ० १७२, १७४)। इस वार्तिक के रचयिता कोई हर्ष थे। अतः उनके नाम पर यह ग्रन्थ 'हर्षवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध था। यह ग्रंथ अधिकतर आर्या छन्द में निबद्ध था; परन्तु कहीं-कहीं गद्यात्मक अंश भी इसमें विद्यमान थे[3]।

(८) अभिनवगुप्त—इनकी सुप्रसिद्ध टीका का नाम 'अभिनवभारती' है। भरत

---

१. राजतरंगिणी ५।१५६।
२. इनका विशेष वर्णन आगे दिया जायगा।
३. द्रष्टव्य अभिनवभारती (प्रथम खण्ड) पृ० २०७।

की यही एकमात्र टीका है जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारों का नाम तथा सिद्धान्तों का परिचय केवल इसी टीका से हमें मिलता है। इस टीका के प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर टीकाकार की विद्वत्ता की छाप पड़ी हुई है। भरत के रहस्यों का उद्घाटन इस टीका की सहायता के विना कथमपि नहीं हो सकता। भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होने के कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्त ने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध तथा सरल बनाया। इनके देश तथा काल का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(३) मातृगुप्ताचार्य—अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने मातृगुप्त के नाम से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। ये श्लोक नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या में उद्धृत किये गये हैं। विशेषतः सूत्रधार (पृ० ५), नान्दी (पृ० ४), नाटक-लक्षण (पृ० ९) और यवनी (पृ० २७) के लक्षण के अवसर पर इनके पद्य दिये गये हैं। राघवभट्ट ने अपनी टीका में एक स्थान (पृ० १५) पर भरत के आरम्भ तथा बीच के विषय वाले पद्यों को उद्धृत किया है और यह लिखा है कि मातृगुप्ताचार्य ने इसका विशेष वर्णन किया है—

अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः—

क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।
.... ॥

सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप (रचनाकाल १६१३ ई०) में भरत के ग्रन्थ से (नाट्यशास्त्र ५।२५, ५।२८) नान्दी का लक्षण उद्धृत किया है और मातृगुप्ताचार्य के उस पद्य की व्याख्या की ओर संकेत किया है—

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीथम् उदाहृता।"

सुन्दर मिश्र के इस उल्लेख से मातृगुप्त भरत के व्याख्याता प्रतीत होते हैं, परन्तु राघवभट्ट के निर्देश से यह जान पड़ता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र के विषय में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणी में हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये जानेवाले कवि मातृगुप्त का वर्णन मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मातृगुप्ताचार्य कवि मातृगुप्त से अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न[१]।

१. विशेष वर्णन के लिये देखिये—

बलदेव उपाध्याय—संस्कृत सुकवि समीक्षा पृ० १४४–१४६।

(चौखम्भा विद्याभवन, काशी, १९६३)

२—मेधाविरुद्र

मेधाविरुद्ध नामक ग्रन्थकार का उल्लेख भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में किया है। राजशेखर के अनुसार मेधाविरुद्र कवि थे और जन्म से ही अन्धे थे। इनके नाम का उल्लेख राजशेखर ने प्रतिभा के प्रभाव-निरूपण के प्रसंग में किया है। प्रतिभावले कवि को कोई भी विषय न दिखाई देने पर भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रतीत होता है, जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध सुने जाते हैं[1]। नमिसाधु ने मेधाविरुद्र को अलंकार ग्रन्थ का रचयिता माना है[2]। विचारणीय प्रश्न है कि मेधाविरुद्र एक नाम है अथवा मेधावी और रुद्र दो नाम हैं, भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ में मेधावी नामक आचार्य के नाम का उल्लेख दो वार किया है[3]। अतः मेधावी भामह से प्राचीनतर आचार्य निःसन्देह हैं। परन्तु मेधावी और मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं; इसका यथार्थतः निर्णय नहीं किया जा सकता।

मेधावी के सिद्धान्त

(१) भामह के अनुसार मेधावी ने उपमा के सात दोषों का वर्णन किया है[4]—हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य। इन्हीं उपमा-दोषों का निर्देश करते हुए नमिसाधु ने मेधावी का नाम अपनी रुद्रट की टीका में उल्लिखित किया है[5]। इन दोनों निर्देशों से स्पष्ट है कि उपमा के दोषों का

---

१. प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते —काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२।

२. ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि।
रुद्रट—काव्यालंकार की टीका १।२।

३. भामह—काव्यालंकार २।४०; २।८८।

४. हीनताऽसंभवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥
(भामह—काव्यालंकार २।३९, ४०)

५. अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमा-दोषाः......तदेतन्निरस्तम्॥
रुद्रट—काव्यालंकार की टीका ११।२४

प्रथम निर्देश करने का श्रेय मेधावी को ही प्राप्त है। इन दोषों का उल्लेख वामन ने काव्यालंकार में तथा मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में किया है। वामन ने ऊपर निर्दिष्ट विपर्यय दोष को हीनता और अधिकता के भीतर ही सम्मिलित कर दिया है। अतः उनकी दृष्टि में उपमा-दोष छः ही प्रकार के होते हैं[1]। मम्मट ने भी इस विषय में वामन का ही पदानुसरण किया है।

(२) भामह ने अपने ग्रन्थ (२।८८) में मेधावी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

इस श्लोक का यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरार्ध का यह तात्पर्य है कि मेधावी उत्प्रेक्षा अलंकार को संख्यान नाम से पुकारते हैं। परन्तु दण्डी के कथनानुसार कुछ आचार्य 'यथासंख्य' अलंकार को 'संख्यान' नाम से पुकारते हैं[2]। दण्डी के इस कथन के अनुसार मेधावी ही यथासंख्य अलंकार को संख्यान के नाम से उल्लिखित करनेवाले आचार्य प्रतीत होते हैं। यदि यह बात सत्य हो तो उपर्युक्त पाठ के स्थान पर होना चाहिये—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।

(३) नमिसाधु के अनुसार मेधाविरुद्र ने शब्द के चार ही प्रकार माने हैं, यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्होंने कर्मप्रवचनीय को नहीं माना है[3]।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मेधाविरुद्र भामहपूर्व-युग के एक महनीय आचार्य थे। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु मतों का परिचय ही उपर्युक्त आलंकारिकों के निर्देश से मिलता है।

---

१. अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति।

वामन–काव्यालंकारसूत्र ४।२।११ की वृत्ति।

२. यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि—काव्यादर्श–२।२७३।

३. एत एव चत्वारः शब्दविधाः इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः ॥ रुद्रट की टीका २।२ पृ० ६ देखिये।

३—भामह

आचार्य भामह भारतीय अलंकार-शास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते हैं। भरत के 'नाटयशास्त्र' में अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन गौण रूप से किया गया है, प्रधान रूप से नहीं। भरत के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं जिनमें वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में भरत ने अलंकार-शास्त्र का सन्निवेश किया है। भामह का ग्रन्थ ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकारशास्त्र नाटयशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। निश्चय रूप से हम नहीं कह सकते कि भामह किस देश के निवासी थे तथा किस काल को उन्होंने अपने आविर्भाव से विभूषित किया था। अनेक अनुमानों के आधार पर उनके देश और काल का निर्णय किया जा सकता है। काश्मीर के आलंकारिकों के ग्रन्थों में ही इनके नाम तथा मत का प्रथम समुल्लेख इन्हें काश्मीरी सिद्ध करता है। काश्मीर के ही मान्य विद्वान् भट्ट उद्भट ने इनके 'काव्यालंकार' के ऊपर 'भामह-विवरण' नामक एक अपूर्व व्याख्या ग्रन्थ लिखा था जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इससे भामह के ही सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत अलंकारशास्त्र के आरम्भिक युग की अनेक समस्याओं का भी अनायास समाधान हो जाता। काश्मीरी पण्डितों का भी प्रवाद है—भामह ने काश्मीर देश को ही अपने जन्म से अलंकृत किया था।

जीवनी

भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' था[1]। यह नाम कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोत्तिल आदि बौद्ध नामों की समता से रक्रिल को भी बौद्ध मानते हैं। चान्द्र व्याकरण के अनुसार पूज्य अर्थ में 'गोमिक' शब्द का निपात (गोमिन् पूज्ये) होता है। चान्द्र व्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी स्वयं बौद्ध थे। इस प्रकार रक्रिल तथा गोमी, इन दोनों पदों के सान्निध्य से यही प्रतीत होता है कि भामह के पिता बौद्ध ही थे। इस सिद्धान्त के दृढीकरण में भामह के ग्रन्थ का मंगलाचरण भी सहायता करता है[2]। भामह ने अपने मंगलश्लोक में

---

१. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
(भामहालंकार ६।६४)

२. प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्काय-कर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥
(काव्या० १।१)

सार्व सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। अमरकोश के प्रमाण से—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो मारजित् लोकजिज्जिनः—सर्वज्ञ शब्द भगवान् बुद्ध का ही दूसरा नाम है। सार्व शब्द भी 'सर्वेभ्यो हितम्' इस अर्थ में सर्व शब्द से 'ण' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अत एव यह शब्द भी परोपकारियों में अग्रगण्य बुद्धदेव का ही सूचक सिद्ध होता है। अत एव सर्वज्ञ की स्तुति करनेवाले रक्रिलगोमी के पुत्र भामह को बौद्ध मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कतिपय आलोचकों का यह उपर्युक्त सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। अमर ने 'सर्वज्ञ' शब्द को बुद्ध का पर्यायवाची अवश्य माना है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्ववेत्ता भगवान् शंकर के लिये इस शब्द का अभिधान हो ही नहीं सकता। शंकर का नाम भी सर्वज्ञ है, इसे अमर सिंह ने स्वयं ही लिखा है[१]। बौद्ध व्याकरण के अनुसार गोमिन् भले ही सिद्ध हो परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि वह बौद्धों के लिये ही पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था ? 'काव्यालंकार' में भामह ने बुद्ध के जीवन की किसी भी घटना का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत, रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के प्रख्यात आख्यान, उनके नायकों के नाम तथा काम का स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

समय

एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद था। कुछ आलोचक दण्डी को ही भामह से पूर्ववर्ती मानते थे। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से भामह ही दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने (अष्टम शतक) अपने 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ में भामह के मत को निर्देश करते हुए इनके ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका अष्टम शतक से पूर्ववर्ती होना ध्रुव सत्य है। आनन्दवर्धन ने भामह के एक श्लोक[२] को बाणभट्ट के एक वाक्य[३] से प्राचीनतर बतलाया है। आनन्द की सम्मति में बाणभट्ट का वाक्य

---

१. कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिः नीललोहितः।

(अमरकोश)

२. शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥

(काव्या० ३।२८)

३. धरणीधारणाय अधुना त्वं शेषः।

—हर्षचरित। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक उद्योत ४।

भामह के पद्यानुयायी होने पर भी ध्वनि की सत्ता के कारण ही नवीन प्रतीत होता है। अतः आनन्द की सम्मति में भामह बाणभट्ट से (६२५ ई०) प्राचीन थे।

भामह ने अपने ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद में न्याय-निर्णय के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों से अपना गाढ़ परिचय दिखलाया है। इस अवसर पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नाग के ही मत से साम्य रखता है, परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है[1]। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**—अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। और 'कल्पना' कहते हैं किसी वस्तु के विषय में नाम तथा जाति आदि की कल्पना को। इस लक्षण में धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद जोड़कर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षण-सुधार से परिचित नहीं हैं। प्रतिज्ञा-दोष के भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' से साम्य रखते हैं। अतः भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिये। अतः इनका समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है।

ग्रन्थ

यह कहना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हमारे ग्रन्थकार ने प्रसिद्ध काव्यालंकार को छोड़कर और कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भामह का नाम बहुत से ऐसे वाक्यों के साथ लिया जाता है जो काव्यालंकार में नहीं मिलते। राघवभट्ट ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका 'अर्थद्योतनिका' में दो बार भामह के नाम से ऐसे वाक्यों को दिया है जो काव्यालंकार में कहीं नहीं मिलते। एक वाक्य तो किसी छन्दःशास्त्र[2] से लिया गया है और दूसरा अलंकार-शास्त्र से[3]। दूसरा वाक्य, आश्चर्य है कि, कुछ परिवर्तन के साथ उद्भट के काव्यालंकार में मिलता है और उसका उदाहरण काव्यप्रकाश में मिलता है। कुछ श्लोक नारायण भट्ट ने

---

१. काव्या० ५।६।

२. क्षेमं सर्वं गुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः।
इति भामहोक्तेः। —अभिज्ञान-शाकुन्तल टीका पृ० ४ (नि० सा०)।

३. तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते।
वाच्यवाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ इति।
उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यम्—
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवास-प्रतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥ इति पृ० १०।

'वृत्त रत्नाकर' पर अपनी टीका में भामह के नाम से कहे हैं। यह शायद किसी छन्दःशास्त्र[1] से लिया गया है।

इन वाक्यों के सिवा जो हमें भामह के नाम से सुनाई देते हैं और जो शायद ऐसे ग्रन्थों से लिये गये हैं जो अब लुप्त हो गये हैं, हम लोगों को भामहभट्ट के नाम से प्राकृत प्रकाश की प्रसिद्ध टीका मिलती है जिसके द्वारा वररुचि ने सूत्र रूप में प्राकृत का व्याकरण लिखा है। यह 'प्राकृत-मनोरमा' कहलाती है और बची हुई टीकाओं में सबसे प्राचीन समझी जाती है।

हमारे पास इस बात के सिद्ध या असिद्ध करने के लिये कोई साक्षात् प्रमाण नहीं है कि काव्यालंकार के रचयिता ही इन ग्रन्थों के भी लिखनेवाले थे। कौन कह सकता है कि इस एक ही नाम के कई व्यक्ति न हों। पर एक ही नाम के हर एक पुरुष उसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं होते। कुछ लोग तो प्राकृत-मनोरमा के रचयिता को काव्यालंकार के लिखनेवाले से भिन्न नहीं समझते। पिटर्सन का अनुसरण करते हुए

---

१. तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदि वर्णाद्धनता-
न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात्।
तथा ह्येचः सौख्यं ङञणरहितादक्षरगणात्
प्रदादौ विन्यासात् भरबहलहाह्वाविरहितात्॥

(वृत्तरत्नाकर पृ० ६)

तदुक्तं भामहेनैव—

देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुखं छः।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेद-दुःखे॥
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धम्।
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः॥
यो लक्ष्मी रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं।
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति॥
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पदुवर्णा-विन्यास-योगः।
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम्॥

(वृत्तरत्नाकर पृ० ७ काशी सं०)

डा० पिशेल[1] को इसका सन्देह भी नहीं हुआ कि यह दो भामह भिन्न थे[2]। जहाँ तक हमें मालूम होता है, उनका कहना पण्डितों के कथनों के आधार पर है। कितना ही विश्वास योग्य उनका मत हो, हम लोग यही चाहेंगे कि उनके मत को पुष्ट करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो जिससे उनका मत दृढ हो जाय। पर यह विश्वास करना बिलकुल असम्भव मालूम होता है कि काव्यालंकार के रचयिता के ऐसा प्रखर विद्वान् अलंकार शास्त्र के ऐसे अपूर्व ग्रन्थ लिखने के पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो। एक शब्द में इतना ही कह सकते हैं कि किसी ओर हम अपना निश्चित मत नहीं दे सकते।

काव्यालंकार

इस ग्रन्थ[3] में ६ परिच्छेद हैं जिनमें पाँच विषयों का विवरण है। वे इस प्रकार हैं—

(१) **काव्य शरीर**—इसमें ६० श्लोक हैं जिनमें काव्य, उनके प्रयोजन और लक्षणादि दिये हैं। (प्रथम परिच्छेद)

(२) **अलंकार**—इसमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। यहाँ थोड़े कवियों के नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पड़ते हैं जिनको हम अब बिलकुल नहीं जानते। इसमें १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परि०)

(३) **दोष**—काव्यों के दोष ५० श्लोकों में यहाँ दिये हैं। (चतुर्थ परि०)

(४) **न्याय-निर्णय**—इसका विशेष वर्णन ७० श्लोकों में है। (पंचम परिच्छेद)

(५) **शब्द-शुद्धि**—व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का वर्णन कर विशिष्ट शब्दों की साधुता प्रदर्शित की गई है। ६० श्लोक हैं। (षष्ठ परिच्छेद)

भामह के मान्य सिद्धान्त:—

(१) शब्द और अर्थ दोनों के मिलने से काव्य की निष्पत्ति होती है (शब्दार्थौ सहितं काव्यम्)।

---

१. पिशेल : ग्रामातिक देर प्राकृत स्प्राखेन (ज०) पृ० ३५।

२. सुभाषितावली पृ० ७६।

३. भामह ने काव्यालंकार के अन्त में इस प्रकार सबका सार दे दिया है—

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

(२) भरत-प्रतिपादित दश गुणों के स्थान पर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रय का निर्देश तथा निरूपण।

(३) वक्रोक्ति का समस्त अलंकारों का मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तक की 'वक्रोक्ति-जीवित' में दीख पड़ता है।

(४) दशविध दोषों के अतिरिक्त अन्य नवीन दोषों की कल्पना[1]।

भामह का काल-निर्धारण

भामह तथा दण्डी के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मेरी दृष्टि में भामह दण्डी से पूर्ववर्ती थे और इस मत की संपुष्टि आवश्यक है कि भामह का आविर्भावकाल यथार्थतः निश्चित किया जाय। भामह के ग्रन्थ में उपलब्ध न्याय-विषयक सामग्री का गम्भीर अनुशीलन करने पर हम एक विशेष परिणाम पर पहुँचते हैं। प्रश्न यह है कि काव्यालंकार में उपलब्ध न्याय-विषयक तथ्य धर्मकीर्ति से लिये गये हैं अथवा तत्पूर्ववर्ती बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग से ? इस प्रश्न के समाधान में हमारा उत्तर पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों को सर्वथा मान्य है। अब समाधान की ओर ध्यान दें।

भामह और धर्मकीर्ति

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के प्रमाण पर भामह बाण के अनन्तर, जो सप्तम शताब्दी के पूर्व भाग में थे, नहीं रखे जा सकते, लेकिन यह मत इस विचार से नहीं ठहर सकता कि भामह ने कुछ न्याय की बातें धर्मकीर्ति से ली हैं। डा० याकोबी ने इस बात का कुछ दूर तक विवेचन किया है और उसी सम्बन्ध में धर्मकीर्ति के समय का भी विचार किया है। युवेनच्वांग और इत्सिंग के भारत में आगमन के मध्य काल में धर्मकीर्ति थे, यह वे कहते हैं। युवेनच्वांग जिन्होंने भारत की यात्रा ६३० ई० से ६४३ तक की है इस बौद्ध नैयायिक के बारे में कुछ नहीं कहते। इत्सिंग ने, जिन्होंने यात्रा ६७१ ई० से ६९५ ई० तक की है, अवश्य उनके बारे में सुना है। तारानाथ[2] धर्मकीर्ति को तिब्बत के नृप सोनत्सन गम्पो का समकालीन समझते हैं, जो ६२७ से ६९८ ई० तक राज्य करते थे। इसलिए धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दी का मध्य भाग कहा जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय—जैसा कि

---

१. भामह के काल, ग्रन्थ तथा सिद्धान्त के विस्तृत वर्णन के लिए बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य शास्त्र (प्रथम भाग, द्वि० सं० १९६४, पृष्ठ १३१-१८०.)।

२. विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३०५-६।

याकोबी सिद्ध करना चाहते हैं—कि भामह ने सचमुच धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, तो आनन्दवर्धन का कथन बहुत कुछ असत्य हो जाय और भामह को अष्टम शताब्दी तक कम से कम खींच लाया जाय। हम लोग इन युक्तियों का थोड़ा विवेचन करके देखेंगे।

भामह ने धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, इसके लिए जितनी युक्तियाँ हैं वे सब यही कहती हैं कि दोनों ग्रन्थों में कुछ समानता है। ये समानताएँ केवल तीन हैं। एक-एक का विचार किया जायगा।

अनुमान विचार

(१) भामह ने अनुमान के यह दो लक्षण दिये हैं—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरे विदुः॥
(काव्या० ५।११)

हम लोग वाचस्पति मिश्र को न्यायवार्तिक की तात्पर्य-टीका से जानते हैं कि दूसरा लक्षण—जो यहाँ अनुमान का दिया है—दिङ्नाग का है। परन्तु पहिले लक्षण के बारे में क्या कहा जाय? डा० याकोबी लिखते हैं कि यह लक्षण किसी दूसरे दर्शनकार का है, पर यह दूसरे कौन हैं? डा० याकोबी कहते हैं कि वह धर्मकीर्ति हैं, क्योंकि उनके न्यायबिन्दु में एक स्थान पर लिखा है—

अनुमानं द्विधा—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

यहाँ पर और दूसरे प्रश्न में भी हमें यही जानना है कि कोई विशेष विचार जैसा लिंगस्य त्रैरूप्यम्—किसी विशेष व्यक्ति का है अथवा यह साधारण विचार कई व्यक्तियों का है? ऐसी युक्तियों का मान तभी हो सकता है, जब विचार मौलिक हो। दुर्भाग्य से यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। 'लिंगस्य त्रैरूप्यम्' यह एक साधारण लक्षण नैयायिकों का है, धर्मकीर्ति का निजी मौलिक नहीं। इस समय हमारा काम इसीसे चल जाता है कि यह लक्षण दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाण-समुच्चय' में इस प्रकार स्वार्थानुमान के विषय में लिखा है[1]—"तीन प्रकार के चिह्नों से जिसका ज्ञान मिले उसी को स्वार्थानुमान—अपने लिए अनुमान—कहते हैं"। इसी के संस्कृत

---

१. वही, पृ० २८०।

रूप से क्या कुछ ठीक ऐसी ही बात धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से—जो ऊपर उद्धृत की गयी है—नहीं मिलती ? इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। जिस प्रकार भामह ने और दिङ्नाग ने यह लक्षण दिया है, उससे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि यह न केवल दूसरे किसी और मूलग्रन्थ से लिया गया है, बल्कि यह भी कि यह एक प्राचीन और सर्वमान्य विचार है। प्रमाण-समुच्चय के साथ-साथ न्यायप्रवेश में[१] 'लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्' का पूरा वर्णन है। चाहे कोई भी इसका रचयिता हो, यह किसी ने अभी तक सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्ति के अनन्तर लिखा गया है। इसलिए हमलोग कह सकते हैं कि भामह ने किसी प्रकार भी 'लिंगस्य त्रैरूप्यम्' यह लक्षण धर्मकीर्ति से नहीं लिया है। हमारी तो प्रवृत्ति यहाँ तक लिखने की है कि भामह को इस मत में कम से कम दिङ्नाग का भी ऋणी न समझना चाहिए। बहुधा उन्हें यह ज्ञान किसी प्राचीन नैयायिक से मिला होगा।

(२) धर्मकीर्ति के कथन के समान भामह का दूसरा कथन 'दूषणं न्यूनताद्युक्तिः' है (काव्या० ५।२८)। धर्मकीर्ति ने भी 'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' लिखा है।[२] समानता अवश्य चित्त को आकर्षण करनेवाली है, पर प्रश्न फिर यही है कि क्या यह धर्मकीर्ति का मौलिक विचार है ?

(३) यही प्रश्न तीसरी समानता पर भी किया जा सकता है। वह यह है—जातयो दूषणाभाषाः[३] (काव्या० ५।२९)। क्या धर्मकीर्ति ने कोई नया विचार "दूषणाभासास्तु जातयः" कहकर किया है ? ऊपर लिखे हुए दोनों उदाहरणों में धर्मकीर्ति का कुछ भी मौलिक लिखा हुआ नहीं कहा जा सकता। दूषण और जाति पहिले के ग्रन्थकारों को भी मालूम थे[४]। न्यायप्रवेश में ऐसे ही वर्णन दूषण जाति के अर्थ में हुए हैं।

---

१. यह ग्रन्थ अभी तक केवल तिब्बती भाषा में था। सौभाग्य से अब वह गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज में प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।

२. न्यायबिन्दु (पीटर्सन सं०) ३।१२३, काशी सं० में दूषणा न्यूनताद्युक्तिः है. पृ० १३२।

३. न्यायबिन्दु (पीटर्सन का सं०) ३।१४० काशी सं०, पृ० १३३।

४. इस सम्बन्ध में गौतम का न्यायसूत्र और उस पर वात्स्यायनभाष्य इस प्रकार है—
"साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" यह सूत्र १।२।१८ है। इसी पर वात्स्यायन लिखते हैं—"प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते स जातिः। स च प्रसंगः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति। ....प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।"

काणे ने[1] स्वतन्त्र रूप से कुछ समानताएँ भामह और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की दी हैं, उनमें एक यह भी है कि भामह के काव्यालंकार का एक श्लोक धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के एक वाक्य से बहुत कुछ मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार का है—

> सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
> असाधारण-सामान्य विषयत्वं तयोः किल ॥
>
> (काव्या० ५.५)

धर्मकीर्ति ने इस प्रकार लिखा है—

द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च (पृ० १०), तस्य विषयः स्वलक्षणं (पृ० २१)···अन्यत् सामान्यलक्षणं (पृ० २४), सोऽनुमानस्य विषयः (पृ० २५)।

यहाँ पर भी फिर वही बात कही जा सकती है कि प्रमाणों का यह विभाग और लक्षण धर्मकीर्ति के अपने नहीं हैं। अक्षपाद के विरोधी प्रायः सभी नैयायिकों का अधिकतर यही विचार है। उदाहरण के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-समुच्चय में कहा है कि 'दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सब बातें उन्हीं से जानी जाती हैं इसलिए और कोई दूसरे प्रमाण नहीं हैं।' डा० विद्याभूषण ने मूल संस्कृत इस प्रकार दिया है—

> प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे हि द्विलक्षणम्।
> प्रमेयं तच्च सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥

उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के वह सब वाक्य मौलिक न होने के कारण भामह के वे ही मूल हैं, यह हम कह नहीं सकते। धर्मकीर्ति के वे ही सब विचार हैं जो प्रसिद्ध विचार थे और जो बौद्ध न्याय के पूर्व भी विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही अपने सब विचार लिये हैं और किसी से नहीं, यह सर्वथा ठीक नहीं है। डा० याकोबी ऐसे साधारण विद्वान् नहीं हैं कि केवल आकस्मिक विचारों की समानता से ही कह देते कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार ग्रहण किये हैं। हम यह अनुमान करते हैं कि विचारों के शब्दों की समानता से ही याकोबी ने ऐसा अपना मत स्वीकार किया है। पर हम लोगों की दृष्टि से शब्दों की समानता किसी महत्त्व की नहीं है। केवल दूषण और जाति के

---

1. काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (प्र० मोतीलाल बनारसीदास, काशी १९६६, पृष्ठ १५८—१६०)

ही सम्बन्ध में जो वाक्य आये हैं वे ही कुछ समान प्रतीत होते हैं। परन्तु वहाँ पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धर्मकीर्ति ने सर्वप्रथम वे शब्द प्रयोग किये थे। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वे धर्मकीर्ति के शब्द हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनका भामह ही ने सर्वप्रथम प्रयोग किया। इसमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। यदि शान्तरक्षित दर्शनशास्त्रकार होकर भी हमारे आलंकारिक के वचन ग्रहण कर सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि धर्मकीर्ति भी वही न करे जब उसे कोई तैयार ग्रन्थ उसके मतलब के मिल जायँ।

हम बलपूर्वक इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्दों की समानता से ही निस्सन्देह कोई बात सिद्ध नहीं होती। ऐसी अवस्था में तीन बराबर के विचार सम्भव हैं और प्रत्येक सत्य माने जा सकते हैं। अब उपस्थित प्रश्न पर जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते यह कहना न्याययुक्त न होगा कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार और शब्द ग्रहण किये हैं। यह भी उसी प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति ने भामह के शब्द ग्रहण किये हैं या दोनों ने किसी एक ही सूत्र से अपने-अपने विचार लिये हैं।

प्रत्यक्ष-लक्षण

भामह ने धर्मकीर्ति के वाक्य ग्रहण किये हैं या नहीं? इसका सबसे अच्छा निश्चय करने का मार्ग यही होता कि धर्मकीर्ति के विशेष मतों के साथ भामह के मतों की तुलना की जाती। मध्यकाल के न्याय का कुछ भी हाल जो लोग जानते हैं उन सबको भले प्रकार विदित है कि धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अनुयायी होते हुए भी एकदम उनका अनुकरण नहीं किया। धर्मकीर्ति की विशेषताएँ डा० विद्याभूषण ने[1] अच्छी तरह संग्रह की हैं और इनके ऊपर थोड़ा भी विचार इस बात को सिद्ध कर देगा कि बौद्ध नैयायिक का कोई विशेष मत भामह ने ग्रहण नहीं किया। ठीक इसके विरुद्ध प्रमाण हैं कि इससे बिलकुल उलटी बातें हुई हैं। यहाँ पर कुछ बातें दी जा सकती हैं। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष का लक्षण—प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्[2] है। एक महत्त्व का योग धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[3] यह कर दिया है।

---

१. विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक, पृ० ३१५-३१८।

२. वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य-टीका में 'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति' पर इस प्रकार लिखा है—सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अपर इति। विद्याभूषण पृ० २७६-७८; डा० रैण्डल—फ्रैगमेन्टस फ्राम दिङ्नाग, पृ० ८-१०।

३. न्यायबिन्दु (काशी सं०) पृ० ११।

'अभ्रान्तं' यह पद ऐसा नहीं है कि कोई भी उनके अनन्तर आनेवाला हटा सकता है। दिङ्नाग का लक्षण बहुत व्यापक था और इसलिए सर्वत्र लगाया जा सकता था। इससे सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो सकती हैं। उद्योतकर ने सचमुच इसी प्रकार इसका अर्थ किया[1]। यह आपत्ति हटाने के लिए धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्तं' जोड़ दिया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष से केवल प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जा सकता है दूसरा कुछ नहीं। कौन ऐसा होगा कि एक बार दोष दिखाने पर इतना व्यापक लक्षण ग्रहण करेगा।

भामह ने प्रत्यक्ष के दो लक्षण एक ही पंक्ति में दिये हैं। वह इस प्रकार है—**"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन"** काव्या० (५।६)। इन दो लक्षणों में से पहिला वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार दिङ्नाग का है और दूसरा उन्हीं के कथनानुसार दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का है[2]। अब क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह यह लक्षण छोड़ देते, यदि वे इसको जानते रहते। इसके साथ ही साथ धर्मकीर्ति ने कल्पना का जरा भिन्न मार्ग से लक्षण किया है। उनके अनुसार कल्पना का अर्थ **"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः"** है[3]। परन्तु उद्योतकर दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं[4]—**"अथ केयं कल्पना। नाम जातियोजनेति। यत् किल न नाम्नाभिधीयते। न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते।"** वाचस्पति मिश्र इसका लक्षण वादिनामुत्तरम् कहते हैं[5]। अब लक्षणवादी दिङ्नाग और दूसरे लोग होंगे जिनका ऐसा मत था। हम इस बात का अनुमान करते हैं कि भामह भी उनमें से एक थे, कम से कम उनको यह मत मालूम था, क्योंकि वह कहते है—**'कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रतिजानते'**—काव्या० (५।६)। यह बात स्वीकार की जाती है कि धर्मकीर्ति की कल्पना का लक्षण शास्त्रीय ढंग से दिया गया है और उनके प्रत्यक्ष के लक्षण की भाषा बहुत शुद्ध है। यदि भामह एक महत्त्व के प्रश्न पर दो मत दे सकते तो हम समझते हैं कि यदि उपयोगी और उपयुक्त होता तो तीसरा मत भी देते, जैसे कि धर्मकीर्ति के लक्षण सचमुच हैं।

---

१. उन्होंने 'स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्' इस प्रकार लिखा है।

२. वाचस्पति मिश्र 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञेयं प्रत्यक्षम्' इस पर टीका लिखते हुए कहते हैं—तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति—रैण्डल का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १२-१३।

३. न्यायबिन्दु, पृ० १३।

४. न्यायवार्तिक पृ० ४४।

५. तात्पर्यटीका पृ० १०२।

इस सम्बन्ध में एक बात और लिखनी चाहिए। जहाँ तक हम लोगों को मालूम है धर्मकीर्ति ने कहीं पर भी अपने ग्रन्थों में वसुबन्धु के मतों का आदर नहीं किया है, यद्यपि उनके शिष्य दिङ्नाग प्रमाण-स्वरूप माने गये हैं। परन्तु भामह ने प्राचीन वसुबन्धु के मतों का आलोचन किया है। हम लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि धर्मकीर्ति के समय तक, शिष्य दिङ्नाग के सामने वसुबन्धु की कीर्ति लुप्त हो गई थी। यह बहुत सम्भव है कि भामह ऐसे समय में थे जब वसुबन्धु भूले नहीं गये थे, प्रत्युत उनका विद्वान् लोग वैसा ही मान किया करते थे जैसा दिङ्नाग का।

भामह और दिङ्नाग

भामह ने छः पक्षाभास दिये हैं[१], धर्मकीर्ति ने केवल चार[२]। यदि न्यायप्रवेश को देखें तो नव[३] मिलते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि इनमें भामह के लक्षण और उदाहरण कुछ 'न्यायप्रवेश' से अधिक मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को त्रिरूप हेतु में ही ले लिया है[४], परन्तु भामह ने उसको पृथक्[५] माना है, जैसा कि न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय में है। न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय में दृष्टान्त के दो विभाग साधर्म्य और वैधर्म्य[६] द्वारा किये गये हैं। भामह ने भी ऐसा ही किया है, पर धर्मकीर्ति में ऐसा कोई विभाग नहीं है। थोड़ी सी बातें जो यहाँ दी गई हैं वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भामह का धर्मकीर्ति से कुछ भी ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

यदि यह सब बातें न भी प्राप्त होतीं तो भी यह दिखाना सम्भव था कि धर्मकीर्ति के अनन्तर भामह का आना हो ही नहीं सकता। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, धर्मकीर्ति सन् ६५० ई० में थे और दक्षिण भारत में रहते थे। शान्तरक्षित बंग देश में अष्टम शताब्दि के पूर्वभाग में रहते थे। अब हम लोग किसी प्रकार से अनुमान नहीं कर सकते कि उन दिनों में जब समाचार एक दूसरे देशों से मिलना कठिन था, पचास ही वर्ष में इतना काम हो गया--धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनका ग्रन्थ काश्मीर जाता है, वहाँ भामह उससे अपना काम निकालते हैं, वह फिर प्रसिद्ध होकर

---

१. काव्या० ५।१२-२०।

२. न्यायबिन्दु पृ० ८४-८५।

३. विद्याभूषण, पृ० २८०-२८१।

४. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते-- न्यायबिन्दु, पृ० ११७।

५. काव्यालंकार २।२१, ५।२६, २७।

६. विद्याभूषण--पृ० २८६-८७; २९५-९६। शब्दों की समानता भी यहाँ ध्यान में रखनी चाहिए। धर्मकीर्ति के भी ऐसे ही विभाग दृष्टान्ताभास के हैं।

बंगदेश पहुँचता है और वहाँ शान्तरक्षित उसका पूरी तरह अपने ग्रन्थ में समावेश कर लेते हैं और यह सब काम पचास वर्षों में हो जाता है। यह बिलकुल सम्भव नहीं है। इसलिए आनन्दवर्धन के कथन में सन्देह करने के लिए कोई युक्ति नहीं है कि बाण को भामह के ग्रन्थ का पता था। इसलिए ६०० ई० भामह के काल की पर सीमा मानना अनुपयुक्त नहीं है।

दिङ्नाग का समय

दिङ्नाग का काल उनके गुरु वसुबन्धु के काल पर निर्भर है। ननूजीओ कहते हैं कि कुमारजीव ने वसुबन्धु की एक जीवनी ४०१ ई० से ४०९ ई० के मध्य में लिखी है और परमार्थ ने जो ४९९ से ५६० ई० के मध्य में थे दूसरी जीवनी लिखी है। परमार्थ से हमें पता चलता है कि वसुबन्धु विक्रमादित्य के समकालीन थे, जिसको कि विन्सेण्ट स्मिथ गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त प्रथम निर्धारित करते हैं। वसुबन्धु, जिनका ८० वर्ष की अवस्था में देहान्त हुआ, २८० ई० और ३६० ई० के मध्य में जीवित थे। पर दुर्भाग्यवश सब विद्वान् इसपर सहमत नहीं हैं। दूसरा महत्त्व का मत यह कहता है कि वे ४२०–५०० ई० के मध्य में थे, परन्तु अधिकतर विद्वान् पहिले ही मत के हैं। इसलिए निस्सन्देह पहिला मत अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

इसलिए हम ऊपर कही हुई युक्ति से कह सकते हैं कि वसुबन्धु २८० से ३६० ई० के मध्य में थे। अब उनके शिष्य दिङ्नाग उनसे कम अवस्था के थे और उन्हीं के समकालीन थे। इसलिए वे ४०० ई० के पूर्व अवश्य हो किसी समय रहे होंगे। अब यदि दिङ्नाग का समय लगभग ४०० ई० मान लिया जाय, तो उस काल को भामह के काल की पूर्वसीमा माननी होगी। हम इसलिये निस्सन्देह कह सकते हैं कि भामह का काल दिङ्नाग और बाण के काल के मध्य में है। अर्थात् वे ४०० ई० और ६०० ई० के मध्य में विद्यमान थे।

यदि भामह के काल के विषय में हम और ठीक कहना चाहें तो हमें यह देखना होगा कि वे दिङ्नाग के सन्निकट थे या धर्मकीर्ति के। हमने पहिले विवेचन में कहा है कि भामह का मत धर्मकीर्ति की अपेक्षा दिङ्नाग से अधिक मिलता है। हमने यह भी दिखाया है कि भामह ऐसे काल में थे जब वृद्ध गुरुजनों की पूरी स्मृति थी। यह बात उन गुरुओं के बचे हुए ग्रन्थों की और भामह के ग्रन्थ की अच्छी तरह तुलना करने से मालूम हो जाती है। कुछ स्थानों पर उन्होंने पाठकों को विस्तारपूर्वक पढ़ने के लिए दूसरे ग्रन्थों का नाम भी दिया है जो शायद दिङ्नाग के ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। हमें यह भी विचार करना होगा कि भामह की कीर्ति को कन्नौज पहुँचने के लिए अवश्य समय लगा होगा जिसने कन्नौज के बाण जैसे धुरन्धर कवि ने भी इतनी दूर काश्मीर के कवि को मुक्तकंठ से प्रशंसा की। यदि इसके लिए एक शताब्दी

का समय रख लिया जाय तो हम समझते हैं भामह को ५०० ई० के पूर्व रखने में बहुत क्षति न होगी। पर इतने से भी हम लोगों को सन्तोष नहीं होता। उनके लेख की शैली, विषय का प्रौढ़त्व आदि देखने से यही इच्छा होती है कि उनको और पूर्वकाल में ले आया जाय और दिङ्नाग के समीप रखा जाय, यद्यपि कोई साक्षात् प्रमाण इसके लिए नहीं मिलता। काव्यालंकार का पंचम अध्याय दार्शनिक न्याय के विवेचन से भरा हुआ है। कहीं-कहीं तो शास्त्रार्थ की शैली प्रतीत होती है। इससे हमें विश्वास होता है कि भामह ऐसे समय में विद्यमान थे जब चारों ओर शास्त्रार्थ और विचार का वातावरण फैला हुआ था। भारतीय इतिहास का ऐसा समय दिङ्नाग जैसे विद्वानों के समय में हो सकता है। प्रामाणिक रूप से हम जानते हैं कि इस महान् आचार्य ने अपना सम्पूर्ण जीवन शास्त्रार्थ में ही व्यतीत किया। वे अपने समय में 'तर्क-पुंगव'—तर्क में श्रेष्ठ—कहे जाते थे। परन्तु ऐसा काल बहुत समय तक न था। न्याय-निर्णय, जो भामह के अलंकारशास्त्र में एक बहुत आवश्यक विषय समझा जाता था, दण्डी के समय में कर्कश विचार समझा जाने लगा[1]। बाण के समय में भी हमें दिङ्नाग के समय का घोर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद नहीं मिलता। गुप्तों के पाँचवीं और छठी शताब्दी के शिलालेखों में भी इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता। इस प्रकार हमें यह विश्वास करने में कोई क्षति नहीं है कि शास्त्रार्थ का यह काल दिङ्नाग से ही समाप्त हो गया। इसलिए हम यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं—भामह दिङ्नाग के समकालीन थे या दिङ्नाग के कुछ ही अनन्तर हुए थे। अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भामह ४०० ई० के लगभग अवश्यमेव विद्यमान थे।

४—दण्डी

भामह के बाद दण्डी अलंकार-शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय-निरूपण अत्यन्त विवाद का विषय है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार भामह को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है उस प्रकार दण्डी को नहीं किया। दण्डी का सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० २६) किया है। दक्षिण-भारत की भाषाओं के अलंकारशास्त्र-विषयक ग्रन्थों से—जिनकी रचना सम्भवतः नवम शताब्दी में की गई थी—दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलंकारिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सिंहली भाषा के अलंकार ग्रन्थ 'सिय-वस-लकर'—(स्वभाषालंकार) जिसकी रचना

---

१. विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।—काव्यादर्श।

नवम शताब्दी से कथमपि पश्चात् नहीं मानी जा सकती—दण्डी को अपने उपजीव्य ग्रन्थकारों में मानता है। कन्नड़ भाषा में लिखित 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ में—जिसकी रचना का श्रेय राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग (नवम शतक का प्रथमार्ध) को है—अलंकारों के उदाहरण में जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वामन के 'काव्यालंकार' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने केवल दो ही रीति या मार्ग का वर्णन किया है परन्तु वामन ने एक मध्यवर्तिनी रीति—पाञ्चाली—का भी निर्देश कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन से प्राचीन हैं। अतः इनके काल की अन्तिम अवधि अष्टम शतक के पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके काल की पूर्व अवधि का निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डी के एक श्लोक में बाणभट्ट के द्वारा कादम्बरी में वर्णित यौवन के दोषों के वर्णन की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है[1]। दण्डी के एक अन्य पद्य में माघ के शिशुपालवध की छाया है[2]। डाक्टर के० बी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रय की कल्पना, भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार की है[3]। दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' में बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरस सारांश उपस्थित किया है। इन निर्देशों से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होनेवाले दण्डी सप्तम शतक के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे।

टीका

भामह की अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे। भामह की प्राचीन व्याख्या (भामह-विवरण) अभी तक केवल अंशतः उपलब्ध है। भामह के ग्रन्थ का मूल पाठ भी विशुद्ध रूप से अभी उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रन्थ का उद्धार भी अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है। परन्तु दण्डी का व्यापक प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित हो रहा है।

---

१. अरत्नालोकसंहार्यं, अवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ —काव्यादर्श २।१९७

कादम्बरी की निम्नलिखित पंक्तियों से इसकी तुलना कीजिये—

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

२. दण्डी २।३०२ = माघ २।४।

३. दण्डी २।२४० = भर्तृहरि ३।४५।

सिंहली भाषा में मान्य अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' पर दण्डी के 'काव्यादर्श' की छाप है। कन्नड़ भाषा का कविराजमार्ग तो दण्डी के प्रभाव से ओतप्रोत ही नहीं है, प्रत्युत उसके अलंकारों के उदाहरणों में दण्डी के श्लोकों के निःसंदिग्ध अनुवाद हैं। सम्भवतः तिब्बती भाषा में भी इनके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था। इनके ग्रन्थ के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनसे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है।

'काव्यादर्श' की सबसे प्राचीन टीका (१) तरुणवाचस्पति द्वारा विरचित है। इनकी दूसरी टीका का नाम (२) 'हृदयंगमा' है जिसके लेखक के नाम का पता नहीं चलता। ये दोनों टीकाएँ मद्रास से प्रकाशित हुई हैं। तरुणवाचस्पति के समय का अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने अपनी टीका में (काव्यादर्श २।२८१) दशरूपक को उद्धृत किया है और सम्भवतः रीति के षड्भेदों में सरस्वतीकण्ठाभरण को भी। तरुण वाचस्पति के पुत्र केशव भट्टारक की 'तात्पर्य निर्णय' नाम्नी टीका उपलब्ध है। ये केशव महाराजाधिराज रामनाथ के गुरु थे जो १२५५ ई० में सिंहासनारूढ़ होने वाले होयसल वीर रामनाथ से अभिन्न हैं। फलतः तरुण वाचस्पति का समय १३वीं शताब्दी है। हृदयंगमा का लेखक तथा समय दोनों अज्ञात हैं। केवल दो परिच्छेदों पर ही यह टीका है। इन दोनों व्याख्याओं का मूल के साथ प्रकाशन प्रो० रङ्गाचार्य ने मद्रास किया है।

(३) मार्जन नामक टीका, महामहोपाध्याय हरिनाथ विरचित जो विश्वधर के पुत्र तथा केशव के अनुज थे। हरिनाथ का कथन है कि उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर भी मार्जन नामक टीका लिखी है। फलतः इनका समय १२वीं शती के अनन्तर ही होगा। काव्यादर्श की व्याख्या का एक प्रतिलिपि का काल सं० १७४६ (=१६९० ई०) है। अतएव इनका समय १३वीं तथा १७वीं शती के मध्य में कहीं होना चाहिए।

(४) काव्यतत्त्व-विवेचक-कौमुदी—गोपालपुर (बंगाल) के निवासी कृष्ण किङ्कर तर्क-वागीश द्वारा रचित।

(५) श्रुतानुपालिनी टीका—वादि जङ्घाल विरचित।

(६) वैमल्य-विधायिनी टीका—जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ द्वारा निर्मित।

(७) विजयानन्द कृत व्याख्या

(८) यामुन कृत व्याख्या—इसमें काव्यादर्श चार परिच्छेदों में विभक्त है। चतुर्थ परिच्छेद की रचना दोषनिरूपण के आधार पर की गई है।

(९) रत्नश्री—लंका निवासी रत्नश्री ज्ञान द्वारा रचित। (प्रकाशक मिथिला इन्स्टीच्यूट दरभंगा, सम्पादक श्री अनन्तलाल ठाकुर, १९५७)।

इन टीकाओं में से प्रारम्भ की दोनों व्याख्यायें तथा अन्तिम व्याख्या ये तीन ही प्रकाशित हैं। अन्य व्याख्यायें अभी हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं।

दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की है—(१) काव्यादर्श, (२) दशकुमार-चरित और (३) अवन्ति-सुन्दरी-कथा। दशकुमार-चरित में दस राजकुमारों का जीवन-चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रन्थ है जिसमें राजकुमारों को शिक्षा दी गई है। अवन्ति-सुन्दरी-कथा सुन्दर भाषा में लिखा गया सुन्दर गद्यकाव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ **काव्यादर्श** है जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, गद्य के दो भेद—आख्यायिका और कथा, रीति, गुण, तथा कवि के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार की परिभाषा, ३५ अलंकारों की परिगणना तथा उदाहरण का विवरण है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध—जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल आलंकारिक ही नहीं थे, प्रत्युत सरस काव्य-कला के उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमार-चरित संस्कृत गद्य के इतिहास में अपनी चारुता, मनोरंजकता तथा सरसता के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्श से समग्र उदाहरण दण्डी की निजी रचनाएँ हैं। इन पद्यों में सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः आलंकारिक दण्डी की अपेक्षा कवि दण्डी का स्थान कुछ कम उन्नत नहीं है। इसीलिए प्राचीन आलोचकों ने वाल्मीकि और व्यास की मान्य श्रेणी में दण्डी को भी स्थान दिया है।

> जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
> कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

८—उद्भट भट्ट

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आचार्यों में उद्भट भट्ट का भी स्थान उड़ा ऊँचा है। पीछे के बड़े-बड़े शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, अनेक बातों में उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थों में लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पण्डित थे, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन

प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः"[१]। रुय्यक का अलंकारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है[२]। उसी के आधार पर अप्पय दीक्षित ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है। इसमें भी भट्ट उद्भट का नाम आया है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नाम से ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है—'इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकारा[३]" इत्यादि। यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बड़े महत्त्व के ग्रन्थ की टीका लिखने बैठे, तब भी उद्भट भट्ट को न भूले थे। यहाँ वे यों लिखते हैं—"इह हि चिरन्तनैरलंकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालंकाराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्माः"[४]। इन प्राचीनों की बात हो क्या है; पीछे के जो उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उनको भट्ट उद्भट के सामने सिर नवाना ही पड़ा है। जिसने रसगंगाधार एक बार भी पढ़ा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे। किसकी उन्होंने खबर न ली! अप्पय दीक्षित के धुर्रे उड़ा दिये, विमर्षिणीकार के छक्के छुड़ा दिये। पर वे भी जहाँ कहीं उद्भट का नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं। कहीं उनके ग्रन्थ के लगाने का प्रयत्न किया, कहीं उन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया, और कहीं अपने कथन के समर्थन में उनका उल्लेख किया। एक स्थान से लिये हुए वाक्य को नमूने के तौर पर देखिये—"अत्राहुरुद्भटाचार्याः। येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमाभारायमाणोऽलंकारान्तरं बाधते"[५] इत्यादि। और कहाँ तक कहें, भट्ट उद्भट की प्रसिद्धि इतनी जोरों की हुई कि सबसे प्राचीन आचार्य बेचारे भामह कोसों दूर पड़े रह गये। इनके आगे वे फीके से जँचने लगे। यही कारण है कि भामह के काव्यालंकार की पुस्तक तक नहीं मिलती।

देश और समय

"उद्भट" नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे। कैयट, जैयट, मम्मट, अल्लट, भल्लट, कल्लट सरीखे नाम काश्मीर देश में ही उपलब्ध होते

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० १०८ (निर्णयसागर)।

२. दक्षिण के टीकाकार समुद्रबन्ध का कहना है कि रुय्यक ने केवल सूत्र ही ही लिखा। उन सूत्रों की वृत्ति का ही नाम अलंकार-सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मंखुक ने लिखा। किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक नहीं ठहरता।

३. अलंकार-सर्वस्व, पृ० ३ (निर्णयसागर)

४. व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन)।

५. रसगंगाधर, पृ० ६२३ (काशी)।

हैं। इन्हीं नामों की समता पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि उद्भट काश्मीर के ही निवासी थे। केवल नाम ही की बात नहीं। और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं जिनसे उनका काश्मीरी होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरंगिणी में कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड़ का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड़ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं--

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥--४. ४९५.

उस राजा के सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड़ थे, और वह उद्भट जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, जहाँ तक पता लगा है, दोनों का एक व्यक्ति होना डॉ० ब्यूलर की काश्मीर-रिपोर्ट में बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है[1]। डॉ० ब्यूलर ने ही पहले-पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलंकारसार-संग्रह का पता लगाया था।

महाराज जयापीड़ वि० सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अन्तिम काल में ये कुछ बदनाम से हो गये थे। इनसे प्रजाओं को पीड़ा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब सम्बन्ध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग में रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरह से भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इनका नाम कई बार लिया है[2]। आनन्दवर्द्धनाचार्य का भी नाम राजतरंगिणी में आया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५-३४.

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर, ये सब आवंतिवर्मा के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा वै० सं० ९१२ से ९४५ तक काश्मीर का शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धन का भी, पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिए इस बात से भी भट्ट उद्भट का पूर्वोक्त समय ही ठीक

---

1. Dr. G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS. made in Kashmir etc. Extra number of the J. B. R. A. S., 1877.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ९६ और १०८ (निर्णयसागर)।

प्रमाणित होता है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भट ने कहीं आनन्दवर्द्धनाचार्य का क्या, ध्वनि-मत का भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक ध्वनि-मत की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराज की टीका से तथा अन्य ग्रन्थों से भी चलता है[1]। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट विक्रमी नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे।

ग्रंथ

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये हैं—

(१) भामह-विवरण, (२) कुमारसम्भव काव्य और (३) अलंकारसार-संग्रह।

भामह-विवरण

भामह-विवरण का केवल नाम ही नाम मिला है, सौभाग्य से इस ग्रन्थ का कतिपय अंश रोम विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। हस्तलेख के त्रुटित होने से पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारसार-संग्रह की लघु-विवृत्ति नाम की टीका में एक स्थल पर लिखते हैं—"विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपितः"[2]। इस कथन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भामह-विवरण नाम का ग्रन्थ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस कथन की पुष्टि अभिनवगुप्ताचार्य भी कई स्थलों पर करते हैं[3]। एक स्थल पर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्तं 'शब्दच्छन्दोभिधानार्थः' इत्याभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे।"[4] इससे तो स्पष्ट ही निकलता है कि भट्ट उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। हेमचन्द्र भी अपने काव्यानुशासन की अलंकार-चूड़ामणि नाम की टीका में भट्ट उद्भट कृत भामह-विवरण का कई बार उल्लेख करते हैं[5]। रुय्यक अपने अलंकारसर्वस्व में इस भामह-विवरण का

---

१. अलंकारसारलघुविवृति, पृ० ११—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजक-भेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्व-लंकारेष्वन्तर्भावात्।" अलंकारसर्वस्व टीका (अलंकार विमर्षिणी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्न दृष्टमिति भावः।"

२. वही पृ० १३।

३. ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १०।

४. वही पृ० ४०, १५६।

५. काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ० १७, ११०।

'भामहीय-उद्‌भट-लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं[1]। इसी अलंकार-सर्वस्व की टीका में समुद्रबन्ध इसको 'काव्यालंकार विवृति' कहते हैं[2]। भट्ट उद्‌भट के अलंकारसार-संग्रह से पता चलता है कि इन्होंने भामह के अलंकार लक्षणों को बहुत स्थलों पर वैसे का वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

कुमारसम्भव काव्य

भट्ट उद्‌भट के दूसरे ग्रंथ की भी यही दशा है। इस ग्रंथ का नाम था कुमारसम्भव काव्य। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्व का पता चलता है, तथा यह मालूम होता है कि अलंकार संग्रह में आये हुए उदाहरण प्रायः उसी काव्य से लिये गये हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृति में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः[3]।" जैसा काणे महाशय कहते हैं, इन श्लोकों को देखने से स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानों कालिदास के कुमारसम्भव की नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थ का नहीं है, बल्कि घटनोल्लेख का भी है। यहाँ एक-दो उदाहरण दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

उद्‌भट का श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्॥
(२. १०)[4]

कालिदास का श्लोक—विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा। इत्यादि।
(कुमार० ५. १२)

उद्‌भट का श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असंभाव्य-पतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः॥
(२. १२.)[5]

---

१. अलंकारसर्वस्व पृ० २०५ (अनन्तशयन सं०)।
२. अलंकारसर्वस्व टीका (अनंतशयन) पृ० ८६।
३. अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति, पृ० १३ (निर्णयसागर)।
४. अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३३।
५. वही पृ० ३४।

कालिदास का श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥
(५. २)

उद्भट का श्लोक—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२. १)[१]

कालिदास का श्लोक—स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः । इत्यादि ।
(५. २८)

अलंकारसार-संग्रह

भट्ट उद्भट का तीसरा ग्रंथ है अलंकारसार-संग्रह । इस समय एक यह साधन है, जिससे भट्ट उद्भट की विद्वत्ता का पता चल सकता है । इसका पहले-पहल पता डा० ब्यूलर ने काश्मीर में लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था । इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था । पर ग्रंथ जब तक निर्णयसागर में न छपा, तब तक सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही था । वै० सं० १९७२ में पंडित मंगेश रामकृष्ण तैलंग ने प्रतिहारेन्दुराज की लघुविवृति नाम की टीका के साथ इसका सम्पादन कर इसे प्रकाशित किया ।

यह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है । इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं । इनके उदाहरण की तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमार-संभव काव्य से (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिये गये हैं ।

जिन अलंकारों के लक्षण और उदाहरण इसमें दिये गये हैं, उनके नाम वर्गक्रम से नीचे दिये जाते हैं ।

प्रथम वर्ग—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला), (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक (आदि मध्य, अन्त), (८) प्रतिवस्तूपमा ।

द्वितीय वर्ग—(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति ।

तृतीय वर्ग—(१) यथासंख्य, (२) उत्प्रेक्षा, (३) स्वभावोक्ति ।

---

१. अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३७ ।

चतुर्थ वर्ग—(१) प्रेय, (२) रसवत्, (३) उर्जस्विन्, (४) पर्यायोक्त (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट।

पंचम वर्ग—(१) अपह्नुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्य-योगिता (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) निदर्शना, (८) उपमे-योपमा, (९) सहोक्ति, (१०) संकर (चतुर्विध), (११) परवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग (६) दृष्टांत।

भामह से सम्बन्ध

(१) सादृश्य

उपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामह के बड़े भक्त थे। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह-विवरण' नाम की टीका लिखी। इतना ही नहीं। उसी ग्रन्थ का बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना 'अलंकारसार-संग्रह' लिखा। अब यहाँ यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ के बनाने में कहाँ तक भामह का अनुकरण किया और कहाँ तक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही दृष्टिगत होती है, वह यह है अलंकारों के लक्षण और उदाहरण जिस क्रम से भामह के काव्यालंकार में कहे गये हैं, उसी क्रम से यहाँ भी दिये गये हैं। दो लक्षणों को मिलाने से पता लगता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय के लक्षण हूबहू वही के वही हैं। कुछ और दूसरे अलंकार जैसे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवद्, भाविक आदि ऐसे हैं, जिनके लक्षण बिलकुल वही के वही तो नहीं हैं, पर तो भी दोनों में बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भट का करीब-करीब एक-सा था। दोनों अलंकार-मत के माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होने पर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करनेवाले न थे। उन्होंने भामह के कहे हुए कितने ही अलंकारों के नाम तक नहीं लिये हैं, और कितने ही भामह के न कहे हुए अलंकारों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। यमक, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षावयव भामह के काव्यालंकार में आये हैं, पर उद्भट के अलंकारसार-संग्रह में उनका कहीं नाम भी नहीं मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग और दृष्टान्त भामह के ग्रन्थ में न आने पर भी भट्ट उद्भट के ग्रन्थ में

मिलते हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं, पर बहुत संभव है कि यह लिखने की ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनमें इनका मत भामह के मत से नहीं मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्[१]।" भामह ने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति, यही दो प्रकार के अनुप्रास माने हैं। रूपक के भी उन्होंने दो ही भेद दिखाये हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्ट ने अनुप्रास तीन तरह के माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड़ दी है। इसी तरह रूपक के भी इन्होने दो और भेद जोड़कर चार भेद कर दिये हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थान पर कहते हैं—"भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा।' इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह[२]।" भामह ने श्लेष के तीन भेद माने हैं, पर उद्भट दो ही भेद मानते हैं।

उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। भामह और उद्भट दोनों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणत फल है कि अलंकार सम्प्रदाय अपने पूर्ण वैभव के साथ विकसित हो सका। 'अलंकार' के विषय में इनके कई मान्य सिद्धान्त हैं जिनसे परिचय पाना यहाँ आवश्यक है।

विशेषताएँ

उद्भट के मत से कई बातें सबसे विलक्षण हैं। यहाँ उनका संग्रह कर देना अनुचित न होगा। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं—"अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः"[३]। अर्थभेद से शब्दों का भेद होता है, यह भट्टोद्भट का सिद्धांत है। ये दो तरह का श्लेष मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष और दोनों को अर्थालंकार ही मानते हैं[४]। श्लेष को यह प्रधान अलंकार मानते हैं और इसे सब अलंकारों-का बाधक समझते हैं[५]। इन्होंने स्पष्ट कहा है—अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः"। ये अभिधा व्यापार तीन तरह का मानते थे[६]। अर्थ ये दो तरह के मानते थे—

---

१. अलंकारसार लघुवृत्ति, पृ० १।
२. अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ४७।
३. अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ५५।
४. काव्यप्रकाश, ६, उल्लास।
५. ध्वन्यालोक, पृ० ६६।
६. काव्यमीमांसा, पृ० २२।

अविचारित सुस्थ और विचारित रमणीय[1]। गुणों को ये संघटना के धर्म मानते थे[2]। व्याकरण के विचार पर जो बहुत से उपमा के भेद पाये जाते हैं, वे सब प्रायः उद्‌भट के ही निकाले हुए हैं।

इतना कहने के बाद अब यह फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट उद्‌भट बड़े भारी विद्वान् और धुरंधर आलंकारिक थे। जिस किसी बड़े अलंकार ग्रन्थ को उठाकर देखिये, कहीं न कहीं भट्ट उद्‌भट का नाम अवश्य देखने में आवेगा। इनका मत पीछे से उड़-सा गया। जब लोग व्यंग्य को ही काव्य का आत्मा मानने लगे, तब अलंकारों का बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतना होनेपर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बड़ी बात नहीं है ?

इनके दो टीकाकारों का पता चलता है—

(१) प्रतिहारेन्दुराज—इनकी टीका का नाम लघुवृत्ति[3] है, जिसमें इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रट के पद्यों को उद्धृत किया है। अन्तिम तीन ग्रन्थों के नाम का भी स्पष्ट निर्देश यहाँ मिलता है। ये कोंकण के निवासी तथा मुकुल भट्ट के शिष्य थे। ये मुकुल भट्ट भट्ट कल्लट के (नवम शतक का मध्यभाग) पुत्र तथा 'अभिधावृत्ति-मातृका' के रचयिता थे। अतः मुकुल का समय हुआ नवम शतक का अन्तिम काल तथा प्रतिहारेन्दुराज का समय हुआ १० शतक का प्रारम्भ-काल। अभिनवगुप्त के एक गुरु का नाम भट्टेन्दुराज था जो इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि से परिचित होने पर भी उसकी प्रधानता नहीं मानते थे। अतः ध्वनिवादी अभिनवगुप्त का उन्हें गुरु मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) राजानक तिलक—इनकी टीका का नाम 'उद्‌भटविवेक' है[4]। यह टीका अल्पाक्षरा है जिसमें उद्‌भट के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन है। ये मध्ययुगी काश्मीरी आलोचक थे। जयरथ ने अलंकारसर्वस्व के विमर्शिणी नामक अपनी टीका में राजानक तिलक को उद्‌भट के टीकाकार के रूप में उल्लिखित किया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया है कि अलंकारसर्वस्व ने तिलक के मत का अनुसरण किया है। और इस

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४४; व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४।

२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४।

३. संस्करण काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सीरीज में।

४. संस्करण गायकवाड़ सीरीज नं० ५५।

तथ्य का स्वयं उल्लेख करके उन्होंने अपना गर्वराहित्य प्रकट किया है[1]। जयरथ का यह कथन बतलाता है कि तिलक अलंकारसर्वस्व से प्राचीन ग्रन्थकार हैं। काव्यप्रकाश की संकेत टीका के प्रणेता रुचक ने अलंकारशास्त्र का अध्ययन तिलक से किया था—ऐसा उल्लेख वे स्वयं करते हैं ग्रन्थ के आरम्भ में[2]। जयरथ के अनुसार अलंकारसर्वस्व के रचयिता ही काव्यप्रकाश संकेत के भी निर्माता हैं। फलतः रुय्यक (अर्थात् रुचक) के पिता ही राजानक तिलक थे। फलतः पुत्र को पिता से साहित्यशास्त्र का अध्ययन तथा उनके मत का अपने ग्रन्थ में उपन्यास सर्वथा शोभन तथा औचित्यपूर्ण है। काव्यप्रकाश के टीकाकार होने की दृष्टि से रुय्यक का समय ११०० ईस्वी है। राजानक तिलक का समय तदनुसार १०७५ ई० के आसपास अर्थात् एकादश शती का उत्तरार्ध मानना न्यायसंगत है। तिलक ने 'उद्भटविवेक' में प्रतिहारेन्दुराज के मत का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है।

६—वामन

संस्कृत के आलंकारिकों में वामन का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानकर साहित्य-जगत् में एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो रीति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भट ने तो आलोचनाशास्त्र के एकदेश—अलंकार—पर ही ग्रन्थ-रचना कर कीर्ति-लाभ किया, परन्तु वामनाचार्य ने आलोचनाशास्त्र के समस्त तत्त्वों को अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा से उद्भासित किया। इस दृष्टि से इनकी तुलना अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह के साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन, दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड़ की सभा के सभा-पण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरे के विषय में मौन हैं। न तो वामन ने उद्भट के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है और न उद्भट ने वामन के सिद्धान्त का निर्देश।

समय

वामन के समय का निरूपण पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया गया है। इनके

---

१. एतच्च उद्भटविवेके राजानक तिलकेन सप्रपञ्चमुक्त मिति…चिरन्तनेति (अलं० सं०) अनेनास्माभिः सर्वत्र तन्मतानुसृतिरेव कृतेत्यात्मविषय-मनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति (अलं० स० विमर्शिणी पृ० २२७)।

२. ज्ञात्वा श्री तिलकात् सर्वालङ्कारोपनिषत्क्रमम्।
काव्यप्रकाश-संकेतो रुचकेनेह लिख्यते॥

समय की पूर्व अवधि महाकवि भवभूति (७००–७५० ई०) हैं जिनके एक पद्य[1] को वामन ने रूपक अलंकार के उदाहरण में प्रस्तुत किया है। अतः वामन का भवभूति से पश्चाद्वर्ती होना न्यायसिद्ध है। राजशेखर ने (९२० ई०) काव्यमीमांसा में वामन के सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त आलंकारिकों का उल्लेख 'वामनीयाः' शब्द से किया है। अभिनवगुप्त की समीक्षा से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पहले ही वामन का आविर्भावकाल था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। इसके ऊपर लोचनकार का कहना है कि इस पद्य में वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह की सम्मति में समासोक्ति अलंकार है। इस आशय को अपने हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने समासोक्ति और आक्षेप, इन दोनों अलंकारों का यह एक ही उदाहरण दिया है[2]। अतः लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य की सम्मति में वामन आनन्दवर्धन से (८५० ई०) पूर्ववर्ती हैं।

इस प्रकार इनका समय ७५० से ८५० ई० के बीच में लगभग ८०० ई० के है। कल्हण से राजतरंगिणी में काश्मीर-नरेश जयापीड़ के मन्त्रियों में वामन नामक मन्त्री का उल्लेख किया है[3]। काश्मीरी पण्डितों का यह प्रवाद है कि जिस वामन को जयापीड़ ने मन्त्रिकार्य में नियुक्त किया था वे ही काव्यालंकारसूत्र के रचयिता आलंकारिक वामन हैं। देश और काल की अनुकूलता के कारण हम इस प्रवाद को सत्य मानते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जो व्यक्ति सरस्वती की साधना से लब्धप्रतिष्ठ हो, वह मन्त्रणा के महनीय कार्य में नियुक्त न किया जाय।

---

१. इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिनयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्याः न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥ उ० रा० च० १।३८।

२. वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत्।
लोचन, पृष्ठ ३७।

३. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥ राज-तर० ४।४९७।

ग्रन्थ

वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकारसूत्र। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलंकारशास्त्र के इतिहास में यही एक ग्रन्थ ऐसा है जो सूत्रशैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमें दिये गये उदाहरण संस्कृत के प्रामाणिक काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना स्वयं वामन ने की। इसका निर्देश ग्रन्थ के मंगल श्लोक में ग्रन्थकार ने स्वयं किया है[1]। पीछे के आलंकारिकों ने भी निःसन्देह रूप से वामन को ही वृत्ति का रचयिता स्वीकार किया है।[2] लोचनकार अभिनवगुप्त ने वामन के आक्षेप अलंकार के उदाहरणों को—जो वृत्ति में दिये गये हैं—वामन की ही रचना माना है। इससे स्पष्ट है कि वामन ने ही सूत्र तथा वृत्ति, दोनों की रचना स्वयं की।

यद्यपि यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण था तथापि मध्ययुग में इसका प्रचार लुप्त हो गया था। कहा जाता है कि काश्मीर के प्रसिद्ध आलोचक मुकुल भट्ट ने कहीं से इसकी हस्तलिखित प्रति (आदर्श) प्राप्त कर इसका उद्धार किया। इसकी सूचना वामन के टीकाकार सहदेव ने दी है[3]।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण में कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में पाँच अधिकरण, बारह अध्याय तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन तथा अधिकारी का वर्णन है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर वामन ने रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोषदर्शन) पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का दर्शन कराता है। तृतीय अधिकरण (गुणविवेचन) अलंकार और गुण के पार्थक्य का विवेचन कर शब्द तथा अर्थ के दशगुणों का पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण में (आलंकारिक) अलंकार का विस्तार से वर्णन

---

१. प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥ का० सू० मंगलश्लोक।

२. लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते।
वामन, का० लं० सू० ४।३।८ की वृत्ति।

३. वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभूत् मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया नात्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥

है। पंचम अधिकरण में (प्रायोगिक) संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शुद्धि की समीक्षा है।

वामन ने अपने ग्रन्थ में विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है। अर्थप्रौढ़ि के उदाहरण में उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है जिसमें इन्होंने चन्द्रगुप्त के पुत्र कोवसुबन्धु के आश्रयदाता के रूप में प्रस्तुत किया है[1]। इस श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में ऐतिहासिकों में घनघोर वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। अधिकांश विद्वानों की यही सम्मति है कि गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ही बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के आश्रयदाता थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का निर्धारण वामन की सहायता से हुआ है।

वामन का विशिष्ट मत

रीति सम्प्रदाय के उन्नायक होने के कारण वामन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनमें पहला सिद्धान्त है।

(१) "रीतिरात्मा काव्यस्य"। रीति का सिद्धान्त आलोचना शास्त्र में अत्यन्त प्राचीन है। भामह से पूर्वकाल में ही रीति सिद्धान्त की उद्भावना हुई थी परन्तु रीति काव्य की आत्मा है, इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वामन की निजी विशेषता है।

(२) भामह और दण्डी रीति के द्विविध भेद—वैदर्भी और गौड़ी—से ही परिचित थे। परन्तु वामन को तृतीय पाञ्चाली रीति के आविर्भाव का श्रेय प्राप्त है। इसका वर्णन तथा समीक्षण वामन ने ही सर्वप्रथम किया।

(३) गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व माने जाते थे। इन दोनों के पार्थक्य के निर्देश का श्रेय वामन को ही प्रात है।

(४) वामन के पूर्व अलंकार-जगत् में केवल दश गुण ही माने जाते थे परन्तु वामन ने अपने प्रतिभा के बल से दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण—इस प्रकार बीस गुणों की उद्भावना की। यद्यपि वामन का यह मत पीछे के आलंकारिकों को मान्य नहीं हुआ, फिर भी उनकी मौलिकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

(५) अलंकारों के विवेचन में भी इनकी मौलिकता दीख पड़ती है। इन्होंने उपमा को मुख्य अलंकार माना है। अन्य समस्त अलंकार उपमा के ही प्रपञ्च स्वीकृत किये गये हैं।

---

१. साभिप्रायत्वं यथा—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥"

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु-साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्। का० लं० सू० २।३।२

(६) वक्रोक्ति के विषय में इनकी कल्पना नितान्त मौलिक और विलक्षण है। भामह और दण्डी वक्रोक्ति को अलंकार का मुख्य आधार मानते थे परन्तु वामन ने इसे अर्थालंकार के रूप में माना है। उनका लक्षण है—सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः। अर्थात् सादृश्य से उत्पन्न होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है।

(७) ये आक्षेप को दो प्रकार का मानते हैं। मम्मट ने इनमें से एक को प्रतीप अलंकार माना है और दूसरे को समासोक्ति।

(८) वामन काव्य में रस की सत्ता के विशेष पक्षपाती हैं। अलंकार सम्प्रदाय में रस केवल बाह्य काव्य-साधन के रूप में ही अंगीकृत किया गया था, किन्तु वामन ने उसे कान्ति नामक गुण के रूप में स्वीकृत कर काव्य में रस को अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता तथा अधिक उपादेयता प्रदान की। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण वामन अलंकार जगत् के एक जाज्वल्यमान रत्न माने जाते हैं।

वामन के ग्रन्थ के कई टीकाकारों का नाम सुना जाता है जिनमें सहदेव कोई प्राचीन टीकाकार हैं, परन्तु न तो उनके देश का पता है और न काल का। महेश्वर की टीका का नाम साहित्यसर्वस्व है जिसका हस्तलेख प्राप्त है। गोप्येन्द्र तिप्प भूपाल की कामधेनु नाम्नी टीका नितान्त लोकप्रिय है और कई बार प्रकाशित हो चुकी है। इन्होंने काव्यप्रकाश, विद्याधर, विद्यानाथ, विदग्धमुख मण्डन तथा अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। इससे इनका समय १२ शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।

७—रुद्रट

आचार्य रुद्रट का नाम अलंकारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अलंकारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया। इनके जीवनवृत्त के विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नाम से पता चलता है कि ये काश्मीरी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त में भवानी, मुरारि और गजानन की। इससे पता चलता है कि ये शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधु के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था[1]। इनके पिता का नाम वामुकभट्ट था तथा ये सामवेदी थे।

---

1. अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो

यथा—शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्॥

काव्यालंकार ५।१२–१४ की टीका।

अलंकार ग्रन्थों में इनके मत का उल्लेख इतनी अधिकता से किया गया है कि इनके समय-निरूपण में विशेष कठिनाई नहीं दीख पड़ती। मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराज ने अपने ग्रन्थों में इनके मत तथा श्लोकों का उद्धरण स्पष्टतः किया है परन्तु सबसे प्राचीन आलंकारिक जिन्होंने इनके मत तथा श्लोकों को उद्धृत किया है राजशेखर हैं। इन्होंने अपनी काव्यमीमांसा में रुद्रट के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि काकु-वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालंकार है[1]। वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में मानने का प्रथम निर्देश हमें रुद्रट में ही मिलता है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। रुद्रट ध्वनि सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित है। आनन्दवर्धन ने न तो रुद्रट को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया और न रुद्रट ने ही आनन्दवर्धन के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख अपने विस्तृत ग्रन्थ में किया। इससे यही प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के पूर्व ही हो चुका था। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहिले अर्थात् नवम शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है।

ग्रन्थ

रुद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है जो इनकी एकमात्र कृति है। विषय की दृष्टि से यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें अलंकारशास्त्र के समस्त तत्त्वों का विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है जिनकी संख्या ७३४ है। इसमें अध्यायों की संख्या १६ है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, पाँच प्रकार के शब्दालंकार, चार प्रकार की रीति, पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालंकार, दोष, दश प्रकार के रस, नायक-नायिका-भेद तथा काव्य के प्रकार का क्रमशः वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है।

रुद्रट के काव्यालंकार के ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है—(१) रुद्रटालंकार— वल्लभदेव की यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीर के मान्य टीकाकार हैं जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दी का प्रथमार्ध है। रुद्रट की सबसे प्राचीन टीका यही है। यदि इस टीका का पता लगा होता तो इससे अलंकार शास्त्र के सम्बन्ध में अनेक नयी बातों का ज्ञान होता। (२) नमिसाधु की टीका— यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमिसाधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीका की रचना का समय ११२५ वि० (१०६९ ई०)

---

१. काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम् ॥ इति रुद्रटः।

का० मी० अध्याय ७, पृ० ३१

दिया है[१]। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण है जिसमें भरत, मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, वामन आदि मान्य आलंकारिकों के मत का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है। (३) तीसरी टीका के रचयिता आशाधर हैं जो एक जैन यति थे और १३वीं शताब्दी के मध्य भाग में विद्यमान थे।

रुद्रट को अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य मानना ही उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्य में रसविधान का निरूपण बड़े विस्तार के साथ करते हैं तथापि इनका आग्रह अलंकार सिद्धान्त के ऊपर ही विशेष है। अलंकारों का श्रेणी-विभाग करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। इन्होंने अर्थालंकारों को चार तत्त्वों—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—के आधार पर विभक्त करने का प्रयत्न किया। यह श्रेणी-विभाग उतना वैज्ञानिक तो नहीं है, फिर भी अलंकारों के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है।

रुद्रटने अनेक नवीन अलंकारों की भी कल्पना की है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार माना है जिसको मम्मट और आनन्दवर्धन ने अलंकार न मानकर गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही एक प्रकार माना है। इनके नवीन अलंकार हैं—मत, साम्य एवं पिहित जिनका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। इन्होंने कुछ प्राचीन अलंकारों के नवीन नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ इनका व्याजश्लेष (१० । ११) भामह की व्याजस्तुति है। अवसर अलंकार (७ । १०३) मम्मट के उदात्त का दूसरा प्रकार है। इनकी 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है और पूर्व अलंकार (६ । ३) अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। इस अलंकार-विधान के अतिरिक्त काव्य में रस का विस्तृत विधान रुद्रट के ग्रन्थ की महती विशेषता है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट की एकमात्र रचना शृंगार-तिलक है जिसके तीन परिच्छेदों में रस का—विशेषतः शृंगार-रस का—विस्तृत वर्णन किया है। प्रथम परिच्छेद में नवरस, भाव तथा नायक-नायिका के विविध प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ शृंगार का तथा तृतीय में इतर रसों का तथा वृत्तियों का वर्णन है। नाम की तथा विषय की समता के कारण अनेक पश्चिमी विद्वानों ने रुद्रभट्ट को रुद्रट से अभिन्न व्यक्ति माना है। सुभाषित ग्रन्थों में एक के श्लोक दूसरे के नाम से दिये गये हैं जिससे इन दोनों के विषय में और भी भ्रान्ति फैल गई है।

---

१. पञ्चविंशति - संयुक्तैरेकादश - समाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥

टीका का अन्तिम श्लोक।

दोनों के ग्रन्थों के गाढ़ अनुशीलन से इस भ्रान्ति का निराकरण भलीभाँति किया जा सकता है। आलोचनाशास्त्र के विषय में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। रुद्रट की दृष्टि में काव्य का विशिष्ट उपादेय अंग है अलंकार और इसी कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ के ग्यारह अध्यायों में इस तत्त्व का विवेचन किया है। अन्तिम अध्याय में इन्होंने रस का वर्णन सामान्य रूप से किया है। उधर रुद्रभट्ट की आलोचना का मुख्य आधार है रस और विशेषतः शृंगार रस। इसीलिए इन्होंने काव्य के अन्य अंगों की अवहेलना कर, रस का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार रुद्रभट्ट की दृष्टि रुद्रट की अपेक्षा बहुत ही संकुचित तथा सीमित है। रुद्रट ने काव्य के समग्र अंगों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है तो रुद्र या रुद्रभट्ट ने काव्य के केवल एक ही अंग में अपने को सीमित तथा संकुचित रखा है। तथ्य बात तो यह है कि रुद्रट एक महनीय तथा मौलिक आलंकारिक हैं और रुद्रभट्ट एक सामान्य कवि हैं जिन्होंने अपने विषय-विवेचन के लिए रुद्रट के ग्रन्थ से विशिष्ट सहायता ली है।

इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रट के ग्रन्थ के चार अध्याय 'शृंगारतिलक' के विषय से पूर्ण समानता रखते हैं। यदि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक व्यक्ति होता तो काव्यलंकार की रचना के अनन्तर शृंगारतिलक के लिखने का क्या प्रयोजन था? विषय की भिन्नता ग्रन्थकारों की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित कर रही है। (१) शृंगारतिलक में रुद्रभट्ट ने केवल नव रसों का वर्णन किया है परन्तु रुद्रट ने 'प्रेयः' नामक एक नवीन रस की उद्भावना कर रसों की संख्या दस कर दी है। (२) रुद्रभट्ट ने कैशिकी आदि चारों नाट्य-वृत्तियों का काव्य में उल्लेख किया है। उधर रुद्रट ने उद्भट के अनुसार पाँच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का वर्णन किया है जो अनुप्रास के ही विवध प्रकार हैं। (३) नायिका-नायक के विभिन्न प्रकारों में भी इसी प्रकार का भेद है। नायिका के तृतीय भेद वेश्या का वर्णन बड़े आग्रह से रुद्रभट्ट ने किया है परन्तु रुद्रट ने केवल दो श्लोकों में वर्णन कर उसे तिरस्कार के साथ हटा दिया है। इन्हीं कारणों से रुद्रभट्ट को रुद्रट से भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत है।

इन दोनों ग्रन्थकारों के काल में भी पर्याप्त अन्तर है। हेमचन्द्र ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'शृंगारतिलक' के मंगल श्लोक को उद्धृत कर खण्डन किया है। अतः रुद्रभट्ट का काल दशम शताब्दी के पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता है। परन्तु रुद्रट का समय नवम शताब्दी का आरम्भ-काल है जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

८—आनन्दवर्धन

ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम अलंकार शास्त्र के इतिहास में सर्वदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनी को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है, अलंकार शास्त्र में वही स्थान आन्नदवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय इन आचार्य को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग सदा के लिए व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश और काल से हमें पर्याप्त परिचय है। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर-नरेश राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभा-पण्डितों में अन्यतम थे[१]। कल्हण पण्डित का राजतरंगिणी में यह निर्देश सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। कल्हण पण्डित के उपर्युक्त मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धन के अन्य ग्रन्थ 'देवीशतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई० के आसपास व्याख्या लिखी। इतना ही क्यों, राजशेखर ने—जिनका समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम का आरम्भ है—आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की है, जिनमें 'देवीशतक', 'विषम-बाणलीला' और 'अर्जुनचरित' प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है, जो इनकी कीर्ति की आधारशिला है। ध्वन्यालोक में ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनिविषयक प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश और उनका युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनि के इतिहास जानने के लिये नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के विभेदों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है, साथ ही साथ गुण तथा अलंकारों का विवेचन भी प्रसंग की पूर्ति के लिये ग्रन्थकार ने किया है। तृतीय उद्योत का विषय भी ध्वनि के विभेदों का विवेचन ही है।

---

१. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ राजतरंगिणी ५।३४।

इस उद्योत में काव्य के अन्य भेद गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य का वर्णन भी उदाहरणों के साथ दिया गया है। व्यंजना नामक नवीन शब्द-व्यापार की कल्पना काव्य-जगत् में क्यों की गई? क्या अभिधा और लक्षणा के द्वारा काव्य के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धन ने इस उद्योत में प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है। ध्वनि की सहायता से पूर्वपरिचित अर्थ में भी अपूर्वता का संचार होता है, नीरस विषय में भी रसवत्ता विराजने लगती है। ध्वनि-काव्य की रचना करने में ही कवि की अमर कला का विलास है। इसका निरूपण इस उद्योत में है।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—(१) कारिका, (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो संस्कृत के प्रामाणिक कवियों के प्रख्यात ग्रन्थों से लिये गये हैं, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लेखनी से प्रसूत हुए हैं, या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं? यह बड़े ही विवाद का विषय है। आलंकारिकों की परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्तिका अभिन्न रचयिता मानती आती है, परन्तु ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे वृत्तिकार तथा कारिकाकार के पार्थक्य का आभास मिलता है[1]। अभिनवगुप्त ने वृत्तिग्रन्थ को कारिका-ग्रन्थ से अलग माना है तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् और कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकृत् शब्दों का व्यवहार किया है। इसी आधार पर काणे और डाक्टर डे ने कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न व्यक्ति माना है[2]। वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन है, परन्तु कारिकाकार का नाम अज्ञात है। डाक्टर काणे ने कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बतलाया है। परन्तु पिछले आलंकारिकों ने कारिका और वृत्ति के रचयिताओं में किसी प्रकार का भेद न मानकर आनन्दवर्धन को ही समभावेन दोनों का निर्माता स्वीकार किया है। (१) राजशेखर ने आनन्दवर्धन के

---

१. कतिपय स्थलों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

(क) न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह—तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भावः। (लोचन, पृ० ६०)

(ख) उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति— (लोचन पृ० १२२)।

२. काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (तृ० सं० पृ० २१०-२२१)। डा० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ११४।

मत का उल्लेख करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है, जो 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता माना है, जिसका परिचय इस सुप्रसिद्ध पद्य से मिलता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेषिणा।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

(२) वक्रोक्ति-जीवितकार (कुन्तक) भी वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही पुकारते हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन के एक पद्य को रूढिशब्दवक्रता का उदाहरण देकर स्पष्ट ही लिखा है—"ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः, किं पौनरुक्त्येन"। अतः कुन्तक की सम्मति में आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार सिद्ध होते हैं। (३) महिमभट्ट की सम्मति भी इसी मत की पोषिका है। महिमभट्ट कश्मीर के निवासी ही न थे, प्रत्युत लोचन के रचयिता अभिनवगुप्त के समकालीन भी थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकायें तथा वृत्तिभाग को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है और उनके रचयिता का सर्वत्र ध्वनिकार के नाम से निर्देश किया है। (४) क्षेमेन्द्र ने भी, जो अभिनवगुप्त के साहित्य शास्त्र के साक्षात् शिष्य थे और काश्मीरी पण्डितों की परम्परा से नितान्त अवगत थे 'औचित्यविचारचर्चा' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। (५) हेमचन्द्र ने 'ध्वन्यालोक' की कारिका को आनन्दवर्धन की ही रचना माना है। (६) विश्वनाथ कविराज ने भी वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार के नाम से उल्लिखित किया है। इतनी प्रौढ परम्परा के रहते हुए कारिका तथा वृत्ति के लेखकों में भेद मानना कथमपि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

९—अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ, पाण्डित्यपूर्ण तथा तलस्पर्शिणी हैं कि वे मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हैं। अलंकारशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि को और अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भामतीकार को। अभिनवगुप्त आलंकारिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः जब उन्होंने अलंकारशास्त्र में ग्रन्थ-रचना की तब इस शास्त्र को एक निम्न स्तर से उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

जीवनी

इनके देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय हमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका-विवरण' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था, पिता का नाम चुक्खल एवं अनुज का नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मण गुप्त थे। 'लोचन' में इन्होंने अपने अलंकारशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सामान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। इसका परिचय 'लोचन' के शब्दों से ही मिलता है—"यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वद्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य।" अभिनवगुप्त की लिखी भगवद्गीता की टीका से पता चलता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्र के थे। इनके पितामह का नाम सौचुक और पिता का नाम भूतिराज था। 'लोचन' में इन्होंने अपने गुरु के मत और श्लोकों को अनेक बार उद्धृत किया है। 'ध्वन्यालोक' के संदिग्ध स्थलों के निराकरण के लिये अपने गुरु के मत का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार से किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्य ने गुरु की मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महनीय टीका का प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव-भारती' के निर्माण की प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टतोत या भट्टतौत से मिली। 'अभिनव-भारती' के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बड़े आदर तथा उत्साह से किया है। भट्टतौत अपने समय के मान्य आलंकारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य-कौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ में पड़ी हुई है। अभिनवगुप्त ने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी, जो मूल के समान ही अभी तक उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहित्य-शास्त्र की एक टूटी कड़ी का पता लग जाय।

काल

अपने कई ग्रन्थों का रचना-काल ग्रन्थकार ने स्वयं दिया है। इन्होंने अपना 'भैरवस्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई०) में लिखा। उत्पलाचार्य के 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने 'विमर्षिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५) में हुई थी। काल-गणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ-काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनीविजयवार्तिक',

परमार्थसार, 'परात्रिंशिका-विवरण' त्रिक दर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनका विपुलकाय 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश ही है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्त को प्राप्त है। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्र में इनकी महनीय कृतियाँ तीन ही हैं।

ग्रन्थ

(१) ध्वन्यालोक-लोचन—आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की यह टीका सचमुच आलोचकों को लोचन प्रदान करती है, क्योंकि विना इसकी सहायता के ध्वन्यालोक के तत्त्वों का उद्घाटन नहीं हो सकता था। इस टीका में रसशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त—जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना नितान्त दुर्लभ है—एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूल की अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गई है जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नाम की टीका लिखी गई थी[1] और इसके लेखक इन्हीं के कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीका का खण्डन अनेक अवसरों पर किया है[2]। अन्त में इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है—"अलं निजपूर्ववंश्यैः विवादेन" अर्थात् अपने पूर्वज के साथ अधिक विवाद करने से क्या लाभ ?

(२) अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र के ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है[3]। भरत के कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए इस टीका का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। यह 'लोचन' के समान ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है, जिसमें प्राचीन आलंकारिकों तथा संगीतकारों के मतों का उपन्यास बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। प्राचीन भारत की नाट्यकला—संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अंगहार आदि—के रूप को यथार्थतः समझने के लिये इस टीका का अध्ययन तथा अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। परन्तु दुःख है कि यह टीका अभी भी विशुद्ध रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं है। बड़ौदा से प्रकाशित टीका अब पूरी हुई है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत

---

१. किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥
(लोचन, प्रथम उद्योत का अन्तिम श्लोक)

२. लोचन, पृ० १२३, १७४, १७८, १८५, २१५ (काव्यमाला सं०)।

३. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (चार खंडों में) बड़ौदा से प्रकाशित।

एक स्वतन्त्र मौलिक महाग्रन्थ है। भरत के ऊपर प्राचीन आलंकारिकों ने भी टीकायें लिखी थीं, परन्तु ये सर्वथा उच्छिन्न हो गई हैं। इन टीकाओं का जो कुछ पता हमें चलता है वह 'अभिनवभारती' के उल्लेख से ही प्राप्त है। यह टीका नितान्त विशद, पाण्डित्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शिनी है।

(३) काव्यकौतुकविवरण—ऊपर हमने इनके गुरु भट्टतौत का उल्लेख किया है। यह 'काव्यकौतुक' उन्हीं की रचना है, जिसके ऊपर अभिनवगुप्त ने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु यह खेद का विषय है कि आज न तो यह मूल ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न उसकी टीका ही। इसकी सत्ता का परिचय भी हमें अभिनवभारती के उल्लेख से मिलता है[1]।

१०—राजशेखर

राजशेखर महनीय नाटककार के रूप में ही अभी तक प्रसिद्ध थे, परन्तु इधर इनका एक अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसी के बल पर इनकी गणना प्रधान आलोचकों में होने लगी है।

जीवनवृत्त

इनके काल तथा जीवनवृत्त का विशेष विवरण हमें उपलब्ध है। ये विदर्भ के निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नाम से विख्यात था। इसीलिये इन्होंने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। अकाल-जलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि संस्कृत भाषा के मान्य कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकाल जलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। चौहान वंशी अवन्तिसुन्दरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्री से इन्होंने अपना विवाह किया था[2]। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की विदुषी थी। अलंकार शास्त्र के विषय में भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे, जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देश के, परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज प्रदेश। यहीं के प्रतिहारवंशी

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)।

२. चाहुमानकुल-मौलिमालिका राजशेखर-कवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति॥
(कर्पूरमंजरी १।११ संस्कृत)।

नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे।[१] इस प्रकार इनके जीवनकाल में ही इन्हें विशेष गौरव तथा सम्मान प्राप्त था।

काल

इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली-भाँति हो जाता है। सियोदोनी शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होने से राजशेखर का भी यही समय (दशम शतक का पूर्वार्ध) है। इस प्रमाण के अतिरिक्त विभिन्न कवियों के राजशेखर-विषयक निर्देशों से भी इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। इन्होंने काव्यमीमांसा में काश्मीर-नरेश जयापीड (७७९ ई०—८१३ ई०) के सभापति उद्भट का तथा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा-पण्डित आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। राजशेखर के मत का उल्लेख सबसे पहले सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया है, जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ९२० ई० के बीच में थे।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें (१) बालरामायण, (२) बालभारत, (३) विद्धशालभञ्जिका तथा (४) कर्पूरमंजरी मुख्य हैं। काव्यमीमांसा इनका अलंकारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि आज से चालीस वर्ष पहले हुई। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० १) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणों में लिखा था जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं जिनमें कवि तथा आलोचक के स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीति-निरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरण का विचार आदि अनेक उपादेय विषयों का नवीन तथा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकरण का नाम कविरहस्य यथार्थ है, क्योंकि लेखक ने कवि के लिए आवश्यक समस्त सिद्धान्तों का एकत्र निरूपण बड़ी ही सुन्दरता तथा नवीनता के साथ किया है। इस ग्रन्थ में कतिपय नूतन सिद्धान्त हैं। जैसे काव्यपुरुष की उत्पत्ति तथा साहित्य-विद्यावधू

---

१. आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥

(बालरामायण १।१८)

के साथ उसका विवाह सम्बन्ध । प्राचीन काल में इस ग्रन्थ का आदर खूब ही था, क्योंकि हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, भोजराज तथा शारदातनय आदि आलंकारिकों ने इस ग्रन्थ से अनेक प्रसंगों का पूरा का पूरा उद्धरण अपने ग्रन्थ में उठाकर रख दिया है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा, अप्रसिद्ध आलंकारिकों का निर्देश किया गया है जिससे हम उनके नाम और सिद्धान्तों से अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारत के प्राचीन भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय भूगोल के जानने की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कविगण काव्य का पाठ किस रीति से किया करते थे इसका रोचक विवरण हमें काव्यमीमांसा के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है।

११—मुकुलभट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' है। इसमें केवल पन्द्रह कारिकाएँ हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकार ने ही वृत्ति लिखी है। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में उद्भट, कुमारिलभट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय तथा शबरस्वामी जैसे ग्रन्थकार और ग्रन्थों का निर्देश किया है। किसी समय इस ग्रन्थ की इतनी ख्याति थी कि मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेदों का विवेचन इसी ग्रन्थ के आधार पर किया है। काव्यप्रकाश के 'लक्षणा तेन षड्विधा' तथा लक्षणा के स्वरूप का विवेचन 'अभिधा-वृत्तिमातृका' की सहायता के बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता।

ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम भट्ट कल्लट था, जो कल्हण पण्डित के अनुसार काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के (८५५—८८३ ई०) राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे तथा इस प्रकार आनन्दवर्धन और रत्नाकर के समकालीन थे[1]। कल्हण के इस कथन के अनुसार मुकुलभट्ट को नवम शताब्दी के अन्त तथा दशम के आरम्भ में मानना उचित होगा। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि उन्होंने अलंकारशास्त्र की शिक्षा मुकुलभट्ट से पाई थी[2]। इन्होंने अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुलभट्ट की प्रशस्त प्रशंसा की है

---

१. अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥ (राजतरंगिणी ५।६६)

२. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः॥ (अन्तिम पद्य)

और उन्हें मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित निर्दिष्ट किया है। इस उल्लेख से मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में निश्चित होता है।

१२—धनञ्जय

धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत-नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन तथा उपादेय सारग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना विपुलकाय ग्रन्थ है कि उसके भीतर प्रवेश करना विद्वानों के लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की।

धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था। दशरूपक के टीकाकार धनिक भी अपने को विष्णु का ही पुत्र बतलाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे धनञ्जय के ही भाई थे। दशरूपक की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में हुई थी[1], जो परमारवंश के सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्ज का समय ९७४ से ९९४ ई० तक है। यही समय दशरूपक की रचना का भी है। धनिक ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका कुछ वर्षों के अनन्तर लिखी थी, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इन्होंने पद्मगुप्त परिमल के 'नवसाहसांकचरित' के कुछ उद्धरण अपनी टीका में दिये हैं, जिसकी रचना मुञ्ज के भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराज के समय में की गई थी।

धनञ्जय का एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है जिसमें चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि के पाँच प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दश प्रकारों का सांगोपांग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश में नाटक में रस का विशिष्ट विवेचन है। रस-निष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यंजनावादी नहीं हैं। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम 'अवलोक' है जिसकी रचना धनञ्जय के ही भ्राता धनिक ने की है। यह टीका अनेक दृष्टियों से बड़ी ही उपादेय है। धनिक ने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलंकार ग्रन्थ का भी निर्माण किया था, जिसके अनेक श्लोक

---

1. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥
(दशरूपक ४।८६)

इन्होंने इस टीका में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय के ग्रन्थ की प्रसिद्धि प्राचीन काल में बहुत ही अधिक थी। इसीलिए इस पर अनेक टीकाओं की रचना का पता चलता है। नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम की टीकाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु बहुरूप मिश्र की टीका तो बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। ये चारों ही टीकाएँ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं जिनका प्रकाशन—कम से कम बहुरूप मिश्र की टीका का—अत्यन्त आवश्यक है।

१३—भट्टनायक

आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त को न माननेवाले आलंकारिकों में भट्टनायक प्राचीनतम तथा अग्रगण्य हैं। परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि इनका वह मौलिक ग्रन्थ, जिसमें इन्होंने व्यंजना का खण्डन कर काव्य में भावना-व्यापार को स्वीकार किया है, अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इनके सिद्धान्त का परिचय अभिनवगुप्त के द्वारा 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में मिलता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था जिसका पता पिछले आलंकारिकों के निर्देशों से भली भाँति मिलता है। महिमभट्ट का कहना है कि उन्होंने 'हृदयदर्पण' का बिना अवलोकन किये ध्वन्यालोक के खण्डन का समस्त श्रेय प्राप्त करने की अभिलाषा से 'व्यक्ति-विवेक' का निर्माण किया।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

इस पद्य में श्लेष के द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि 'दर्पण' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के सिद्धान्त का मार्मिक खण्डन 'व्यक्ति-विवेक' की रचना के पूर्व ही किया जा चुका था। इस पद्य की व्याख्या 'दर्पण' के रहस्य को भली-भाँति समझाती है—

दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।

'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने भट्टनायक को 'हृदयदर्पणकार' कहा है। इन दोनों निर्देशों से यही प्रतीत होता है कि जिस 'दर्पण' ग्रन्थ का उल्लेख महिमभट्ट ने किया है वह भट्टनायक का 'हृदय-दर्पण' ही था। भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ को ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने ही लिए लिखा था, इसका पता लोचन से भी लगता है। लोचन में भट्टनायक के मत का उल्लेख अनेक बार आया है। इन निर्देशों की समीक्षा हमें इसी सिद्धान्त पर पहुँचाती है कि भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' का खण्डन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के साथ किया था।

भट्टनायक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्य में विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने इतना कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेप इन पर किया है कि ये आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के ही अधिक समीप ज्ञात होते हैं। अतः इनका समय दशम शतक का मध्यकाल (९५० ई०) मानना नितान्त न्यायसंगत है। रस के विषय में इनका स्वतन्त्र मत था जिसका खण्डन लोचन तथा अभिनवभारती दोनों में किया गया है। इनके काव्य-सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है[1]।

१४—कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलंकारशास्त्र के इतिहास में 'वक्रोक्ति-जीवितकार' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन-शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभंगीभणितिः' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व में विकसित करने का श्रेय कुन्तक को ही है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वों को अन्तर्भुक्त कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उसपर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

समय

इनके समय का निरूपण ग्रन्थ में निर्दिष्ट आलंकारिकों की सहायता से भली भाँति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से भली भाँति परिचित थे[2]। राजशेखर के ग्रन्थों का उद्धरण 'वक्रोक्ति-जीवित' में इतनी बार किया गया है कि निःसन्दिग्ध रूप से कुन्तक राजशेखर के पश्चाद्वर्ती हैं। उधर महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्त का पर्याप्त खण्डन किया है[3]। महिमभट्ट का

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्यशास्त्र भाग २, पृ० ३६८।

२. वक्रोक्ति-जीवित पृ० ८६।

३. काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना, कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता, श्लोक एष स निदर्शितो मया॥

व्यक्ति-विवेक पृ० ५८।

समय ग्यारह शतक का अन्तिम भाग है। अतः कुन्तक का काल दशम शतक का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है। अभिनवगुप्त के आविर्भाव का भी यही समय है। इस प्रकार दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। कुन्तक ने अभिनवगुप्त का न तो कहीं निर्देश किया है और न अभिनवगुप्त ने कुन्तक का। परन्तु 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तक की वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों से परिचित थे[1]। अतः ये अभिनवगुप्त के समसामयिक होते हुए भी अवस्था में उनसे कुछ ज्येष्ठ मालूम पड़ते हैं।

ग्रन्थ

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्ति-जीवित' है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या उन्मेष है जिनमें से प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रस्तुत करने के कारण डाक्टर सुशीलकुमार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं[2]। इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं— कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है। वक्रोक्ति के छः भेद ग्रन्थकार ने माने हैं तथा इन सभी भेदों का सामान्य निर्देश इस उन्मेष में किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन प्रकार—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत ही अलंकारों का अन्तर्निवेश किया गया है। कुन्तक ने अलंकारों की छानबीन एक नवीन दृष्टि से की है। इसके परिचय के लिए इस उन्मेष का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो प्रकार— प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तक का वैशिष्ट्य वक्रोक्ति की महनीय कल्पना के कारण है। "वक्रोक्ति अलंकार का सर्वस्व तथा जीवन है", भामह की इस उक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा

---

१. तथा हि—'तटीतारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा लोचन पृ० १६०। यह समीक्षा वक्रोक्तिजीवित पृ० २३ के आधार पर है यद्यपि अभिनव ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

२. कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० ८) में प्रकाशित।
(द्वितीय परिवर्धित सं० १९२८)

ग्रहण कर कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक विधान काव्य में निर्दिष्ट किया है। काव्य में रस तथा ध्वनि के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों से ये पूर्णतः अवगत थे। परन्तु काव्य में इन्हें पृथक् स्थान न देकर ये वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं। कुन्तक की विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी आलोचना अलोकसामान्य भावकप्रतिभा की द्योतिका है। पिछले आलंकारिकों पर इनका प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। इनकी वक्रोक्ति को ध्वनिवादी आचार्यों ने मान्यता भले ही न प्रदान की हो, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगों ने कुन्तक के प्रति अपना सम्मान ही दिखलाया है।

१५—महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्तिविवेक' की रचना का उद्देश्य ही ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करना था। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनि को अनुमान के अन्तर्भुक्त दिखलाने के लिए ही मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थों में अपने ग्रन्थ के नाम के कारण 'व्यक्ति-विवेककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधि से ही प्रतीत होता है कि ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने भीम के पुत्र तथा अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने 'तत्त्वोक्ति-कोष' नामक एक अन्य अलंकार ग्रन्थ की भी रचना की थी[1] जिसका पता अभी तक नहीं चला है।

इनके मत का उल्लेख 'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यक ने किया है। अतः ये ११००ई० से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बाल-रामायण' के पद्यों को उद्धृत किया है तथा 'वक्रोक्तिजीवित' और 'लोचन' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बाद में आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११ वीं शताब्दी का आरम्भ मानना उचित है (१०२५ ई०)।

---

१. इत्यादि प्रतिभातत्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्॥
व्यक्ति विवेक पृ० ११८ (अनन्तशयन संस्करण)

ग्रन्थ

महिमभट्ट की एकमात्र कृति व्यक्तिविवेक है[1]। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है यह 'व्यक्ति' अर्थात् व्यञ्जना का 'विवेक' अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थ में तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में व्यंजना का मार्मिक खण्डन है। ध्वनि को ये लक्षणा से पृथक् नहीं मानते। अतः अनुमान के द्वारा समस्त ध्वनि-प्रकारों का विवरण दिखलाकर महिमभट्ट ने अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है—अर्थविषयक और शब्दविषयक अथवा अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग अनौचित्य के भीतर रसदोष का अन्तर्भाव किया गया है। बहिरंग अनौचित्य पाँच प्रकार का होता है—(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रमभेद (४) पौनरुक्त्य और (५) वाच्यावचन। इन्हीं पाँचों दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवरण से यह विमर्श पूर्ण है। काव्य में दोष-निरूपण की दृष्टि महिमभट्ट की सचमुच अलौकिक है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में महिमभट्ट के इन सिद्धान्तों को पूर्णतया अपनाया है। आलोचकों में मम्मट के दोषज्ञ होने की प्रसिद्धि है—दोषदर्शने मम्मटः; परन्तु महिमभट्ट से तुलना करने पर यह गौरव आचार्य महिमभट्ट को ही देना उचित प्रतीत होता है। जिस आलोचक ने 'काव्यप्रकाश' की स्तुति में यह प्रशस्त पद्य—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रसभाकृष्टा, कष्टामेषाऽश्नुते दशाम्॥

लिखा है, सम्भवतः उसे यह ज्ञात नहीं था कि व्यक्तिविवेक में महिमभट्ट ने दोषों का निरूपण तथा व्यवस्थापन बड़ी प्रामाणिकता के साथ पहले ही कर दिया था जिसका ग्रहण मम्मट ने अपने सप्तम उल्लास में किया है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पड़ता है और इसमें से चालीस ध्वनि के उदाहरणों को लेकर यह दिखलाता है कि ये सभी अनुमान के ही प्रकार हैं।

'व्यक्तिविवेक' की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। यह टीका मूल के साथ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। इस टीका-

---

1. रुय्यक की वृत्ति के साथ मूलग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका (मधुसूदन मिश्र लिखित) के साथ यह ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद रेवाप्रसाद द्विवेदी—प्र० चौखम्भा विद्याभवन, काशी।

(वृत्ति ' के रचयिता का नाम उपलब्ध नहीं है। परन्तु आन्तरिक परीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने ही इस वृत्ति की रचना की थी। इस वृत्तिकार का कहना है (पृ० ३२) कि उसने साहित्य-मीमांसा तथा नाटक-मीमांसा नामक ग्रन्थों की रचना की थी और ये ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व के (पृ० ६१) प्रामाण्यपर रुय्यक की ही रचनायें हैं। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ही व्यक्तिविवेक की टीका के रचयिता हैं। यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है परन्तु टीकाकार ध्वनिवादी है। अतः मूलग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण से टीकाकार का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण उसने महिमभट्ट की कटु आलोचना की है। रुय्यक ने ध्वनिकार के मत का समर्थन करते हुए महिमभट्ट की बड़ी खिल्ली उड़ाई है।—तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति (पृष्ठ ४१)।

१६—क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयों के ऊपर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करने वाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलंकार-जगत् में औचित्य-विषयक महनीय कल्पना के कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल से अनेक उपदेशप्रद काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया। अलंकार साहित्य में इनकी विशिष्ट कृति **'औचित्यविचार-चर्चा'** तथा **'कविकण्ठाभरण'** हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम सिन्धु और पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैव थे। परन्तु अपने जीवन की सन्ध्या में सोमाचार्य के द्वारा वैष्णवधर्म में दीक्षित किये गये। अपने समस्त ग्रन्थों में इन्होंने अपना दूसरा नाम 'व्यासदास' लिखा है[1]। साहित्यशास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे[2]। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' की रचना काश्मीर-नरेश अनन्त के (१०२८–१०६५ ई०) राज्यकाल में की गई थी[3]। इन्होंने 'दशावतार-चरित' का

---

१. इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥
—दशावतारचरित १०।४१

२. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृत्ति-कारिणः॥
—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

३. तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। —औ० वि० च०।
राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः॥ —कवि-कंठाभरण।

रचनाकाल १०६६ ई० दिया है जब अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देश पर राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्र का आविर्भावकाल ११वें शतक का उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ 'औचित्यविचार-चर्चा' है। इसमें औचित्य के सिद्धान्त की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। काव्य में औचित्य की कल्पना का प्रथमः निर्देश हमें भरत में उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्र ने औचित्य के नाना प्रकारों का विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में किया है। 'सुवृत्त-तिलक' छन्द के विषय में इनका सुन्दर ग्रन्थ है जिसे 'वृत्त-औचित्य' के विषय में 'औचित्य-विचार चर्चा' का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिये। 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा के विषय में लिखा गया है। इसमें पाँच सन्धि या अध्याय हैं और ५५ कारिकाएँ हैं। इसमें कवित्वप्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण-दोष का विवेचन संक्षेप में परन्तु सुबोध रीति से किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'कवि-कर्णिका' नामक ग्रन्थ अलंकार के ऊपर लिखा था। इसका उल्लेख 'औचित्यविचार-चर्चा' के द्वितीय श्लोक में उपलब्ध होता है परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है।

अभिनवगुप्त के दर्शनशास्त्र में एक पट्टशिष्य थे जिनका नाम क्षेमराज था। इन्होंने शैवदर्शन के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है। नाम की समता के कारण कुछ लोग इन्हें क्षेमेन्द्र से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है। दोनों की धार्मिक दृष्टि में भेद था। क्षेमराज तो पक्के शैव थे, परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसीलिए इन्होंने विष्णु के दशावतार के विषय में अपना सुन्दर महाकाव्य 'दशावतार-चरित' लिखा है। क्षेमेन्द्र के कौटुम्बिक वृत्त से हम भली भाँति परिचित हैं जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषय में नितान्त मौन हैं। इन्हीं कारणों से समकालीन तथा समदेशीय होने पर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

१७—भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत स्वयं एक प्रगाढ़ पण्डित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलंकारशास्त्र में उनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशालकाय हैं। भोज का समय प्रायः निश्चित है। मुञ्जराज के अनन्तर राज्य करने वाले 'नवसाहसांक' उपाधिधारी

सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराज के पिता थे। भोजराज के एक दान-पत्र का समय संवत् १०७८ (१०२१ ई०) है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख संवत् १११२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोज की अन्तिम तिथि है। अर्थात् भोज का आविर्भाव-काल ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।

ग्रन्थ

भोज ने अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थों की रचना की है—(१) सरस्वती-कण्ठाभरण[1] और (२) शृंगार-प्रकाश[2]। सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वर की टीका के साथ काव्यमाला में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोषगुण का निवेचन है। इन्होंने पद, वाक्य और वाक्यार्थ प्रत्येक के १६ दोष माने हैं। शब्द तथा अर्थ के पृथक्-पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों का वर्णन है। तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालंकारों तथा चतुर्थ में २४ उभयालंकारों का विवेचन है। पंचम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण में इन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के लगभग १५०० श्लोकों को उद्धृत किया है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्राचीन आलंकारिकों के मतों का समावेश अपने ग्रन्थ में अधिकता से किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलंकारिक दण्डी हैं जिनके काव्यादर्श का आधा से अधिक भाग उदाहरण के रूप में इन्होंने उद्धृत किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में आये हुए उद्धरणों की सहायता से संस्कृत के अनेक कवियों का समयनिरूपण हम बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

भोजराज की दूसरी कृति शृङ्गार-प्रकाश है। यह ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त है परन्तु यह अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। डा० राघवन् ने इसके ऊपर जो अपनी थीसिस (निबन्ध) लिखी है उसीसे इस ग्रन्थ का पूरा परिचय प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे बड़ा, विस्तृत तथा विपुल-काय है। इसमें ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द और अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तों का वर्णन है। नवम और दशम प्रकाश में गुण

---

१. सरस्वती-कण्ठाभरण—काव्यमाला (नं० ९४) निर्णयसागर से प्रकाशित।
२. यह ग्रन्थ अभी तक पूरा अप्रकाशित है। केवल तीन परिच्छेद (२२—२४ प्रकाश) मैसूर से १९२६ में प्रकाशित हुए हैं। ग्रन्थ के विवरण के लिए देखिए—डा० राघवन का 'शृंगार-प्रकाश' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ।

और दोष का विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेद में महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन क्रमशः दिया गया है। अन्तिम चौबीस प्रकाशों में रस का उदाहरण से मण्डित बड़ा ही सांगोपांग वर्णन है। शृंगार-प्रकाशको अलंकार शास्त्र का विश्वकोष कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इसमें प्राचीन आलंकारिकों के मतों के साथ नवीन मतों का समन्वय कर एक बड़ा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भोज को हम समन्वयवादी आलंकारिक मान सकते हैं। इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों को ग्रहण कर उनके परस्पर समन्वय का विधान बड़ी युक्ति के साथ किया है। काव्य के विविध अंगों पर इनके नवीन मत हैं। इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि शृंगाररस ही समस्त रसों में एकमात्र रस है—

> शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
> बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
> आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु,
> शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

परन्तु यह शृंगार साधारण शृंगार से भिन्न है। शृङ्गार को ये अभिमानात्मक मानते हैं और इसी विशिष्ट मत के निरूपण के लिए इन्होंने अपना विपुलकाय ग्रन्थ 'शृंगार-प्रकाश' लिखा है। शृंगार-प्रकाश की तो टीका नहीं मिलती परन्तु सरस्वती-कण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित भी है[1]। यह टीका तिरहुत के राजा रामसिंह देव के आग्रह पर लिखी गई थी। यह टीका प्रामाणिक है तथा ग्रन्थ को समझने में विशेष सहायक है।

१८—मम्मट

अलंकार-शास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का स्थान बड़ा ही गौरव-पूर्ण है। अलंकार जगत् में अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे उन सबका दिग्दर्शन कराते हुए काव्य के स्वरूप तथा अंगों का यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ उस मूल स्रोत के समान है जहाँ से काव्य-विषयक विभिन्न काव्य-धारायें फूट निकलीं। ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने की जो युक्तियाँ दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वह 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं।

वृत्त

मम्मट का कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नहीं होता। इनके टीकाकार भीमसेन ने मम्मट को कैय्यट तथा उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यट का पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि उव्वट ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है, न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं परन्तु यह भी प्रवादमात्र है। क्योंकि यदि श्री हर्ष काश्मीरी होते तो काश्मीर में जाकर काश्मीरी विद्वानों की अपने ग्रन्थ के विषय में सम्मति प्राप्त करने का उद्योग नहीं क्यों करते ?

मम्मट के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा व्यापक अनुशीलन के विषय में कोई सन्देह नहीं कर सकता। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण के भी महान् मर्मज्ञ विद्वान् प्रतीत होते हैं। महाभाष्य और वाक्यप्रदीप का उद्धरण देना, शब्द संकेत के विषय में वैयाकरणों के सिद्धान्त को मानना, वैयाकरणों को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् स्वीकार करना इनके व्याकरण-विषयक पक्षपात का यथेष्ट परिचायक है।

समय

मम्मट ने अभिनवगुप्त को (जो १०१५ ई० में जीवित थे) तथा महाकवि पद्मगुप्त को (जिन्होंने १०१० ई० के आसपास अपना 'नवसाहसांक-चरित' लिखा) अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इन्होंने उदात्त अलंकार के उदाहरण-विषयक पद्य में विद्वज्जनों के प्रति की जाने वाली भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोज के अनन्तर आविर्भूत हुए। काव्यप्रकाश के ऊपर द्वितीय टीका माणिक्यचन्द्र सूरि की संकेतनाम्नी है जिसकी रचना १२१६ संवत् में (११६० ई०) हुई थी। रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' में काव्यप्रकाश के मत का खण्डन किया है तथा संकेतनाम्नी टीका भी लिखी है जो कालक्रम से काव्यप्रकाश की प्रथम टीका है। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यक के (११५० ई०) के बीच में अर्थात् ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानना चाहिए।

ग्रन्थ

मम्मट की एकमात्र रचना काव्यप्रकाश है। इसमें दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओं की संख्या १५० के लगभग है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य तथा गम्भीरता में

---

१. यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेः तत् त्यागलीलायितम्।

—काव्यप्रकाश, उल्लास १०।

अपनी समता नहीं रखता। इसकी शैली सूत्रात्मक है। अतः इसे समझने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। यही कारण है कि भाव-प्रकाशिनी ७० टीकाओं के लिखे जाने पर भी इसका भावार्थ अभी तक दुर्बोध बना हुआ है। अतः पाण्डित्य-मण्डली का काव्य-प्रकाश के विषय में निम्नांकित कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टी स्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, लक्षण तथा त्रिविध भेद का वर्णन है। द्वितीय में शब्द-शक्ति का विचार तथा विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। तृतीय उल्लास में शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थ में ध्वनि के समस्त भेदों का तथा रस एवं भाव का विवेचन विस्तार से किया गया है। पंचम में गुणीभूत व्यंग्य काव्य को व्याख्या के अनन्तर व्यंजना को नवीन शब्द-शक्ति मानने की युक्तियाँ बड़ी प्रौढ़ता तथा पाण्डित्य के साथ प्रदर्शित की गई हैं। षष्ठ उल्लास बहुत ही छोटा है और उसमें केवल चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम उल्लास में काव्य-दोषों का वर्णन विस्तार के साथ है। यह उल्लास काव्यलक्षण के 'अदोषौ' पद की व्याख्या करता है। अष्टम उल्लास में 'सगुणौ' की व्याख्या है। मम्मट के मत में गुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इन्हीं के भीतर भरत-प्रतिपादित दशगुण तथा वामन निर्दिष्ट बीस गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लास में क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण उदाहरणों के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के उपर्युक्त सारांश से उसकी व्यापकता का पता लग सकता है।

इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो नाना काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मट की ही निजी रचनाएँ हैं। इन कारिकाओं में कहीं-कहीं भरत की कारिकाएँ सम्मिलित कर ली गई हैं। सम्भवतः इसी कारण बंगाल में यह प्रवाद उठ खड़ा हुआ था कि कारिकाएँ भरत-रचित हैं जिन पर मम्मट ने केवल वृत्ति की रचना की है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पीछे के आलंकारिकों ने भी कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना है। हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ इन सब मान्य आलंकारिकों ने कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना का श्रेय मम्मट को ही दिया है। अन्तरंग परीक्षा से भी यही मत उचित प्रतीत होता है। (१) चतुर्थ उल्लास में रस का निर्देश कर उसकी पुष्टि के लिए भरत के रससूत्र का निर्देश किया गया है—यथा तदुक्तं भरतेन। यदि भरत ही काव्यप्रकाश की कारिकाओं के रचयिता होते तो ऐसा निर्देश वे कभी नहीं करते। (२) दशम उल्लास में यह निम्नकारिका मिलती है—

"साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।"

इस कारिका का आशय है कि रूपक का भी एक प्रभेद 'मालारूपक' होता है और यह मालारूपक पूर्व में निर्दिष्ट मालोपमा के समान ही होता है। परन्तु मालोपमा का वर्णन कारिका में न होकर वृत्ति में ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनों के लिखने के लिये उत्तरदायी है।

काव्यप्रकाश के अन्त में यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

इसके ऊपर प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कहना है कि यह ग्रन्थ दूसरे के द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा समाप्त किया गया। इस प्रकार दो व्यक्तियों के द्वारा रचित होने पर भी संघटना के कारण यह अखण्ड रूप में प्रतीत हो रहा है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशात् अखण्डायते[1]।"

काश्मीर के ही निवासी राजानक आनन्द ने अपनी टीका में प्राचीन परम्परा का उल्लेख कर लिखा है कि मम्मट ने परिकर अलंकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी तथा अवशिष्ट भाग को अलक या अल्लट नामक पण्डित ने पूरा किया[2]। इसीलिए ग्रन्थ की पुष्पिका में काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लट की सम्मिलित रचना माना गया है।[3] अर्जुनवर्मदेव के एक प्रमाणहीन उल्लेख से प्रतीत होता है कि अल्लट ने मम्मट को सप्तम उल्लास की रचना में भी सहायता दी थी[4]। इन निर्देशों से यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मट को अपने ग्रन्थ

---

१. उपर्युक्त श्लोक की माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका।

२. यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्य्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा॥
अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोपि निबन्ध-कृद्भ्यां,
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।

३. इति श्रीमद्राजानकामलकमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः।

४. यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां—प्रसादे वर्तस्व। दूसरा संकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते············तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किंतु ह्रादैकमयीबरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।—अमरुशतक की टीका।

के दशम उल्लास की रचना में ही अल्लट की सहायता प्राप्त हुई थी। काव्यप्रकाश का सर्वप्राचीन समयाङ्कित हस्तलेख सं० १२१५ आश्विन सुदि १४ का है[1], जो अंग्रेजी गणना के अनुसार १८ अक्टूबर ११५८ ई० ठहरता है। माणिक्यचन्द्र के संकेत व्याख्या से यह हस्तलेख दो वर्ष पुराना है। फलतः उपरिनिर्दिष्ट निम्नतर अवधि का यह स्पष्ट प्रमापक है। इसमें ग्रन्थ के लेखक राजानक मम्मट और अलक बतलाये गये हैं। यह बड़े महत्त्व की बात है। १२वीं शती में काव्यप्रकाश के लेखकद्वय का नाम्ना उल्लेख यह सिद्ध कर रहा है कि ग्रन्थ-निर्माता के द्वैत का परिचय उस समय ही हो गया था। मम्मट के सहयोगी के नाम अलक, अलट तथा अल्लट मिलते हैं, परन्तु इस हस्तलेख के साक्ष्य पर यथार्थ नाम अलक ही है। अर्जुनवर्मदेव ने सप्तम उल्लास में भी जो दोनों का कर्तृत्व माना है, वह यथार्थ नहीं। राजानक आनन्द का ही कथन ठीक है कि परिकर अलंकार से आगे ग्रन्थ का अंश अलक की रचना है।

टीकाकार

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की संख्या लगभग सत्तर है। प्राचीन काल में काव्य-प्रकाश पर टीका लिखना विद्वत्ता का मापदण्ड था। इसीलिए मौलिक ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों ने भी काव्यप्रकाश के ऊपर टीका लिखकर अपने पाण्डित्य का परिचय दिया। इनमें कतिपय प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। (१) राजानक रुय्यक कृत संकेत टीका (२) माणिक्यचन्द्र सूरि कृत संकेत टीका—रचनाकाल संवत् १२१६ (११६० ई०)। (३) नरहरि या सरस्वतीतीर्थकृत बालचित्तानुरञ्जिनी टीका। रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। (४) जयन्तभट्ट का टीका का नाम दीपिका है। रचनाकाल १३५० संवत् (१२९४ ई०)। जयन्तभट्ट गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के पुरोहित के पुत्र थे तथा कादम्बरी कथासार के रचयिता काश्मीर के जयन्तभट्ट से भिन्न हैं। (५) सोमेश्वरकृत टीका का नाम काव्यादर्श है। रचना-काल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। (६) वाचस्पति मिश्र-कृत टीका। ये भामती-कार से भिन्न हैं परन्तु मैथिल ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। (७) चण्डीदास की टीका का नाम दीपिका है। ये विश्वनाथ कविराज के पितामह के अनुज थे। अतः इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्य भाग है। यह टीका सरस्वतीभवन सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है। (८) विश्वनाथ कविराज की टीका का नाम काव्यप्रकाश-दर्पण है। इसका समय १४वें शतक का प्रथमार्ध है। (९) गोविन्द ठक्कुर—इनकी

---

१. हस्तलेख के लिए द्रष्टव्य डा० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग १ पृ० २३४–२३८ (बाम्बे, १९५२)।

महत्त्वपूर्ण टीका का नाम है—काव्य-प्रदीप, जिस पर वैद्यनाथ ने प्रभा तथा नागोजी भट्ट ने उद्योत नामक टीकाएँ लिखी हैं। गोविन्द ठक्कुर मिथिला के रहने वाले थे। ये विश्वनाथ कविराज को अर्वाचीन ग्रन्थकार कहते हैं। प्रभाकरभट्ट ने (१६वीं शताब्दी) इनका उल्लेख अपने रसप्रदीप में किया है। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। यह टीका काव्यमाला तथा आनन्दाश्रम-संस्कृत-सीरीज में प्रकाशित हुई है। (१०) भीमसेन दीक्षित—इनकी टीका का नाम है सुधासागर या सुबोधिनी; जिसकी रचना का समय १७२३ ई० है। यह टीका चौखम्भा, काशी से प्रकाशित हुई है। (११) इधर वामन पण्डित झलकीकर ने काव्यप्रकाश के ऊपर एक बड़ी सरल तथा सुन्दर टीका लिखी है जिसका नाम सुबोधिनी है। इस टीका की यह विशेषता है कि इसमें अप्रकाशित प्राचीन टीकाओं का उद्धरण देकर काव्यप्रकाश का मर्म अच्छी तरह से समझाया गया है। यह टीका बाम्बे संस्कृत सीरीज में कई बार प्रकाशित हुई है। यह बड़ी ही लोकप्रिय टीका है।

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की है जिसका नाम 'शब्दव्यापारविचार' है। यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है और शब्दवृत्तियों का समीक्षण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

१९—सागरनन्दी

नाटकलक्षण रत्नकोश—इनका नाटकविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[1] है। ग्रन्थकार का नाम था सागर, परन्तु नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागरनन्दी के नाम से विख्यात थे। उनका कहना है कि श्रीहर्ष, विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्टक तथा बादर के मतानुसार भरत मुनि के सिद्धान्तों का अनुशीलन कर इस ग्रन्थ की रचना की गई है[2]। ये नाट्य के आचार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके मतों का परिचय नाट्यग्रन्थों में विरल ही है। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित विषयों का पर्यालोचन किया गया है—रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाप्रकार, अर्थप्रकृति, अंक,

१. माइल्स डिलन [Myles Dillon] (डबलिन के संस्कृताध्यापक) के द्वारा सम्पादित तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७।

२. श्रीहर्ष-विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टक-बादराणाम्।
एषां मते न भरतस्य मतं विगाह्य
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥ —ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक।

उपक्षेपक, सन्धि, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलंकार, रस, भाव, नायिका के गुण तथा भेद, रूपक के भेद तथा उपरूपक के अन्य प्रकार। इस प्रकार नाटक के लिए आवश्यक उपकरणों का सरल वर्णन ग्रन्थ की विशेषता है।

सागरनन्दी के समय का निरूपण अनुमानतः किया गया है। नन्दी के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों में राजशेखर (९२० ई०) सबसे प्राचीन हैं। यह उनकी एक अवधि है। दूसरी अवधि का निरूपण नन्दी को अपने ग्रन्थों में उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों के समय से किया जा सकता है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद, रायमुकुट, कुम्भकर्ण, शुभंकर तथा जगद्धर ने अपने ग्रन्थों में 'रत्नकोश' के मत तथा पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम चार अमरकोश के टीकाकार हैं। अन्य दो नाट्य तथा संगीत के रचयिता हैं अन्तिम ग्रन्थकार ने मालतीमाधव तथा मुद्राराक्षस की अपनी टीका में 'रत्नकोश' को अपना उपजीव्य बतलाया है। इनमें रायमुकुट का समय १४३१ ई० माना जाता है। अतः रायमुकुट के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण सागरनन्दी का समय १५ शतक के मध्यभाग से पूर्ववर्ती होना चाहिये। अतः इन्हें हम दशरूपक के कर्ता धनञ्जय का समकालीन अथवा किञ्चित् पश्चाद्वर्ती मान सकते हैं।

इनके ग्रन्थ में प्रचलित नाट्यग्रन्थों से अनेक वैशिष्ट्य है। उदाहरणार्थ सागरनन्दी वर्त्तमान नरपति के चरित्र को नाटक के विषय बनाने के पक्ष में हैं, परन्तु अभिनवगुप्त की सम्मति इसके ठीक विपरीत है। वे वर्त्तमान राजा के चरित को नाटक की वस्तु बनाने के विरोधी हैं[1]। नन्दी ने वृत्तियों को रसों की दृष्टि से विभाजन के अवसर पर कोहल का अनुवर्तन किया है, भरत का नहीं। अभिनवभारती के अनुसार कोहल तथा भरत में इस प्रसंग में मतभेद है[2]। अन्य सूक्ष्म भेद भी धनञ्जय के सिद्धान्त से

---

१. वर्त्तमान-राजचरितं चावर्णनीयमेव। तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिंचित्करत्वात् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत्। एतदर्थमेव प्रख्यातग्रहणं प्रकर्षद्योतकं पुनः पुनरुपात्तम्।

—अभिनवभारती १८।१२, पृ० ४१३।

२. कोहल का मत—(रत्नकोश पृ० १०५१–६३)

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्
सात्त्वत्यपीह गदिताऽद्भुतवीररौद्रैः।
श्रृंगारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुताऽऽरभटी सरौद्रा॥

अभिनवभारती ने इस पद्य की तृतीय पंक्ति के मत को मुनिमत से विरुद्ध होने से उपेक्षणीय माना है।

द्रष्टव्य, अभिनवभारती (द्वि० खण्ड, पृ० ४५२)

इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सागरनन्दी का ग्रन्थ हमारे शास्त्र के मध्य युग में विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था[1]।

२०—अग्निपुराण

पुराण भारतीय विद्या के आगार हैं। इनमें केवल भारतीय वैदिक धर्म का ही विशिष्ट विवेचन नहीं है, प्रत्युत वेद से सम्बद्ध अनेक विद्याओं का भी विवरण अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है। विशेषतः अग्निपुराण तो प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का विश्वकोष ही है। इसके कतिपय अध्याय में साहित्य-शास्त्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश की 'आदर्श' टीका के रचयिता महेश्वर[2] ने तथा विद्या-भूषण की 'साहित्य-कौमुदी' की टीका 'कृष्णानन्दिनी'[3] में 'अग्निपुराण' साहित्य-शास्त्र का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ निर्दिष्ट किया गया है जहाँ से स्फूर्ति तथा सामग्री ग्रहण कर भरत मुनि ने अपनी कारिकाओं की रचना की। परन्तु ग्रन्थ की तुलनात्मक परीक्षा से पिछले आलंकारिकों का यह मत प्रमाणसिद्ध नहीं जान पड़ता।

अग्निपुराण के दस अध्यायों में (अध्याय ३३६–३४६) अलकार शास्त्र से संबद्ध विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है। ३३६ अध्याय में काव्य का लक्षण, काव्य का भेद, कला, आख्यायिका तथा महाकाव्य का वर्णन किया गया है। ३३७ अध्याय में नाट्यशास्त्र का विषय—यथा नाटक के भेद, प्रस्तावना, पाँच अर्थ-प्रकृति, पंचसन्धि वर्णित हैं। ३३८वें अध्याय में रस का विवेचन तथा नायक, नायिकाभेद का वर्णन है। ३३९वें अध्याय में चार प्रकार की रीति (पांचाली-गौड़ी-वैदर्भी और लाटी) तथा चार प्रकार की वृत्ति—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—का वर्णन है। ३४०वें अध्याय में नृत्य के अवसर पर होनेवाले अंग-विक्षेपों का विवरण है तथा अगले अध्याय में चार प्रकार के अभिनय का सात्त्विक, वाचिक, आंगिक तथा आहार्य का—उल्लेख है। ३४२वें अध्याय में शब्दालंकारों का विशेषतः अनुप्रास, यमक (दस

---

१. सागरनन्दी के काल-निर्णय के लिए द्रष्टव्य
गोडे-स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, प्रथम भाग पृ० ८४-५६।

२. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

३. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबन्ध।

भेद) तथा चित्र (सात भेद) वर्णन प्रस्तुत कर अगले दो अध्यायों में अर्थालंकार का निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में (३४५–४६) गुण तथा दोष का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन दसों अध्यायों में ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराण के इस साहित्यखण्ड की रचना कब हुई? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस अंश का लेखक साहित्य के किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भाग को उपयोगी बनानें के लिए अनेक प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र उपस्थित किया है। भरत-नाट्यशास्त्र के श्लोक तो अक्षरशः इसमें उद्धृत किये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलंकारों के लक्षण वे ही हैं जो काव्यादर्श में दिये गये हैं। रूपक, आक्षेप आदि कतिपय अलंकारों के लक्षण भामह से अधिकतर मिलते हैं। अग्निपुराण ध्वनि के सिद्धान्त से परिचित है परन्तु वह उसको काव्य में स्वतन्त्र स्थान न देकर आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारों के भीतर ही समाविष्ट करता है। 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार यह मत भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों का है। इतना ही नहीं, इस भाग में भोज के साहित्य-विषयक विशिष्ट सिद्धान्तों का समावेश उपलब्ध होता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में विष्णुपुराण का तो उद्धरण दिया है, परन्तु अग्निपुराण का निर्देश कहीं नहीं किया है। अग्निपुराण को अलंकारशास्त्र का प्रमाण-भूत ग्रन्थ मानकर इसको उद्धृत करने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक विश्वनाथ कविराज हैं। अग्निपुराण को धर्मशास्त्र के विषय में प्रमाणभूत ग्रन्थ मानने वाले 'अद्भुतसागर' के रचयिता राजा बल्लालसेन हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को ११६८ ई० में आरम्भ किया था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अग्निपुराण का यह साहित्य-विषयक अंश भोज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्यकाल में लिखा गया है। अर्थात् इस भाग की रचना १२०० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। अग्निपुराण को प्राचीन मौलिक ग्रन्थ न मानकर एक संग्रह-ग्रन्थ मानना ही न्यायसंगत है।

२१—रुय्यक

रुय्यक मम्मट के पश्चाद्वर्ती काश्मीर के मान्य आलोचक हैं। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था और उनके आलंकारिकों ने इसी नाम से उनका उल्लेख किया है। ये निश्चित रूप से काश्मीर के निवासी थे; क्योंकि इनके नाम के साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है वह काश्मीर के ही मान्य विद्वानों को दी जाती थी। ये राजानक तिलक के पुत्र थे जिन्होंने जयरथ के कथनानुसार (विमर्शिणी पृ० २४, ११५) उद्भट के ऊपर 'उद्भट-विवेक' या 'उद्भट-विचार' नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था।

रचयिता—रुय्यक या मंखक ?

रुय्यक का "अलंकारसर्वस्व[1]" दो भागों में विभक्त है—सूत्र और वृत्ति। 'ध्वन्यालोक' के समान यहाँ भी यही समस्या है कि रुय्यक ने केवल सूत्रों की ही रचना की अथवा वृत्ति की भी। 'अलंकारसर्वस्व' के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने रुय्यक को सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना है। ग्रन्थ के मंगलश्लोक का उत्तरार्ध इसी मत को पुष्ट करता है। इस उत्तरार्ध का रूप यों हैं—निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते। परन्तु दक्षिण भारत में उपलब्ध होने वाली 'अलंकारसर्वस्व' की प्रतियों में इसके स्थान पर "गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते" लिखा मिलता है तथा उनकी पुष्पिका में मंखक या मंखुक—जो काश्मीर-नरेश के सान्धिविग्रहिक थे—वृत्ति के रचयिता बताये गये हैं। इस प्रकार वृत्ति तथा सूत्रकार की एकता में सन्देह उत्पन्न होता है।

श्रीकण्ठचरित के रचयिता राजानक मंख या मंखक काश्मीर के निवासी थे तथा रुय्यक के शिष्य थे। यदि ये शिष्य नहीं होते, तो सम्भव है कि यह मत उतना सारहीन नहीं दीख पड़ता परन्तु शिष्य होने से इस मत के सत्य होने में सन्देह होता है। श्रीकण्ठचरित की रचना का काल है ११३५ ई० से लेकर ११४५ ई०। यहाँ हमें यह विचार करना है कि हम उत्तर भारत की परम्परा को सत्य मानें जिसके अनुसार रुय्यक ने ही सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना की थी या दक्षिण भारतीय परम्परा में आस्था रखें जिसके अनुसार रुय्यक केवल सूत्रकार हैं और उनके शिष्य मंखक वृत्तिकार है। काश्मीर की परम्परा निरवच्छिन्न है। परन्तु दक्षिण भारतीय परम्परा अव्यवस्थित है, क्योंकि दक्षिण भारत के ही मान्य आलंकारिक अप्पय दीक्षित ने रुय्यक को ही वृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किया है। उधर जयरथ रुय्यक के देशवासी ही नहीं थे, प्रत्युत उनसे एक शताब्दी के भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः जयरथ को विशुद्ध परम्परा का ज्ञाता मानना नितान्त आवश्यक है। अलंकार ग्रन्थों में रुय्यक, रुचक तथा 'सर्वस्वकार' के नाम से तो अनेक बार उद्धृत किये गये हैं, परन्तु आलंकारिक रूप से मंखक का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं होता। आलंकारिकों का साक्ष्य दोनों को एक मानने के पक्ष में है। 'अलंकार रत्नाकर' के रचयिता शोभाकर ने अलंकारसर्वस्व के सूत्र को और वृत्ति को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन-मण्डन किया है। काव्यप्रकाश की टीका 'साहित्य-चूड़ामणि' के कर्ता भट्ट गोपाल ने भी दोनों को एक ही माना है। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि

---

१. जयरथ की टीका के साथ निर्णयसागर से तथा समुद्रबन्ध की टीका के साथ अनन्तशयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

आलंकारिकों ने भी सूत्र और वृत्ति के रचयिता को अभिन्न व्यक्ति माना है और वह 'रुय्यक' के सिवा कोई अन्य नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ने ही 'अलंकार-सर्वस्व' के सूत्र तथा वृत्ति को रचना स्वयं की।

समय

रुय्यक के आविर्भाव-काल की सूचना अनेक स्थलों से प्राप्त होती है। इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी थी जिससे इनका समय मम्मट के पश्चात् होना निश्चित है। रुय्यक ने अपने शिष्य मंखक के प्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' से पाँच पद्यों को उदाहरण-रूप से अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। मंखक के काव्य के रचनाकाल की तिथि ११३५-११४५ ई० है। अतः अलंकारसर्वस्व की रचना इस तिथि से पहले नहीं हो सकती। अतः रुय्यक का काल १२वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है (११३५ ई०–११५० ई०)।

ग्रन्थ

रुय्यक ने अलंकारशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम हैं—अलंकारमंजरी, अलंकारानुसारिणी, नाटकमीमांसा, हर्षचरितवार्तिक। इन ग्रन्थों का परिचय हमें रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के निर्देशों से मिलता है। इनके प्रकाशित ग्रन्थों में (१) सहृदयलीला—एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें स्त्रियों के सौन्दर्य गुण तथा आभूषण का विशेष वर्णन है। (२) साहित्यमीमांसा—अनन्त-शयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित (सन् १९३६) इस ग्रन्थ के ८ प्रकरण हैं। इसकी दो विशेषतायें हैं—प्रथमतः इसमें व्यञ्जना शक्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अपि तु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिससे रस की अनुभूति होती है (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः पृ० ८५)। द्वितीयतः अर्थालंकारों के अन्तर्गत थोड़े से ही अलंकारों पर विचार है। सम्भवतः यह रुय्यक की आरम्भिक रचना है। सर्वस्व में इन्होंने ध्वनिवाद का आश्रय लिया है जो ग्रन्थकार के दृष्टिकोण के परिवर्तन का सूचक है। इस ग्रन्थ के प्रकरणों का विषय-विवेचन इस प्रकार है—कवि तथा रसिक के प्रभेद; वृत्त्यादि का लक्षण, दोष का विवेचन, गुण की मीमांसा, अलंकार का विवेचन, रस और भाव का विवेचन, कवि की चार विशेषतायें तथा आनन्द का रूप। इस प्रकार यह ग्रन्थ आलोचना के प्रकीर्ण विषयों का प्रतिपादन करता है और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' की शैली का है। (३) व्यक्तिविवेक टीका – यह महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की व्याख्या है जो अब तक अधूरी ही मिली है। जयरथ ने इसका निर्देश 'व्यक्तिविवेकविचार' के नाम से किया है (विमर्शिणी पृ० १३)। यह वही टीका है जो अनन्तशयन ग्रन्थमाला में मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है। (४) अलंकार-

सर्वस्व—रुय्यक की कीर्ति का यही ग्रन्थ एकमात्र आधार है। यह अलंकार-निरूपण के लिए बड़ा ही प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ध्वनिसिद्धान्त का अनुयायी है और ग्रन्थ के आरम्भ में उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है। इन्होंने मम्मट वर्णित अलंकारों से अधिक अलंकारों का निरूपण इस ग्रन्थ में किया है और साधारणतः इनका निरूपण मम्मट की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इन्होंने दो नये अलंकारों की उद्भावना की है जिनके नाम विकल्प और विचित्र हैं। विश्वनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित तथा विद्याधर आदि पिछले आलंकारिकों ने रुय्यक के इस मान्य ग्रन्थ से प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त की है और इनके मतों का उद्धरण अपने मत की पुष्टि के लिए दिया है। (५) काव्यप्रकाश संकेत—यह टीका लघुटिप्पणी के रूप में है तथा काव्यप्रकाश की सर्वप्रथम टीका है। विशेष ध्यान देने की बात है कि इसमें काव्यप्रकाश के सिद्धान्तों की मीमांसा है। पिछले युग के टीकाकार काव्यप्रकाशकार को वाग्देवतावतार मानकर इनके वाक्यों को अक्षरशः मानते हैं और उनकी आलोचना नहीं करते। परन्तु रुय्यक की इस टीका में मम्मट का स्थान-स्थान पर खण्डन अनेकशः लक्षित होता है।

टीकाकार—

'अलंकारसर्वस्व' की व्याख्याएँ अनेक विद्वानों ने की हैं जिनमें (१) राजानक अलक सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनके ग्रन्थ का अभी तक उल्लेख ही मिलता है। पूरे ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। काव्यप्रकाश के सहलेखक अलक के साथ इनकी अभिन्नता मानने का पुष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

(२) जयरथ—इनकी टीका का नाम विमर्शिणी है[1]। नाम के अनुसार ही यह रुय्यक के ग्रन्थ की वास्तविक समीक्षा करती है। यह बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। जयरथ ने अभिनवगुप्त के विपुलकाय ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' के ऊपर 'विवेक' नामक व्याख्या लिखी। इससे सिद्ध होता है कि ये केवल आलोचक ही न थे, प्रत्युत एक महनीय दार्शनिक भी थे। इनके पिता का नाम शृङ्गाररथ था जो अपने पूर्वजों के समान ही काश्मीर के राजा राजराज (राजदेव) के प्रधान सचिव थे। ये राजराज काश्मीर के निकट 'सतीसर' के राजहंस बताये गये हैं। मंख के अनुसार सतीसर उत्तर दिशा के मण्डनभूत काश्मीर का वह मण्डल है जहाँ ब्रह्मा ने सृष्टि-यज्ञ के अनन्तर अवभृथ स्नान किया था (श्रीकण्ठचरित ३।१)। जयरथ के विद्यागुरु थे शंखधर और दीक्षागुरु थे श्री 'सुभटदत्त' जो इनके पिता के भी गुरु थे। जयरथ व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों के अतिरिक्त शैवागम और क्रमदर्शन के भी विशेषज्ञ

[1] काव्यमाला नं० ३५ बम्बई से प्रकाशित।

विद्वान् थे, ऐसा तन्त्रालोक (भाग १२, पृ० ४३४–५) का मान्य कथन है। इनके समय का निर्णय कठिन नहीं है। राजराज का (जिन्हें ऐतिहासिक राजदेव के नाम से जानते हैं) समय १२०३ ई० से लेकर १२२६ ई० तक माना जाता है। जयरथ के पिता इन्हीं के मन्त्री थे और स्वयं जयरथ को भी इन्हीं से 'विवेक' लिखने का प्रोत्साहन मिला था। 'पृथ्वीराजविजय' से विमर्शिणी में उद्धरण मिलता है। पृथ्वीराज का अवसान-काल ११९३ ई० है। अतः जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिम भाग तथा त्रयोदश का प्रथम भाग मानना उचित है (११८० ई०–१२३० ई०)।

उन्होंने अपने पौत्र को पढ़ाने के लिए 'अलंकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह विमर्शिणी के अनन्तर लिखा गया था और विमर्शिणी में प्रत्याख्यात अलंकारों का भी यहाँ बालावबोध के लिए संग्रह किया गया है। विमर्शिणी में जयरथ ने शोभाकर के द्वारा अपने ग्रन्थ 'अलंकार-रत्नाकर' में किये गये सर्वस्व के खण्डनों को मार्मिक रीति से ध्वस्त किया है। इस प्रकार शोभाकर के मतों का यहाँ मार्मिक खण्डन भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जयरथ ने विमर्शिणी में अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो अलंकारसर्वस्व के अनन्तर लिखे गये थे। इनके मतों के तो वर्णन मिलते हैं, परन्तु रचयिताओं का पता नहीं हैं। इन दोनों ग्रन्थों ने शोभाकर और जयरथ दोनों को प्रभावित किया था। भाष्य में 'संस्कार' तथा 'वितर्क' नामक दो नवीन अलंकारों का वर्णन किया गया है। यह सादृश्य और सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों से लक्षण का उपयोग रूपक में मानता है, जब कि सर्वस्व प्रथम प्रकार से हो। 'वास्तवत्वं नालंकारः' इस ग्रन्थकार का मत है। फलतः ये 'विनोक्ति' को अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज नें इन मतों को अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है (रसगंगाधर पृ० २३९ तथा ३६५)। इतिहास की दृष्टि से इन ग्रन्थों का क्रम यह है—अलंकारसर्वस्व–अलंकारसार–अलंकारभाष्य–अलंकाररत्नाकर–विमर्शिणी।

(३) **समुद्रबन्ध**—ये केरल देश के राजा रविवर्मा के राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे। इस राजा का जन्म १२६५ ई० में हुआ था। अतः समुद्रबन्ध का समय १३वीं शताब्दी का अन्त तथा १४वीं का आरम्भकाल है। जयरथ की टीका के समान पाण्डित्यपूर्ण न होने पर भी यह व्याख्या मूल को समझने के लिए अत्यन्त उपादेय है[1]। समुद्रबन्ध अलंकार-शास्त्र के मान्य आचार्यों से पूर्ण परिचित थे। उनके उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है।

(४) **श्री विद्याचक्रवर्ती**—इनकी टीका का नाम 'अलंकारसंजीवनी' या 'सर्वस्व-संजीवनी' है। इसका उल्लेख दक्षिण भारत के पिछले आलंकारिकों ने अपने ग्रन्थों में

---

१. अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० ४० में प्रकाशित।

किया है। इन्होंने मम्मट के ग्रन्थ के ऊपर भी 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' नामक टीका लिखी है। मल्लिनाथ के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण इन्हें १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से पूर्व में मानना चाहिए[1]।

२२—हेमचन्द्र

समय

जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अलंकार शास्त्र में भी एक उपादेय ग्रन्थ की रचना की है। इनके देशकाल का परिचय हमें पूर्णतया प्राप्त है। ये गुजरात के अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक गाँव में ११४५ वि० (१०८८ ई०) में पैदा हुए थे। अनहिलपटन के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०) की प्रार्थना पर इन्होंने अपना प्रसिद्ध 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण बनाया। जयसिंह के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) इनके शिष्य थे। इनके आदेशानुसार भी इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। हेमचन्द्र की मृत्युतिथि ११७२ ई० है। इस प्रकार इनका काल १०८८ ई० से ११७२ ई० है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[2] है जो सूत्रात्मक पद्धति से लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इन सूत्रों पर स्वयं 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्यहेतु, लक्षण तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन है। द्वितीय में रस तथा उसके भेदों का सुन्दर विवरण है। तीसरे में दोषों का निर्णय है तो चौथे में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक त्रिविध गुणों का वर्णन है। पाँचवें में छः प्रकार के शब्दालंकारों का तथा छठे में २९ प्रकार के अर्थालंकारों का विवेचन है। हेमचन्द्र ने संकर अलंकार के भीतर ही संसृष्टि को रखा है तथा दीपक के भीतर तुल्ययोगिता को। 'परावृत्ति' नामक एक नवीन अलंकार की इन्होंने उद्भावना की है जिसके भीतर मम्मट का 'पर्याय' तथा 'परिवृत्ति' अलंकार दोनों आ जाते हैं। निदर्शन के भीतर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा

---

१. इस टीका का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास ने किया है। सम्पादक डा० रामचन्द्र द्विवेदी ने इसके आधार पर 'अलंकारमीमांसा' नामक प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की है।

२. (क) काव्यमाला में प्रकाशित।
(ख) गुजरात से दो खंडों में प्रकाशित।

प्रसिद्ध निदर्शना अलंकार का निवेश किया गया है। इन्होंने रस और भाव से सम्पर्क रखने वाले रसवद् आदि अलंकारों को बिल्कुल छोड़ दिया है। सप्तम अध्याय में नायक और नायिका के भेदों का विवेचन कर अन्तिम अध्याय में काव्य के भेद तथा उपदेशों का वर्णन उनके विशिष्ट लक्षण के साथ देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्यानुशासन एक संग्रहग्रन्थ है जिसमें विशेष मौलिकता नहीं दीख पड़ती। ग्रन्थकार ने राजशेखर की काव्य-मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, लोचन तथा अभिनवभारती से लम्बे-लम्बे उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की वृत्ति में विभिन्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से लगभग १५०० पद्य उद्धृत किये हैं जिससे इनके अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। पिछले आलंकारिकों के ऊपर इनका प्रभाव बहुत ही कम पड़ा। अतः इनके मत का उल्लेख अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा बहुत ही कम मिलता है। हेमचन्द्र में संग्राहकवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होता है। ये अपने उपजीव्य ग्रन्थों के आवश्यक अंशों का अक्षरशः उद्धृत करते हैं—इतना सटीक तथा ठीक-ठीक कि इनके उद्धरणों की सहायता से हम मूलग्रन्थों के पाठों के शोधने में कृतकार्य होते हैं। उदाहरणार्थ अभिनवभारती का रस प्रकरण 'काव्यानुशासन विवेक' में अक्षरशः पूरा का पूरा उद्धृत है और इसकी सहायता से मूल ग्रन्थ के वचनों का तात्पर्य बड़ी सुन्दरता से समझा जाता है जो अन्यथा असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य था।

२३—रामचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है नाट्यदर्पण[1]। इसमें चार विवेक या अध्याय हैं जिनमें नाटक, प्रकरणादिरूपक, वृत्तिरसभावाभिनय तथा रूपक के साधारण लक्षण का वर्णन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थ कारिकाबद्ध है जिस पर ग्रन्थकारों ने अपनी वृत्ति लिखी है। नाट्यविषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृंखला है जो धनंजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोड़ती है। इसमें अनेक विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तों से विलक्षण हैं जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त-रचित नाटक के बहुत से

---

१. नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (संख्या ४८) में बड़ौदा से १९२९ में हुआ है तथा नलविलास का भी प्रकाशन इसी ग्रन्थमाला में (संख्या २९) १९२६ ई० में हुआ है।

उद्धरण यहाँ मिलते हैं जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले रामगुप्त् की ऐतिहासिक स्थिति का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है।

रामचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा जैनधर्म के मान्य आचार्य थे। ये गुजरात के सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) तथा अजयपाल (११७२-७५ ई०) के समय में वर्तमान थे। कहा जाता है कि कारणवश अजयपाल की ही आज्ञा से इन्हें प्राणदण्ड मिला था। सिद्धराज ने जब हेमचन्द्र से उनके उत्तराधिकारी (पट्टधर) के विषय में पूछा तो हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का ही नाम इस पद के लिए लिया। इनका आविर्भावकाल १२ शतक का मध्यभाग है। रामचन्द्र के सहयोगी गुणचन्द्र के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि ये दोनों हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र के किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का पता नहीं चलता, परन्तु रामचन्द्र तो 'प्रबन्ध-शतकर्ता' के नाम से जैन-साहित्य में विख्यात हैं। इनके एकादश नाटकों का निर्देश इसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिनमें 'नलविलास' मुख्य है।

२४—शोभाकर मित्र

इनके प्रख्यात ग्रन्थ का नाम 'अलंकाररत्नाकर'[1] है जिसका उल्लेख अप्पय-दीक्षित ने तथा पण्डितराज ने 'रत्नाकर' के नाम से अपने ग्रन्थों में किया है। जयरथ ने इनके मत का बहुशः खण्डन अपनी 'विमर्शिणी' में अनेक स्थानों पर किया है जिससे इनका समय निश्चित रूप से जयरथ (१३ शती) से प्राचीन सिद्ध होता है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। काश्मीरी कवि यशस्कर ने इस ग्रन्थ के अलंकारों के उदाहरण देने के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया। इनका 'अलंकाररत्नाकर' सूत्रवृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इसमें लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया गया है जिनमें कुछ अलंकार इनकी मौलिक कल्पना से प्रसूत हैं तथा कतिपय प्राचीन अलंकारों के ही परिवर्तित अभिधान हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी रत्नाकर के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है परन्तु पण्डितराज इन्हें मान्यता नहीं देते।

अलंकार रत्नाकर में ऐसे अनेक अलंकार भी हैं जिनका उल्लेख न तो रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' में है और न जयरथ के 'अलंकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ में। ऐसे अलंकारों की सूची इस प्रकार है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य,

---

१. ग्रन्थ का प्रकाशन पूना से हुआ है।

आपत्ति आदि। जयरथ ने विमर्शिणी में इनके द्वारा स्वीकृत अभेद, प्रतिमा, वर्धमानक आदि अलंकारों का खण्डन किया है। परन्तु तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह, प्रत्यानीक आदि अलंकारों का अक्षरशः लक्षण रत्नाकर के ही आधार पर किया है। इस प्रकार जयरथ के ऊपर शोभाकर मित्र का प्रभाव विशेषतः उल्लेखनीय है। तथ्य तो यह है कि अलंकारों के विकास में 'अलंकाररत्नाकर' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

२५—वाग्भट

हेमचन्द्र के समकालीन एक दूसरे जैन आलंकारिक हुए जिनका नाम वाग्भट है। उनकी एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' है। इसके एक पद्य की टीका से पता चलता है कि इनका प्राकृत नाम 'बाहड़' था[1] तथा ये सोम के पुत्र थे तथा किसी राजा के महामात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। अपने ग्रन्थ में इन्होंने स्वनिर्मित संस्कृत उदाहरणों के अतिरिक्त प्राकृत में भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिससे इनकी संस्कृत तथा प्राकृत, उभय भाषा की अभिज्ञता प्रकट होती है। नेमि-निर्वाण महाकाव्य से भी इन्होंने कई पद्य उद्धृत किये हैं। इस महाकाव्य के रचयिता कोई वाग्भट बतलाये जाते हैं। पता नहीं कि आलंकारिक वाग्भट ही इस महाकाव्य के रचयिता हैं अथवा कोई दूसरे वाग्भट। इस ग्रन्थ के उदाहरणों में कर्ण के पुत्र, अनहिलवाड़ के अधिपति चालुक्यवंशी नरेश जयसिंह की स्तुति उपलब्ध होती है[2] जिससे प्रतीत होता है कि इनका जयसिंह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। जयसिंह ने १०९३ ई० से ११४३ ई० तक राज्य किया था। अतः वाग्भट का भी यही समय है—अर्थात् १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

---

१. बंभण्डसुत्तिसंपुड—मुत्तिअ-मणिणोपहासमूह व्व।
सिरिबाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स।
इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नामगाथयैकया निदर्शयति। (४।१४८)

२. इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा॥—४।७६

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम वाग्भटालंकार[1] है। यह कोई अलंकार का विस्तृत ग्रन्थ नहीं है। लेखक ने पाँच परिच्छेदों में २६० पद्यों के भीतर साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा काव्य के उत्पादक हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास—का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में काव्य के नाना भेदों का प्रदर्शन कर ग्रन्थकार ने पद, वाक्य तथा अर्थ के दोषों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्याय में दस गुणों का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है। चतुर्थ मं चार शब्दालंकार, ३५ प्रकार के अर्थालंकारों तथा दो प्रकार की रीति—गौड़ी तथा वैदर्भी का निरूपण है। पंचम में ९ प्रकार के रस, नायक-नायिका का भेद तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के वर्णन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

टीका

यह ग्रन्थ पर्याप्त रूप से लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियता का पता इस पर लिखी गई अनेक टीकाओं से लगता है। इस पर आठ टीकाएँ हैं, जिनमें केवल दो टीकाएँ अभी तक प्रकाशित हो पाई हैं। क्षेमहंसगणिकृत समासान्वय टिप्पण, अनन्तभट्ट के पुत्र गणेशकृत विवरण, राजहंस उपाध्यायकृत टीका. समयसुन्दर-रचित व्याख्या, किसी अज्ञातनामा लेखक की अवचूरि व्याख्या अभी तक हस्तलिखित रूप में ही मिलती है[2]।

२६—वाग्भट द्वितीय

'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट को इस वाग्भट के साथ अभिन्न व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। नाम की समता होने पर भी इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंह क्ष्माभृदधिनाथः॥—४।४५
अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥—४।१३२

१. काव्यमाला नं० ४८, १८९१।

२. जिनवर्धन सूरि की टीका ग्रन्थमाला मद्रास से मूल के साथ प्रकाशित हुई है तथा सिंहदेवगणि कृत टीका काव्यमाला नं० ४८ तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुई है।

प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ये वाग्भट भी जैन ही थे। इनके पिता का नाम नेमकुमार था। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रथम वाग्भट का निर्देश किया है। इन्होंने 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोऽनुशासन' नामक स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में किया है। प्रथम वाग्भट के उल्लेख करने के कारण इस वाग्भट का समय १४वीं शताब्दी के आसपास है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[1] है। यह सूत्र शैली में लिखा गया है जिस पर ग्रन्थकार ने अलंकारतिलक नामक वृत्ति स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य हेतु, कवि-समय, काव्य के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में १६ प्रकार के पददोष तथा १४ प्रकार के वाक्य तथा अर्थ के दोषों का वर्णन कर वाग्भट ने दण्डीसम्मत दस गुणों का वर्णन किया है, यद्यपि इनकी सम्मति में गुणों की संख्या तीन ही होनी चाहिए। तृतीय परिच्छेद में ६३ अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है जिनमें अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, उभयन्यास, भाव तथा आशीः विलक्षण होने से उल्लेख योग्य हैं। चतुर्थ अध्याय में छः प्रकार के शब्दालंकारों का वर्णन है जिसमें वक्रोक्ति अन्यतम है। पंचम अध्याय रसों का विवेचन करता है। इसमें रस के अंग, ९ प्रकार, नायक-नायिका-भेद, प्रेम की दस अवस्था तथा रस-दोष का समीक्षण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

२७—अमरचन्द्र

संस्कृत के आलंकारिकों ने काव्य की व्यावहारिक शिक्षा देने का भी श्लाघनीय प्रयत्न किया है। एतद्-विषयक ग्रन्थ कवि-शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यकल्पलता। इस ग्रन्थ का अंशतः निर्माण अरिसिंह ने किया और पूर्ति अमरचन्द्र ने की। अमरचन्द्र ने ही इसके ऊपर वृत्ति भी लिखी है जिसका नाम ग्रन्थ की पुष्पिका के अनुसार कविशिक्षावृत्ति है। वृत्ति से ही परिचय मिलता है कि इस मूल ग्रन्थ की रचना में दोनों ग्रन्थकारों का हाथ है[2]। लावण्य सिंह

---

१. ग्रन्थकार की ही व्याख्या के साथ काव्यमाला में (सं० ४३) प्रकाशित बम्बई, १८९४ ई०।

२. किञ्चिच्च तदुरचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १।

या लवण सिंह के पुत्र अरिसिंह ने ढोलका (गुजरात) के राणा वीरधवल के प्रसिद्ध जैन मन्त्री वस्तुपाल की स्तुति में 'सुकृतसंकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्र इनसे अधिक बड़े लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होंने जिनेन्द्रचरित (दूसरा नाम पद्मानन्द काव्य), बालभारत (काव्यमाला नं० ४५ में प्रकाशित) तथा स्यादि-शब्द-समुच्चय नामक सम्भवत: किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। काव्यकल्पलता की वृत्ति में इन्होंने अपने तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) छन्दोरत्नावली, (२) काव्यकल्पलतापरिमल तथा (३) अलंकारप्रबोध।

अमरचन्द्र और अरिसिंह दोनों एक ही गुरु के सहपाठी शिष्य प्रतीत होते हैं। इनके गुरु का नाम था जिनदत्त सूरि। वीरधवल तथा वस्तुपाल के समकालीन होने से इन दोनों ग्रन्थकारों का समय १३ शतक का मध्यभाग है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में चार प्रतान (खण्ड) हैं और प्रत्येक प्रतान के भीतर अनेक स्तबक (अध्याय) हैं। इन प्रतानों के विषय क्रमश: हैं—(१) छन्द:सिद्धि, (२) शब्दसिद्धि, (३) श्लेषसिद्धि और (४) अर्थसिद्धि। कविता सीखने के लिए यह नितान्त उपादेय ग्रन्थ है[1]।

२८—देवेश्वर

कविशिक्षा पर दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है—कविकल्पलता। इसके रचयिता का नाम देवेश्वर है। इनके पिता का नाम वाग्भट था जो मालवा के राजा के महामात्य थे। देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ के लिए अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता को ही अपना आदर्श माना है। विषय के निरूपण में ही वे उनके ऋणी नहीं हैं, बल्कि बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरश: ग्रहण देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। ये अमरचन्द्र के द्वारा दिये गये उदाहरणों को भी देने में संकोच नहीं करते। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत व्यवस्थित रूप से जान-बूझकर ऐसा किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने काव्यकल्पलता के अनन्तर ही अपने इस नवीन ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर का एक पद्य शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया गया है (नं० ५४५)। इस सूक्तिग्रन्थ की रचना १३६३ ई० में की गई थी। इसलिए १४वीं शताब्दी का मध्यभाग देवेश्वर के समय की अन्तिम अवधि है। इस प्रकार इनका समय अमरचन्द्र तथा शार्ङ्गधर के बीच में अर्थात् १४वीं शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है। देवेश्वर की 'कविकल्पलता' के ऊपर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

1. सं० काशी संस्कृत सीरीज, नं० १०, काशी, १९३१।

२९—जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि राजा जसवन्त सिंह ने इसका हिन्दी में 'भाषा-भूषण' के नाम से अनुवाद किया है। जयदेव ने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[1]। इनके टीकाकार गागाभट्ट के अनुसार पीयूषवर्ष जयदेव का ही नामान्तर था[2]। ये महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र थे[3]। प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ने भी अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है[4]। इससे स्पष्ट है कि आलंकारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव, भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे तथा बंगाल के किन्दुविल्व नामक गाँव के निवासी थे। यह स्थान बंगाल के वीरभूमि जिला में केंदुली के नाम से आज भी विद्यमान है जहाँ पुण्यश्लोक जयदेव की स्मृति में विशेष तिथि पर वैष्णवों का बड़ा भारी मेला लगता है। पीयूषवर्ष जयदेव बंगाल के निवासी नहीं प्रतीत होते। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि जयदेव बड़े भारी नैयायिक थे[5]। मिथिला में यह किंवदन्ती है कि चन्द्रालोक के रचयिता ही नैयायिक जगत् में 'पक्षधर मिश्र' के नाम से प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्र के न्यायग्रन्थों के नाम के अन्त में 'आलोक' शब्द आता है, जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव और पक्षधर मिश्र की अभिन्नता पुष्ट प्रमाणों के द्वारा अभी तक प्रमाणित नहीं की जा सकी है।

---

१. चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।
—चन्द्रालोक १।२।

२. जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।
—गागाभट्ट—राकागम।

३. महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥
—चन्द्रालोक १।१६।

४. प्रसन्नराघव, अंक १, श्लोक १४-१५।

५. ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकला-लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥
—प्रसन्नराघव १।१८

समय

जयदेव के समय का निरूपण अभी तक निःसन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सका है। अनुमान के द्वारा पता चलता है कि इनका समय १३०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्ट ने 'शरदागम' नामक टीका का प्रणयन १५८३ ई० में किया। विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का यह सुप्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्य-दर्पण (४।३) में उद्धृत किया है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धति का निर्माणकाल १३६३ ई० है। जयदेव के समय की यही अन्तिम अवधि है। ऊपरी अवधि के समय में अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८

अतः जयदेव का मम्मट से पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। ये रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' से भी पूर्णतः परिचित हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो नवीन अलंकारों की कल्पना काव्यजगत् में की। जयदेव ने भी इन दोनों अलंकारों को 'सर्वस्वकार' के शब्दों में ही अपने ग्रन्थ में दिया है। अतः जयदेव रुय्यक के भी पश्चाद्वर्ती हैं। अतः रुय्यक (१२०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होने के कारण जयदेव का समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग भली-भाँति माना जा सकता है।

ग्रन्थ

इनका अलंकार-शास्त्र-संबंधी एक ही ग्रन्थ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों या अध्यायों में समाप्त है तथा इसमें ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसकी भाषा बड़ी ही रोचक तथा सुन्दर है। शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। पहले मयूख में काव्य के लक्षण, काव्य के हेतु तथा शब्द के त्रिविध प्रकार (रूढ, यौगिक, योगरूढि) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषों का निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्यांग का। चतुर्थ में दश गुणों का विवेचन है तथा पंचम में पाँच शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का विशिष्ट वर्णन है। छठवें मयूख में रस, भाव, त्रिविध रीति—गौड़ी, पांचाली, लाटी तथा पाँच वृत्तियों—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता

तथा भद्रा का विवेचन है। सप्तम में व्यंजना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का, अष्टम में गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन है। अन्तिम दो मयूखों में क्रमशः लक्षणा तथा अभिधा का वर्णन देकर जयदेव ने अपना सुबोध ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि एक ही श्लोक में अलंकार का लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैली में अलंकार का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इस पद्धति को दिखलाने के लिए एक-दो पद्य नीचे दिये जाते हैं—

व्यतिरेको विशेषश्चेद् उपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः ॥—५।५१
विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेद्।
पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥—५।७७

इस सुबोध शैली के कारण यह ग्रन्थ अलंकार के जिज्ञासुओं के लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ के अलंकार भाग को अपने कुवलयानन्द में पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होंने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड़ दी है। इस बात को इन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्पष्टत: स्वीकार किया है—

चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसंभवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्-प्रसादादभूदयम् ॥

इस पद्य का आशय यह है कि शरदागम में उत्पन्न होने वाले चन्द्रालोक की विजय हो जिसके प्रसाद से यह रमणीय कुवलयानन्द प्रादुर्भूत हुआ। शरद् के आगमन से ही चन्द्र का आलोक स्पष्ट दीख पड़ता है और तभी कुमुद विकसित होता है। श्लेषालंकार के द्वारा ग्रन्थकार चन्द्रालोक को कुवलयानन्द का आधारग्रन्थ मानता है। शरदागम शब्द भी श्लेष के बल से चन्द्रालोक की टीका का निर्देश कर रहा है जिसे प्रद्योतनभट्ट ने १५८३ ई० में लिखा था।

टीका

जयदेव का यह ग्रन्थ अलंकारजगत् में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर छः टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें (१) दीपिका, (२) शारदशर्वरी एवं (३) वाजचन्द्र की टीका हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। इसकी प्रकाशित टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका है (४) 'शरदागम'[1]। इसके लेखक अपने समय के बड़े भारी

१. यह टीका म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते के सम्पादकत्व में काशी संस्कृत सीरीज में (नं० ७५) प्रकाशित हुई है।

विद्वान् थे। ये बलभद्र मिश्र के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम वीरभद्रदेव या वीररुद्रदेव था, जो बुन्देलखण्ड के राजा थे। इस टीका का निर्माण १५८३ ई० में हुआ। इनके आश्रयदाता भी १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे, क्योंकि वात्स्यायन के कामशास्त्र के ऊपर उनकी लिखी 'कन्दर्पचूडामणि' नामक टीका १५७७ ई० में समाप्त हुई थी।

(५) रमा[1]—इसके लेखक का नाम वैद्यनाथ पायगुण्ड है। वैद्यनाथ तत्सत् गोविन्द ठक्कुर के 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के टीकाकार हैं। अनेक ग्रन्थ-सूचियों में दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं, परन्तु दोनों के कुलनाम बिल्कुल भिन्न हैं। 'रमा' टीका के आरम्भिक पद्यों में वैद्यनाथ ने अपने को स्पष्टतः 'पायगुण्ड' लिखा है। अतः उनको तत्सत्-गोत्रीय वैद्यनाथ से पृथक् भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(६) राकागम[2] या सुधा—इसके लेखक का नाम विश्वेश्वर भट्ट है, जो 'गागाभट्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने इसके अतिरिक्त मीमांसा-शास्त्र तथा स्मृतियों के ऊपर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये काशी के भट्ट वंश के अवतंस थे। ये सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकरभट्ट के भतीजे थे। ये अपने समय के काशी के इतने सुप्रसिद्ध विद्वान् थे कि छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक कराने के लिए ये ही नियुक्त किये गये थे। इनका मुख्य विषय मीमांसा तथा धर्मशास्त्र था।

३०—विद्याधर

समय

एकावली के रचयिता विद्याधर के ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण विद्याधर के द्वारा ही विरचित हैं तथा इनके आश्रयदाता उत्कल के राजा नरसिंह की स्तुति में लिखे गये हैं[3]। इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली-भाँति हो जाता है। विद्याधर ने रुय्यक का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है (एकावली, पृ० १५०), जिससे इनके समय की उत्तर अवधि १२वीं शताब्दी का मध्यकाल है। नैषध के रचयिता श्रीहर्ष के उल्लेख करने से इसी अवधि की पुष्टि होती है। विद्याधर ने इसी प्रसंग में हरिहर नामक कवि का भी उल्लेख किया है जिन्होंने अर्जुन नामक

---

१. काशी, चौखम्भा से प्रकाशित।
२. यह टीका चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है।
३. एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥ एकावली।

राजा से अपनी काव्यप्रतिभा के बल पर असंख्य धन प्राप्त किया था। इनका समय १३वीं शताब्दी का आरम्भ-काल है। इनके समय की पूर्व अवधि का पता मल्लिनाथ (१४वीं शताब्दी का अन्त) द्वारा टीका लिखने से तथा शिंगभूपाल (१३३० ई०) के द्वारा उल्लिखित[1] होने से चलता है। अतः इनका समय १३वें शतक का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है। जिस राजा नरसिंह का इन्होंने वर्णन किया है वे उड़ीसा के राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं, जिनका समय १२८० ई० से १३१४ ई० है। अत: 'एकावली' का रचनाकाल १३वें शतक का अन्त तथा १४वें का आरम्भ है।

ग्रन्थ

एकावली में आठ उन्मेष या अध्याय हैं, जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व पर आधारित है। वस्तुतः यह काव्यप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण है। इसकी एकमात्र टीका का नाम तरला है जिसके लेखक संस्कृत महाकाव्यों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वें शतक का अन्तिम काल) हैं। एकावली पर टीका लिखने के कारण ही मल्लिनाथ ने महाकाव्यों की अपनी टीका में अलंकारों के निर्देश के अवसर पर एकावली का ही उद्धरण दिया है। 'तरला' एक आदर्श टीका है जो मूल के साथ बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है।

३१—विद्यानाथ

समय

विद्यानाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में बहुत ही लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इसमें जितने उदाहरण हैं वे सब विद्यानाथ की ही रचना है, जिसमें प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) नामक काकतीयवंशीय नरेश की स्तुति है[2]। इनकी स्तुति में विद्यानाथ ने

---

१. उत्कलाधिपतेः शृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाढमभ्यन्तरीकृतोऽसि। एवं खलु समर्थितमेकावल्यामनेन। रसार्णवसुधाकर, पृ० ३०६ (अनन्तशयन)।

२. प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु वः॥
—प्रतापरुद्रयशोभूषण १।६

अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में अलंकार के अंगों तथा उपांगों के उदाहरण में 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक की रचना कर निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय नरेश बतलाये जाते हैं जिनकी राजधानी एकशिला नगरी त्रिलिंग देश या आन्ध्र देश में थी। प्रतापरुद्रदेव बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने यादववंशी नरेश सेवण (देवगिरि के राजा रामदेव १२७१–१३०९ ई०) को परास्त किया था। इस वर्णन के आधार पर प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ के आश्रयदाता प्रतापरुद्र की एकशिला (वारंगल) के सप्तम काकतीय नरेश के साथ अभिन्नता सिद्ध की है जिनके शिलालेख १२९८ ई० से १३१७ ई० तक उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतापरुद्रदेव ने १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं के प्रथमार्ध में राज्य किया था। अतः विद्यानाथ का भी यही समय है। इनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से भी यही बात सिद्ध होती है। विद्यानाथ ने रुय्यक का उल्लेख किया है तथा उनका स्वतः उल्लेख मल्लिनाथ ने काव्य की अपनी टीकाओं में विना नाम-निर्देश किये अनेक वार किया है। इन निर्देशों से भी इसी समय की पुष्टि होती है।

ग्रन्थ

इस ग्रन्थ में नव प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थकार ने मम्मट को ही अपना आदर्श माना है, परन्तु अलंकार के विषय में वे रुय्यक के ऋणी हैं। इसीलिए परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकार—जिनका मम्मट ने अपने ग्रन्थ में वर्णन नहीं किया है—रुय्यक के आधार पर इन्होंने अपने ग्रन्थ में दिया है। इसके टीकाकार कुमारस्वामी हैं, जो अपने को काव्यग्रन्थों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ का पुत्र बतलाते हैं। अतः कुमारस्वामी का समय १५वीं शताब्दी का आरम्भ है। इस टीका का नाम 'रत्नापण' है जो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—भोज का श्रृंगारप्रकाश, शिगभूपाल का रसार्णवसुधाकर, एकावली तथा मल्लिनाथ की 'तरला' टीका, साहित्यदर्पण, चक्रवर्ती (रुय्यक के ग्रन्थ पर संजीवनी नामक टीका के कर्ता)। इन्होंने भावप्रकाश का भी उल्लेख किया है जिसके रचयिता शारदा-तनय हैं। इन्होंने वसन्तराज के द्वारा निर्मित वसन्तराजीय नाट्यशास्त्र का भी उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।

'रत्नापण' टीका के साथ मूल ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके ऊपर 'रत्नशाण' नामक कोई अन्य टीका थी, जो इसी संस्करण के साथ प्रकाशित की गई है।

३२—विश्वनाथ कविराज

जीवनी

साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलंकार-जगत् में सबसे अधिक लोकप्रिय आलंकारिक हैं। ये उत्कल के बड़े प्रतिष्ठित पण्डित कुल में पैदा हुए थे। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर थे[1] जो अपने पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने अपने पिता के ग्रन्थ 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। नारायण, जिन्होंने अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की थी—या तो विश्वनाथ के पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योंकि काव्य-प्रकाश की टीका में विश्वनाथ ने नारायण का 'अस्मद् पितामह' कहकर निर्देश किया है[2], परन्तु साहित्य-दर्पण में उन्हीं का वे 'अस्मत्-वृद्धप्रपितामह' कहकर उल्लेख किया है[3]। काव्यप्रकाश की दीपिका टीका के रचयिता चण्डीदास भी विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका में बहुत से संस्कृत शब्दों के उड़िया भाषा के पर्यायवाची शब्दों को दिया है[4]। इससे पता चलता है कि ये उड़ीसा के निवासी थे। विश्वनाथ के पिता तथा विश्वनाथ दोनों ही किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवतः यह राजा कलिंग देश का ही अधिपति था।

ग्रन्थ

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये संस्कृत तथा प्राकृत के ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भषाओं के विद्वान् थे। इसीलिए इन्होंने अपने को 'षोडशभाषावारविलासिनी-भुजंग' लिखा है[5]। इनके द्वारा निर्मित काव्यग्रन्थ—जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों में किया है ये हैं—(१) राघवविलास नामक संस्कृत महाकाव्य, (२) कुवलयाश्वचरित—प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य, (३) प्रभावतीपरिणय

---

१. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः। —साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक।

२. यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः...अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदास-पादाः।

३. तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। साहित्यदर्पण ३।२–३।

४. वैपरीत्यं रुचिं कुर्विति पाठः, अत्र चिकुपदं काश्मीरादिभाषायां अश्लीलार्थ-बोधकम्, उत्कलादिभाषायां घृतवांडकद्रव इत्यादि।

काव्यप्रकाश—वामनाचार्य की भूमिका, पृ० २५।

५. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण के प्रथम अध्याय की पुष्पिका।

(नाटिका), (४) चन्द्रकला नाटिका[1], (५) प्रशस्तिरत्नावली (यह षोडश भाषाओं में निबद्ध 'करम्भक' है)। इन सब काव्यों का निर्देश विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में स्वयं किया है। इन्होंने (६) नरसिंहविजय नामक काव्यग्रन्थ की भी रचना की थी जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण' में मिलता है।

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक का यद्यपि नामतः उल्लेख नहीं किया है। तथापि यह निर्विवाद है कि ये इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्णतः परिचित थे। मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है। दशम अध्याय में इन्होंने विकल्प तथा विचित्र नामक अलंकारों का लक्षण दिया है, जो जयरथ के प्रामाण्य पर रुय्यक की मौलिक कल्पना से प्रसूत थे। विश्वनाथ ने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का एक पद्य 'निश्चय' अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है[2]। राजा लक्ष्मणसेन के सभापण्डितों में अन्यतम कविवर जयदेव का समय १२वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है। इन्होंने प्रसन्नराघव से भी एक पद्य उद्धृत किया है[3]। ये नैषधचरित काव्य से भी पूर्ण परिचित हैं[4]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ का समय १२०० ई० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

विश्वनाथ के समय की पूर्व अवधि का निर्देश उनके साहित्यदर्पण की एक हस्त-लिखित प्रति के लेखनकाल से मिलता है जो १४४० संवत् (१३८४ ई०) में लिखी गई थी। इस प्रकार विश्वनाथ का समय साधारणतया १२०० ई० से लेकर १३५० ई० के बीच माना जा सकता है। साहित्यदर्पण की अन्तरंग परीक्षा से यह कालनिर्देश और भी निश्चित रूप से किया जा सकता है। साहित्य दर्पण के एक पद्य में अल्लावदीन नामक एक मुसलमान राजा का उल्लेख है, जो सन्धि के अवसर पर सर्वस्व हरण कर लेता था और संग्राम करने पर प्राण का हरण करता था—

---

१. काशी संस्कृत ग्रन्थमाला (सं० १७७) में चौखम्भा कार्यालय द्वारा प्रकाशित १९६७।

२. हृदि बिसलताहारो नायं भुजंगमनायकः।

—गीतगोविन्द ३।११

३. कदली कदली करभः करभः करिराजकरः, करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

—साहित्यदर्पण ४।२

४. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥

नैषध ३।११६ —साहित्यदर्पण १०।५०

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

—सा० द० ४।१४

इस पद्य में निर्दिष्ट 'अल्लावदीन' दिल्ली का सुलतान 'अलाउद्दीन खिलजी' ही प्रतीत होता है जिसने दक्षिण पर आक्रमण कर वारंगल जीत लिया था और जिसके निष्ठुर व्यवहार का परिचय प्रत्येक भारतवासी को मिल चुका था। यह अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर १२९६ से १३१६ ई० तक राज्य करता रहा। सम्भव है कि यह पद्य अलाउद्दीन के समय में ही लिखा गया हो। अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है।

साहित्यदर्पण

विश्नाथ कविराज की सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्य-दर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्य के विपुल वर्णन के साथ ही साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों—श्रव्य तथा दृश्य—का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा भेद का वर्णन है। द्वितीय में वाक्य तथा पद के लक्षण देने के अनन्तर ग्रन्थकार ने शब्द की तीनों शक्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। तृतीय परिच्छेद में रस, भाव तथा नायक-नायिका-भेद एवं तत्-सम्बद्ध अन्य विषयों का बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत विवरण है। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन कर ग्रन्थकार ने पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए अभ्रान्त युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं तथा व्यंजना वृत्ति के न माननेवाले विद्वानों की युक्तियों का पर्याप्त खण्डन किया है। षष्ठ परिच्छेद में नाटक के लक्षण तथा भेदों का बड़ा ही पूर्ण निरूपण है। सप्तम परिच्छेद में दोषों का तथा अष्टम में गुणों का विवेचन किया गया है। नवम में विश्वनाथ ने काव्य की चार रीतियों—वैदर्भी, गौडी, लाटी और पांचाली—का संक्षिप्त वर्णन किया है। दशम परिच्छेद में शब्द तथा अर्थ, दोनों के अलंकारों का विस्तार से वर्णन कर यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखने के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका 'काव्यप्रकाशदर्पण' के नाम से लिखी।

टीका

साहित्यदर्पण के ऊपर चार टीकायें उपलब्ध होती हैं, जिनमें मथुरानाथ शुक्ल कृत 'टिप्पण' तथा गोपीनाथकृत 'प्रभा' अभीतक अप्रकाशित हैं। प्रकाशित टीकाओं

में प्राचीनतर टीका का नाम 'लोचन' है जिसे विश्वनाथ कविराज के सुयोग्य पुत्र अनन्तदास ने लिखा है। यह टीका मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने प्रकाशित की है। इससे अधिक प्रसिद्ध टीका रामचरण तर्कवागीश कृत विवृति नाम्नी है जो अत्यन्त लोकप्रिय है। ये टीकाकार पश्चिमी बंगाल के निवासी थे। इस टीका की रचना का काल १७०१ ई० है। साहित्य-दर्पण को समझने के लिए यह टीका अत्यन्त उपादेय है।

वैशिष्ट्य

विश्वनाथ कविराज आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनकी प्रतिभा का विकास काव्यक्षेत्र में जितना दिखलाई पड़ता है, उतना अलंकार के क्षेत्र में नहीं। अनेक महाकाव्यों का प्रणयन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इनके पद्यों में कोमल पदावली का विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलंकारिक की दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्यदर्पण, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया एक संग्रह-ग्रन्थ है। यह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथ के लेख में दीख पड़ती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मट के ग्रन्थ में उपलब्ध होती है विश्वनाथ के ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिलती। परन्तु इस ग्रन्थ में अनेक गुण हैं जो इसकी लोकप्रियता के कारण हैं। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मट के काव्यप्रकाश की शैली समासमयी होने के कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी उसमें कठिनता से प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथ की शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनों की तुलना में साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषा में लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक हैं। इसकी व्याख्यायें संक्षिप्त होनेपर भी विषय को विशद रूप से समझाती हैं। एक ही स्थान पर नाट्य तथा काव्य दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ को छोड़कर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्यदर्पण अलंकार-शास्त्र में प्रवेश करनेवाले छात्रों का सबसे सरल मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

३३—केशव मिश्र

इनके ग्रन्थ का नाम 'अलंकारशेखर' है[1]। इसके आरम्भ तथा अन्त में इनका कहना है कि धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर इन्होंने इस ग्रन्थ की

---

१. काव्यमाला बम्बई (नं० ५०), सन् १८९५ तथा काशी संस्कृत सीरीज नं० १ में प्रकाशित।

रचना की। राजा धर्मचन्द्र रामचन्द्र के पुत्र थे जो दिल्ली के पास राज्य करते थे और जिन्होंने काविल (काबुल अर्थात् मुसलमान) के राजा को परास्त किया था। कनिंघम के अनुसार काँगड़ा के राजा माणिक्यचन्द्र ने धर्मचन्द्र के अनन्तर १५६३ ई० में राज्य प्राप्त किया और दश वर्ष तक राज्य किया। इस राजा की वंशावली केशव मिश्र के आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्र से मिलने के कारण ये दोनों एक ही अभिन्न व्यक्ति थे। इसलिए केशव मिश्र का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

'अलंकारशेखर' में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रन्थकार का कहना है कि उन्होंने अपनी कारिकाओं (सूत्रों) को किसी भगवान् शौद्धोदनि नामक आलंकारिक के ग्रन्थ के आधार पर हीं निर्मित किया है। ये शौद्धोदनि सम्भवत: कोई बौद्ध ग्रन्थकार थे, परन्तु इनका नाम अलंकार-साहित्य में नितान्त अज्ञात है। केशव मिश्र ने काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों से बहुत-सी सामग्री अपने ग्रन्थ में ली है। इन्होंने श्रीपाद नामक किसी आलंकारिक का निर्देश किया है। ये श्रीपाद साहित्यशास्त्र में अबतक अज्ञातनामा हैं। सम्भव है कि केशव मिश्र के आधारभूत लेखक शौद्धोदनि ही श्रीपाद हों। इन्होंने किसी कविकल्पलताकार का भी निर्देश किया है जो श्रीपाद के मतानुसारी बतलाये गये हैं। इस 'कविकल्पलता' के लेखक न तो देवेश्वर हैं न अमरचन्द्र।

इस ग्रन्थ—अलंकारशेखर—में आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—काव्य-लक्षण, रीति, शब्दशक्ति, पद के आठ दोष, वाक्य के १८ दोष, अर्थ के ८ दोष, शब्द के ५ गुण, अर्थ के ४ गुण, दोष का गुणभाव, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपक के भेद आदि विषयों के वर्णन के अनन्तर रस-निरूपण तथा नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के विषयों का संक्षेप रूप से वर्णन प्रस्तुत करता है।

३४—शारदातनय

समय

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम का हमें परिचय नहीं मिलता। ग्रन्थकार अपने को शारदादेवी का पुत्र बतलाता है और इसीलिए वह 'शारदातनय' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः ये कश्मीर के निवासी थे। इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध किया जा सकता है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने भोज के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा शृङ्गारप्रकाश से और काव्यप्रकाश से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय १२वीं शताब्दी के अनन्तर होगा। अर्वाचीन ग्रन्थकारों में सिंह भूपाल ने रसार्णव-सुधाकर में इनके मत का निर्देश किया है।

सिंहभूपाल का समय है १३२० ई० के आसपास। अतः भोज तथा सिंहभूपाल के मध्यवर्ती काल में आविर्भूत होने के कारण इनका समय १२५० ई० अर्थात् १३वें शतक का मध्यभाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम है—भावप्रकाशन[1]। नाट्यविषयक ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक अज्ञात रसाचार्यों के—जैसे वासुकि, नारद, व्यास आदि के—मतों का निर्देश ग्रन्थ में किया गया है। प्राचीन नाट्याचार्य के इतिहास तथा मत जानने के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय चार हैं—(१) भाव, (२) रस, (३) शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा (४) रूपक। ग्रन्थ में सम्पूर्ण १० अधिकार या अध्याय हैं। जिनमें (१) भाव, (२) रस का स्वरूप, (३) रस के भेद, (४) नायक-नायिका, (५) नायिकाभेद, (६) शब्दार्थ-सम्बन्ध, (७) नाट्य-इतिहास तथा शरीर, (८) दशरूपक, (९) नृत्य-भेद तथा (१०) नाट्य-प्रयोग का विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार 'भावप्रकाशन' भाव तथा रस के नाना प्रकार की समस्याओं को हल करने का एक विराट् महत्त्वशाली ग्रन्थ है। नाट्य-सम्बन्धी उपकरणों तथा उपादेय प्रभेदों का विवरण भी यहाँ विस्तार से किया गया है। नाट्य के सिद्धान्त के वर्णन के साथ ही साथ नाट्य के व्यावहारिक रूप का भी सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य तथा रस के विशिष्ट ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक कोश का काम करता है। इसीसे इसकी भूयसी उपयोगिता सिद्ध होती है।

३५—शिंगभूपाल

ये नाट्य तथा संगीत दोनों विषयों के आचार्य हैं। इनका समय जानने से पहले भारतीय संगीत का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। भारत में संगीतशास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हुई थी। वह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए, क्योंकि वेद के समय में तो संगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि संगीतविषयक अधिकांश ग्रन्थ कराल काल के ग्रास बन गये हैं। यदि समग्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध रहते, तो इस शास्त्र के क्रमबद्ध विकाश का इतिहास

1. गा० ओ० सी० संख्या ४५, १९३० में प्रकाशित। सम्पादक ने विस्तृत भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है।

सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीतमकरंद' के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीतशास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र के तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ संबद्ध था; प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान्‌-तुंबरु, कोहल, मातंग, बेणा—इसके आचार्य थे, जिन्होंने संगीत पर ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक तालपत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। केवल एक दर्जन से कम ही पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्यशास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बतलाये गये हैं तथापि 'संगीतरत्नाकर' ही संगीतशास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रन्थ है। इस अमूल्य ग्रन्थ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। प्राचीनता के लिए भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद' को छोड़कर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना ग्रन्थ है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'[1] समग्र संगीतप्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं। जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००–१५००) रचित टीका 'आनन्दाश्रम' सीरीज में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी पर पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—संगीत-सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों (जिनका अब नाम भी बाकी नहीं है) से उद्धरण लिये गये मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'शिंगभूपाल' हैं।

'शिंगभूपाल' के समय के विषय में अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर ने लिखा है—'शिंग' अपने को 'आंध्रमण्डल' का अधिपति लिखता है; इसके विषय में ठीक-ठीक कहना तो अत्यन्त कठिन है, तथापि अधिक सम्भावना इसी बात की है कि यह तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' बनाया था[2]। सम्भव है कि शार्ङ्ग-

---

१. गायकवाड ओरियंटल सीरीज नं० १६।

२. देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंघ या सिंघण (१२१८-४१) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वादीन्द्र' ने 'महाविद्याविडंबन' नामक नैयायिक ग्रन्थ की रचना की है।

देव अथवा अन्य किसी पण्डित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अत एव इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी० आर० भांडारकर ने[1] कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'शिगभूपाल' को १६वीं सदी का माना था, परन्तु कलकत्ता की एक हस्तलिखित प्रति में कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नहीं है। कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से शिगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ते की प्रति की पुष्पिका यों है—

(१) इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरव-श्रीयनबान-नरेन्द्रनन्दन-भुजवल-भीम-श्रीसिगभूपाल-विरचितायां संगीतरत्नाकर-टीकायां सुधाकराख्यायां राग-विवेकाध्यायो द्वितीयः।

(रागविवेकाध्याय का अन्त)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन—(प्रकीर्णाध्याय का अन्त)।

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की सूचना प्रो० शेषगिरि शास्त्री ने अपनी संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६–९७) में दी थी। उस पर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंड्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रन्थ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णवसुधाकर' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर की पुष्पिका में भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणों में हैं—इति श्रीमदांध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरव-श्रीअन्नप्रोतनरेन्द्र-भुजबलभीम-श्रीशिंगभूपाल-विरचिते रसार्णव-सुधाकरनाम्नि नाट्यालंकारे रंजकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों पुष्पिकायें एक ही ग्रन्थकार की हैं। रसार्णव-सुधाकर के आरम्भ में 'शिंगभूपाल' के पूर्वपुरुषों का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंश में इनका जन्म हुआ था। शिंगभूपाल अपने ६ पुत्रों के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी में रहता था और विन्ध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक पर्वत के मध्य स्थित देश पर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'बायोग्रैफिक स्केचेज आफ दि राजाज आफ वेंकटगिरि' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है। शास्त्रीजी का यह कथन सर्वथा उचित है, क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरम्भ में शिंग ने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश में आज भी

१. डाक्टर भंडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२-८३)।

'नायडू' की गणना उसी वर्ण में होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० के आसपास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्य-काल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि शिंगभूपाल का सम्बन्ध दक्षिण देश से था, उत्तरीय भारत से नहीं। अत एव मैथिलों का यह प्रवाद कि शिंग मिथिला के राजा थे केवल कल्पनामात्र है—श्रीश्यामनारायण सिंहने अपने 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' में इस प्रवाद का उल्लेख किया हैं। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियों के दक्षिण में मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण में सातिशय प्रचार से शिंगभूपाल वास्तव में दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

रसार्णवसुधाकर[1]—शिंगभूपाल की यह कमनीय कृति नाटचशास्त्र के उपादेय विषयों की विवेचना में निर्मित की गई है। आरम्भ में ग्रन्थकार ने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये रेचल वंश में उत्पन्न दाचयनायक के प्रपौत्र, शिंगप्रभु के पौत्र, अनन्त (अपरनाम अन्नपोत) के पुत्र थे। विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश के ये अधिपति थे। यह ग्रन्थ तीन विलासों में विभक्त है—(१) 'रञ्जकोल्लास' नामक प्रथम विलास में नायक तथा नायिका के स्वरूप तथा गुण का वर्णन विस्तार से किया गया है। अनन्तर चारों वृत्तियों के रूप तथा प्रभेदों का भी विस्तृत विवेचन है। (२) द्वितीय विलास (रसिकोल्लास) में रस का बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है जिसमें रति के वर्णन-प्रसंग में भोजराज के मत का खण्डन किया गया है (पृ० १४९)। यह विवेचन जितना स्वच्छ तथा सुबोध है उतना ही उदाहरणों से परिपुष्ट तथा युक्तियों से युक्त है। (३) तृतीय विलास (भावोल्लास) में रूपक के वस्तु का विस्तृत विन्यास है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक के तीनों अंगों—नेता, रस तथा वस्तु का क्रमशः तीनों विलासों में सांगोपांग विवेचन है। दशरूपक की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत तथा विशद है। दक्षिण भारत में दशरूपक की अपेक्षा इसीलिए इसका प्रचुरतर प्रचार है।

३६—भानुदत्त

संस्कृत साहित्य के इतिहास में भानुदत्त नायिका-नायक-भेद के ऊपर सबसे बड़ी पुस्तक लिखने के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक का नाम रसमंजरी है।

---

१. अनन्तशयन ग्रन्थमाला (सं० ५०) में प्रकाशित, १९१६।

इसीका संक्षेप विवरण भानुदत्त ने रसतरंगिणी में प्रस्तुत किया है जिसमें रस और भावों का ही विशेष रूप से वर्णन है। रसमंजरी के अन्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'विदेहभूः' लिखा है जिससे जान पड़ता है कि ये मैथिल थे। इन्होंने अपने पिता का नाम गणेश्वर लिखा है[1]। सूची-ग्रन्थों में भानुदत्त स्पष्ट ही मैथिल बतलाये गये हैं। गणेश्वर के मैथिल होने से बहुत सम्भव है कि ये प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री हों जिनके पुत्र चण्डेश्वर ने 'विवाद-रत्नाकर' लिखा था। चण्डेश्वर ने १३१५ ई० में सोने से अपना तुलादान करवाया था। अतः भानुदत्त का भी यही समय है। इन्होंने 'श्रृंगार-तिलक' तथा 'दशरूपक' का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है तथा गोपाल आचार्य ने १४२८ ई० में रस-मंजरी के ऊपर 'विकास' नामक टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे।

भानुदत्त ने गीत-गौरीश या गीतगौरीपति नामक बड़ा ही सुन्दर गीति-काव्य लिखा था जो दश सर्गों में समाप्त है। आलंकारिक भानुदत्त तथा कवि भानुदत्त इन दोनों के पिता का नाम गणेश्वर या गणपति है। रस-मंजरी के कुछ पद्य 'गीत-गौरीश' में भी दिये गये मिलते हैं जिससे दोनों ग्रन्थकारों की एकता स्वतः सिद्ध होती है। यह गीतिकाव्य जयदेव के गीत-गोविन्द के आदर्श पर लिखा गया था। मैथिल काव्य में वंगदेशीय कवि की मनोरम कविता से साम्य होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अतः भानुदत्त गीतगोविन्दकार (१२ शतक) के पश्चाद्वर्ती हैं और इनका जो समय ऊपर निर्दिष्ट किया गया है उससे इसमें किसी प्रकार का विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

ग्रन्थ

(१) भानुदत्त के दोनों ग्रन्थों में रस-मंजरी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें नायिका के विभेदों का वर्णन सांगोपांग किया गया है। ग्रन्थ का दो तिहाई भाग इसी विवेचन में खर्च किया गया है। शेष भाग में नायक-भेद, नायक के मित्र, आठ प्रकार के सात्विक भाव और श्रृंगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ की दश अवस्थाओं का विवेचन किया गया है।

रसमंजरी की लोकप्रियता का परिचय इसके ऊपर लिखी गई अनेक टीकाओं से मिलता है। इस पर अब तक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। (१) अनन्त पण्डितकृत व्यंग्यार्थकौमुदी तथा (२) नागेश भट्टकृत प्रकाश तो बनारस संस्कृत

---

१. तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकीर्मिरिता॥
—रसमंजरी का अन्तिम पद्य।

सीरीज में (नं० ८३) प्रकाशित हो चुकी है। नागेश भट्ट तो प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट ही हैं। अनन्त पण्डित का मूलस्थान गोदावरी के किनारे पुण्यस्तम्भ नामक नगर था। इन्होंने यह टीका काशी में संवत् १६६२ (१६३६ ई०) में लिखी थी। इन्होंने गोवर्धनसप्तशती के ऊपर भी टीका लिखी है, जो काव्यमाला में मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है।

(२) भानुदत्त का दूसरा ग्रन्थ रस-तरंगिणी है, जिसमें रस का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसमें आठ तरंग हैं, जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, शृंगाररस, इतर रस तथा स्थायी भाव और रस से उत्पन्न दृष्टियों का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके ऊपर भी नव टीकायें लिखी हुई मिलती हैं, जिनमें से गंगाराम जड़ीकृत 'नौका' नामक टीका ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस टीका की रचना सन् १७३२ ई० में की गई थी। भानुदत्त ने इन दोनों ग्रन्थों का निर्माण कर रस-सिद्धान्त का व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है और इसीलिये ये अलंकार-शास्त्र के इतिहास में स्मरणीय हैं।

३७—रूप गोस्वामी

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा जिस वैष्णव भक्ति की धारा प्रवाहित हुई उससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने वैष्णव कल्पनाओं को रस-विवेचन में प्रयुक्त किया। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में धार्मिक दृष्टि से रस की साधना की जाती है। रस के विषय में उनकी अनेक नवीन कल्पनायें हैं। ऐसे ग्रन्थकारों में सबसे श्रेष्ठ थे रूप गोस्वामी। ये मुकुन्द के पौत्र और कुमार के पुत्र थे। ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का अन्त तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनके ग्रन्थों के लेखन-काल से भी इस समय की पुष्टि होती है। इनका 'विदग्ध-माधव' १५३३ ई० में लिखा गया था तथा 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई० में लिखी गई थी।

अलंकार विषय में इनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं—(१) नाटक चन्द्रिका, (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) उज्ज्वलनीलमणि।

नाटकचन्द्रिका[1] में नाटक के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन है। इसके आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इसकी रचना के लिए इन्होंने भरत-शास्त्र और रस-सुधाकर

1. चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला (ग्रन्थ संख्या १७) में प्रकाशित, वाराणसी, १९६४।

(सिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर) का अध्ययन किया है। और भरत के सिद्धान्तों से प्रतिकूल होने के कारण इन्होंने साहित्यदर्पण के निरूपण को बिल्कुल छोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में निरूपित विषयों का क्रम इस प्रकार है—नाटक का सामान्य लक्षण, नायक, रूपक के अंग, सन्धि आदि के प्रकार, अर्थोपक्षेपक और विष्कंभक आदि इसके भेद, नाटक के अंकों तथा दृश्यों का विभाजन, भाषाविधान, वृत्तिविचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रन्थ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं, जो संख्या में अत्यधिक हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु—भक्ति-रस के स्वरूप का विवेचनात्मक यह ग्रन्थ[1] चैतन्य सम्प्रदाय में धार्मिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से अनुपम है। इस ग्रन्थ में चार विभाग हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम और (४) उत्तर। प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियाँ हैं। पूर्व विभाग में प्रथमतः भक्ति का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट है (प्रथम लहरी)। अनन्तर भक्ति के तीनों भेदों का—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति का विशिष्ट विवरण दिया गया है (२-४ लहरी)। दक्षिण विभाग में क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव का भिन्न-भिन्न लहरियों के वर्णन के अनन्तर भक्तिरस के सामान्य रूप के विवरण के साथ यह विभाग समाप्त होता है। पश्चिम विभाग में भक्ति-रस के विशिष्ट रूप का विन्यास है, जिसमें क्रमशः शान्तभक्ति, प्रीतिभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सल-भक्ति तथा मधुरभक्ति रस का विभिन्न लहरियों में बड़ा ही सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति-रस ही प्रकृत रस है तथा अन्य रस उसी की विभिन्न विकृतियाँ तथा प्रभेद हैं। इनका वर्णन उत्तर-विभाग का विषय है जिसमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण तथा रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों का वर्णन है। अनन्तर रसों की परस्पर मैत्री तथा विरोध की विवेचना कर रसाभास के विशिष्ट रूप के निर्धारण के साथ यह ग्रन्थ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भक्तिरस का महनीय विश्वकोश है। ग्रन्थ का रचनाकाल है १४६३ शक संवत् = १५४१ ईस्वी।

उज्ज्वलनीलमणि—यह ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थ का पूरक है। 'उज्ज्वल' का अर्थ है श्रृंगार; अतः मधुरश्रृंगार रस की विस्तृत विवेचना के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। इसमें क्रमशः नायक, नायक के सहायक, हरिप्रिया, राधा, नायिका, यूथेश्वरी-भेद, दूती के प्रकार, सखी के वर्णन के अनन्तर कृष्ण के सखा का वर्णन है। पश्चात्

---

१. जीवगोस्वामी की टीका (दुर्गमसंगमनी) से युक्त इसका एक सुन्दर संस्करण पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी की सम्पादकता में अच्युतग्रन्थ-माला में प्रकाशित हुआ है। काशी, १९८८ वि० सं०।

मधुर रस के उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी तथा स्थायी का विस्तृत वर्णन कर शृंगार-संयोग तथा विप्रलम्भ—की नाना दशाओं का रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थराज रसराज भक्ति-रस का विवेचनात्मक विशाल ग्रन्थ है, जो भक्ति की दृष्टि से भी उतना ही माननीय है जितना साहित्यिक दृष्टि से श्लाघनीय है।

रूप गोस्वामी के अन्तिम दोनों ग्रन्थों में भक्ति की रसरूपता का बड़ा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा प्रशस्त विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार की ये दोनों अमर कृतियाँ हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

'उज्ज्वलनीलमणि' की दो टीकायें प्रकाशित[1] हुई हैं और दोनों ही बड़ी प्रसिद्ध हैं। (१) पहली टीका का नाम है **लोचन-रोचनी**, जिसकी रचना रूप गोस्वामी के भाई वल्लभ के पुत्र जीव गोस्वामी ने की थी। जीव गोस्वामी बहुत ही बड़े विद्वान् थे। दर्शन तथा साहित्य का, भक्ति तथा साधना का जितना सामञ्जस्य जीव गोस्वामी के जीवन में था उतना अन्यत्र मिलना दुष्कर है। इनका जन्म शक १४४५ (१५२३ ई०) में तथा मृत्यु शक १५४० (१६१८ ई०) में हुई थी। इससे स्पष्ट है कि इनका कार्यकाल १६वी शताब्दी का उत्तरार्ध था। (२) दूसरी टीका का नाम **आनन्द-चन्द्रिका** या 'उज्ज्वलनीलमणिकिरण' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के अत्यन्त पूजनीय ग्रन्थकार हैं। इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वीं का आदि काल है। इस आनन्दचन्द्रिका की रचना १६१८ शक (१६९६ ई०) में हुई थी। इन्होंने भागवत के ऊपर "सारार्थ-दर्शिनी" नामक टीका की रचना १६२६ शक (१७०४ ई०) में की थी। इस प्रकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भक्ति तथा साहित्य दोनों प्रकार के शास्त्रों पर अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को लिखा है।

३८—कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूर का वास्तविक नाम **परमानन्ददास सेन** था। ये शिवानन्द सेन के पुत्र तथा श्रीनाथ के शिष्य थे। ये बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थकार थे। ये जीव गोस्वामी के समकालीन ग्रन्थकर्ता थे। इनके पिता शिवानन्द चैतन्यदेव के साक्षात् शिष्यों में से थे। कवि कर्णपूर का जन्म बंगाल के नदिया जिले में १५२४ ई० में हुआ था। चैतन्य के जीवनचरित को नाटक के रूप में प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने १५७२ ई० में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

---

१. काव्यमाला ९५, बम्बई १९१३।

अलंकार शास्त्र पर इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है **अलंकारकौस्तुभ**। यह ग्रन्थ दश किरणों वा अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें काव्य-लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रसभावभेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोष का क्रमशः वर्णन किया गया है। इस प्रकार रूप गोस्वामी के ग्रन्थ से इसका विस्तार विषय की दृष्टि से अधिक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण कृष्णचन्द्र की स्तुति में ही निबद्ध किये गये हैं, तथापि इसमें उतनी वैष्णवता का पुट नहीं है जितनी रूप गोस्वामी के ग्रन्थ में मिलती है। बंगाल में यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है, जिनमें वृन्दावनचन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्ती की 'दीधित-प्रकाशिका' टीका तथा लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल विश्वनाथ चकवर्ती की सारबोधिनी टीका मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है[1]।

कविचन्द्र कवि कर्णपूर तथा कौशल्या के पुत्र बतलाये जाते हैं। ये कवि कर्णपूर ऊपर निर्दिष्ट आलंकारिक ही हैं। यह कहना प्रमाणसिद्ध नहीं है। अलंकारविषयक इनका ग्रन्थ काव्यचन्द्रिका है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें १६ प्रकाश हैं जिनमें साहित्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन है। इसमें ग्रन्थकार ने सारलहरी तथा धातुचन्द्रिका नामक अपने अन्य ग्रन्थों का भी निर्देश किया है। इनका समय १६वीं शताब्दी का अन्त और १७वीं का प्रारम्भकाल है।

३९—अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दक्षिण भारत के मान्य ग्रन्थकारों में अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है जिसके विभिन्न अंगों पर इन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। अद्वैत वेदान्त में इनका कल्पतरुपरिमल (अमलानन्द कृत कल्पतरु-व्याख्या की टीका) तथा सिद्धान्तलेश-संग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सिद्धान्त-लेश अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है, प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। इन्होंने शैवाचार्य श्रीकण्ठ के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक उच्च कोटि की टीका लिखी है। कर्म-मीमांसा में भी 'विधिरसायन', 'उपक्रमपराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' तथा 'चित्रकूट' इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ये दर्शन के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत एक उच्चकोटि के साधक भी थे।

---

१. विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका के साथ इसके दो संस्करण मुर्शिदाबाद तथा राजशाही (बंगाल) से प्रकाशित हुए हैं।

अलंकारशास्त्र में इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्रमीमांसा और (३) वृत्तिवार्तिक। इनमें वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रन्थ है, तदनन्तर चित्र-मीमांसा तथा सबके पीछे कुवलयानन्द की रचना की गई, क्योंकि कुवलयानन्द में चित्रमीमांसा का उल्लेख पाया जाता है।

(१) **वृत्तिवार्तिक**[1]—यह शब्द-वृत्तियों की विवेचना में लिखा गया एक छोटा ग्रन्थ है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिसमें अभिधा और लक्षणा का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अधूरा ही दीख पड़ता है।

(२) **कुवलयानन्द** अलंकारों के निरूपण के लिए बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ जयदेव के 'चन्द्रलोक' पर आश्रित है। अन्त में चौबीस नये अलंकारों की कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। इस प्रकार यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिक नहीं है, तथापि अलंकारों की रूपरेखा जानने के लिए अतीव उपादेय है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण है। इसके ऊपर लगभग नौ टीकायें मिलती हैं, जिनमें आशाधर की दीपिका तथा वैद्यनाथ तत्सत् की अलंकारचन्द्रिका टीका अनेक बार प्रकाशित हुई हैं। काशी के विश्वरूप यति के शिष्य तथा बाधूलवंशी देवसिंह सुमति के पुत्र गंगाधर वाजपेयी की टीका रसिकरंजिनी, जो कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुई है, इन दोनों की अपेक्षा अप्पय दीक्षित के मूल ग्रन्थ की विशुद्धि की जाँच के लिए अधिक उपयोगी है, क्योंकि इन टीकाकार के कथनानुसार अप्पय दीक्षित इनके पितामह के भाई के गुरु थे तथा इन्होंने स्वयं ग्रन्थ का पाठ ठीक करने में बहुत ही परिश्रम किया था। ये तंजौर के राजा शाहजी (१६८४ से १७११ ई०) के दरबार के सभा-पण्डित थे। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वीं का आदिकाल है।

(३) **चित्रमीमांसा**—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रन्थकार की यह प्रौढ रचना है। यह ग्रन्थ अतिशयोक्ति अलंकार तक वर्णन कर बीच ही में समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थ के अन्त में एक कारिका मिलती है[2], जिससे पता चलता है कि ग्रन्थकार ने जान बूझकर इस ग्रन्थ को अधूरा छोड़ दिया है। अप्पयदीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में चित्रमीमांसा का जो उल्लेख किया है (पृ० ७८, ८६, १३३) वह श्लेष, प्रस्तुतांकुर और अर्थान्तरन्यास अलंकारों के विवेचन से सम्बन्ध रखता है,

---

१. काव्यमाला में प्रकाशित।

२. अप्यर्ध-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥
—कुवलयानन्द।

परन्तु वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ में यह अंश त्रुटित है। इस ग्रन्थ में अलंकारों का विशिष्ट विवेचन ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अप्पय दीक्षित उपमा को सबसे अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानते हैं और इसके ऊपर अवलम्बित होनेवाले २२ अलंकारों का निर्देश करते हैं। परन्तु केवल एकादश अलंकारों का निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि किसी प्रकार ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया है। इसके ऊपर भी कतिपय टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें बालकृष्ण पायगुण्ड की टीका प्रसिद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके ऊपर **'चित्रमीमांसा-खण्डन'** नामक एक पूरा ग्रन्थ ही लिखा है जिसमें अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तों का विशिष्ट खण्डन किया गया है।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द की रचना वेंकट नामक राजा के आदेश से की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[1]। ये वेंकट विजयनगर के राजा वेंकट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दान-पत्र का समय १५८३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित १६वीं शताब्दी के अन्त तथा १७वीं के आरम्भ में थे। इस समय की पुष्टि इसघटना से भी होती है किकमलाकर भट्ट ने १७ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है तथा इसी काल के आस-पास पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका खण्डन किया है।

४०—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलंकारशास्त्र के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ आलंकारिक हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का लक्ष्मीदेवी था। पण्डितराज अप्पय दीक्षित के समकालीन थे। इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्रभिक्षु से, न्याय-वैशेषिक की महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमांसा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी। जगन्नाथ ने इन विषयों का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से किया था। इनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। ये कुछ दिनों तक शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाते थे। जगदाभरण काव्य में इन्होंने

---

१. अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥

—कुवलयानन्द।

दाराशिकोह की प्रशंसा की है। सुनते हैं कि इन्होंने किसी यवनी से विवाह-सम्बन्ध कर लिया था और इसी कारण समाज से बहिष्कृत किये जाने पर इन्होंने एक अलौकिक घटना से अपनी निर्दोषता सिद्ध की। कहा जाता है कि गंगालहरी के पाठ करने से स्वयं गंगा बढ़ती चली गई और स्वयं इन्हें अपनी गोद में लेकर इनकी निर्दोषता को सिद्ध कर दिया।

यह किंवदन्ती भले ही अक्षरशः सत्य न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इन्होंने अपना यौवनकाल दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ की छत्रछाया में बिताया[१]। दिल्लीश्वर की प्रशंसा इन्होंने अपने ग्रन्थ में की है[२]। अपने जीवन के अन्तिम काल में ये मथुरा में निवास करते थे[३]। ये परम वैष्णव थे। भगवान् विष्णु की स्तुति में इनके सरस पद्यों को पढ़कर कोई भी आलोचक इनकी अहैतुकी भक्ति से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। काशी इनकी जन्मभूमि न होते हुए भी कर्मभूमि थी।

समय

शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भली-भाँति निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने शाहजहाँ की प्रशंसा में अपना एक पद्य रसगंगाधर में दिया है[४]। दाराशिकोह की प्रशंसा में इनका 'जगदाभरण' नामक पूरा काव्य ही है। शाहजहाँ के दरबार के सरदार नवाब आसफ खाँ के आश्रय में भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसी के दुःख में इन्होंने 'आसफ-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसलिये इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्यभाग सिद्ध होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से काव्यग्रन्थों की रचना की है जिनमें भामिनी-विलास, गंगालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण,

---

१. दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

२. दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्॥

३. मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते।

४. भूमीनाथ-शहाबुदीन-भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

—रसगंगाधर, पृ० २१०।

प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुना-वर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा है।

रसगंगाधर

अलंकार-जगत् में इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ रसगंगाधर है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये हैं वे सब इन्हीं की रचना हैं[1]। पण्डितराज केवल आलंकारिक ही नहीं थे, प्रत्युत एक उत्कृष्ट कवि भी थे। रसगंगाधर के अधूरा होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में केवल दो आनन या अध्याय हैं। प्रथम आनन में काव्य का लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के काव्य-लक्षण की पूरी समीक्षा की है। प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्य के चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम। तदनन्तर रस का सांगोपांग विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। द्वितीय आनन के आरम्भ में ध्वनि के प्रभेदों का विवेचन कर अभिधा और लक्षणा की समीक्षा है। तदनन्तर अलंकारों का निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलंकारों का वर्णन किया है। उत्तरालंकार के वर्णन से यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

रसगंगाधर के अधूरे लिखे जाने के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रन्थ के लिखते समय लेखक का देहावसान हो गया था, क्योंकि 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक ग्रन्थ के उल्लेख से पता चलता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ की रचना रसगंगाधर के निर्माण के अनन्तर की।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए ही 'चित्रमीमांसाखण्डन' का प्रणयन किया था। अप्पय दीक्षित ने अलंकारों के निरूपण के लिए रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' तथा जयरथ की 'विमर्शिनी' टीका से विपुल सामग्री ग्रहण की थी। अप्पय दीक्षित के खण्डन के अवसर पर पण्डितराज ने इन ग्रन्थकारों की भी कटु आलोचना की है। यह आलोचना कटु होते हुए भी यथार्थ है।

---

1. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
   काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
   किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
   कस्तूरिका-जनन-शक्तिभृता मृगेण॥

   —रसगंगाधर, पृ० ३।

रसगंगाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत संमिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखने की शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने में इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्रता से चलती थी। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होंने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय दीक्षित के मत का किया है। इस आलोचना में इतना व्यक्तिगत आक्षेप तथा कटुता है कि अनेक आलोचक इसे जातिगत विद्वेष समझते हैं। अप्पय दीक्षित अत्यन्त सुप्रसिद्ध द्रविड पण्डित थे और पण्डितराज तैलंग ब्राह्मण थे। अप्पय दीक्षित की विशेष कीर्ति को दबाने के लिए ही पण्डितराज ने यह अनुचित प्रहार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में मम्मट, रुय्यक, जयरथ को अधिकता से उद्धृत किया है। विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ के निर्देश के अनन्तर इन्होंने अलंकार-भाष्यकार का उल्लेख किया है (पृ० २३६, ३६५)। इसके लेखक रुय्यक के टीकाकार जयरथ ही हैं। जयरथ ने स्पष्ट ही लिखा है कि उन्होंने 'अलंकारभाष्य' नामक ग्रन्थ बनाया था। इन्होंने 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रन्थ का भी निर्देश किया है (पृ० १६३, १६५), जो शोभाकरमित्ररचित अलंकाररत्नाकर प्रतीत होता है।

टीका

रसगंगाधर की केवल दो टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें नागेश भट्ट कृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' ही अब तक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्ट का अपना विषय व्याकरण है जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। ये काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनका उपनाम काले था। ये शिवभट्ट और सतीदेवी के पुत्र थे। भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरि दीक्षित के ये शिष्य थे। भट्टोजीदीक्षित स्वय शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे, जिनके पुत्र शेष वीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथ के गुरुओं में अन्यतम थे। इस प्रकार नागोजी भट्ट पण्डितराज जगन्नाथ से केवल दो पीढ़ी बाद में हुए थे। भानुदत्त की रसमंजरी पर नागेश की टीका की एक हस्तलिखित प्रति १७१२ ई० में लिखी गई थी। इस प्रकार नागेश का समय १८वीं शताब्दी का आरम्भकाल है।

अलंकार-शास्त्र पर लिखे गये इनके ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—

(१) गुरुमर्म-प्रकाशिका—यह जगन्नाथ के रस-गंगाधर पर टीका है। (२) बृहत् तथा लघु उद्योत—यह गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रदीप की टीका है। (३) उदाहरण दीपिका—यह मम्मट के ग्रन्थ का विवरण है। (४) अलंकारसुधा

और विषमपदव्याख्यान षट्पदानन्द—अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की दो टीकायें हैं। (५) प्रकाश—यह भानुदत्त की रसमंजरी की टीका है।

रसगंगाधर की एक दूसरी टीका का भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है, परन्तु यह अब तक अप्रकाशित है। और इसके ग्रन्थकार का भी पता नहीं चलता।

४१—विश्वेश्वर पण्डित

ये अल्मोड़ा जिला के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पाटिया के पाण्डे' लोगों का कुल आज भी अपनी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध है। इनका समय १८वीं शताब्दी का आरम्भ निश्चितरूपेण है (१७०० ई०)। ये अपने समय के बड़े ही मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिता का नाम 'लक्ष्मीधर' था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों के अन्त में किया है। अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का खण्डन इन्होंने यत्र-तत्र किया है। इन्होंने दण्डी के किसी टीकाकार मल्लिनाथ (पृ० ७३), चण्डीदास (पृ० १२५, १६६), महेश्वर (पृ० ४९) तथा काव्यडाकिनी का उल्लेख अलंकार-कौस्तुभ में किया है। इनके जेठे भाई का नाम उमापति था। (पृ० ३८७)। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वैयाकरणसिद्धान्त-सुधानिधि (चौ० सं० सी०) इनका भाष्यानुसारी विशाल ग्रन्थराज है। तर्ककुतूहल तथा दीधितिप्रवेश इनके तर्कशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं।

इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

(१) अलंकारकौस्तुभ[1]—विश्वेश्वर पण्डित का सबसे मूर्धन्य ग्रन्थ यही है। अलंकार-कौस्तुभ हमारी दृष्टि में पण्डितराज की शैली में निबद्ध साहित्य-शास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलंकारों के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान-स्थान पर अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज के मत का खण्डन बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उपमा के रूप तथा प्रभेदों का विवेचन डेढ़ सौ पृष्ठों में किया गया है। विश्वेश्वर का पाण्डित्य बड़ा ही व्यापक था। वे साहित्य के अतिरिक्त न्याय तथा व्याकरण के अप्रतिम पण्डित प्रतीत होते हैं। पूरा ग्रन्थ नव्यन्याय की रीति से रचा गया है। अतः इनकी उत्कृष्टता तथा प्रामाणिकता में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं हो सकता। अलंकार-कौस्तुभ को 'नानापक्षविभावन-

---

१. ग्रन्थकार की व्याख्या के साथ प्रकाशित 'काव्यमाला' संख्या ६६, सं० १८९८।

कुतुक' कहते हैं, जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अलंकार के विषय में विभिन्न मतों की आलोचना के लिए ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया था।

(२) **अलंकार-मुक्तावलि**[1]—अलंकार कौस्तुभ का सरल संक्षिप्त संस्करण। इसमें कौस्तुभ की कारिकाओं पर संक्षिप्त व्याख्या है।

(३) **रस-चन्द्रिका**[2]—नायिका भेद तथा रस का सामान्य विवेचनात्मक ग्रन्थ।

(४) **अलंकार-प्रदीप**[3]—इसमें अर्थालंकार का सुगम विवेचन है।

(५) **कवीन्द्रकण्ठाभरण**[4]—इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं और चित्रकाव्य का बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ 'विदग्ध-मुखमण्डन' की शैली पर लिखा गया है, परन्तु विवेचन में उससे कहीं अधिक रोचक तथा प्रामाणिक है। प्रहेलिका तथा नाना प्रकार की चित्र-जातियों के ज्ञान के लिए यह हमारे शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

४२—नरसिंह कवि

इस कवि की उपाधि थी—अभिनव कालिदास। कवि ने यह ग्रन्थ अपने आश्रय-दाता 'नञ्जराज' की प्रशंसा में लिखा है। पुस्तक तो है अलंकार-शास्त्र की, परन्तु समग्र उदाहरण 'नञ्जराज' के विषय में ही दिये गये हैं। ये नञ्जराज महीसूर के अधिपति के मन्त्री थे तथा १८वीं शताब्दी में उस देश पर शासन कर रहे थे। भारी प्रतापी थे और महाराष्ट्रों तथा मुसलमानों के आक्रमण से देश की रक्षा करने में समर्थ थे। महाराजा तो नाममात्र के शासक थे; शासन का समग्र कार्य नञ्जराज के ही हाथों सिद्ध होता था। नरसिंह कवि भी मैसूर के ही निवासी थे तथा नञ्जराज के आश्रित थे। समय १८ शतक।

'नञ्जराजयशोभूषण'[5] ठीक शिवराजभूषण के समान ही ग्रन्थ है। इसमें ७ विलास हैं, जिनमें (१) नायक, (२) काव्य, (३) ध्वनि, (४) रस, (५) दोष, (६) नाटक, (७) अलंकार का क्रमशः निरूपण किया गया है। इस प्रकार यहाँ काव्य तथा नाट्य का एक साथ ही सरल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ विलास में कवि ने अपने आश्रयदाता की स्तुति में एक पूरा नाटक ही बना रखा है जिसमें 'नाटक' के समस्त लक्षणों का समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुकरण पर लिखा गया है जिसकी विशेष छाया—ग्रन्थ की योजना तथा उदाहरणों पर—स्पष्ट रूप से पड़ी है।

---

१. काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५४; काशी १९८४ सं०।
२. काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५३; काशी १९८३ सं०।
३. काव्यमाला, अष्टम गुच्छक में प्रकाशित, पृ० ५१—१०८; १९११।
४. काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित।
५. गा० ओ० सी० ग्रन्थसंख्या ४७।

उपसंहार

अलंकार-शास्त्र का यही क्रमवद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारा साहित्यशास्त्र ६०० ई० से १८०० ई० तक, अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल में फैला हुआ था। इसका आरम्भ-काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी अलंकार-शास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है, परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्र का एक सामान्य अंग-मात्र ही था। इस शास्त्र का उद्गम भारत के किस प्रान्त में हुआ ? इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकासभूमि से हम पूर्णतः परिचित हैं। शारदा-देश कश्मीर ही साहित्य-शास्त्र के विकास की पवित्र भूमि है। भरत के निवास-स्थान का हमें ज्ञान नहीं हैं, परन्तु भामह, उद्भट, रुद्रट, मुकुल भट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकों की जन्मभूमि कश्मीर देश ही थी—यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। बिल्हण शारदा देश (कश्मीर) को कविता-विलास तथा केशर-प्ररोह की जननी मानते हैं। इनमें हम अलंकार-शास्त्र के नाम को भी जोड़कर यह भली-भाँति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस कश्मीर में कवियों ने अपनी कमनीय काव्यमाला का प्रदर्शन किया, उसी देश में काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की यथार्थ समीक्षा भी की। अतः यह भूमि संस्कृत के महाकवियों की ही नहीं, प्रत्युत संस्कृत के महनीय आलोचकों की भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचना-शास्त्र का जो सारभूत मौलिक अंश है उसका विवेचन और विवरण इसी कश्मीर देश में किया गया। प्राचीन आलंकारिकों में दण्डी ही ऐसे हैं जो कश्मीरी न होकर दक्षिण देश के निवासी थे। पिछले युग में मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में भी साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इन प्रान्तों के ग्रन्थकार विशेषतः 'व्याख्याकाल' से सम्बन्ध रखते हैं। फलतः उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर सिद्धान्तों का परिबृंहण किया। मौलिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया, परन्तु काश्मीरी आलोचकों की देन के सामने उनकी देन परिमाण में न्यून है। परन्तु हमारा शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा—एकदम जड़ तथा गतिशून्य। यह क्रमशः विकासशील शास्त्र है जिसका परिचय प्रत्येक शताब्दी में आलोचक को पदे-पदे प्राप्त होता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्र के इतिहास को मोटे तौर से हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रारम्भिक काल (अज्ञात काल से भामह तक)।

२. रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक)
६५० ई० से ८५० ई० तक ।

(क) भामह, उद्भट और रुद्रट (अलंकार सम्प्रदाय)।

(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)।

(ग) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)।

(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि-सम्प्रदाय)।

३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक;
८५० ई० से १०५० ई०)।

(क) अभिनवगुप्त ।

(ख) कुन्तक ।

(ग) महिमभट्ट ।

(घ) रुद्रभट्ट ।

(ङ) धनञ्जय ।

(च) भोजराज ।

४. व्याख्या-काल (मम्मट से जगन्नाथ तक;
१०५० ई० से १७५० ई०)।

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि (ध्वनि मत)।

(ख) शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)।

(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह और अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि। (कविशिक्षा)

(घ) जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वर पाण्डेय ।

जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्य-शास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ सबसे पहिले लिखा गया था और उसका समय क्या था ? भरत के नाट्य-शास्त्र में चार अलंकार, दश गुण और दश दोषों का वर्णन कर ही अलंकार-शास्त्र की इतिश्री मानी गई है। भामह के काव्यालंकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके पहिले अनेक ग्रन्थ साहित्य-शास्त्र पर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इनके ग्रन्थों का ही पता है और न ग्रन्थकारों का। भारत और भामह के बीच का युग हमारे शास्त्र के इतिहास में अन्धकार-युग है। इस युग के केवल एक आलोचक का पता चलता है और वे हैं मेधावी। भामह का काव्यालंकार इस प्रथम युग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तक के आधार पर भट्टि ने अपने भट्टिकाव्य में अलंकारों का विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलंकारों का सन्निवेश अपने ग्रन्थ

में किया है। इस युग में नाट्यरस की विस्तृत व्याख्या भरत ने की थी। परन्तु काव्य में रस की महत्ता की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं गया था।

साहित्य-शास्त्र का रचनात्मक युग भामह से आरम्भ होकर आनन्दवर्धन तक चला जाता है। यह दो सौ वर्षों का काल (६५० से ८५० ई०) हमारे शास्त्र के इतिहास में इसीलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्‌भावना हमारे आचोचकों ने की। एक ओर भामह, उद्‌भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का निर्माण कर रहे थे जो अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्य के पाठकों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदाय के नाम पर इस शास्त्र का नाम अलंकार-शास्त्र पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविता की रीति तथा तत्संबद्ध दश गुणों की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलंकार तो केवल उसके अतिशय करनेवाले धर्म हैं। इन आचार्यों के उद्योग के फलस्वरूप रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। इन ग्रन्थकारों की रचना के साथ ही साथ भरत के नाट्य-शास्त्र की गहरी छानबीन इसी युग में आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने अपने दृष्टिकोण से भरत के ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं तथा उनके रस-सिद्धान्त को समझाने का बड़ा उद्योग किया, परन्तु यह रसवाद अभी तक नाट्य के सम्बन्ध में ही था। काव्य में रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन से आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक **आनन्दवर्धन** इसी युग की विभूति हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्त की व्यवस्था काव्य में की तथा उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ध्वनि के सिद्धान्त की सद्‌भावना की। इतने से ही वे सन्तुष्ट न हुए, प्रत्युत उन्होंने अलंकार और रीति के सिद्धान्तों को भी अपनी काव्यपद्धति में समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि आनन्दवर्धन ने काव्य का सर्वांगीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया। अलंकारशास्त्र के इतिहास में यह काल सुवर्ण-युग माना जाता है, क्योंकि साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युग में उत्पन्न हुए और फूले-फले।

तीसरा काल **निर्णयात्मक काल** कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक (अर्थात् ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्द-वर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में दो सौ वर्ष का समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने में लगे थे और दूसरी ओर अनेक आलंकारिक इसके प्रबल विरोध करने में संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट की साहित्यिक कृतियों का यही युग है। अपने दृष्टिकोण से इन्होंने ध्वनि के खण्डन करने का बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया, परन्तु मम्मट ने इन

विरोधी मतों की व्यर्थता दिखलाकर ध्वनि के मत को ही सर्वतः पुष्ट किया और उसे इतने दृढ आधारों पर सुव्यस्थित कर दिया कि बाद के आलंकारिकों को उसे खण्डन करने का साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्र का अन्तिम काल व्याख्या-काल कहलाता है, जो मम्मट से आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०), अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग में कुछ आचार्यों ने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि) पूरी काव्य-पद्धति की समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोगों ने काव्य के विविध अंगों—विशेषतः अलंकार तथा रस—पर पृथक् ग्रन्थों का निर्माण किया। रुय्यक और अप्पयदीक्षित ने अलंकारों का विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने अपने नाट्य-विषयक ग्रन्थों में रस का बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है। भानुदत्त ने भी इस कार्य में विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामी ने गौडीय मत के अनुसार मधुर रस की व्याख्या कर रस-साधना का मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकों ने काव्य के व्यावहारिक रूप को बतलाने के लिए कवि-शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। राजशेखर की काव्य-मीमांसा यद्यपि इसके पूर्व युग से संबद्ध है, तथापि इसमें कवि-शिक्षा का ही विषय विशेष रूप से वर्णित है। क्षेमेन्द्र ने इसी युग में औचित्य के सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वर ने 'कवि-कल्पलता' के द्वारा कविशिक्षा के विषय को व्यवस्थित तथा लोकप्रिय बनाया। प्राचीन युग में मान्य अलंकार-ग्रन्थों पर सैकड़ों टीकाएँ तथा व्याख्याएँ इस काल में लिखी गईं, जिनमें मौलिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युग के अन्त में दो बहुत बड़े प्रौढ आलंकारिक उत्पन्न हुए जिनके नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय हैं। वीरेश्वर पाण्डेय ने 'अलंकार कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इनकी तुलना में पण्डितराज जगन्नाथ का कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होने पर इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' युक्तिमत्ता और विवेचनशैली की दृष्टि से अलंकारशास्त्र में अद्वितीय ग्रन्थ है। अलंकार-शास्त्र की गोधूलि-वेला में लिखे जानेपर भी यह प्रौढता, गम्भीरता तथा विद्वत्ता में उसके मध्याह्न-काल में लिखे गये ग्रन्थों से टक्कर लेता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में ध्वनि का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसको दृष्टि में रखकर हम साहित्यशास्त्र के इतिहास को निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्व-ध्वनिकाल, (२) ध्वनिकाल और (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक हैं। अतः आरम्भ से लेकर आनन्दवर्धन तक का काल पूर्वध्वनिकाल कहलाता है। इस काल में रस-मत, अलंकार-मत तथा रीति-मत का विवेचन प्रस्तुत किया गया था। आनन्दवर्धन से मम्मट तक

का काल ध्वनिकाल कहलायेगा, जिसमें ध्वनि-विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त का व्यवस्थापन प्रबल प्रमाणों के आधार पर किया गया था। ध्वनिपश्चाद्-काल मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक है, जिसमें ध्वनिमत को अक्षुण्ण मानकर काव्य के विविध अंगों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया गया तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्र के विस्तृत इतिहास का यही परिचय है।

साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकाराशास्त्र के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान है? इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है—(१) धर्म से, (२) व्यापार से और (३) व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से है और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलंकार-सम्प्रदाय, (२) गुण या रीति-सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्ट नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही अन्तर्भूत करना चाहिए, क्योंकि भट्ट नायक ने विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। व्यंग्यमुख से वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में उनका मत सुनिये—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्।

द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृत्यत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चमः आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है—अभाववादी, भक्तिवादी तथा अनिर्वचनीयतावादी। अभाव-वादियों में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं। कुछ तो गुण-अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं, परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं। भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयतावादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बताकर ध्वनि को अनिर्वचनीय बताते हैं। आनन्दवर्धन ने तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। इन मतों का पृथक् वर्णन न देकर हम अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यतः चार ही हैं; वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्तमात्र हैं।

(१) रस-सम्प्रदाय—भरतमुनि
(२) अलंकार-सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट
(३) गुण-सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन
(४) ध्वनि-सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त
वक्रोक्ति-सिद्धान्त—कुन्तक तथा औचित्य-सिद्धान्त—क्षेमेन्द्र

(१) रस-सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्माजी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया। परन्तु नन्दिकेश्वर के रसविषयक मत का पता नहीं चलता। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है। भरत रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्यसंसार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत के समय में नाट्य का ही बोलबाला था। इसलिए भरत ने नाट्यरस का ही विस्तृत, व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना ही सार-गर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमें

चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारों के नाम हैं—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शंकुक विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति में विभावादिकों से तथा रस से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति में विभावादि का रस से भोजक-भोज्य सम्बन्ध है, जिसे सिद्ध करने के लिए इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापार भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्ति-वादी हैं। उन्हीं का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिए उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायी-भाव वासना-रूप से सहृदयों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायी-भाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में आलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं—(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स और (८) अद्भुत। शान्त रस के विषय में बड़ा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शान्तरस की स्थिति अस्वीकार की (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य—दशरूपक ४। ३५)। नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्तरस सब कार्यों का विरामरूप है। ऐसी दशा में शान्त का प्रयोग नाटक में हो नहीं सकता। काव्यादिकों में शान्त की सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवों की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस-मत की बड़ी महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौञ्चवध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है, परन्तु अपने-अपने मतानुसार इसे ऊँचा-नीचा स्थान दिया है।

(२) अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार-मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं 'भामह' के टीकाकार रुद्रट तथा उद्भट। दण्डी को भी अलंकार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलंकारहीन मानना अस्वाभाविक है। अलंकारों का विकास धीरे-धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों का नामनिर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं जिनमें एक तो है शब्दालंकार और

तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानन्द में १२५ अलंकार माने गये हैं। अलंकारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलंकारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलंकारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले-पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलंकार-मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात न था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलंकार का ही एक प्रकार माना है। रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित—इन चारों अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी रसवत् अलंकार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलंकार-मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भली-भाँति जानते हैं। पर उसे अलंकार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों के भीतर माना है। अलंकार के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र के इतिहास में अलंकार-मत की बड़ी विशेषता है।

(३) रीति-सम्प्रदाय

रीति-मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत से रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है ? पदों की विशिष्ट-रचना है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिए रीति-मत 'गुण-सम्प्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौडी रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणों का नाम-निर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके नाम ये

---

१. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८।

हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौडी के लिए ओज और कान्ति की, पाञ्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता आवश्यक बतायी है।

रीति-सम्प्रदाय ने अलंकार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के करने वाले धर्म गुण हैं और उसके अतिशय करने वाले धर्म अलंकार हैं। (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवोऽलङ्काराः)। अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचक दृष्टि अन्तर्मुखी तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरङ्ग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति-गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रन्थ का नाम ही 'वक्रोक्ति-जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्र उक्ति, अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन। कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलंकार का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

---

१. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः॥
—वक्रोक्तिजीवित १।११।

भामह की सम्मति में वक्र अर्थवाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलंकार उत्पन्न करता है—"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते" (५।६६)—हेतु को अलंकार न मानने का कारण वक्रोक्ति-शून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को आलंकारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य की उत्पत्ति की बात लिखी है[1]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह ये बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। मुख्य रूप से वक्रोक्ति छः प्रकार की है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता, (३) प्रत्ययवक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता, (६) प्रबन्धवक्रता। उपचारवक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक का विश्लेषण तथा विवेचन-शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भाण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकार-मात्र ही मानते थे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को उदात्तरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को है।

(४) ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि-मत रस-मत का ही विस्तृत रूप है। रस-सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटकों के सम्बन्ध में ही पहले-पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य ही हुआ करता है। इस विचारधारा को अग्रसर कर आनन्दवर्धन ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों

---

१. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
—काव्यादर्श २।३६३।

का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करते हैं। आलंकारिकों ने इस साम्य पर इस शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक वना दिया है। इस मत के आद्य आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयतावादी—इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—

अभाववादी आचार्यों के मत में ध्वनि की सत्ता मान्य नहीं, परन्तु इस अमान्यता के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ देने वाले आचार्यों के त्रिविध मत हैं जिससे अभाववादी आचार्यों के तीन अवान्तर पक्ष हैं—

(क) नितान्त अभाववादी—प्रथम पक्ष का कथन है कि चारुतासम्पन्न शब्द और अर्थ के साहित्य पर ही काव्य की सत्ता निर्भर है। यह चारुता दो प्रकार से होती है—(१) स्वरूपमात्र से रहने वाली तथा (२) संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालंकार के द्वारा और संघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणों के द्वारा होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता अर्थालंकारों द्वारा तथा संघटनाश्रित चारुता अर्थ-गुणों द्वारा सम्पन्न होती है। चारुता की उत्पादिका वृत्ति तथा रीति भी गुणालंकार से भिन्न नहीं होती। वृत्तियाँ (परुषा, उपनागरिका तथा कोमला) अनुप्रास की ही प्राकार हैं तथा रीतियाँ (गौडी, वैदर्भी तथा पांचाली) माधुर्यादि गुणों की समुदाय रूप हैं। काव्य के चारुत्व के प्रसाधन ये ही तत्त्व हैं। ध्वनि इनसे भिन्न है। फलतः ध्वनि की कल्पना ही असिद्ध है।

(ख) प्रस्थानवादी—काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सरल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुणालंकार समन्वित काव्य ही 'काव्य' शब्द का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय सहृदयों का मनोरंजन भले ही यह करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय को यह आकृष्ट नहीं करता। फलतः काव्य-प्रस्थान की दृष्टि से ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

(ग) अन्तर्भाववादी—इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि को नवीन आलोचक काव्य में चारुता उत्पन्न करने वाला एक साधन मानते हैं। ऐसी दशा में काव्य में शोभाधायक जितने साधन माने जाते हैं, उन्हीं में किसी के भीतर इसका अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट शोभाधायक साधन का यह एक

नवीन नामकरण-मात्र है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं कोई अन्त है? निर्मल बुद्धि के द्वारा समीक्षा करते जाइये, तो नये-नये तत्त्वों का उन्मेष होता रहेगा। काव्य के जितने परिचित तथा परिज्ञात तत्त्व हैं, उनका उद्गम क्या किसी एक युग में सम्पन्न हुआ है? नहीं, कभी नहीं। ये तो नवीन अनुशीलन के परिणत फल हैं। विचित्रताओं की जब इयत्ता ही नहीं, तब ध्वनि की नवीनता ही क्यों मानी जाय? यह इन्हीं सम्भाव्यमान चारुता का एक नवीन उपकरण है। फलतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदि परिचित तत्त्वों में भली-भाँति किया जा सकता है। इस अन्तर्भाव की दृष्टि से भी ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

इन तीनों अभाववादी मतों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई काव्यतत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि काव्य का सर्वालोचक-सम्मत तत्त्व नहीं है। कतिपय अलोचकसम्मत होने से इसकी मान्यता स्वीकृत नहीं। तृतीय पक्ष में ध्वनि काव्य में मान्य है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं। गुण, अलंकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वों के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनों पक्षों को हम क्रमशः नितान्तभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम समुचित रीति से दे सकते हैं।

भक्तिवादी—'भक्ति' का अर्थ है लक्षणा। इस अर्थ के भीतर अनेक कारण होते हैं।[1] भक्ति का मोटा अर्थ है भंजन, तोड़ना। मुख्य अर्थ को तोड़कर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ होती है भक्ति। जैसे 'कर्मणि कुशलः' में कुशलाने वाले अर्थ को तोड़कर 'निपुण' अर्थ का प्रतिपादन। अनेक आचार्य ध्वनि की सत्ता मानते तो अवश्य हैं, परन्तु उसे वे लक्षणा के भीतर ही निविष्ट करते हैं।

अनिर्वचनीयतावादी—ध्वनि के तत्त्व को वाणी के क्षेत्र से बहिर्भूत मानता है। ध्वनि स्वतः अनुभूति का विषय है। ध्वनि की शब्दजन्य मीमांसा कथमपि नहीं हो सकती। आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि के विषय में ये ही प्रधान मत थे। आनन्द ने इन सबका विधिवत् खण्डन कर ध्वनि के नवीन तत्त्व का समाधान किया है तथा उसके नाना भेदोपभेद का विवरण अपने 'ध्वन्यालोक' में दिया है।

अलंकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी ही सूक्ष्म-बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—More is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। इस अंग्रेजी वाक्य का अक्षरार्थ है कि जितना श्रवण-गोचर होता है उससे अधिक अर्थ में कवि का तात्पर्य होता है। कान से जितने शब्द सुनाई पड़ते हैं, उतने

---

१. द्रष्टव्य 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' कारिका का लोचन।

में तात्पर्य होने को हम अभिधेय अर्थ कहते हैं। परन्तु यदि कहीं उनसे अधिक अर्थ में कवि का तात्पर्य हो, तो वह निःसन्देह 'ध्वनि' का ही प्रकार है। ध्वनिवादी आचार्य सिद्धान्तों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्त्वों की सुन्दर व्यवस्था की है।

औचित्य-सिद्धान्त

'औचित्य' की भावना रस-ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' लिख कर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य' ही रस का जीवन-भूत है, प्राण है[१]। जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते हैं और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[२]। इस 'औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखला कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखला कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। परन्तु इस तत्त्व की उद्‌भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयङ्कर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूल-तत्त्व आनन्द ने ही उद्‌घाटित किया है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् अनौचित्य को छोड़कर रसभङ्ग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है—औचित्य से उनका निबन्धन। परन्तु आनन्दवर्धन से बहुत पहले यह काव्य का मूल तत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेष-विन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

(नाट्यशास्त्र २३।६९)

---

१. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
(का० ३)

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
(का० ७)

पिछले आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सब सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेन्द्र ने अपने मौलिक ग्रन्थ में किया है। क्षेमेन्द्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य है—

> कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
> पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता-
> मौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।।

अलंकारशास्त्र ने आलोचना-शास्त्र को तीन महनीय काव्यतत्त्वों के रहस्य से परिचित कराया है। ये तीन तत्त्व हैं—औचित्य, रस और ध्वनि। परन्तु इन तीनों में व्यापकतम तत्त्व औचित्य ही है। इसके भीतर रहकर ही रस तथा ध्वनि अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं। औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं। औचित्य के विना 'रस' में न तो सरसता है और न ध्वनि में महत्ता। औचित्य के तथ्य पर ही साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है।

> औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
> गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

एक काव्यचित्र की कल्पना कीजिये, जिसमें बड़े वृत्त के भीतर एक छोटा वृत्त है। बड़े वृत्त तथा छोटे वृत्त दोनों के भीतर एक-एक त्रिकोण है। इसीका शाब्दिक वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर 'अलंकृति' तक का विकास है। काव्य-चित्र के बड़े वृत्त पर दृष्टिपात कीजिए। यह काव्य के अन्तरंग, अर्थात् प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा करता है। इस पूरे वृत्त की परिधि है—औचित्य, जिसे भारतीय साहित्यकारों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अंगीकृत किया है। इस वृत्त के भीतर जो बड़ा त्रिकोण है उसका शीर्ष-स्थान है रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि और अनुमिति। रस का शीर्ष-स्थान सूचित करता है कि भारत के किसी भी साहित्य-सम्प्रदाय में रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। आनन्दवर्धन तो इस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और उनके विरोधी आलंकारिक कुन्तक तथा महिमभट्ट काव्य में इसकी सत्ता का अपलाप नहीं करते। रस उन्हें भी मान्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। रसाभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती है—(१) ध्वनि के द्वारा (आनन्दवर्धन) तथा (२) अनुमिति—अनुमान के द्वारा (महिमभट्ट)। यहाँ अनुमिति ध्वनिविरोधी समग्र मतों का उपलक्षण है। ध्वनिसम्प्रदाय व्यञ्जना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है, परन्तु महिम भट्ट अनुमान के द्वारा रस का प्रकटीकरण मानते हैं। वे व्यञ्जना के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत व्यञ्जना के समग्र

प्रपञ्च अनुमान के द्वारा उन्होंने प्रमाणित किये हैं। उनके 'व्यक्ति-विवेक' का इसीसे गौरव है।

भीतरी वृत्त में काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन है। वृत्त की परिधि 'वक्रोक्ति' है जो बृहद् वृत्त को स्पर्श कर रही है। वक्रोक्ति कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस वृत्त के भीतर एक त्रिकोण है जिसका ऊपरी बिन्दु है— रीति, और निचले बिन्दु हैं गुण और अलंकार। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय वामन को है। गुण की व्यवस्थात्मक विवेचना दण्डी ने सर्वप्रथम की तथा अलंकार का काव्य में समधिक महत्त्व प्रतिपादित किया भामह ने। गुण और अलंकृति का सुचारु विवेचन परस्पर सम्बद्ध युग के साहित्यिक प्रयास का फल है। दोनों का प्रतिपादन प्रायः समसामयिक ही हुआ है। रीति, गुण और अलंकार—ये तीनों तत्त्व काव्य के बहिरंग साधन हैं और इनका वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र के पूर्वोक्त समस्त सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप से दिखलाया गया है[1]।

---

१. द्रष्टव्य (१) कुप्पुस्वामी शास्त्री : Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit, पृ० २७-३०।

(२) बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र भाग २, पृ० १६।

छन्दोविचिति का इतिहास

छन्दःशास्त्र संस्कृत शास्त्रों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस शास्त्र का प्राचीन अभिधान छन्दोविचिति है। इस नाम का अर्थ है वह ग्रन्थ जिसमें छन्दों का विशेष रूप से चयन (चिति; संग्रह) किया गया हो। इस शब्द का निर्देश पाणिनि के गणपाठ (४।३।७३) में उपलब्ध होता है तथा प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है[1] (१।३)। इस शास्त्र के छन्दोऽनुशासन, छन्दोविवृति, छन्दोमान आदि नाम भी मिलते हैं[2]। आचार्य पिंगल के द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस शास्त्र का इतना मान्य तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है कि उसी नाम के आधार पर पूरा शास्त्र ही 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

छन्दःशास्त्र का ज्ञान वेद तथा लोक दोनों के लिए आवश्यक है। छन्द का ज्ञान प्रत्येक वैदिक मन्त्र के लिए नितान्त उपयोगी माना जाता है, उच्चारण के लिए भी तथा अर्थज्ञान के लिए भी। आर्षेय ब्राह्मण (१।१०) तथा तदनुसारी सर्वानुक्रमणी में स्पष्ट प्रतिपादित है कि जो व्यक्ति मन्त्र के छन्द, ऋषि, देवता तथा ब्राह्मण विना जाने हुये उससे यज्ञ कराता है अथवा पढ़ाता है, वह पापी होता है। उसका सकल अनुष्ठान गडढे में गिर जाता है, अर्थात् व्यर्थ हो जाता है[3]। वेद के अर्थज्ञान के लिए भी छन्दःशास्त्र की उपयोगिता गवेषणीय है। छन्द वेदपुरुष का पादस्थानीय है। जिस प्रकार पैरों के द्वारा ही पुरुष की गति तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार वेद छन्दों के आधार पर ही खड़ा होता है, क्योंकि समस्त वेद छन्दोमय विग्रह है। फलतः आधार-भूत छन्दों का वेद के लिए अंगभूत होना नितान्त उपयुक्त है। "छन्दः पादौ तु वेदस्य" (पाणिनीय शिक्षा)।

---

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तिश्छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चाङ्गानि।

२. इन सब नामों के स्थल तथा अर्थ के लिए द्रष्टव्य युधिष्ठिरमीमांसक रचित वैदिक छन्दोमीमांसा (पृ० ३५-४२), १९५९ ई०; प्रकाशक हंसराज कपूर, अमृतसर।

३. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा प्रपद्यते, प्र वा मीयते, पापीयान् भवति। यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति।

—दुर्ग की निरुक्त टीका तथा सर्वानुक्रमणी का आरम्भ।

छन्दःशास्त्र की प्राचीनता

वैदिक संहिता में प्रधान छन्दों के नाम, देवता तथा तन्निष्पादक वर्ण-संख्या का उल्लेख स्पष्ट किया गया है। वैदिक छन्दों में सात छन्द मुख्य हैं—गायत्री, उष्णिग्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती। ये 'सप्त छन्दांसि' के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। इनके विषय में अथर्ववेद का यह कथन बड़े महत्त्व का है—

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योन्यस्मिन्नध्यर्पितानि।

(८।९।१९)

इस कथन में छन्दों की अक्षर-संख्या का निर्देश है, जो क्रम से चार-चार बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद के (१०।१३०, ४ तथा ५) मन्त्रों में गायत्री आदि छन्दों के देवता का उल्लेख किया गया है। ये निर्देश बड़े ही महत्त्व के हैं और इस तथ्य के प्रमापक हैं कि संहिता के सर्वप्राचीन युग में छन्दों के नियमन का परिचय अवश्य था। छन्दों का शास्त्रीय विवेचन वेदांग-काल में सम्पन्न मानना नितान्त उचित है, क्योंकि यह वेद का एक माननीय अंग ही ठहरा।

छन्दःशास्त्र की परम्परा

इस शास्त्र के उदय का इतिहास यथार्थतः बतलाना विषम समस्या है, परन्तु इस शास्त्र के ग्रन्थों में प्राचीन अनेक आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, जिनके आधार पर उस प्राचीन युग का यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य यादवप्रकाश (रामानुजाचार्य के गुरु, समय एकादश शती) ने पिंगलसूत्र के अपने भाष्य की समाप्ति पर इस परम्परा का द्योतक यह महत्त्वपूर्ण श्लोक[1] दिया है—

छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे गुरूणां गुरु-
स्तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः।
माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिङ्गल-
स्तस्येदं यशसा गुरोर्भुवि धृतं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्॥

परम्परा का रूप यह है = आद्य प्रवर्तक शिव—बृहस्पति—दुश्च्यवन (इन्द्र)—शुक्राचार्य—माण्डव्य—सैतव—यास्क—पिङ्गल। एक दूसरी परम्परा का उल्लेखकर्ता यह पद्य[2] ग्रन्थकार की रचना न होकर किसी हस्तलेख में भाष्य के अन्त में उद्धृत हैं—

छन्दःशास्त्रमिदं पुरा त्रिनयनाल्लेभे गुहोऽनादित-
स्तस्मात् प्राप सनत्कुमारकमुनिस्तस्मात् सुराणां गुरुः।
तस्माद् देवपतिस्ततः फणिपतिस्तस्माच्च सत्पिङ्गल-
स्तच्छिष्यैर्बहुभिर्महात्मभिरथो मह्यां प्रतिष्ठापितम्॥

१-२. इन दोनों पद्यों के विषय में द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० ५७-५९। वहीं से ये यहाँ उद्धृत किये गये हैं।

इस परम्परा के भी प्रवर्तक अनादि शंकर ही हैं, जिनसे यह शास्त्र क्रमशः प्रचलित हुआ। शंकर→गुह→सनत्कुमार→सुरगुरु बृहस्पति→इन्द्र→शेषनाग (पतञ्जलि)→पिङ्गल।

इन दोनों परम्पराओं में प्रथम यादवप्रकाश के द्वारा निर्दिष्ट होने से अधिक प्रामाणिक, अत एव माननीय है। दूसरी परम्परा में भी छन्दःशास्त्र के कतिपय मान्य आचार्यों का उल्लेख है जिनका परिचय हमें अन्य ग्रन्थों के आधार पर भी होता है। प्रथम परम्परा का ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त माननीय तथा मननीय है। इस परम्परा के सहारे पिंगलसूत्र में निर्दिष्ट आचार्यों का पौर्वापर्य क्रम भली-भाँति स्थिर किया जा सकता है।

वैदिक तथा लौकिक छन्द

छन्द के दो भेद हैं—वैदिक = वेदमन्त्रों में प्रयुक्त छन्द तथा लौकिक = रामायण, महाभारत तथा संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त छन्द। इन दोनों का पार्थक्य विचारणीय है। लौकिक छन्दां का उदय तथा विकाश वैदिक छन्दों से ही निष्पन्न हुआ, परन्तु दोनों की पद्धति में सूक्ष्म अन्तर है। वैदिक छन्द स्वरसंगीत पर आश्रित हैं, अर्थात् स्वरों के उच्चावच प्रकार पर आधारित हैं। उनमें अक्षर गणना ही प्रधान है, उन अक्षरों के रूप—ह्रस्व तथा दीर्घ—से उनका कोई भी महत्त्व नहीं है। लौकिक छन्द वर्णसंगीत पर आश्रित हैं, अर्थात् वर्णों के उच्चारण-प्रकार का समधिक महत्त्व है। इन वर्णों के गुरुलाघव के कारण ही छन्दों में सुश्रव्यता उत्पन्न होती है और इसी सुश्रव्यता को मुख्य तत्त्व मानकर लौकिक छन्दों की रचना हुई है। लौकिक छन्दों के अवतार की प्रख्यात वार्ता इस प्रसंग में ध्यातव्य है। क्रौञ्चवध की घटना ने महर्षि वाल्मीकि के हृदयपटल पर इतना प्रभाव उद्बुद्ध कर दिया कि हठात् उनके मुख से उनका शोक इस प्रसिद्ध श्लोक के रूप में बिखर पड़ा—

> मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

शोकः श्लोकत्वमागतः—यह है वाल्मीकि का हृदयोद्गार।

> निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
> श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।

यह है कालिदास की अनुभूति। भवभूति ने उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में इस प्रसंग में ब्रह्मा के मुख से कहलाया है—अहो नूतनश्छन्दसामवतारः। प्रश्न तो यह है कि अनुष्टुप् का प्रयोग 'छन्दसां नूतनः अवतारः' किस प्रकार है, जब वैदिक मन्त्रों में अनुष्टुप् का बहुल प्रयोग उपलब्ध होता है। उत्तर है कि अष्टाक्षरों में गुरु

लघु के मञ्जुल सामञ्जस्य के कारण ही छन्द का यह नूतनत्व है। गुरु-लघु का प्रयोग इतना सुव्यवस्थित, सुसंयत तथा सुसंगत है कि उसके सुनने से विचित्र माधुरी की उत्पत्ति होती है। ऊपर उद्धृत 'मा निषाद' पद्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इसके चारों चरणों में पञ्चम वर्ण लघु तथा षष्ठ वर्ण गुरु है, परन्तु द्वितीय-चतुर्थ चरणों में ही सप्तम वर्ण लघु है, अन्यत्र नहीं। श्रुतबोध में श्लोक का यही सामान्य लक्षण है।[1] पिंगल छन्दःसूत्र में यह 'पथ्या' अनुष्टुप् है, जिसका लक्षण है—पथ्या युजो ज् (५।१४)। 'मा निषाद' में इस लघु-गुरु की व्यवस्था के कारण ही सुश्रव्यता है और वैदिक अनुष्टुप् से इसका यही नूतनत्व है—यही पार्थक्य है। वैदिक चतुष्पाद अनुष्टुप् से तुलना करने पर यह पार्थक्य अधिक स्पष्ट होता है—

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद् यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥

—ऋ० १।१०।७

यहाँ वैदिक अनुष्टुप् होने के लिए आठ अक्षरों की सत्ता प्रतिपाद में होनी चाहिए। यहाँ विचार करने पर चारों चरणों में कुछ न कुछ पार्थक्य है, विभिन्नता है। वाल्मीकि का तथा तदनुसारी संस्कृत काव्यों का अनुष्टुप् इसीसे विकसित हुआ। और इसी विकसित सुव्यवस्था में तथा तज्जन्य सुश्रव्यता में 'नूतनश्छन्दसामवतारः' आश्चर्योक्ति की चरितार्थता है।

लौकिक छन्दों का विकास कब सम्पन्न हुआ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना जरा कठिन है। लौकिक छन्दों का सर्वप्रथम विवरण आचार्य पिंगल ने प्रस्तुत किया—यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ के लौकिक छन्दों के विवरण देने के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों का मत दिया है। आचार्य 'सैतव' का मत अनुष्टुप् के प्रसंग में (५।१८), उल्लिखित है। उनके अनुसार अनुष्टुप् के प्रतिचरण में सप्तम वर्ण लघु नियमतः रखना चाहिए। 'वसन्ततिलका' वृत्त को आचार्य काश्यप 'सिंहोन्नता' (७।९) तथा आचार्य सैतव[2] 'उद्धर्षिणी' की संज्ञा देते हैं (७।१०)। दण्डक के विवरण-प्रसंग में आचार्य रात तथा आचार्य माण्डव्य के मत का उल्लेख पिंगल में है (७।३५)। प्राचीन आचार्यों के इस समुल्लेख से स्पष्टतः प्रतीत होता

---

१. पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठ गुरु विजानीयात् एतत् पद्यस्य लक्षणम्॥

—श्रुतबोध, श्लोक ११।

२. जानाश्रयी छन्दोविचिति (४।७०) के अनुसार आचार्य सैतव इसे 'इन्दुमुखी' नाम से पुकारते हैं।

है कि लौकिक छन्दों का आविर्भाव पिंगल से अति प्राचीन युग की व्यवस्थित घटना है। आचार्य यादवप्रकाश की प्रथम छन्दः परम्परा का विश्लेषण बतलाता है कि माण्डव्य पिंगल के चार पीढ़ी पूर्व होने वाले आचार्य हैं जिससे लौकिक छन्दों के विवरण का युग पर्याप्तरूपेण प्राचीन सिद्ध हो जाता है। इस प्रसंग में पाणिनि की व्याकरण अष्टाध्यायी तथा पिंगल की छन्द अष्टाध्यायी के स्वरूप सामान्य का विश्लेषण रोचक सिद्ध होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी की रचना से पूर्व लौकिक संस्कृत के व्याकरण ग्रन्थ थे जो इसकी प्रौढ़ता तथा प्रतिपादनविशदता के कारण अस्तंगत हो गये। उसी प्रकार पिंगलीय अष्टाध्यायी के निर्माण से पूर्व लौकिक छन्दों के व्याख्यानकर्ता ग्रन्थ थे जो इसकी सुव्यवस्था तथा प्रतिपादनकौशल के कारण अस्तंगत हो गये। 'षड्गुरुशिष्य' के अनुसार पाणिनि अग्रज थे तथा पिंगल उनके अनुज। यदि यह परम्परा मान्य हो, तो इस भ्रातृद्वयी का यह कार्य अनेक रूप में समानान्तर था और अपने-अपने शास्त्र के व्याख्यान में पूर्णतया सफल था। इस प्रसंग में एक अन्य तथ्य ध्यातव्य है। महर्षि पाणिनि ने 'जाम्बवती विजय' अथवा 'पातालविजय' नामक १८ सर्गों तक विस्तृत महाकाव्य का प्रणयन किया था[2] जिसके कतिपय पद्य ही सूक्ति संग्रहों तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसमें स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित जैसे बृहदाकार वृत्तों में पद्यों का निर्माण है। पाणिनि 'उपजाति' वृत्त के सिद्धहस्त कवि थे—इस तथ्य का पता क्षेमेन्द्र अपने 'सुवृत्ततिलक' में देते हैं[3]। पाणिनि के उपलब्ध पद्यों में उपजाति वाले पद्य सचमुच परम रमणीय तथा मनोहर हैं। ऐसे छन्दों का निर्माण एक दो दिनों की घटना नहीं है, प्रत्युत वर्षों के प्रयास से उनमें स्निग्धता तथा चिक्कणता आयी है। लौकिक छन्दों की इस प्रयोगमयी दिशा से भी विचार करने पर इनका आविर्भाव पाणिनि से प्राचीन काल की घटना सिद्ध होता है। आचार्य पिंगल का ग्रन्थ समुपलब्ध लौकिक छन्दोग्रन्थों में सर्वप्राचीन है—यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

आचार्य पिंगल

आचार्य पिंगल के देशकाल का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। केवल उनकी

---

१. सर्वानुक्रमटीकायां षड्गुरुशिष्यः—श्रूयते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन।
२. द्रष्टव्य लेखक का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (अष्टम सं०, १९६८) पृष्ठ १६१–१६५; तथा 'संस्कृत सुकवि समीक्षा' (चौखम्भा, वाराणसी, १९६३) पृष्ठ ३४-४२।
३. स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥
—क्षेमेन्द्र

एकमात्र रचना उन्हीं के नाम से प्रख्यात 'पिंगल छन्दःसूत्र' अथवा 'पिंगल छन्दःशास्त्र' है। इनके प्रख्यात वृत्तिकार हलायुध ने इस रचना के लिए द्वितीय अभिधान अपनी वृत्ति के अन्त[1] में दिया है। यह ग्रन्थ सूत्रबद्ध है। इसमें आठ अध्याय हैं जिनमें सूत्रों की संख्या[2] क्रमशः इस प्रकार है—१५, १६, ६६, ५३, ४४, ४४, ३६, ३४। यह अष्टाध्यायी केवल तीन सौ आठ (३०८ सूत्र) सूत्रों की स्वल्पकाय ग्रन्थ है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से नितान्त प्रामाणिक तथा अनुपम गौरवमयी है। इन अध्यायों में आरम्भ के तीन अध्याय तथा चतुर्थ के सात सूत्र वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत करते हैं तथा तदवशिष्ट अध्याय लौकिक छन्दों का वर्णन करते हैं। वैदिक छन्दों का वर्णन केवल ९७ सूत्रों में तथा लौकिक छन्दों का २११ सूत्रा में हैं। लौकिक वृत्त दो प्रकार के होते हैं—मात्रावृत्त तथा वर्णवृत्त जिनमें वर्णवृत्त सम, अर्धसम तथा विषमभेद से तीन प्रकार का होता है। पिंगल के चतुर्थ अध्याय में मात्रावृत्तों का, पंचम, षष्ठ तथा सप्तम में त्रिप्रकारक वर्णवृत्तों का क्रमशः विवरण है। अन्तिम (अष्टम) अध्याय में छन्द के प्रस्तार आदि भेदों (षट्प्रत्यय) का प्रतिपादन है। इस प्रकार पिंगलसूत्र परिमाण में है थोड़ा ही, परन्तु इतने स्वल्प अवकाश में वह यावत् ज्ञातव्य छन्दों का विवरण प्रस्तुत कर देता है। शास्त्रीय विवेचन उसका सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है।

पिंगल के देशकाल का निर्णय प्रमाणों के अभाव में यथार्थतः नहीं किया जा सकता। पिंगल को पाणिनि का अनुज मानने वाली परम्परा ([3]षड्गुरुशिष्य द्वारा उल्लिखित) यदि अन्य प्रमाणों से परिपुष्ट हो, तो ये भी शालातुर के निवासी तथा विक्रमपूर्व लगभग अष्टमशती के ग्रन्थकार माने जा सकते हैं। यूरोपीय विद्वान् इन्हें

---

१. पिंगलाचार्यरचिते छन्दःशास्त्रे हलायुधः।
मृतसञ्जीवनीं नाम वृत्तिं निर्मितवानिमाम्॥

२. यह सूत्रसंख्या सीताराम भट्टाचार्य सम्पादित 'पिंगलछन्दःसूत्र' की हलायुध वृत्ति के अनुसार है (कलकत्ता, १८३६ शाके)। निर्णयसागर प्रेस संस्करण में केवल एक सूत्र न्यून है। षष्ठ अध्याय में वहाँ केवल ५२ ही सूत्र हैं। यादवप्रकाश के अनुसार सूत्रों की संख्या २८८ है, परन्तु भास्करराय के अनुसार यह पूरी ३०० (तीन सौ) है।
वाक्यसिन्धुरपारोऽपि छन्दःसूत्रशतैस्त्रिभिः।
येन बद्धो नमस्तस्मै पिङ्गलाद्भुतशिल्पिने॥
(भाष्यराज के हस्तलेख से)

३. सूच्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन।
(सर्वानुक्रमणी टीका)।

ईस्वीपूर्व द्वितीय शती में मानते हैं, परन्तु उससे भी प्राचीन मानने में कोई व्याघात नहीं है। छन्दःशास्त्र से भिन्न शास्त्र के साहित्य में इनका निर्देश गवेषणीय है। शबर स्वामी ने पिंगल का नाम तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट सर्वगुरु 'मगण' अपने भाष्य में निर्दिष्ट किया है[1]। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के नव ह्निक में एक स्थल पर 'पैङ्गल काण्व' (आह्निक ६, सू० ७३) शब्द का उल्लेख किया है जिससे इनकी पतञ्जलि से पूर्व-कालिकता निश्चितरूपेण सिद्ध होती है। मेरी दृष्टि में ये इससे भी प्राचीन ग्रन्थकार हैं।

पुराणों में पिंगल नामक नाग का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। वामन-पुराण में ये प्रातः स्मरणीय आचार्यों में आसुरि के साथ निर्दिष्ट किये गए हैं[2]। अग्निपुराण में अध्याय ३२८ से लेकर ३३५ अध्याय तक आठ अध्यायों में वर्णित यह छन्दोनिरूपण पिंगल के आधार पर स्वयं पुराणकार ने निर्दिष्ट किया है[3]। नारदपुराण वाला छन्दोविवरण भी पिंगलानुसारी ही है। इन पौराणिक उल्लेखों से पिंगल की प्राचीनता निश्चितरूपेण सिद्ध होती है परन्तु इनके आधार पर इदमित्थं रूप से कथन दुःसाध्य है। इनके देश का पता लगाना और भी दुष्कर कार्य है। छन्दों के दो नामों में भौगोलिक संकेत का आभास मिलता है। अपरान्तिका (४।४१) तथा वानवासिका (४।४३) पिंगल ने अपने वृत्तों के नाम दिये हैं। तथ्यतः ये दोनों शब्द अपरान्त तथा वनवास देश के स्त्रीजनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। अपरान्त तथा वनवास—ये एक दूसरे से संलग्न प्रान्त बम्बई प्रान्त के पश्चिम समुद्रस्थ प्रदेश कोंकण को सूचित करते हैं। फलतः पिंगल का इस समुद्रस्थ प्रान्त के लिए कोई पक्षपात प्रतीत होता है। पञ्चतन्त्र का यह कथन भी कि समुद्रतट पर छन्दोज्ञान के निधि पिंगल को मकर ने मार डाला था[4] सुसंगत बैठता है। तो क्या आचार्य पिंगल पश्चिम समुद्र के तीर पर निवास करने वाले आचार्य थे ?

---

१. यथा मकारेण पिङ्गलस्य सर्वगुरुस्त्रिकः प्रतीयेत।

—शाबरभाष्य ।।६५।

२. सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः।
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ॥ —वामनपु० १४।२५।

३. छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्।

—अग्निपु० ३२८।१।

४. छन्दो ज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्।

—पञ्चतन्त्र २।२६।

पिंगल के टीकाकार

पिंगल के लोकप्रिय वृत्तिकार का नाम भट्ट हलायुध है और उनकी वृत्ति का नाम है—मृतसञ्जीवनी। हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें पाणिनीय सम्प्रदाय के समानरूप वाले धातुओं के अर्थ तथा प्रयोग का विशद उपन्यास है। इसमें उन्होंने आश्रयदाता कृष्णराज को 'राष्ट्रकूट कुलोद्भव' बतलाया है[1]। राष्ट्रकूट वंश में कृष्णराज नाम से प्रख्यात तीन राजा हुए—(१) कृष्णराज शुभतुङ्ग, (२) कृष्णराज अकालवर्ष, (३) तृतीय नरेश का भी यही नाम था कृष्णराज अकालवर्ष (राज्यकाल ८६७–८८८ शाके, ६४५–६६६ ई०)। इनके अनन्तर खुडिगदेव राजा बना। इस राजा खुडिगदेव का उल्लेख पिंगल सूत्रवृत्ति में दो स्थानों पर मिलता है[2]। शिलालेखों से पता चलता है कि खुडिगदेव कृष्णराज तृतीय का वैमात्रेय भ्राता था जो उसके बाद ८८८ शक से—८६३ शक तक राजगद्दी पर बैठा। भट्ट हलायुध इन दोनों राजाओं का समकालीन था। तत्पश्चात् वह मुञ्जराज के आश्रय में चला गया और इसीलिए वाक्पतिराज मुञ्ज की प्रशंसा में इनके स्वनिर्मित अनेक पद्य इसके प्रमाणभूत हैं[3] (४।१९; ४।२०; ५।३४; ५।३६; ७।५; ८।१२)। यह मुञ्ज धारानरेश राजा भोज का पितृव्य, विद्वानों का आश्रयदाता तथा सरस्वतीसेवक महीपति था (समय है १०वीं शती का अन्तिम चरण)। पिंगल-छन्दोवृत्ति के निर्माण का यही युग है। यह अत्यन्त लोकप्रिय, सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याख्या है जिससे पिंगल सूत्रों का अभिप्राय विशदरीति से स्फुट होता है।

यादवप्रकाश

विषाद का विषय है कि पिंगलसूत्र का सर्वाधिक प्रौढ़, नितान्त प्रामाणिक तथा पाण्डित्यमण्डित भाष्य अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। इस भाष्य का पूरा नाम है—पिङ्गलनागछन्दोविचिति-भाष्य और इसके प्रणेता हैं यादवप्रकाश जो अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता के अनुसार पुष्पिका में 'भगवान्' के आदरसूचक विशेषण से मण्डित किये गये हैं। 'यादवप्रकाश' विशिष्टाद्वैत-

---

१. तोलयत्यतुलं शक्त्या यो भारं भुवनेश्वरः।
कस्तं तुलयति स्थाम्ना राष्ट्रकूटकुलोद्भवम्॥

२. पिंगलसूत्र ७।१७ तथा ७।२० की वृत्ति के हस्तलेख में। द्रष्टव्य पिंगलसूत्र (निर्णयसागर, बम्बई)।

३. ब्रह्मक्षत्रकुलीनः समस्तसामन्त-चक्रनुतचरणः।
सकल-सुकृतैकपुञ्जः श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति॥

४।१६ का उदाहरण।

वेदान्त के इतिहास में रामानुजाचार्य के गुरु के नाते पर्याप्त प्रख्यात हैं। १०१७–११३७ ई० सम्प्रदायानुसार रामानुज का जीवनकाल माना जाता है। अपने जीवन के आरम्भिक काल में रामानुज ने इनसे वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की थी। फलतः यादवप्रकाश का समय दशमशती के अन्तिमचरण से लेकर एकादशीशती का पूर्वार्ध मानना उचित प्रतीत होता है (लगभग ९७५ ई०–१०५० ई०)।

वैजयन्ती कोष के रचयिता होने से यादवप्रकाश की ख्याति विद्वत्समाज में पर्याप्त है। इस कोष का वैशिष्ट्य है वैदिक शब्दों का संकलन। वेद के शब्दों[1] को लौकिक शब्दों के साथ संकलित कर यादवप्रकाश ने अपनी वेदनिष्ठा तथा वैदिक पाण्डित्य का स्पष्ट संकेत किया है। कोष प्रकाशित है[2] तथा पण्डितमण्डली में प्रख्यात है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'यतिधर्मसमुच्चय' (संन्यासियों के कार्य-कलाप का परिचायक ग्रन्थ) अभी तक हस्तलेखों में प्राप्य है।

इन दोनों ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में हम पिंगलसूत्रभाष्य के महत्त्व का मूल्यांकन भलीभाँति कर सकते हैं। वैदिक पाण्डित्य से मण्डित भाष्यकार की कृति में भाष्य का वैदिक भाग बड़ा ही पूर्ण, प्रामाणिक तथा उपादेय है। ये मन्त्रों तथा ब्राह्मणों के गम्भीर अनुसन्धाता थे। फलतः छन्दोविषयक सूत्रग्रन्थ—जैसे ऋक् प्रतिशाख्य, सर्वानुक्रमणी, निदान सूत्र आदि—के प्रति इन्होंने ध्यान नहीं दिया। पिंगल का वैदिक भाग प्रामाणिक होने पर भी संक्षिप्त है। यादवप्रकाश के भाष्य में वैदिक छन्दविषयक अधिक सामग्री तथा प्रचुर उदाहरणों का चयन है जिसके कारण इससे अवान्तरकालीन षड्गुरुशिष्य की 'सर्वानुक्रमणी' पर टीका व्यर्थ-सी प्रतीत होती है। वैदिक छन्दों की सूक्ष्म बातों का विवेचन इतना सांगोपांग हैं कि वे प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध नहीं होतीं। इस भाष्य का उपयोग अवान्तरकालीन नानाशास्त्रपारंगत भास्करराय ने अपने छन्दोविषयक ग्रन्थों में किया है। लौकिक छन्दों के वर्णनप्रसंग में ये पिंगल के पूरक सिद्ध होते हैं। नवीन छन्दों की उद्‌भावना कर उनका लक्षण पिंगल की शैली में, सूत्रों में, दिया है। इन नवीन छन्दों में से कुछ तो 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' से मिलते हैं और कुछ हेमचन्द्र के 'छन्दोऽनुशासन' से। ये वे छन्द हैं जो पिछले युग के कवियों द्वारा अपनी काव्यरचना में समादृत तथा व्यवहृत हैं। फलतः

---

१. कतिपय शब्दों का निर्देश यह है—अनुवाक, खिल, उपखिल, आसन्दी, अहि-निल्वंयनी, उद्दाम (वरुण), जागृवि, मनोजवा (अग्नि के सप्त जिह्वाओं में अन्यतम) कुल्माष, ज्योक् (अव्यय)। कोष में उपलब्ध ये वैदिक शब्द इनकी रुचि के परिचायक हैं।

२. डा० ऑपर्ट द्वारा मद्रास से प्रकाशित, १८९३।

यादवप्रकाश की दृष्टि व्यवहार तथा प्रयोग के समादर की ओर कम नहीं है, यद्यपि ये विशुद्ध शास्त्र के पारंगामी पण्डित हैं। लौकिक वृत्तों के उदाहरण के लिए इन्होंने स्वरचित पद्यों को प्रयुक्त किया है।

भास्करराय

पिंगलसूत्र के तृतीय टीकाकार नानाशास्त्रपाण्डित्य-मण्डित विद्वान् भास्करराय हैं। भास्करराय अपने युग के अलौकिक शेमुषीसम्पन्न प्रतिभाशाली पण्डित थे। आगम तो उनका अपना क्षेत्र था, परन्तु उससे भिन्न क्षेत्रों में भी—विशेषतः छन्दःशास्त्र में—उनकी प्रतिभा का परिणत फल समालोचकों की दृष्टि को आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त है। केवल सत्रह साल के वय में उन्होने छन्दःकौस्तुभ लिखा, बीसवें वर्ष में वृत्तरत्नाकर के ऊपर मृतजीवनी व्याख्या लिखी; अन्य शास्त्रों में 'वादकुतूहल' आदि आठ ग्रन्थों का प्रणयन किया; पचासवें वर्ष उन्होंने वृत्तचन्द्रोदय नामक प्रौढ़ छन्दोग्रन्थ की रचना की[१]। इसके सात वर्ष बाद १७९३ विक्रम सं० में (= १७३७ ई०) उन्होंने पिंगलसूत्र पर 'भाष्यराज' नामक व्याख्या का प्रणयन काशी में किया[२]। भास्करराय महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। काशी में ही अधिकतर रहते थे। समय है १७ शती का अन्तिम चरण तथा १८वीं शती का पूर्वार्ध (लगभग १६८० ई०–१७४५ ई०)।

भास्करराय ने छन्दःशास्त्र के विषय में चार ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनका रचनाक्रम उन्हीं के कथनानुसार इस प्रकार सिद्ध होता है—(१) छन्दःकौस्तुभ (रचनाकाल १६९७ ई०); (२) वृत्तरत्नाकर की मृतजीवनी व्याख्या (१७०० ई०); (३) वृत्तचन्द्रोदय (१७३० ई०) तथा (४) पिंगलसूत्रभाष्यराज (१७३७ ई०)। इनमें वृत्तचन्द्रोदय छन्दःशास्त्र का बड़ा ही विशद विवेचक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थरत्न की रचना से ही भास्करराय को सन्तुष्टि नहीं हुई और उन्हें सत्तावन साल के प्रौढ़ वय में पिंगलसूत्रों के ऊपर प्रौढ़ भाष्य लिखना पड़ा। यह यादवप्रकाश के भाष्य से अनेक

---

१. इस वृत्त का परिचय उन्हीं के पद्यों से चलता है—
साधें सप्तदशे गते वयसि मे सत्-कौस्तुभो निर्मितः
विंशेऽब्दे मृतजीवनी विरचिता प्राचीनरत्नाकरे।
पश्चाद् वादकुतूहलादिकृतयस्तन्त्रान्तरेऽष्टौ कृताः
पञ्चाशत्सु समासु स्वयं विरचितः श्रीवृत्तचन्द्रोदयः॥

२. गुणनिधिमुनिभूमिते विक्रमवर्षे (१७९३ वि० सं०)······
वेदाङ्गछन्दःसूत्रभाष्यराजोऽयमधिकाशि सम्पूर्णः॥
वृत्तचन्द्रोदय की रचना १६५२ श० सं० (= १७३० ई०) में हुई—इससे ठीक सात वर्ष पहिले।

अंशों में भिन्न है। यादवप्रकाशभाष्य के समान वैदिक छन्दों के विवेचन में उतनी प्रौढ़ि, विवेचननैपुण्य तथा गाम्भीर्य नहीं है। लौकिक वृत्तों के विवेचन में उन्हें प्राकृत तथा अपभ्रंश के छन्दों के प्रभाव से उत्पन्न त्रुटियों तथा व्युत्क्रमों की अवहेलना करनी पड़ी है। फलतः इन्हें कवि-प्रयोग तथा लोक-व्यवहार का समादर कर इस शास्त्र-विवेचन में एक नवीन दृष्टि का संचार करना पड़ा। यादवप्रकाशी भाष्य से वे परिचित थे। परन्तु सम्भवतः उदाहरणों की अस्निग्धता तथा अचमत्कार के कारण उनका भाष्य उतना प्रख्यात तथा लोकप्रिय न हो सका, जितना अपने अन्तरंग वैशिष्ट्य के कारण उसे होना चाहिए था। पिंगल की इस व्याख्यात्रयी में हलायुध की वृत्ति ही सर्वात्मना लोकप्रिय है। हस्तलेखों में ही प्राप्य अन्तिम दोनों भाष्यों का प्रकाशन तथा अनुशीलन दोनों ही सामान्य जिज्ञासुजनों के लिए अभी दुर्लभ हैं[1]।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के दो अध्यायों में छन्दों का निरूपण किया है। काशी संस्करण वाले नाट्यशास्त्र के १५ तथा १६ अध्यायों में छन्दशास्त्र का पर्याप्त सुन्दर वर्णन है। नाट्य के प्रसंग में छन्दों का निरूपण अनिवार्य ही है, क्योंकि नाटक में वृत्तात्मक पद्यों का अस्तित्व है। भरत की दृष्टि व्यावहारिक है। फलतः नाट्यव्यवहार को लक्ष्य में रखकर ही उनका यह छन्दोविवरण समञ्जस होता है। १५वें अध्याय में वृत्तों का सामान्य विवेचन है तथा १६वें अध्याय में वृत्तों का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है। भरत अष्ट गणों से परिचित हैं (१५।८४-८८) तथा उनके नाम भी वे ही पिंगल-सम्मत मगण भगण आदि हैं। परन्तु छन्दों के लक्षण देते समय भरत लघु-गुरु पद्धति का ही आश्रयण करते हैं। प्रतीत होता है कि इस पद्धति के ये ही प्रतिष्ठापक अथवा परिवर्धक है। उदाहरण सब स्वविरचित हैं और उनमें उन छन्दों के भी नाम मुद्रालंकार द्वारा निर्दिष्ट हैं जिनके वे उदाहरण दिये गये हैं। यह भी प्रकार भरत की ही मौलिक सूझ प्रतीत होता है। पिंगल का नाम यहाँ निर्दिष्ट नहीं है। १६वें अध्याय के अन्त में यह शास्त्र 'छन्दोविचिति' नाम से निर्दिष्ट है। मेरी दृष्टि में इस अभिधान की प्राचीनता का यह स्पष्ट पोषक प्रमाण है। निर्णयसागर से प्रकाशित नाट्यशास्त्र में वृत्तों के लक्षण में गणीय पद्धति व्यवहृत है। ऐसी परिस्थिति

---

1. विशेष द्रष्टव्य श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य का एतद्विषयक सुचिन्तित निबन्ध। जर्नल आफ एशिआटिक सोसाइटी, कलकत्ता भाग ४, १९६२, संख्या तृतीय-चतुर्थ। पृष्ठ १७९-१९०। (प्रकाशित १९६४)। इस लेख से टिप्पणियों के पद्य उद्धृत किये गये हैं। यह निबन्ध हस्तलेखों पर आधृत है और प्रमेयबहुल है।

में यह कहना नितान्त दुर्गम है कि भरत ने मूलतः छन्दोलक्षण विन्यास में किस पद्धति को अपनाया था[1]।

वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता'[2] नानाविध विद्याओं के लिए तथ्यतः विश्वकोश ही है। मुख्य विषय तो है ज्योतिःशास्त्र, परन्तु अनेक उपयोगी विषयों का संकलन उसकी उपादेयता का प्रधान चिह्न है। इसी ग्रन्थ के एकसौ तृतीय अध्याय में (१०३) वराहमिहिर ने इस ग्रह-गोचराध्याय में गोचरों का वर्णन नाना छन्दों में किया है और मुद्रालंकार के द्वारा वृत्त का भी निर्देश कर दिया है। वराहमिहिर (षष्ठशती) ने किस ग्रन्थ के आधार पर यह छन्दोनिर्देश किया है, यह कहना कठिन है। भट्टोत्पल ने इस अध्याय की वृत्ति में मूलकारिका में संकेतित वृत्त का लक्षण बड़े विस्तार से प्राचीन लक्षणों को उद्धृत कर किया है। उद्धरणों के स्रोत का पता नहीं चलता, परन्तु है यह कोई सुव्यस्थित छन्दोग्रन्थ। वराहमिहिर का कथन[3] है कि प्रस्तार-जनित छन्दों के विस्तार को जानकर भी इतना ही कार्य होता है। अतएव उन्होंने इस अध्याय में 'श्रुतिसुखदवृत्त संग्रह' कर दिया, श्रुति-कटुवृत्तों के ज्ञान से लाभ ही क्या होता ? इस कथन से छन्दोविचिति के विस्तार का संकेत मिलता है। मात्रा-वृत्त तथा वर्णवृत्त मिलाकर लगभग ६० छन्दों के लक्षण भट्ट उत्पल की व्याख्या में संगृहीत हैं। उत्पल का समय नवम शती है और वराहमिहिर का षष्ठशती। मेरी दृष्टि में वराहमिहिर का यह निर्देश नाट्यशास्त्र तथा 'जयदेव छन्दः' के रचयिता जयदेव के मध्यवर्ती काल से सम्बन्ध रखता है और चतुर्थ-पंचम शती में जायमान छन्दोविकास का द्योतक है।

आचार्य पिङ्गल की ही परम्परा में जानाश्रयी छन्दोविचिति[4] नामक छन्दोग्रन्थ का प्रणयन हुआ। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है और छः अध्यायों में विभक्त है। सूत्रों के ऊपर

---

१. द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र काशी चौखम्भा सं० १६ अ० जिसकी पाद टिप्पणी में निर्णयसागर का पाठ भी दे दिया गया है।

२ इसका नवीन संस्करण सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है, वाराणसी, १९६८ ई०।

३. विपुलामपि बुद्ध्वा छन्दोविचितिं भवति कार्यमेतावद्।
श्रुतिसुखदं वृत्तसंग्रहमिममाह वराहमिहिरोऽतः॥

४. वृत्ति सहित इसका प्रकाशन दो स्थानों से हुआ है—(क) अनन्तशयनसे १९४९ में अनन्तशयन ग्रन्थमाला सं० १६३; (ख) रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित तिरुपति से प्रकाशित १९५०, श्री वेंकटेश्वर प्राच्यग्रन्थमाला सं० २०।

एक सुबोध वृत्ति भी है जिसमें प्राचीन काव्य ग्रन्थों से श्लोक उदाहरण के लिए उद्धृत किये गए हैं। सूत्रकार तथा वृत्तिकार के व्यक्तित्व के विषय में सन्देह है। दोनों को भिन्न मानना ही प्रामाणिक प्रतीत होता है[1]। पिछले युग के लेखकों ने कभी सूत्रों को और कभी उसकी वृत्ति को भी 'जानाश्रय छन्दोविचित' के नाम से उद्धृत किया है। सम्भवतः यह दोनों का सम्मिलित अभिधान था। सूत्रों के प्रणेता कोई जनाश्रय उपाधिधारी राजा था जिसका व्यक्तिगत नाम माधव वर्मा प्रथम बतलाया जाता है। यह विष्णुकुण्डि वंश का राजा था जिसने कृष्णा और गोदावरी जिलों पर षष्ठशती के अन्तिम चरण में शासन किया। शासनकाल ५८०—६२० ई० माना जाता है। प्रथम वृत्तिकार इनके आश्रय में रहनेवाले गणस्वामी नाम के पण्डित थे। उपलब्ध वृत्ति इसी वृत्ति की व्याख्या अपने को बतलाती है[2]। ग्रन्थ के आरम्भ में जनाश्रय की यह स्तुति उनकी धार्मिकता तथा प्रभुता की विशद प्रशस्ति है—

स भूपतिरुदारधीर्जयति सम्पदेकाश्रयो
जनाश्रय इति श्रिया वहति नाम सार्थं विभुः।
मखैरुरुभिरद्भुतैर्मघवतो जयश्रीरपि
जिता विजितशत्रुणा जगति येन रुद्धा चरत्॥

जनाश्रय की ही छन्दःशास्त्रीय आचार्यों में गणना होने से उन्हें ही इसका कर्ता मानना उचित[3] है। वृत्ति में उद्धृत श्लोकों से भी ग्रन्थ के पूर्वोक्त निर्माणकाल की पुष्टि होती है। वृत्तिकार ने कालिदास, भारवि, कुमारदास, अश्वघोष के पद्यों को उद्धृत किया है। जानकीहरण के दो पद्य (१।३० तथा १।३७) यहाँ उद्धृत है। इन उद्धरणों से इस ग्रन्थ का समय ६०० ईस्वी के आस-पास मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१. 'भाहेति समानम्' सूत्र २।३ की दो व्याख्यायें दी गई हैं। ४।३ तथा ५।४३ सूत्र की वृत्ति में भी द्वैविध्य है। यह दोनों की भिन्नता होने पर ही सम्भव है।

२. द्रष्टव्य वृत्ति का आरम्भ पृ० १।

३. जयकीर्ति (११३५ ई०) ने अपने छन्दोऽनुशासन में इनका उल्लेख किया है—

माण्डव्यपिङ्गल-जनाश्रय-सैवताख्य
श्रीपादपूज्य-जयदेव-बुधादिकानाम्।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम्॥

अधिकार अष्टम, अन्तिम श्लोक।

ग्रन्थ के ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में छन्दःशास्त्र की पारिभाषिकी संज्ञायें हैं। द्वितीय में विषम वृत्तों का, तृतीय में अर्ध समवृत्तों का, चतुर्थ में समवृत्तों का तथा पञ्चम में वैतालीय-मात्रासमक-आर्या नामक त्रिविध जातिछन्दों का विवरण दिया गया है। षष्ठ अध्याय प्रस्तार-विषयक है। वृत्तिकार का कथन है कि ग्रन्थकार ने पिंगल आदि की छन्दोविचितियों में यथासम्भव न्यूनातिरेक का परीक्षण तथा परिहार कर इस नवीन ग्रन्थ का प्रणयन किया। फलतः पिंगल की परम्परा तो निश्चित है, परन्तु उससे भेद भी है। प्रधान भेद यह है कि जहाँ पिंगल ने तीन वर्णों के आठ गण (मगणादि) ही माने हैं, वहाँ जनाश्रय ने १८ गण स्वीकार किया है। वैदिक छन्दों का यहाँ तनिक भी निर्देश नहीं है।

जयदेव

जनाश्रय के समकालीन अथवा किञ्चित् पश्चाद्वर्ती जयदेव एक प्रौढ़ छन्दःशास्त्री हुए जिनका ग्रन्थ उन्हीं के नाम पर 'जयदेवछन्दः' के नाम से विख्यात है। ये प्राचीन आचार्य हैं, क्योंकि १००० ईस्वी तथा उसके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकारों ने उनके मत का उल्लेख किया है। पिंगल के टीकाकार भट्ट हलायुध (१० शती का अन्तिम चरण) ने इनके मत का खण्डन दो स्थानों पर किया है (१।१०[1]; ५।८) और वहाँ इनका उल्लेख, सम्भवतः उपहास के निमित्त, 'श्वेतपट' (श्वेताम्बरी जैन) नाम से किया है। अभिनवगुप्त ने इसी शती में इनके मत का उल्लेख अभिनवभारती में किया है[2]। वृत्तरत्नाकर का टीकाकार सुल्हण (जिसकी टीका का निर्माणकाल सं० १२४६ = ११९० ई० है) श्वेतपट के नाम से जयदेव के मत का खण्डन करता है। जैन ग्रन्थकारों ने विशेष रूप से जयदेव के मत को उद्धृत किया है और इन्हें पिंगल के समकक्ष मान्यता तथा आदर देने के वे पक्षपाती प्रतीत होते हैं। अतः इनकी ख्याति प्राचीन युग में विशाल थी—इसका परिचय इन उल्लेखों तथा संकेतों से स्थिर किया जा सकता है। यह जैनमतावलम्बी प्रतीत होते हैं। भट्ट हलायुध तथा सुल्हण के द्वारा 'श्वेतपट' शब्द से निर्देश इनके जैनी होने का निश्चित प्रमाण है। जैन ग्रन्थकार—जैसे जयकीर्ति, नमि साधु, तथा हेमचन्द्र—द्वारा उद्धृत करना तथा आदर देना भी इस संकेत को पुष्ट करता है। यही कारण है कि वृत्तरत्नाकर के समान सुव्यवस्थित ग्रन्थ होने पर भी इनका ग्रन्थ सर्वसाधारण वैदिक धर्मावलम्बियों में लोकप्रिय तथा समादृत

---

१. वान्ते ग्वक्र इति प्रोक्तं यैश्च श्वेतपटादिभिः।
तदुत्सर्गापवादेन बाधस्तैर्नावधारितः॥
मिलाइये जयदेवछन्दःसूत्र १।४

२. अभिनवभारती १५।८३—८४ (बड़ोदा सं०)

न हो सका, यद्यपि इन्होंने वैदिक छन्दों का भी विवरण विधिवत् दिया है। हर्षट का समय ९५० ई० के आसपास है और इसलिए जयदेव का समय इतः पूर्व होना चाहिए सम्भवतः नवम शती का अन्तिम चरण (८७५ ई०)।

'जयदेवछन्दः'[1] का आदर्श है पिंगल छन्दःसूत्र और उसी प्रकार आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय वैदिक छन्दों का विवरण सूत्रों में देते हैं, परन्तु अन्तिम पाँच अध्यायों में लौकिक छन्दों का वर्णन है, परन्तु सूत्रशैली में नहीं, प्रत्युत वृत्तशैली में जो लक्षण तथा लक्ष्य का एक साथ समन्वय प्रस्तुत करती है। यही वृत्तशैली पिछले युग के छन्दग्रन्थों के लिए अनुकरणीय आदर्श बन गई जैसे इन्द्रवज्रा का लक्षण इन्द्रवज्रा छन्द में ही प्रस्तुत किया गया है जिससे छन्दों के पृथक् उदाहरण देने की आवश्यकता कथमपि ग्रन्थकार के सामने प्रस्तुत नहीं होती। इस ग्रन्थ के टीकाकार मुकुलभट्ट के पुत्र हर्षट है जो वृत्ति की पुष्पिका से स्पष्ट है। टीका के हस्तलेख का समय ११२४ ईस्वी है। इससे इन्हें प्राचीन होना चाहिए। हर्षट काश्मीरी थे और बहुत सम्भव है कि वे 'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रख्यात रचयिता मुकुलभट्ट के ही पुत्र हों। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में मुकुलभट्ट के मत का खण्डन किया है द्वितीय उल्लास में। फलतः हर्षट का समय दशम शती के पूर्वार्ध में मानना न्याय्य प्रतीत होता है (९५० ई०)।

जयकीर्ति—छन्दोऽनुशासन

जयकीर्ति कन्नड देश के जैन थे। आठ अधिकार (अध्याय) में विभक्त इस ग्रन्थ के सप्तम अधिकार में लेखक ने कन्नड भाषा के छन्दों का भी विवरण दिया है जिससे उसके कन्नड भाषाभाषी होने का अनुमान असंगत न होगा। ग्रन्थ के मंगलाचरण में उन्होंने 'वर्धमान' (जैन तीर्थंकर) की वन्दना की है जिससे इनका जैनत्व प्रकट होता है। 'छन्दोऽनुशासन' के हस्तलेख का समय (जिसके आधार पर यह ग्रन्थ मुद्रित है) ११९२ वि० सं० (=११३५ ई०) है। इनका समय १००० ई० के आसपास माना जा सकता है।

'छन्दोऽनुशासन'[2] में केवल लौकिक छन्दों का ही विवरण है। इसमें वैदिक छन्दों का अभाव है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि उस युग में वैदिक छन्दों के परिचय से सामान्य पण्डितजन पराङ्मुख हो गये थे और इसलिए अब उनके विवरण देने की

---

१. संस्करण एच० डी० वेलणकर द्वारा 'जयदामन्' के अन्तर्गत, पृ० १–४०। 'जयदामन्' का प्रकाशन बम्बई की 'हरितोषमाला' में हुआ है। बम्बई, १९४९।

२. जयदामन् में प्रकाशित, पृष्ठ ४१–७०।

आवश्यकता न रही। इस घटना को 'जयदेव छन्दः' के वैदिक विवरण से तुलनात्मक दृष्टि से विचारने पर दोनों के पौर्वापर्य का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का विवरण देना नितान्त आवश्यक माना जाता था। समग्र ग्रन्थ आर्या तथा अनुष्टुप् छन्दों में ही निबद्ध है। छन्दों के लक्षण देने वाले पद्य उन्हीं छन्दों में विरचित हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत छन्दों से अतिरिक्त कन्नड छन्दों के ज्ञान के लिए भी उपयोगी है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में माण्डव्य, पिंगल, जनाश्रय, सैतव, श्रीपादपूज्य तथा जयदेव के नाम छन्दःशास्त्र के ग्रन्थकर्ता रूप से उल्लिखित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त यति मानने वाले और न मानने वाले प्राचीन आचार्यों की दो परम्पराओं का समुल्लेख विशेषतः महत्त्वशाली है—

(१) पिंगल, (२) वसिष्ठ, (३) कौण्डिन्य, (४) कपिल तथा (५) कम्बल-मुनि—यति की मान्यतावादी परम्परा, (६) भरत, (७) कोहल, (८) माण्डव्य, (९) अश्वतर, (१०) सैतव—यति की अमान्यतावादी परम्परा।

वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गल-वसिष्ठ-कौण्डिन्य-कपिल-कम्बलमुनयः।
नेच्छन्ति भरत-कोहल-माण्डव्याश्वतर-सैतवाद्याः केचित्॥

छन्दोऽनुशासन, १ अधिकार, १३ पद्य।

इन आचार्यों में से अनेक नवीन हैं जिनके छन्दोविषयक ग्रन्थों की छानबीन आवश्यक है।

कर्ता[1] (अज्ञात) = रत्नमञ्जूषा

अज्ञातकर्तृक रत्नमञ्जूषा नाम्नी लघुकाय पुस्तक छन्दःशास्त्र के इतिहास में अनेक नवीनताओं के कारण अपना महत्त्व रखती है। मूलग्रन्थ सूत्रों में है जिसके ऊपर किसी अज्ञातनामा विद्वान् का भाष्य है। विषयप्रतिपादन में भी पिंगल का सादृश्य तथा प्रभाव प्रतीत होता है। पिंगल से सादृश्य होने पर भी कई बातों में मौलिक भेद है। जैन होने के नाते सूत्रकार वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत नहीं करता। मूल ग्रन्थकार के जैन होने के स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते, परन्तु भाष्यकार तो निश्चित रूप से जैन हैं। भाष्य के मंगल श्लोक में वीर (महावीर) की स्तुति होने से भाष्यकार का जैनत्व स्पष्टतः सिद्ध है। उदाहरणों में बहुस्थलों पर (जो भाष्यकार की ही रचना प्रतीत होते हैं) 'जिन' की स्तुति तथा जैनमत के तथ्य उपलब्ध होते हैं।

---

1. सभाष्य मञ्जूषा का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने डा० वेलणकर के सम्पादकत्व में किया है। मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला—संस्कृत ग्रन्थांक ५, १९४९ ई०।

कुल ८५ उदाहरणों में से ४०. उदाहरण मुद्रा द्वारा अपने छन्द का परिचय देते हैं। करीब २५ उदाहरण सामुद्रिक का उल्लेख करते हैं और सबमें मुद्रा द्वारा ही छन्द प्रतीत कराया गया है।

रत्नमञ्जूषा भी पिंगल के समान ही अष्टध्यायी है जिसमें वैदिक छन्दों को छोड़कर विषय का प्रतिपादन सामान्यतः सदृश है। परन्तु दोनों में विभेद चिह्न-विषयक है। पिंगल ने वर्णवृत्त में छन्दोवोध के लिए त्रिक का प्रयोग किया है जो संख्या में आठ है और व्यञ्जन ही है (भ, ज, स आदि)। यह ग्रन्थकार त्रिक को स्वीकार करता है, परन्तु चिह्न वदल देता है। चिह्नों के दो वर्ग हैं—व्यञ्जनात्मक तथा स्वरात्मक। यथा पिंगल का 'म' यहाँ 'क्' अथवा 'आ' है उसी प्रकार पिंगल का सर्वलघु 'न' यहाँ 'ह' या 'इ' है, आदि।

मात्रावृत्तों में पिंगल के अनुसार ही चतुर्मात्रा वर्ग का उल्लेख किया गया है। संस्कृत में मात्रावृत्तों की संख्या बहुत थोड़ी है और इनमें चतुर्मात्रा वर्ग हो लिये गए हैं। चतुर्मात्रा वर्ग लघु और दीर्घ वर्णों के विभिन्न प्रयोगों के आधार पर पाँच प्रकार का है। ग्रन्थकार ८४ वर्णवृत्तों का लक्षण-निर्देश करता है। इसको गायत्री से उत्कृति तक २१ वर्गों में बाँटा गया है। ८४ में से करीब २१ छन्दों से पिंगल और केदार दोनों ही अपरिचित हैं। ग्रन्थकार का विभाजन हेमचन्द्र द्वारा पुरस्कृत जैन परम्परा को ही मान्य है। यह भी ग्रन्थकार को जैनमतावलम्बी सिद्ध करने का नया प्रमाण है। सूत्रों की संख्या प्रति-अध्याय क्रमशः इस प्रकार है—२६, २८, २८, २०, ३७, ३८, ३४, १६। सम्पूर्ण योग है २३० (दो सौ तीस केवल)। ग्रन्थ-रचना का समय हेमचन्द्र से पूववर्ती लगभग ११ शती में मानना उचित प्रतीत होता है।

केदारभट्ट—वृत्तरत्नाकर[1]

मध्ययुगीन छन्दःशास्त्रियों में केदारभट्ट सचमुच सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। छन्दों के वर्णन में न तो उन्होंने विस्तार किया है और न संक्षेप ही रखा है। उनका विवरण मध्यम कोटि का है। संस्कृत कवियों द्वारा वहुशः प्रयुक्त छन्दों का विवेचन उनके ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। वृत्तरत्नाकर में छः अध्याय हैं और ग्रन्थ का प्रमाण है १३६ (एकसौ छत्तीस) श्लोक। प्रथम अध्याय में संज्ञाविधान—शास्त्रीय संज्ञाओं का निर्देश है। द्वितीय अध्याय में आर्या, गीति, वैतालीय, वक्त्र और मात्रासमक के प्रकरणों के अन्तर्गत क्रमशः इन वर्गों के मात्रिक छन्दों का निरूपण है। तृतीय अध्याय में सम वर्णवृत्तों का विवरण है उक्ता से लेकर उत्कृति जाति तथा दण्डक का भी।

---

१. केवल मूलग्रन्थ के समीक्षात्मक संस्करण के लिये द्रष्टव्य जयदामन्, पृ० ७१–६३।

चतुर्थ अध्याय में अर्धसम वृत्तों तथा पञ्चम अध्याय में विषम वृत्तों का निरूपण है। अन्तिम षष्ठ अध्याय में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि प्रत्ययों का प्रतिपादन है।

छन्दों का लक्षण गणों के द्वारा दिया गया है। यहाँ लक्षण-उदाहरण का एकीकरण ग्रन्थ को संक्षिप्त बना देने में मुख्य हेतु है। समस्त ग्रन्थ पद्यबद्ध है—पिंगल के समान सूत्रबद्ध नहीं है। लघुकाय तथा सुव्यवस्थित होने के कारण यह ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय रहा है। यहाँ तक कि मल्लिनाथ जैसे प्रौढ़ टीकाकार ने भी अपनी व्याख्या में छन्दों के निर्देशार्थ वृत्तरत्नाकर से ही लक्षण उद्धृत किया है। तथ्य तो यह है कि श्रुतबोध तथा वृत्तरत्नाकर ही आज संस्कृत पाठकों को छन्दोबोध करानेवाले मान्य ग्रन्थ हैं। इनमें से श्रुतबोध तो लघुगुरु के निर्देश से लक्षण बतलाता है और वृत्तरत्नाकर गणों के द्वारा। 'वसन्ततिलका' का लक्षण श्रुतबोध में तो लघुगुरु पद्धति द्वारा वसन्ततिलका वृत्त में ही दिया गया है। वृत्तरत्नाकर इस कार्य के लिए गण-पद्धति का उपयोग करता है। यथा—

त । भ । ज । ज । ग. ग.
उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः

वसन्ततिलका १४ वर्णों का वृत्त है जिसमें क्रमशः तभज ज चार गण होते हैं तथा अन्त में दो गुरु होते हैं। जिस पाद में यह लक्षण बतलाया गया है वह वसन्ततिलका ही है। इसी को केदारभट्ट ने 'लक्ष्यलक्षणसंयुतं छन्दः' कहा है (१।२)।

केदारभट्ट का देशकाल

उनके न देश का पता है और न काल का। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से इतना ही पता चलता है कि कश्यप वंश में इनके पिता उत्पन्न हुए थे। नाम था पव्वेक। वे शैव सिद्धान्त के वेत्ता थे। फलतः ये दक्षिण भारत के निवासी प्रतीत होते हैं। वृत्तरत्नाकर की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति का (जो जैसलमेर के पुस्तकालय में सुरक्षित है) लेखनकाल सं० ११९२ (= ११३५ ई०) है। वृत्तरत्नाकर के सर्वप्राचीन टीकाकार त्रिविक्रम का समय ११ शती का उत्तरार्ध है। फलतः केदारभट्ट का समय ११ शती का पूर्वार्ध मानना उचित प्रतीत होता है। केदारभट्ट हेमचन्द्र से निःसन्देह पूर्ववर्ती छन्दःशास्त्री हैं। इसका प्रमाण है सोमचन्द्र की वृत्तरत्नाकर व्याख्या। इस व्याख्या में एक स्थान पर इन्होंने लिखा है कि हेमचन्द्र ने वृत्तरत्नाकर की 'श्रुतिसुख-कृदियमपि जगति' तथा 'निजशिर उपगतवति सति भवति खजा' इन दोनों पंक्तियों पर विचार किया है। यह निर्देश बड़े महत्त्व का है। इसका फलितार्थ है कि वृत्तरत्नाकर हेमचन्द्र से (१०८८ ई० तथा ११७२ ई० के मध्य में विद्यमान) प्राचीन है। अर्थात् वृत्तरत्नाकर का रचनाकाल १००० ई० से भी पूर्वतर होना चाहिए[१]।

---

१. द्रष्टव्य P. K. Gode—Studies in Indian Literary History Vol. I (Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay 1953) PP. 168–170.

टीका-सम्पत्ति

वृत्तरत्नाकर के ऊपर अनेक टीकाओं का प्रणयन होता रहा है जिनमें से अधिकांश हस्तलिखित रूप में ही प्राप्त होती हैं। श्री वेलणकर के कथनानुसार सर्वप्राचीन टीकाकार (१) त्रिविक्रम है। ये राघवाचार्य के पुत्र थे जो गोदावरी-तीरस्थ एलापुर के निवासी, माध्यन्दिन शाखा के अध्येता गौड ब्राह्मण थे। ये त्रिविक्रम अपने को कातन्त्र व्याकरण का पारंगत पण्डित और विशेषत: दुर्गाचार्य की एतद् वृत्ति का विद्वान् बतलाते हैं। सारस्वत व्याकरण पर उन्होंने एक बृहद् वृत्ति की रचना की थी—वे स्वयं बतलाते हैं। वृत्तरत्नाकर की इस वृत्ति का निर्माणकाल सम्भवत: ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

वृत्तरत्नाकर के दूसरे टीकाकार (२) सुल्हण हैं जिनकी टीका का नाम सुकवि-हृदयानन्दिनी है। ये भी दक्षिण भारतीय प्रतीत होते हैं। ये कृष्ण आत्रेय गोत्र के वेलादित्य के पौत्र तथा भास्कर के पुत्र थे। तृतीय अध्याय में या अन्यत्र इन्होंने स्वयं रचित उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों में परमारवंशी किसी विन्ध्यवर्मा राजा की संस्तुति की गई है। वृत्ति की रचना का काल १२४६ विक्रमी (=११८९ ई०) है इस वृत्ति में 'जयदेवछन्द:' के निर्माता जयदेव का श्वेतपट जयदेव नाम से उल्लेख किया गया है जिससे जयदेव का जैनमतावलम्बी होना स्वतः सिद्ध है।

वृत्तरत्नाकर के तृतीय टीकाकार (३) सोमचन्द्र गणि हैं जिन्होंने अपनी टीका की रचना सं० १३२९ (=१२७२ ई०) में की। ये श्वेताम्बर जैन थे—देवसूरि गच्छ के मंगलसूरि के शिष्य। ये हेमचन्द्र के छन्दोऽनुशासन से तथा इसकी वृत्ति छन्दश्चूडामणि से उदाहरणों को उद्धृत करते हैं और कभी-कभी सुल्हण से भी इन्हें उद्धृत करते हैं। समय त्रयोदश शती का उत्तरार्ध।

१६वीं शती से वृत्तरत्नाकर की लोकप्रियता और भी अधिक बढ़ी। इस शती से व्याख्याओं की बाढ़-सी आ गयी। इस शती के प्रधान टीकाकार (४) रामचन्द्र विबुध हैं। ये बौद्ध भिक्षुक थे जो भारत से लंका गये थे। इस टीकावाले मूल को हम सिंघली बौद्ध वाचना का प्रतिनिधि मान सकते हैं। रामचन्द्र भारती मूलत: बंगाली ब्राह्मण थे जो लंका गये। वहाँ वे पराक्रम बाहु षष्ठ (१४१० ई०–१४६२ ई०) के द्वारा बौद्धधर्म में दीक्षित किये गए। उनकी उपाधि 'बुद्धागम-चक्रवर्ती' थी। डा० बेंडल के कथनानुसार ये महायान के विशेषज्ञ थे—उस महायान के जो थेरवादी लंका में अज्ञात ही था। इन्होंने १४५५ ई० में वृत्तरत्नाकर की टीका लिखी। (५) समयसुन्दरगणि दूसरे जैन ग्रन्थकार हैं जिन्होंने वृत्तरत्नाकर के ऊपर अपनी 'सुगमा वृत्ति' का प्रणयन १६९४ वि० (=१६३७ ई०) में किया। इस वृत्ति के उदाहरण वे हेमचन्द्र के 'छन्दोऽनुशासन' से देते हैं। सोमचन्द्र तथा समयसुन्दर के

द्वारा निर्दिष्ट वृत्तरत्नाकर को हम जैन सम्प्रदायानुमोदित मूल मान सकते हैं। (६) नारायण भट्ट की टीका प्रकाशित है तथा मूल को समझाने के लिए उपयोगी मानी जाती है। ये काशी के निवासी थे तथा रामेश्वर भट्ट के पुत्र थे। वर्तमान विश्वनाथ जी के मन्दिर की स्थापना नारायण भट्ट के द्वारा बतलाई जाती है। इन्होंने धर्मशास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें 'प्रयोगरत्न' तथा 'त्रिस्थली-सेतु' प्रख्यात माने जाते हैं। टीका का रचनाकाल १६०२ श० सं० = १६८० ई० है। पंचम परिच्छेद में गाथा के अन्तर्गत अनेक प्राकृत छन्दों का लक्षण तथा उदाहरण संगृहीत है। इसके लिए वे मुख्यतया प्राकृत पैंगल के ऋणी हैं। (७) भास्कर की सेतुनाम्नी टीका भी इसी युग से सम्बन्ध रखती है। रचनाकाल १७३२ विक्रमी है (= १६७५ ई०)—नारायणीय टीका से प्रायः पाँच वर्ष पहिले। भास्कर नासिक जिले में त्र्यम्बकेश्वर के निवासी थे। इनके पिता का नाम आपाजी अग्निहोत्री था। इन्होंने सुल्हण के पाठों का खण्डन तथा 'सुधा' नाम्नी किसी अन्य वृत्तरत्नाकरीय व्याख्या का उल्लेख किया है। वाणीभूषण तथा वृत्तमौक्तिक का भी निर्देश है। ये चारों व्याख्यायें सोलहवीं शती में रची गईं।

अन्य व्याख्याओं के रचनाकाल का परिचय नहीं मिलता। (८) जनार्दन की (या जनार्दन विबुध) भावार्थदीपिका रचना १६वीं शती से थोड़े ही पश्चात् प्रतीत होती है। उसका एक हस्तलेख १७११ शाके (= १७८९ ई०) का प्राप्त हुआ है। इन्होंने 'वृत्तप्रदीप' नामक स्वतन्त्र छन्द ग्रन्थ का प्रणयन किया था। नये वृत्तों का इन्होंने उदाहरण स्वयं नहीं बनाया, प्रत्युत सुल्हण तथा हेमचन्द्र से ही उदाहरण उद्धृत किया है। इन्होंने जयदेव को उद्धृत किया है, इसके पश्चात् (९) सदाशिव (१०) श्रीकण्ठ, (११) विश्वनाथ (प्रभा टीका हरिसिंह के सत्कारार्थ विरचित), (१२) कृष्णसार उपनाम वेदेन्द्रभारती (वृत्त-प्रकाशिका टीका) तथा (१३) करुणाकर दास (कविचिन्तामणि नाम्मी व्याख्या) ने भी वृत्तरत्नाकर पर अपनी टीकायें रचीं, परन्तु इनके आविर्भावकाल पता नहीं चलता। अन्तिम दोनों टीकाओं में प्राचीन छन्दःशास्त्री जनाश्रय का तथा उनकी रचना 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' से उल्लेख तथा उद्धरण मिलते हैं। सम्भवतः यह इनकी प्राचीनता का द्योतक हो[१]। (१४) दिवाकर रचित 'वृत्तरत्नाकरादर्श' नाम्नी टीका का

---

१. इन टीकाओं में से केवल दो संख्या ४ तथा ६ निर्णयसागर से प्रकाशित हैं। अन्य केवल हस्तलेख रूप में हैं। इनके लिए विशेष द्रष्टव्य डा० वेलणकर-जयदामन की भूमिका पृष्ठ ४२, ४३ तथा ४९-५३। टीका संख्या १२ तथा १३ के हस्तलेखों के लिए द्रष्टव्य 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' की प्रस्तावना पृष्ठ १-२ (प्रकाशक अनन्तशयन ग्रन्थमाला, १९४९ ई०)।

रचनाकाल १६८४ ई० है। यह अभी इण्डिया आफिस में हस्तलेख रूप में है इसमें छन्दोगोविन्द, छन्दोविचिति, छन्दामञ्जरी, छन्दोमातङ्ग, छन्दोमार्तण्ड, छन्दोमाला, लक्ष्मीधर निर्मित पिंगल टीका तथा वृत्तकौमुदी नामक छन्दोग्रन्थों के नाम निर्दिष्ट हैं[1]।

क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक

'सुवृत्ततिलक'[2] एक प्रौढ़ महाकवि की छन्दःशास्त्र के विषय में दीर्घकालीन अनुभूति का परिचायक ग्रन्थ है। है तो स्वल्पकाय, परन्तु विषय विवरण में महत्त्वशाली है। ग्रन्थ के तीन विन्यास (अध्याय) हैं जिसके प्रथम विन्यास में लक्षण श्लोकों में हैं तथा उदाहरण स्वरचित पद्यों में हैं। दूसरे विन्यास में अन्य कवियों से अवतरण हैं जिनमें छन्दःशास्त्र के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं हो सका है। तीसरे विन्यास में रस तथा वर्ण्यविषयों के साथ छन्दों का उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित किया गया है। छन्द का अपना वैशिष्ट्य है, निजी औचित्य है। वह सर्वत्र जम नहीं सकता। विशेष स्थलों पर ही उसका वैभव खुलता है। यह विन्यास संस्कृत के छन्दों ग्रन्थों में नितान्त अपूर्व है। इस विवरण के पीछे कवि का दीर्घकालीन कविकर्म उत्तरदायी है। क्षेमेन्द्र का यह स्पष्ट मत है कि काव्य में रस तथा वर्णन के अनुसार ही वृत्तों का विनियोग रखना अपेक्षित है[3]। इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए क्षेमेन्द्र ने अनेक अनुभूत बातें कही हैं। जैसे पावस तथा प्रवास के वर्णन के लिए मन्द्राक्रान्त ही योग्यतम वृत्त है[4]। शास्त्रीय तथ्य की रचना प्रसन्न अनुष्टुभ् के द्वारा करनी चाहिए। तभी उससे सर्वोपकारी होने का उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। क्षेमेन्द्र ने विशिष्ट कवियों के विशिष्ट छन्दों का भी उल्लेख किया है जो सर्वात्मना नूतन तथा चमत्कारी सूझ है। कालिदास का सर्वश्रेष्ठ तथा प्रिय वृत्त है मन्दाक्रान्ता। भवभूति की शिखरिणी, राजशेखर का शार्दूलविक्रीडित, भारवि का वंशस्थ, पाणिनि की उपजाति इसी प्रकार के सर्ववैशिष्ट्य-सम्पन्न छन्द है। क्षेमेन्द्र की यह आलोचना बड़ी मार्मिक और यथार्थ है। पाणिनि के कुछ ही पद्य सूक्तिसंग्रहों में उपलब्ध हैं और उनमें उपजाति ही निश्चितरूपेण चमत्कार-कारिणी है। सत्य यह है कि क्षेमेन्द्र प्रथमतः हैं महाकवि और तदनन्तर है छन्दःशास्त्री।

---

१. गोडे स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४६४।

२. काव्यमाला, द्वितीय गुच्छक में प्रकाशित।

३. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
   कुर्वन्ति सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥ ३।६

४. प्रावृट् प्रवास कथने मन्दाक्रान्ता विराजते।
   शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
   येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्ट-सेतुताम्॥ ३।६।

फलतः वे अपनी काव्यानुभूतियों से लाभ उठाये बिना रह नहीं सकते। सुवृत्ततिलक का इसीलिए महत्त्व है। क्षेमेन्द्र काश्मीर के महाकवि थे। समय है ११वीं शती का मध्यकाल (लगभग १०२५ ई०—१०७५ ई० तक[1])।

कालिदास—श्रुतबोध

कालिदास के नाम पर प्रख्यात श्रुतबोध लौकिक छन्दों की जानकारी के लिए सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त प्रचलित छन्दों का वर्णन इसका वैशिष्ट्य है। गणों के नाम तथा रूप का उल्लेख है (पद्य ३), परन्तु गणपद्धति का उपयोग लक्षण-विन्यास के लिए नहीं किया गया है। पद्धति लघुगुरु वाली ही है तथा लक्षण तथा लक्ष्य दोनों का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है। इससे इसकी बालोपयोगिता स्पष्ट है। पूरे ग्रन्थ में ४४ श्लोक हैं। प्रथम मंगलपद्य को छोड़कर सबका सम्बन्ध विषय-प्रतिपादन से है। मात्राछन्दों में आर्या, गीति तथा उपगीति—इन तीन का ही लक्षण है तथा वर्णवृत्तों में ३७ वृत्तों का वर्णन है जिससे दोनों को मिलाकर छन्दों की संख्या ४० है। लोकव्यवहार की दृष्टि की प्रधानता होने से यहाँ न तो वैदिक छन्दों का वर्णन है, न दण्डक और न षट् प्रत्ययों का ही। सुगमता से छन्दों का ज्ञान कराने में श्रुतबोध सचमुच एक सफल प्रयास है। कालिदास के नाम से इसकी प्रसिद्धि इसकी लोकप्रियता की सूचिका है।

हेमचन्द्र[2]—छन्दोऽनुशासन

हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन छन्दोविचिति के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखता है। यह सूत्रबद्ध अष्टाध्यायी है पिंगल की छन्दोविचिति के समान ही। संस्कृत वृत्तों के परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ उतना आवश्यक तथा उपादेय भले ही न माना जाय, परन्तु प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दों की जानकारी के लिए तो यह विश्वकोश सा उपयोगी है। आलोचकों की दृष्टि में हेमचन्द्र संग्राहक के रूप में विशेष महत्त्व रखते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में उनका वैशिष्ट्य विवेचक रूप में दृष्टिगत होता है। प्राचीन छन्दः-शास्त्रियों से उन्होंने सामग्री का संकलन अवश्य किया है, परन्तु उनका मौलिक विवेचन पदे-पदे ध्यान आकृष्ट करता है। इस ग्रन्थ पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी है जो 'छन्दश्चूडामणि' के नाम से प्रख्यात है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (अष्टम सं०, १९६८, वाराणसी) पृष्ठ २७४—२८१।

२. इसका बहुत ही सुन्दर समीक्षात्मक संस्करण श्री वेलणकर ने सम्पादित किया है—सिंघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ४९ (भारतीय विद्या भवन, बम्बई; वि० सं० २०१७)।

ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। मूलग्रन्थ सूत्रों में रचा गया है। प्रथम अध्याय में संज्ञाओं का वर्णन है (१७ सूत्र)। द्वितीय में समवृत्तों का (४०१ सूत्र), तृतीय में अर्धसम-विषम-वैतालीय-मात्रासमक आदि का (७३ सूत्र), चतुर्थ में आर्या-गलितक-खञ्जक-शीर्षक का (९१ सूत्र), पंचम, षष्ठ तथा सप्तम में अपभ्रंश छन्दों का (४२ + ३२ + ७३ = १४७ सूत्र) तथा अष्टम में प्रस्तार आदि षट् प्रत्ययों का विवरण है (१७ सूत्र) इस सामान्य निर्देश से ही ग्रन्थ के शास्त्रीय महत्त्व की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। हेमचन्द्र की विमल प्रतिभा ने प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दों के अन्तर्निविष्ट सौन्दर्य का पूर्णतः आकलन कर उन्हें लोकभाषा के स्तर से उठाकर शास्त्रीय स्तर पर खड़ा कर दिया। अपभ्रंश के कविजन अपने काव्यों की रचना इन छन्दों में किया करते थे, परन्तु उसपर अभी शास्त्र की मुहर नहीं लगने से वे छन्द ग्रामीण तथा अपरिष्कृत माने जाते थे। हेमचन्द्र ने इस त्रुटि को अपने इस विवरण से सद्यः दूर कर दिया। यहाँ कुल मिलाकर सात-आठ सौ छन्दों पर विचार हुआ है। प्राचीन छन्दों के नये भेदों का वर्णन यहाँ किया गया है। विशेष बात यह है कि हेमचन्द्र ने स्वरचित वृत्तों को ही उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है—संस्कृत के प्रसंग में तथा प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दों के उदाहरण के अवसर पर भी। समग्र ग्रन्थ संस्कृत के सूत्रों में निबद्ध है। केवल उदाहरण तत्तद् भाषा में हैं। इससे हेमचन्द्र की काव्यविरचन-चातुरी का भी पूर्ण परिचय सहृदयों को प्राप्त होता है।

मात्रिक छन्दों के नवीन प्रकारों के समुल्लेख से यह ग्रन्थ मात्रिक छन्दों के विवरण तथा विश्लेषण से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण, मौलिक तथा उपादेय है। इस ग्रन्थ के द्वारा हेमचन्द्र ने काव्यविरचन के निमित्त एक विशेष त्रुटि का अपनयन किया है। हैम-सिद्धानुशासन, काव्यानुशासन तथा छन्दोऽनुशासन—ये तीनों ही हेमचन्द्र की प्रतिभा से संभूत अनुशासनत्रयी हैं जिसने क्रमशः शब्द, अलंकार तथा छन्द का नियमन शास्त्रीय पद्धति से कर संस्कृत साहित्य में अपने रचयिता के लिए प्रभूत ख्याति अर्जित की है।

वृत्तरत्नाकर के पश्चाद्वर्ती छन्दःशास्त्रियों के ऊपर प्राकृत छन्दःशास्त्र का थोड़ा प्रभाव लक्षित होता है। इस युग के ग्रन्थों में कतिपय महत्त्वशाली रचनाओं का सामान्य संकेतमात्र यहाँ करना उचित प्रतीत होता है। प्राकृत छन्दशास्त्र से प्रभावित ग्रन्थों में दामोदर मिश्र का **वाणीभूषण** अन्यतम है। ये दामोदर मिश्र दीर्घघोष-कुलोत्पन्न मैथिल ब्राह्मण थे जो मिथिला के राजा प्रसिद्ध कीर्तिसिंह के दरबार से सम्बद्ध थे। ये ही राजा कीर्तिसिंह विद्यापति के अवहट्ट भाषा में निबद्ध 'कीर्तिलता' के

---

१. काव्यमाला में प्रकाशित सं० ५३, १८९५ ई०।

नायक हैं। फलतः दामोदर मिश्र मैथिलकोकिल विद्यापति के सककालीन थे (समय १५ शती)। वाणीभूषण प्राकृत-पैंगल के समान ही दो परिच्छेदों में है— प्रथम में मात्रावृत्तों तथा द्वितीय में वर्णवृत्तों का सोदाहरण विवेचन है। प्राकृत पैंगल का विपुल प्रभाव इस ग्रन्थ के ऊपर है।

गङ्गादास—छन्दोमञ्जरी

गंगादास की छन्दोमञ्जरी अपनी कोमल दृष्टान्तावली तथा सुबोध लक्षणावली के कारण नितान्त लोकप्रिय है। उड़िया लेखक का यह ग्रन्थ अपनी लोकप्रियता में दूसरे उड़िया लेखक विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के समान ही अपने क्षेत्र में ख्यातिप्राप्त है। गंगादास कोमल कविता के रचयिता उड़िया वैष्णव थे। छन्दोमञ्जरी के प्रणेता गङ्गादास के जीवनवृत्त की घटनायें अज्ञात ही हैं। इस ग्रन्थ के मंगलश्लोक से इतना ही प्रतीत होता है कि इनके पिता का नाम वैद्य गोपालदास तथा माता का सन्तोषीदेवी था। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से इनकी अन्य रचनायें (१) अच्युतचरित महाकाव्य षोडश सर्गात्मक, (२) कंसारिशतक (श्रीकृष्ण की स्तुति) तथा (३) दिनेशशतक (सूर्य की स्तुति) सिद्ध होती हैं। गंगादास परम वैष्णव थे—गोपाल के भक्त। इन्होंने अपने पिता की रचना 'पारिजातहरण' नाटक का एक पद्य उद्धृत किया है। अपने 'अच्युतचरित' से भी तथा अपने गोपालशतक से भी उद्धरण दिये हैं। यह 'गोपालशतक' क्या इनका नया कोई ग्रन्थ है अथवा 'कंसारिशतक' का ही नामान्तर है ? इसका समाधान देना कठिन है। इनके गुरु का नाम पुरुषोत्तम भट्ट था जिनके ग्रन्थ 'छन्दोगोविन्द' से इन्होंने एक पद्य उद्धृत किया है। यह [1]पद्य श्वेतमाण्डव्य आचार्य के यतिविषयक मत के समुल्लेख करने से अपना महत्त्व रखता है।

गंगादास के देशकाल का यथार्थतः परिचय अप्राप्त था। प्रसिद्धि है कि वे उत्कल के रहने वाले थे। छन्दोमञ्जरी में उन्होंने वृत्तरत्नाकर (समय १००० ई०) का संकेत किया है। १६८४ ई० में निर्मित वृत्तरत्नाकरादर्श नामक व्याख्या में छन्दोमञ्जरी का निर्देश है। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी (लण्डन) में १६७९ ई० में इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि विद्यमान है। उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी (जन्मकाल १४९० ई०; मृत्युकाल १५६३ ई०) ने छन्दोमञ्जरी को उद्धृत किया है। सम्भवतः नीलमणि की रचना १५५० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। इसमें उल्लिखित होने से छन्दोमञ्जरी १६वीं शती से प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जयदेव भी उद्धृत हैं। यदि

---

१. अयं च श्लोकः छन्दोगोविन्दे मम गुरोः
श्वेतमाण्डव्यमुख्यास्तु नेच्छन्ति मुनयो यतिम्।
इत्याह भट्टः स्वग्रन्थे गुरुर्मे पुरुषोत्तमः ॥२०॥

ये चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव से अभिन्न हों, तो यह ग्रन्थ १३०० ई० के अनन्तर निर्मित हुआ। फलतः छन्दोमञ्जरी का समय १३०० ई० तथा १५०० ई० के बीच में कभी मानना चाहिए[1]। ग्रन्थ में छः स्तवक हैं जिसके अन्तिम स्तबक में गद्यकाव्य तथा उसके भेदों का भी वर्णन उनकी व्यापक दृष्टि का परिचायक है।

छन्दोमञ्जरी की अपेक्षा विषय की दृष्टि से अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ पाण्डित्यमय ग्रन्थ है **वृत्तमौक्तिक**[2] जिसकी रचना विद्वान् लेखक कविशेखर भट्ट चन्द्रशेखर ने कार्तिकी-पूर्णिमा १६७६ वि० सं० (=१६२० ईस्वी) में की। ग्रन्थकार की प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि चन्द्रशेखर भट्ट के अकाल में स्वर्गवासी हो जाने पर इसकी पूर्ति उनके पूज्य पिता लक्ष्मीनाथ भट्ट ने की। चन्द्रशेखर भट्ट का जन्म विद्वान् ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के अनुज रामचन्द्र के वंशज थे। इनके पिता लक्ष्मीनाथ भट्ट थे जिन्होंने प्राकृतपैंगल के ऊपर 'पिंगलप्रदीप' नामक प्रख्यात व्याख्या १६५७ वि० सं० (=१६०० ई०) में लिखी। फलतः छन्दःशास्त्र का विपुल ज्ञान इन्हें पूज्य पिता से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ था। विषय की दृष्टि से वृत्तमौक्तिक छन्दःशास्त्र का बड़ा ही प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण तथा व्यापक ग्रन्थ है। इसमें अनेक उल्लेखनीय वैशिष्टच हैं। वृत्तमौक्तिक के निर्माण से पूर्व वि० सं० १६७३ में ग्रन्थकार ने प्राकृतपिंगल की उद्योत नाम्नी टीका लिखी थी जो केवल प्रथम परिच्छेद पर ही है। वृत्तमौक्तिक के दो खण्ड हैं—प्रथम में मात्रावृत्त का विवरण तथा द्वितीय में वर्णिकवृत्त का विवरण है। मात्रावृत्तों में हिन्दी के छन्दों का विवेचन नवीन है। जैसे सवैया प्रकरण में इसके नाना प्रकारों के लक्षण तथा उदाहरण उपन्यस्त हैं। द्वितीय खण्ड के नवम तथा दशम प्रकरण में विरुदावली तथा खण्डावली का लक्षण दिया है जो सर्वथा अपूर्व है। २९ विरुदावलियों के उदाहरण ग्रन्थकार ने श्रीरूपगोस्वामी के 'गोविन्दविरुदावली' ग्रन्थ से उद्धृत किया है। इस प्रकार संस्कृत के नवीन छन्दों के निरूपण के साथ-साथ हिन्दी छन्दों का निरूपण इसकी उपादेयता का स्पष्ट प्रमाण है।

तैलंगवंशीय कवि-कलानिधि देवर्षि कृष्णभट्ट रचित **वृत्तमुक्तावली**[3] का रचनाकाल वृत्तमौक्तिक से लगभग सवा सौ वर्ष पीछे है। १७८८ सं० से १७९९ सं० के मध्य में कभी इसकी रचना की गयी। इसमें केवल तीन गुम्फ है—(१) वैदिक छन्द, (२) मात्रिक छन्द, तथा (३) वर्णिक छन्द। ग्रन्थ तो है छोटा ही, परन्तु मध्ययुग

---

१. द्रष्टव्य—गोडे-हिस्ट्री, प्रथम भाग पृ० ४६०-४६६।

२. राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित। ग्रन्थ संख्या ७९। महोपाध्याय विनयसागर द्वारा सम्पादित १९६५। उपादेय भूमिका के साथ विभूषित।

३. राजस्थान-पुरातन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक ६९) में प्रकाशित जोधपुर, १९६३।

में उपेक्षित वैदिक छन्दों का वर्णन होने से उपयोगी है। मात्रावृत्तों के वर्णन में प्राकृतपिंगल के द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। काशी के प्रख्यात कवि-चक्रवर्ती म० म० देवीप्रसाद कवि के पिता दुःखभंजन कवि की रचना वाग्वल्लभ[1] अपने विषय में अनुपम ग्रन्थ है। दुःखभंजन कवि महान् तान्त्रिक थे तथा साथ ही साथ प्रतिभाशाली कवि थे। देवीप्रसाद जी ने 'वरवर्णिनी' नामक टीका लिखकर इसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाया। टीका का रचनाकाल वि० सं० १९८५ तथा मूलग्रन्थ का निर्माणकाल १९६० वि० के आसपास। यह बड़ा विशाल ग्रन्थ है। प्रस्तार का आधार लेकर नवीन छन्द भी निर्मित किये गये हैं। विवृत छन्दों की संख्या १५३९ है।

इस प्रकार छन्दःशास्त्र के मान्य ग्रन्थों के अनुशीलन से इसकी महत्ता तथा वैपुल्य का संकेत समालोचक को भलीभाँति मिल जाता है। लघुकाय पुस्तकों की तो बात ही न्यारी है जो सैकड़ों की संख्या में हस्तलेखों में पड़े हैं।

छन्दःशास्त्र का समीक्षण

छन्दःशास्त्र के इस इतिहास पर दृष्टि डालने से अनेक नवीन तथ्यों का आविष्करण होता है। यादवप्रकाश के द्वारा निर्दिष्ट छन्दःपरम्परा पर्याप्तरूपेण प्रामाणिक प्रतीत होती है, परन्तु इससे अतिरिक्त गरुडाम्नाय नाम से एक विभिन्न आम्नाय का उल्लेख भास्करराय ने अपने भाष्यराज में किया है विशेषतः आर्या के प्रसंग में, यहाँ यह आम्नाय उद्धृत है, जिसका तात्पर्य 'गरुडपुराण' से है। आम्नाय के प्रति निष्ठा धारण करना प्रत्येक छन्दःशास्त्री का मुख्य कर्तव्य है। हलायुध ने आम्नाय को अनिवार्य नियम माना है (छन्दःसूत्र ६।३, ४, ७, ९ आदि)।

छन्दःशास्त्र के प्राचीन आचार्यों के मत अनेक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिससे उन मतों की प्रामाणिकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। कुछ आचार्यों के संकेतस्थलों का निर्देश यहाँ संक्षेप में किया जा रहा है—

(१) पाञ्चाल (बाभ्रव्य)	—उपनिदानसूत्र में
(२) यास्क	—उपनिदान, पिंगल, यादवप्रकाश
(३) ताण्डी	—उपनिदान, पिंगल
(४) निदान (सूत्रकार पतञ्जलि)	—उपनिदान
(५) पिंगल	—उपनिदान, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(६) उक्थशास्त्रकार	—उपनिदान

---

१. चौखम्भा कार्यालय से 'काशी संस्कृत सीरीज' में प्रकाशित, ग्रन्थसंख्या १०० वाराणसी, १९३३ ई०।

(७) क्रौष्टुकि —पिंगल, यास्क (निरुक्त ८।२)
(८) सैतव —पिंगल, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(९) काश्यप —पिंगल
(१०) रात —पिंगल, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(११) माण्डव्य[1] — ,, ,, ,,

पिंगल ही इस शास्त्र के जनक हैं। अपने से प्राचीन आचार्यों के विवरणों को अपने अनुभव से पुष्ट कर उन्होंने इस विख्यात ग्रन्थ को लिखकर इस शास्त्र के लिए आधार ग्रन्थ का प्रणयन किया। ऊपर लिखित आचार्यों के स्वतन्त्र ग्रन्थ थे अथवा उनके विशिष्ट मत ही ? इसका अब पता लगाना कठिन है। इन आचार्यों के रचित पद्य कहीं-कहीं टीकाकारों ने उद्धृत कर रखा है और इतिहास की दृष्टि से वह उल्लेख ही हमारे लिए मूल्यवान् निधि है। नारायण भट्ट ने नामतः सैतव रचित एक पद्य उद्धृत किया है[2], जिसे हलायुध ने भी पिंगल के ५।१८ की टीका में उल्लिखित किया है। इसी शैली पर पिंगल ७।८ में उद्धर्षिणी वाला पद्य भी सैतव का ही है। पिंगल के ४।२३ में माडव्य का पद्य सुरक्षित है[3]। इन आचार्यों ने पद्यों को स्वनामाङ्कित करने की पद्धति निकाली थी जो पिछले युग के लेखकों ने भी अपनाया।

छन्दःशास्त्र के पिछले ग्रन्थकारों ने पिंगल को ही अपना आराध्य माना है और उनके क्षुण्ण मार्ग से हटकर चलने का सर्वथा वर्जन किया है। जयदेव, जयकीर्ति तथा केदारभट्ट—ये सब आचार्य पिंगल के ही अनुयायी हैं। अग्निपुराण भी इस श्रेणी से

---

१. माण्डव्य का निर्देश बृहत्संहिता के १०३ अध्याय के तृतीय पद्य में छन्दःशास्त्री के रूप में उपलब्ध होता है—

माण्डव्यगिरं श्रुत्वा न मदीया रोचतेऽथवा नैवम्।
साध्वी तथा न पुंसां प्रिया यथा स्याज्जघनचपला॥

परन्तु इस पद्य की व्याख्या में भट्टोत्पल द्वारा उद्धृत पद्य नितान्त श्रृंगारी हैं। उनका विषय श्रृंगार है, छन्दःशास्त्र नहीं। तो वराहमिहिर ने अपने पद्य में छन्दःशास्त्री माण्डव्य का उल्लेख किया है अथवा किसी अन्य का ?

२. सैतवेन पथाऽर्णवं तीर्णो दशरथात्मजः।
रक्षः क्षयकरीं पुनः प्रतिज्ञां स्वेन बाहुना॥

३. स्निग्धच्छायालावण्यलेपिनी किंचिदवनतघ्राणा।
मुखविपुला सौभाग्यं लभते स्त्रीत्याह माण्डव्यः॥

बहिर्मुख नहीं है। उसमें आठ अध्यायों द्वारा (३२८ अ० से आरम्भ कर ३३५ अध्याय तक) परिभाषा, दैव्य आदि संज्ञा, पादाधिकार, उत्कृति आदि छन्द, आर्या आदि मात्रावृत्त, विषमवृत्त, अर्धसमवृत्त, समवृत्त, प्रस्तार आदि क्रम से विवेचित किये गये हैं। इस पुराण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि पिंगलमत के अनुसार ही छन्दों का लक्षण कहा जावेगा ('छन्दो वक्ष्ये मूलशब्दैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्' ३२८।१) और इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इन अध्यायों में किया गया है। गरुडपुराण के छः अध्यायों में छन्दःशास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है (पूर्वखण्ड के २०७ अ०–२१२ अ०) जिनमें परिभाषा, मात्रावृत्त, समवृत्त, अर्धसमवृत्त, विषमवृत्त तथा प्रस्तार का वर्णन क्रमशः किया गया है। यहाँ कतिपय नवीन छन्दों का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। पिंगल से विशेष भिन्नता नहीं है। भास्करराय इसे ही गरुडाम्नाय के नाम से अभिहित करते हैं। वराहमिहिर की बृहत् संहिता (१०३वाँ अध्याय) में उपलब्ध तथा ईशानदेव (१०म—११ शती) की अद्धति के पूर्वार्धं पटल (अ० १९–२७ तक) में प्राप्त छन्दोवर्णन पिंगलानुयायी है जिससे पिंगल के सार्वभौम प्रभाव की इयत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

पिंगल के एकाधिपत्य की सत्ता होने पर भी तदितरसम्प्रदाय की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। भरत नाट्यशास्त्र का छन्दोवर्णन अनेक बातों में पिंगल से भिन्न है। भरत त्रिक को जानते थे, परन्तु उन्होंने उसका प्रयोग नहीं किया। जानाश्रयी छन्दोविचिति पिंगल की आलोचना करती है और अपने मत का संकेत वृत्ति के आरम्भ में ही वह करती है। यहाँ छन्दों के नाम भी पिंगल से भिन्न हैं। अवान्तरकालीन ग्रन्थकारों में हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ का अंशतः अनुगमन किया। जैन मतावलम्बी होने पर भी जयदेव पिंगल के मत के मानने से विरत नहीं हुए। उनका ग्रन्थ ही पिंगल के समान अष्टाध्यायी नहीं है, प्रत्युत उसमें वैदिक छन्दों का भी विवरण है जो जैन ग्रन्थकार की रचना में अवश्य ही कौतूहलोत्पादक है। छन्दःशास्त्र के विकास में छन्दों की बढ़ोत्तरी संख्या ध्यान देने योग्य है। समवृत्तों की संख्या पिंगल में केवल ७० है, जयदेव में ८०, केदारभट्ट में १०९, तथा हेमचन्द्र में लगभग ३००। इस प्रकार छन्दःशास्त्रियों ने अपने युग में निबद्ध काव्य-नाटकों में प्रयुक्त छन्दों का विवरण अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में निबद्धकर उसे पूर्ण तथा सामयिक बनाने का भरपूर प्रयास किया।

छन्दःशास्त्र के इतिहास में प्रो० अर्नेस्ट वाल्डश्मिट के द्वारा स्थापित बर्लिन एकेडेमी द्वारा प्रकाशित छन्दोविचिति ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है (१९५८ ई०)। ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से लेखक का नाम मित्रधर सिद्ध है जो आम्नाय को सर्वथा अज्ञात है (२।५।२)। मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से इस शताब्दी के

आरम्भ में डा० लूडर्स ने जिन ग्रन्थों के हस्तलेखों का बृहत् संग्रह किया, उनमें से यह अन्यतम है। इसके पत्र छिन्न-भिन्न तथा अस्त-व्यस्त उपलब्ध हुए हैं। इन्हीं पत्रों को सुव्यस्थित कर ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पादक के बहुल परिश्रम तथा दीर्घ अध्यवसाय का सूचक है। ग्रन्थ अभी अपूर्ण ही है, परन्तु प्राप्त अंशों का मूल्य कम नहीं है। सम्पादक का यह कथन कि वराहमिहिर, सुबन्धु तथा दण्डी के द्वारा संकेतित 'छन्दोविचिति' यही प्रकाश्यमान ग्रन्थ है, निरा साहसमात्र है। परन्तु ग्रन्थ है प्राचीन। चतुर्थ शती के उत्तरार्ध में (३५० ई०–४०० ई० लगभग) इसकी निर्मिति मानना प्रमाणविहीन नहीं माना जा सकता। इस ग्रन्थ के दृष्टान्त नाट्यशास्त्र में दिये गए छन्दों के उदाहरणों से मिलते हैं, यह एक ध्यातव्य वैशिष्ट्य है।

जानाश्रयी का मात्रावृत्तों का विवरण पूर्वापेक्षया विशद तथा पूर्ण है। षष्ठ शती के इस ग्रन्थ में सूत्र तथा वृत्ति दोनों की सत्ता है, परन्तु वृत्ति उतनी विशद नहीं है जितना प्राचीन ग्रन्थ के रहस्यों के आविष्करण के लिए आवश्यक है। वृत्तरत्नाकर वस्तुतः छन्दःशास्त्र की जानकारी के लिए एक आदर्श ग्रन्थ है। प्राचीन युग में वैदिक साहित्य का अध्ययन लोकप्रिय था। इसलिए वैदिक छन्दों का विवरण देना अनिवार्य था और इसीलिए पिंगल ने वैदिक छन्दों के विवरण से अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया। परन्तु मध्ययुग में आते-आते वैदिक छन्दों का अभ्यास सामान्य पाण्डित्य के लिए आवश्यक न रहा और इसीलिए केदारभट्ट ने अपने 'वृत्तरत्नाकर' में उस अंश की उपेक्षा की। लौकिक छन्दों का ही विवरण, परन्तु शोभन विवरण, प्रस्तुत किया। छन्द का लक्षण उसी छन्द में देकर लक्ष्य लक्षण का सुन्दर समन्वय किया गया है जो पिछले युग के लिए एक अनुकरणीय आदर्श बन गया। भास्करराय (१८वीं शती का पूर्वार्ध) ने इस शास्त्र की शास्त्रीय मर्यादा का रक्षण अपने अनेक ग्रन्थों में—मौलिक तथा व्याख्या ग्रन्थ में—बड़ी सुन्दरता से किया।

अभिनववृत्तरत्नाकर की रचना भास्कर के द्वारा बतलाई जाती है, परन्तु यह वृत्तरत्नाकर की व्याख्या है अथवा शास्त्र का अभिनव समीक्षात्मक परीक्षण है ? यह यथार्थतः नहीं कहा जा सकता। पिछले युग के छन्दःशास्त्री स्वीकृत सिद्धान्त का ही विवरण देने में अपने को कृतकृत्य मानते थे। उन्होंने छन्दःशास्त्र के मौलिक तथ्यों की छान-बीन नहीं की। टीकाकारों ने नये उदाहरणों द्वारा मूलग्रन्थ के लक्षणों को सरल-सुबोध बनाया—विशेषकर अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति में ये उदाहरण विरचित हैं। हलायुध ने पिंगलसूत्रों की अपनी वृत्ति में आश्रयदाता मुञ्जराज के विषय में अनेक पद्यों को दृष्टान्तरूपेण उपस्थित किया (द्रष्टव्य—४।१९. ४।२०; ५।२४, ३६, ३७ सूत्रों की वृत्ति)। लोकप्रिय छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में होता रहा। ऐसे ग्रन्थों में गंगादास की छन्दोमञ्जरी पूर्वीय भारत में बहुत प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार उत्कलदेशीय था और इनकी यह छन्दोमञ्जरी

अन्य उत्कलदेशीय ग्रन्थकार विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के समान ही लोकप्रिय रही है। महाकवि कालिदास के नाम से प्रख्यात श्रुतबोध साहित्यिक पुट के साथ संवलित होने से नितान्त मनोरम है। श्रुतबोध कालिदास की रचना इस कारण भी नहीं हो सकता कि यहाँ बड़े छन्दों में यति पर आग्रह है (जैसे वसन्ततिलका में आठ तथा छ वर्णों पर मति है) जो कवि के अभ्यास से विरुद्ध है। **छन्दोरत्नाकर** (वृत्तरत्नाकर के समान, परन्तु प्रख्यात मात्रावृत्तों का संग्राहक), **छन्दःकौस्तुभ**, **छन्दोमाणिक्य** तथा **वृत्तरत्नावली** ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनका प्रचलन बंगाल के विभिन्न भागों में विशेष रूप से था। **छन्दोरत्नावली** ऐसा ही महाराष्ट्रीय विद्वान् 'मनोहर' कुल में उत्पन्न रघुनाथ पण्डित के द्वारा निर्मित ग्रन्थ है। रघुनाथ के पितामह का नाम कृष्ण पण्डित था और पिता का भीकं भट्ट। **वैद्यविलास** की रचना उनकी प्रसिद्ध है। 'कविकौस्तुभ' नामक अलंकार ग्रन्थ का तथा उसमें निर्दिष्ट छन्दोरत्नावली का प्रणयन उन्हीं ने किया था। समय १७ शती का अन्तिम चरण (१६७५ ई०–१७०० ई०[१])।

प्राकृत छन्दःशास्त्र

संस्कृत छन्दःशास्त्र के समान प्राकृत के मर्मज्ञ विद्वानों ने प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त छन्दों के विवरण के लिए अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। ऐसे ग्रन्थलेखन का आरम्भ कब से हुआ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। अनेक ग्रन्थों के लिखने का समय ही अनुमान के आधार पर स्थिर किया गया है। इस शास्त्र को अन्धकार से प्रकाश में लाने का श्रेय बम्बई विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष ख्यातनामा विद्वान् श्री एच० डी० वेलणकर को है जिन्होंने इस विषय के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन बड़ी विद्वत्ता तथा परिश्रम से किया है। साथ ही साथ अपभ्रंश भाषा में प्रयुक्त छन्दों की उन्होंने गहरी छानबीन की है। इस विषय के वे निश्चितरूपेण पथ-प्रदर्शक हैं। उन्हीं के लेखों से यहाँ सामग्री ली गयी है। इन ग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ है—

(१) नन्दिताढ्य का गाथा लक्षण[२]। इस ग्रन्थ में वर्णित छन्द बड़े प्राचीन हैं और वे केवल जैन आगमों में ही उपलब्ध होते हैं। उस युग में प्राकृत भाषा विद्वानों के आदर की पात्र थी, परन्तु अपभ्रंश हेय माना जाता था। लेखक ने इसका निर्देश

---

१. विशेष द्रष्टव्य—गोडे स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३, पृष्ठ ३६-४२ (पूना, १९५६)।

२. डा० वेलणकर द्वारा सम्पादित भण्डारकर शोध संस्थान पत्रिका भाग १२ (१९३२ १३) में।

जिस गाथा में किया है उसका अर्थ यह है कि—जैसे वेश्याजनों के हृदय में स्नेह नहीं होता और कामुकजनों में सत्य नहीं होता, वैसे ही नन्दिताढ्य की प्राकृत में 'जिह, किह, तिह' जैसे शब्द नहीं मिलेंगे। ये तीनों शब्द निःसन्देह अपभ्रंश के ही शब्द हैं[1]। फलतः लेखक की दृष्टि में अपभ्रंश भाषा ही निरादृत थी उस युग में। सम्पादक की सम्मति है कि इस घटना से इसे ईस्वी की आरम्भिक शताब्दियों में विरचित होने की सम्भावना है। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर १४ छन्दों का विवरण है, परन्तु नाम से जैसा द्योतित होता है गाथा का विशेष प्रकार यहाँ व्याख्यात और उदाहृत है। प्रथमतः गाथा का सामान्य लक्षण दिया गया है और तदनन्तर उसके नाना प्रभेद जैसे पथ्या, विपुला, सर्वचपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उद्गीति, उपगीति का विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ में संस्कृत छन्दःपरम्परा का केवल एक ही वर्णिक छन्द संकेतित है—सिलोय (=श्लोक) जो प्राकृत-अपभ्रंश भाषा के कवियों द्वारा भी प्रयुक्त होता है।

(२) प्राकृत छन्दों का द्वितीय प्राचीन ग्रन्थ **वृत्तजाति-समुच्चय** को मानना सम्भवतः ठीक होगा। इसका कर्ता 'विरहाङ्क' नाम से अंकित कोई 'कइसिट्ठ' (कविश्रेष्ठ) है। इसमें शिष्ट प्राकृत भाषा के द्वारा संस्कृत छन्दों का न्यून, परन्तु प्राकृत का विशेष विस्तृत निरूपण है, अपभ्रंश भाषा के भी अनेक छन्दों का भी वर्णन है। यह ग्रन्थ छः नियमों (अर्थात् परिच्छेदों) में विभक्त है। प्रथम तथा द्वितीय नियम में प्राकृत छन्दों का नाम निर्देश तथा वर्णन है। तृतीय नियम में द्विपदी छन्द के ५२ प्रकारों का, चतुर्थ नियम में गाथा छन्द के २६ प्रकारों का, पञ्चम नियम में संस्कृत के ५२ वर्णवृत्तों का सोदाहरण प्रतिपादन संस्कृत भाषा में दिया है। षष्ठ नियम में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, लघुक्रिया, संख्या और अध्वान नामक ६ प्रत्ययों का लक्षण बतलाया गया है। किसी चक्रपाल के पुत्र गोपाल ने इसपर टीका लिखी है। टीकाकार ने पिंगल, सैतव, कात्यायन, भरत, कम्बल तथा अश्वतर को नमस्कार किया है जो प्राचीन काल के छन्दःशास्त्र के रचयिता निश्चयेन थे। ग्रन्थकार राजस्थान का निवासी ज्ञात होता है, क्योंकि उसने अपभ्रंश छन्दों का वर्णन करते समय उपशाखाभूत 'आभीरी' और 'मारवी' अथवा 'मारुवाणी' का नामनिर्देश किया है। इसके विद्वान् सम्पादक डा० एच० डी० वेलणकर की सम्मति में[2] इसका समय षष्ठ तथा अष्टम शती के बीच में कभी होना चाहिए। इसका हस्तलेख ११९२ संवत्

---

१. जह वेसाजण नेहो, जह सच्चं नत्थि कामुयजणस्स।
तह नंदियड्ढभणिये जिह किह तिह पाइए नत्थि॥ पद्य ३१

२. प्रकाशन राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ग्रन्थांक संख्या ६१, १९६२ ई०।

(= ११३५ ई०) है। अतएव ग्रन्थकार को इससे दो तीन सौ वर्ष प्राचीन होना चाहिए। इस ग्रन्थ में दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो वह 'यति' सम्बन्धी उल्लेख कहीं नहीं करता। इसका तात्पर्य है कि वह उन छन्दःशास्त्रियों की कोटि में आता है जो छन्दों में 'यति' को आवश्यक अंग नहीं मानते। दूसरे संस्कृत के वर्णिक छन्दों के लक्षण में वह कहीं नगण, मगण आदि वर्णिक गणों का जिक्र नहीं करता।

(३) महाकवि स्वयंभू रचित 'स्वयंभू छन्द'[1] इससे अवान्तरकालीन रचना है। अपभ्रंश 'पउमचरिउ' के प्रख्यात लेखक स्वयंभू महाकवि का समय नवम-दशम शती का काल माना जाता है। कवि ने अपने इस छन्दःशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत के सुप्रसिद्ध तथा बहुचर्चित छन्दों का प्रतिपादन किया ही है, परन्तु अपभ्रंश के छन्दों का विस्तार से वर्णन कर उस युग के विकसनशील छन्दों के अनुशीलन की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इस ग्रन्थ के कितने ही छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' में उपलब्ध होते हैं, जिससे इसकी प्रामाणिकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। यदि छन्दःशास्त्री स्वयंभू 'पउमचरिउ' के प्रणेता महाकवि स्वयंभू से भिन्न भी हों (जैसा अनेक विद्वान् मानते हैं), तो भी इनका समय अनुमानतः १०वीं शती से पीछे का नहीं हो सकता। स्वयंभू ने इसमें ५८ कवियों के उदाहरण दिये हैं, जिनमें १० अपभ्रंश कवि हैं। इन अपभ्रंश कवियों में से गोविन्द तथा चतुर्भुज विशेष प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। तीन अध्यायों में संस्कृत के वृत्त वर्णित है तथा अवशिष्ट पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छन्दों का विवरण है। इस ग्रन्थ के अनेक वैशिष्टय हैं। एक तो यह है कि अनेक प्राकृत कवियों द्वारा प्राकृतभाषानिवद्ध संस्कृत वर्णिक छन्दों के उदाहरण दिये गये हैं। यह नयी बात है।

(४) राजशेखर का छन्दःशेखर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं के छन्दों का विवरण प्रस्तुत करता है। आरम्भ के चार अध्यायों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के छन्दों का प्रतिपादन है और अन्तिम पञ्चम अध्याय में अपभ्रंश छन्दों का विवेचन है। कर्ता ने ग्रन्थ में अपना परिचय एक पद्य में दिया है[2], जिसके अनुसार

---

१. डा० वेलणकर द्वारा सम्पादित राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित (ग्रन्थांक ३७, १९६२)।

२. यस्यासीत् प्रपितामहो यस इति श्रीलाहटस्वार्यक-
तातष्ठक्कुर दुद्दकः स, जननी श्रीनागदेवी स्वयम्।
स श्रीमानिह राजशेखरकविः श्रीभोजदेवप्रियं
छन्दः शेखरमार्हतोऽप्यरचयत्, प्रीत्यै स भूयात् सताम्॥

—बाम्बे रायल ए० सो० जर्नल १९४६, पृ० १४।

वह यश का प्रपौत्र, लाहट का पौत्र तथा दुद्दक का पुत्र था। उसकी माता का नाम नागदेवी था। उसने अपने ग्रन्थ को भोजदेव का प्रिय बतलाया है। यह भोजदेव सम्भवतः धराधीश भोजराज (१००५ ई०–१०५४ ई०) प्रतीत होता है, जिसका लेखक समसामयिक जान पड़ता है। अतः उसका समय एकादश शती का पूर्वार्धं प्रतीत होता है। ग्रन्थकार 'आर्हत' अर्थात् जैन था[१]। 'छन्दःशेखर' के ऊपर 'स्वयंभू-छन्दस्' का प्रचुर प्रचुर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि दोनों में वर्णन का क्रम, दृष्टान्त आदि समान ही हैं। काल की दृष्टि से यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' से प्राचीन है[२]।

(५) हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन अपने क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। व्याकरण के सदृश इस ग्रन्थ में भी संस्कृत वृत्तों का प्रथमार्ध में और प्राकृत-अपभ्रंश छन्दों का विवरण उत्तरार्ध में दिया गया है। हेमचन्द्र ने अपने युग तक के प्रचलित समस्त प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध प्राकृत और अपभ्रंश छन्दों का विस्तार से विवेचन किया है तथा स्वयंरचित उदाहरणों से उन्हें उदाहृत किया है। यहाँ शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। फलतः सम्भावनीय छन्दः प्रभेदों को ग्रन्थ में रखने का अनुपम प्रयास है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। साढ़े तीन से अधिक अध्यायों में संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का विवरण है। चतुर्थ अध्याय के उत्तरार्ध में प्राकृत छन्दों का विवेचन है। इन छन्दों में मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया गया है—आर्या, गलितक, खञ्जक तथा शीर्षक। पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में अपभ्रंश के छन्दों का सामान्य-रूप तथा उनके नाना प्रभेद उदाहरणों के साथ दिये गये हैं। अन्तिम अध्याय में छन्दःसम्बन्धी एक आवश्यक विषय का प्रतिपादन है। हेमचन्द्र अपभ्रंश भाषा के विशेषज्ञ थे—यह तो तथ्य है। जिस प्रकार उनके व्याकरण में अपभ्रंश भाषा का विशद निरूपण है तथा देशी नाममाला में देशी शब्दों का विशद अर्थ-प्रतिपादन है, उसी प्रकार यह छन्दोग्रन्थ भी अपभ्रंश के छन्दों का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है।

---

१. यह जैन राजशेखर तिलकराज सूरि के शिष्य उस राजशेखर से भिन्न है, जिसने 'वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध' का निर्माण किया था (प्र० गायकवाड़ ओ० सी० बड़ौदा, १९१७) 'प्रबन्धकोश' (१३४९ ई०) के रचयिता राजशेखर से भी वह भिन्न हैं, जिन्होंने इस कोश में २४ महापुरुषों के चरित्र का वर्णन किया है। छन्दःशास्त्री राजशेखर इन दोनों से भिन्न और प्राचीन प्रतीत होता है।

२. ग्रन्थ का प्रकाशन डा० वेलणकर ने बा० ब्रा० रा० ए० सो० के जर्नल १९४६ में किया है।

३. प्रकाशक देवकरणमूल जी, बम्बई, १९१२।

(६) छन्दोवर्णन परक कविदर्पण[1] ग्रन्थ किसी युग में इतना लोकप्रिय था कि जिनप्रभ ने नन्दिषेण रचित 'अजित शान्ति स्तव' की अपनी टीका में मूलग्रन्थ के छन्दों का विवरण देते समय हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' के स्थान पर 'कविदर्पण' का ही उपयोग किया है। कविदर्पण स्वयंभूछन्द की अपेक्षा बहुत पीछे की रचना है। जिनप्रभ की पूर्वोक्त टीका (रचनाकाल १३६५ संवत् = १३०८ ई०) में उद्धृत होने से यह ग्रन्थ निःसन्देह तेरहवीं शती के मध्यकाल से पूर्वकाल की कृति है। फलतः इसका समय १२वीं शती में मानना अन्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। कविदर्पण के छहों उद्देश्यों में छन्दःशास्त्र के नियम, भेद-उपभेद का वर्णन दिया गया है—विशेषतः प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाना छन्दों का। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी ध्यातव्य है। इसमें ग्रन्थकार ने भीमदेव, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि अणहिलपुर के प्रख्यात राजाओं के स्तुतिपरक पद्यों को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। यह किसी अज्ञातनामा लेखक की रचना है, क्योंकि कविदर्पण के लेखक का पता नहीं चलता। यह प्राकृत-भाषा में निबद्ध है तथा इसकी संस्कृत वृत्ति भी उपलब्ध है। डा० वेलणकर ने मूल लेखक तथा वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है। मूल लेखक के समय का परिचय हेमचन्द्र के द्वारा उल्लिखित होने से लगता है कि वह हेमचन्द्र से पश्चाद्वर्ती था—१३वीं शती का ग्रन्थकार। टीकाकार ने हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' से अनेक लक्षण तथा उदाहरण उद्धृत किये हैं तथा एक अप्राप्य छन्दोग्रन्थ 'छन्दःकन्दली' से भी कुछ पद्य उद्धृत किये गये हैं। अपभ्रंश छन्दों के वर्गीकरण के लिए यहाँ एक नयी पद्धति अपनायी गयी है।

(७) प्राकृतपैङ्गल की लोकप्रियता इतःपूर्व वर्णित समस्त छन्दोग्रन्थों से बहुत अधिक है। तथ्य तो यह है कि यह महनीय ग्रन्थ अपनी प्रामाणिता तथा उपादेयता में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें दो प्रकरण हैं—मात्रावृत्त प्रकरण तथा वर्णवृत्त प्रकरण। यह संग्रह-ग्रन्थ है लक्षणों तथा उदाहरणों दोनों की दृष्टि से। इस ग्रन्थ का छन्दःशास्त्रीय दृष्टिकोण शास्त्रीय होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से सम्भाव्यमान छन्दों का यहाँ संग्रह नहीं है, प्रत्युत व्यवहारोपयोगी छन्दों की ही यहाँ विवेचना है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी है कि पुरानी हिन्दी के साहित्य में व्यवहृत छन्दों के स्वरूप-ज्ञान के लिए इसका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इसकी विपुल टीकासम्पत्ति इसके महत्त्व तथा उपादेयता का प्रत्यक्ष लक्षण है। इन टीकाकारों का कालक्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

(क) रविकर—पिंगलसारविकाशिनी

उपलब्ध टीकाओं में प्राचीनतम होने का इसे गौरव प्राप्त है। यह उस समय की

---

१. सम्पादक डा० वेलणकर (प्रकाशक राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ग्रन्थ-संख्या ६२, १९६२)।

रचना है जब अवहट्ट रचनायें मजे में समझी जाती थीं, क्योंकि उन अंशों की तो न संस्कृत छाया ही है, न व्याख्या ही। यह दशा १४ शती में प्रतीत होती है। यह जीवित काव्यशैली थी जो मजे में समझी जाती थी। व्याख्या टिप्पण रूप में ही है।

(ख) लक्ष्मीनाथ भट्ट—पिंगलार्थप्रदीप

यह दूसरा प्रसिद्ध तथा उपयोगी टीकाकार है। रचनाकाल १६५७ सं० (=१६०० ईस्वी)। टीकाकार ने अपने वंश का परिचय दिया है परन्तु स्थान का संकेत कहीं नहीं है। वह ब्रह्मभट्ट प्रतीत होता है राजस्थान के किसी राजा का आश्रित। वह अपने को रामचन्द्र भट्ट का प्रपौत्र, नारायणभट्ट का पौत्र तथा रामभट्ट का पुत्र बतलाता है। निर्णयसागर से प्रकाशित।

(ग) यादवेन्द्र—पिंगलतत्त्वप्रदीपिका

यह बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है इसका हस्तलेख १६९६ शाके का है (=१६१८ ई०) और इसलिए टीका का निर्माण १७ शती से प्राचीन है। यादवेन्द्र दशावधान भट्टाचार्य के नाम से प्रख्यात थे। फलतः वे बंगाली ब्राह्मण थे।

(घ) कृष्ण—कृष्णीय विवरण

इस विवरण के रचयिता कोई कृष्ण नामक विद्वान् है जिसके देश काल का पता नहीं चलता। यह भी बिब्लोथिका इंडिका वाले संस्करण में पूर्व टीका के साथ प्रकाशित है।

(ङ) वंशीधर—पिंगलप्रकाश टीका

वंशीधर काशी के निवासी थे। इनके पिता-पितामह बड़े विद्वान् थे। पिता का नाम था कृष्णदेव तथा पितामह का जगदीश। टीकाकार का उल्लेख है कि उसने अपने पिता से प्राकृत पैंगलम् का अध्ययन किया था[१]। टीका-समाप्ति का काल है १६९९ सं०, जो सम्भवतः विक्रमी प्रतीत होता है (=१६४२ ईस्वी) बिब्लोथिका सं० में प्रकाशित।

(च) विश्वनाथ पञ्चानन—पिंगल टीका

पुष्पिका में टीकाकार ने विद्यानिवास भट्टाचार्य अपने पिता का नाम लिखा है। इस निर्देश से उसके व्यक्तित्व का पूरा परिचय मिलता है। न्यायसूत्रों की व्याख्या

---

१. प्राकृत पैंगलम् का प्रकाशन तीन स्थानों से हुआ है—(१) निर्णयसागर प्रेस से पूर्वनिर्दिष्ट द्वितीय टीका के साथ; (२) डा० चन्द्रमोहन घोष के सम्पादकत्व में बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ते से प्रकाशित (१९०२); (३) डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा काशी से प्रकाशित दो भागों को में, १९६२।

तथा प्रसिद्ध 'न्याय-मुक्तावली' के रचयिता से वह भिन्न नहीं है। उसका समय है सप्तदशी का मध्यकाल।

'प्राकृतपैंगलम्' के रचयिता का नाम तथा उसके देशकाल सब ही अज्ञात हैं। ग्रन्थ की अन्तरंगपरीक्षा से उसके सम्भाव्य काल का संकेत लगाया जा सकता है। संग्राहक ने छन्दों के उदाहरण के लिए अनेक कवियों के पद्यों को उद्धृत किया है, जिनमें से कुछ तो विश्रुत हैं, परन्तु अनेक अश्रुत अथवा अल्पश्रुत हैं। इन्हीं उद्धरणों के साक्ष्य पर समय का निर्देश किया जा सकता है। गाथासप्तशती, सेतुबन्ध (महाकाव्य), कर्पूरमञ्जरी (सट्टक) प्राकृत साहित्य के विश्रुत रचनायें हैं जिनसे एकाधिक पद्यों का यहाँ उद्धरण है। राजा डाहलकर्ण (समय १०४०–८० ई०) के प्रशंसात्मक पद्यों के अतिरिक्त काशी के गहडवाल राजा जयचन्द्र (१०७०–१०९४ ई०) के महामन्त्री विद्याधर की रचनायें यहाँ उपलब्ध होती है। हम्मीर की प्रशंसा आठ पद्यों में मिलती है। यह तो सर्वप्रख्यात घटना है कि प्रसिद्ध किला रणथम्भोर का मालिक राजा हम्मीर ने अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिए अलाउद्दीन खिलजी से लड़ता हुआ १३०१ ई० में वीरगति प्राप्त की। उसको प्रशंसा में जज्जल कवि के द्वारा निर्मित पद्य ग्रन्थ के निर्माणकाल का स्पष्ट द्योतक हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादक की सम्मति में[1] यही जज्जल कवि प्राकृतपैंगल के प्रथम संकलन का रचयिता है और यह कार्य हम्मीर के जीवन-काल के अन्तिम बीस-पचीस सालों के भीतर ही सम्पन्न हुआ था। इसलिए प्राकृतपैंगल के संकलन का काल तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा १४वीं शती का प्रथम चरण मानना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत है। संकलयिता राजपूताने के निवासी भाट या ब्रह्मभट्ट प्रतीत होता है। अतएव यह रचना 'मागध परम्परा' का प्रतिनिधि ग्रन्थ प्रतीत होती है। और इसीलिए यह अपने विषय का सर्वाधिक लोकप्रिय तथा उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है।

(८) रत्नशेखर का छन्दःकोश[2] इससे अवान्तरकालीन रचना माना गया है। यह ७४ पद्यों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है, जिसमें अपभ्रंश के कवियों द्वारा बहुशः प्रयुक्त

---

१. द्रष्टव्य—डा० भोलाशंकर व्यास—प्राकृतपैंगल द्वितीय भाग, पृ० १४–१६ (वाराणसी, १९६२)। डा० व्यास वाले सं० में प्रथम, द्वितीय तथा पञ्चम टीकायें प्रकाशित हैं। इसका द्वितीय भाग भाषाशास्त्रीय और छन्दः-शास्त्रीय अनुशीलन बहुत ही गम्भीर तथा प्रामाणिक है। इस अनुशीलन से इस विवरण लिखने में पर्याप्त सहायता ली गयी है।

२. डा० वेलणकर द्वारा बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल (नवम्बर १९३३) में प्रकाशित।

छन्दों का ही विशिष्ट वर्णन है। इससे ग्रन्थकार के व्यावहारिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इसकी रचना का काल अपभ्रंश की लोकप्रियता का युग है और इस अनुमान की पुष्टि ग्रन्थकार के इस कथन से भी होती है, जिसमें उसने प्राकृत तथा अपभ्रंश को हेय मानने वाले पण्डितों की खासी हँसी उड़ायी है[1]। इसके ऊपर चन्द्रकीर्तिसूरि की टीका १७वीं शती में निर्मित उपलब्ध होती है। रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म पट्टावली के अनुसार वि० सं० १३७२ में हुआ था (= १३१५ ई०)। इसीलिए इनका समय १४ शती का मध्यकाल मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—प्राकृतपैंगल (द्वितीय भाग, पृ० ३८९–३८१)।

कोषविद्या का इतिहास

संस्कृत में कोषों का उदय तथा लक्षण

संस्कृत में कोशविद्या का उदय एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त हुआ। प्राचीन कोश 'निघण्टु' के नाम से विख्यात था। 'कोश' के समान 'निघण्टु' का भी उद्देश्य पूर्णतया व्यावहारिक है। 'निघण्टु' से अभिप्राय उन वैदिक शब्दसंग्रहों से है जिनमें नामपदों के साथ क्रियापदों का भी संकलन एकत्र किया गया है। 'कोष' में केवल नामों का संग्रह है, क्रियाओं का नहीं। नामकोष के अनन्तर परिशिष्ट रूप में अव्ययों के अर्थ का संग्रह इन कोषों में किया गया उपलब्ध होता है। 'निघण्टु' का उद्देश्य कठिन वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने में सहायता पहुँचाना है, । 'कोष' का उद्देश्य कविजनों को काव्यकला के विस्तार करने में सहायता देना होता है। 'निघण्टु' तो केवल नीरस शब्द-संग्रह-मात्र है। 'कोश' की रचना अनुष्टुपों में तथा आर्याछन्दों में विशेषतया की गई है और काव्यकला से सम्बद्ध अनेक कलाओं के शब्दों को प्रस्तुत करने के कारण यह निश्चित है कि ये कोष कविजनों के परिश्रम को हलका करते थे।

कोष दो प्रकार के हैं—(१) समानार्थक कोष, जिनमें शब्दों का संग्रह विषय के क्रम से किया गया है तथा (२) अनेकार्थ या नानार्थ कोष जिनमें एक शब्द के अनेक अर्थों का चयन किया गया है। संस्कृत में लिंग निर्धारण भी एक विषम पहेली है जिसे इन कोषकारों ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ थोड़े में ही हल कर दिया है। कहीं कहीं तो शब्दों के प्रथमान्त प्रयोग से ही उनके लिंग का निर्धारण किया गया है और कहीं कहीं उनके साथ लिंगद्योतक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। ये शब्द 'पुं''नपुंसक,''क्लीब,''स्त्री' आदि हैं। कहीं कहीं दो लिंगों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के साथ 'अस्त्रियाम्' पद से इस विशिष्टता का परिचय दिया गया है। इन कोषों का उद्देश्य आजकल के कोषों के विपरीत निर्देश के निमित्त न होकर कण्ठस्थ करने के लिए है। इसलिए कोषों में शब्दों का चयन अकारादि क्रम से नहीं है। शब्दचयन के अनेक सिद्धान्त हैं। समानार्थ कोषों में विषयों के अनुसार शब्दों का संकलन है जैसे अमर ने स्वर्ग-वर्ग के अन्तर्गत देवों की नामावली रखी है तथा वनौषधि वर्ग के अन्तर्गत जंगल में उत्पन्न होनेवाली तथा वैद्यक शास्त्र में प्रयुक्त ओषधियों की नामावली है। और इस नामावली में शब्दों का चयन कोषकार की स्वतन्त्रता पर आश्रित है। अनेकार्थ कोषों में विशेषतः अन्तिम वर्णों के अनुसार शब्दों का संग्रह है—'कान्त', 'खान्त' तथा 'गान्त' शब्दों का चयन। कहीं आदिम वर्ण को भी महत्त्व दिया गया है

और कहीं आदिम तथा अन्तिम दोनों वर्णों को दृष्टि में रखकर शब्दचयन है। इस प्रकार संस्कृत के कोषों में शब्दचयन करने में अनेक दृष्टियों से काम लिया गया है।

निघण्टु

आजकल उपलब्ध 'निघण्टु' एक ही है जिस पर यास्क ने अपने 'निरुक्त' का निर्माण किया है, परन्तु अनेक निघण्टुओं की सत्ता के प्रमाण बहुशः उपलब्ध होते है। वर्तमान निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। आदि के तीन अध्यायों को 'नैघण्टु काण्ड' कहते हैं इनमें पृथ्वी आदि बोधक समानार्थ शब्दों का संकलन है। चतुर्थ अध्याय (नैगम काण्ड) में ऐसे पदों का संचयन है जिनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता और इस दृष्टि से जो अव्युत्पन्न तथा गूढ़ार्थक प्रतीत होते हैं। पंचम अध्याय (दैवत काण्ड) में भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप तथा स्थान का विस्तार से निरूपण है। इस 'निघण्टु' के रचयिता के विषय में अभी तक मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वान् तो यास्क को ही इस शब्दचयन का भी श्रेय प्रदान करते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में निघण्टु यास्क से प्राचीन हैं तथा महाभारत के अनुसार प्रजापति कश्यप इस निघण्टु के रचयिता हैं।

यास्काचार्य ने इस निघण्टु की व्याख्या अपने निरुक्त ग्रन्थ में की है, परन्तु यह निरुक्त केवल व्याख्या ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत बहुत ही उपयोगी भाषाशास्त्रीय तथा देवताविषयक सामग्री से मण्डित वेदार्थ की मीमांसा करने वाला महनीन ग्रन्थ है जिसमें वेदार्थ के विषय में प्राचीन धारणा, कल्पना तथा व्याख्या-प्रकारों का भी स्थान-स्थान पर प्रामाणिक उपन्यास है। उदाहरणार्थ 'वृत्र' तथा 'अश्विन्' के स्वरूप-विवेचन के अवसर पर ऐतिहासिक तथा अन्य मतों का सुन्दर उल्लेख किया गया है (निरुक्त २।६।२ तथा निरुक्त १२।१ आदि)। निरुक्त में १२ अध्याय हैं और अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इन अध्यायों में निघण्टु की व्याख्या, पदों की व्युत्पत्ति तथा वैदिक मन्त्रों के पूर्ण निर्देश भी हैं जहाँ ये पद उपलब्ध होते हैं। निरुक्त के आरम्भिक अध्यायों में शब्दों की व्युत्पत्ति के ढंग का विस्तृत वर्णन है जो आधुनिक भाषाशास्त्र में भी पूर्णतया मान्य तथा प्रामाणिक माने जाते हैं। निरुक्त का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न होते हैं (सर्वं धातुजमाह निरुक्ते) तथा वैदिक मन्त्रों की पूर्ण सार्थकता है। इसके विरोधी मतों का खण्डन यास्क ने बड़ी प्रौढ़ता से निष्पन्न कर अपने सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा की है।

पदपाठों के अनन्तर निघण्टु का काल आता है। 'निघण्टु' संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आजकल उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसी के ऊपर महर्षि यास्क रचित 'निरुक्त' है। कतिपय विद्वान् यास्क को ही 'निघण्टु' का भी रचयिता

मानते[1] हैं परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ में 'निघण्टु' 'समाम्नाय' कहा गया है। और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है उससे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है।[2] महाभारत (मोक्षधर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

> वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
> निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
> कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
> तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

वर्तमान निघण्टु में 'वृषाकपि' शब्द संगृहीत किया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत काल में प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय वर्तमान हैं। आदिम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' कहलाता है। प्रथम तीन अध्याय में तो पृथ्वी आदि के बोधक अनेक पदों का एकत्र संग्रह है। द्वितीय काण्ड को 'ऐकपदिक' भी कहते हैं। 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता—'अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्।' दैवतकाण्ड में देवताओं का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार

आजकल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है और इसके कर्ता का नाम है—देवराजयज्वा। इनके पितामह का भी नाम था—देवराज यज्वा और पिता का नाम था—यज्ञेश्वर। ये रंगेशपुरी के पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। नाम से प्रतीत होता है कि ये सुदूर दक्षिण के निवासी थे। इनके समय के विषय में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग इन्हें सायण से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु इन्हें सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद (१।६२।३) के भाष्य में 'निघण्टु भाष्य' के वचनों का निर्देश किया है जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होते हैं। सिवाय इस भाष्य के 'निघण्टुभाष्य' कोई विद्यमान ही नहीं है। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघण्टु व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इदं च...क्षीरस्वामि-

---

१. वैदिकसाहित्य का इतिहास।

२. दुर्गवृत्ति पृ० ३।

अनन्ताचार्यादि-कृतां निघण्टु-व्याख्यां...निरीक्ष्य क्रियते'। अनन्ताचार्य का निर्देश तो यहाँ प्रथम बार ही हमें मिलता है। क्षीरस्वामी के मत का निर्देश यहाँ बहुलता से किया गया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, देवराज के उद्धरण जिनकी अमरकोष टीका (अमरकोशोद्घाटन) में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः 'निघण्टु-व्याख्या' से देवराज का अभिप्राय इसी अमर-व्याख्या से ही प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है—निघण्टु निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का हा निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (विरचयति देवराजो नैघण्टुककाण्डनिर्वचनम्—६)। अन्य काण्डों की व्याख्या बहुत ही अल्पाकार है। इस भाष्य का उपोद्घात वैदिक भाष्यकारों के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी हो प्रामाणिक और उपादेय है। इसमें आचार्य स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्तभाष्य टीका से विशेष सहायता ली गई है। प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बड़ा ही सुन्दर है। सायण-पूर्व होने से देवराज की व्याख्या तथा निरुक्ति का विशेष महत्त्व है। भोजराज तथा क्षीरस्वामी के उद्धरण करने के कारण देवराज यज्वा का समय १२ शती के अनन्तर तथा सायण से पूर्ववर्ती होने से १४ शती से पूर्व होना चाहिए १२ शती तथा १३ शतो का मध्यभाग (लगभग ११७५ ई०–१२२५ ई०)।

निरुक्त काल

निरुक्तयुग—निघण्टुकाल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में १४ थे—निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम् (दुर्गवृत्ति १।१३)। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये कये हैं। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार है—(१) आग्रायण; (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णनाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि, (१२) स्थौलाष्ठीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इनसे अतिरिक्त १४वाँ निरुक्तकार कौन था? इसका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। ऊपर निर्दिष्ट निरुक्तकारों के विशिष्ट मत की जानकारी निरुक्त के अनुशीलन से भली-भाँति लग सकती है।[1] इन ग्रन्थकारों में 'शाकपूणि' का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। निरुक्त के अतिरिक्त बृहद्देवता में भी इनका मत निर्दिष्ट किया गया है। बृहद्देवता तथा पुराणों में शाकपूणि को 'रथीतर शाकपूणि' नाम से स्मरण किया गया है तथा यास्क से इन्हें विरुद्धमत मानने वाला कहा गया है।

---

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (१।२) पृ० १६६-१८० ।

यास्क का निरुक्त

'निरुक्त' वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क रचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट वाले अध्याय भी अर्वाचीन नहीं माने जा सकते, क्योंकि सायण तथा उव्वट इन अध्यायों से भली भाँति परिचय रखते हैं।\उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य (१८।७७) में निरुक्त १३।१२ में उपलब्ध वाक्य को निर्दिष्ट किया है। अतः इस अंश का भोजराज से प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है।

निघण्टु तथा निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध बोधक विवरण

निघण्टु				निरुक्त
				१ अध्याय (भूमिका)
(१) नैघण्टुक काण्ड[1] (गौः—अपारे)		१ अध्याय २ ,, ३ ,,	पृ [illegible]	२ अध्याय ३ अध्याय
(२) नैगम काण्ड (जहा-ऋषीसम्)		४ अध्याय (क) १ खण्ड-६२ पद (ख) २ खण्ड-८४ ,, (ग) ३ खण्ड-१३२ ,,		 ४ अध्याय ५ अध्याय ६ अध्याय पूर्व षट्क
(३) दैवत काण्ड (अग्नि-देवपत्नी)	पृथ्वी स्थान देव	५ अध्याय (क) १ खण्ड- ३ पद (ख) २ ,, १३ ,, (ग) ३ ,, ३६ ,,		 ७ अध्याय (देवताविषयक विशिष्ट भूमिका के साथ) ८ ,, ९ ,,
	अन्तरिक्ष	(घ) ४ ,, ३२ ,, (ङ) ५ ,, ३६ ,,		१० ,, ११ ,,
	आकाश	(च) ६ ,, ३१ ,,		१२ ,, उत्तरषट्क

---

१. इस काण्ड में सब मिलाकर १३४१ पद हैं जिनमें से केवल साढ़े तीन सौ पदों की निरुक्ति यास्क ने यत्र तत्र की है। स्कन्दस्वामी ने इनसे भिन्न दो सौ पदों की व्याख्या की है—ऐसा देवराज का कथन है (पृ० ३)।

यास्क की प्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। ये पाणिनि से भी प्राचीन हैं। संस्कृत भाषा का जो विकास इनके निरुक्त में मिलता है वह पाणिनीय अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है। महाभारत के शान्तिपर्व में (अ० ३४२) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं। यास्क के इस ग्रन्थ की महत्ता बहुत ही अधिक है। ग्रन्थ के आरम्भ में यास्क ने निरुक्त के सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रदर्शन किया है। इनके समय में वेदार्थ के अनुशीलन के लिए अनेक पक्ष थे, जिनका नाम इस प्रकार दिया गया है—(१) अधिदैवत; (२) अध्यात्म; (३) आख्यान-समय; (४) ऐतिहासिकाः; (५) नैदानाः, (६) नैरुक्ताः, (७) परिव्राजकाः, (८) पूर्वे याज्ञिकाः, (९) याज्ञिकाः। इस मत निर्देश से वेदार्थानुशीलन के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। यास्क का प्रभाव अवान्तरकालीन वेदभाष्यकारों पर बहुत ही अधिक पड़ा है। सायण ने इसी पद्धति का अनुसरण कर वेदभाष्यों की रचना में कृतकार्यता प्राप्त की। यास्क की प्रक्रिया आधुनिक भाषावेत्ताओं को भी प्रधानतः मान्य है। निरुक्त का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण इसका महत्त्व सर्वातिशायी है।

निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान-स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसके अर्थ समझने के लिये माथापच्ची करनी पड़ती है। तिस पर उसका पाठ यथार्थरूप से परम्परया प्राप्त भी नहीं होता। भाषा की दुरूहता के साथ-साथ उसके पाठ भी स्थान-स्थान पर इतने भ्रष्ट हैं कि दुर्ग जैसे विद्वान् टीकाकार को भी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है। निरुक्त की व्याख्या करने की ओर विक्रम से बहुत पूर्व विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसका पता हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से ही चलता है। अष्टाध्यायी ४।३।६६ के भाष्य में वे लिखते हैं—"शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसृततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।" परन्तु पतञ्जलि का संकेत किस व्याख्यान की ओर है ? इसका पता नहीं चलता।

सबसे विस्तृत तथा सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है वह है दुर्गाचार्यवृत्ति। परन्तु यह इस विषय का आदिम ग्रन्थ नहीं है, इतना तो

निश्चित ही है। दुर्गवृत्ति में चार स्थलों[1] पर किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, प्रसङ्ग से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था। निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है। अतएव उसके ऊपर वार्तिक की रचना अयुक्त नहीं। निरुक्त-वार्तिक की सत्ता एक अन्य ग्रन्थ से भी प्रमाणित होती है। मण्डन मिश्र रचित 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की 'गोपालिका टीका' में निरुक्त वार्तिक से छः श्लोक उद्धृत किये गये हैं। और ये सब श्लोक निरुक्त १।२० के व्याख्यारूप हैं। अतः इन दोनों प्रमाणों को एकत्र करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरुक्त-वार्तिक ग्रन्थ अवश्य था और अत्यन्त प्राचीन भी था। परन्तु अभी तक इस ग्रन्थ का पता नहीं चलता। यदि इसका उद्धार हो जाय तो वेदार्थानुशीलन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रामाणिक वस्तु प्राप्त हो जाय। बर्बर स्वामी की टीका की भी यही दशा है। स्कन्द स्वामी ने इन्हें पूर्व के टीकाकारों में उल्लिखित किया है[2] तथा इन्हें दुर्गाचार्य से भी प्राचीनतर माना है। जब तक इस ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती तब हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि बर्बर स्वामी पूर्व निर्दिष्ट वार्तिककार से भिन्न हैं या अभिन्न।

दुर्गाचार्य

निरुक्त के प्राचीन उपलब्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ही हैं, परन्तु ये आद्य टीकाकार नहीं हैं। इन्होंने अपनी वृत्ति में प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या की ओर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। वेदों के ये कितने बड़े मर्मज्ञ थे; इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है। इस वृत्ति में निरुक्त की तथा उसमें उल्लिखित मन्त्रों की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। निरुक्त का प्रत्येक शब्द उद्धृत किया गया है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र निरुक्त का शाब्दिक रूप खड़ा किया जा सकता है। विद्वत्ता तो इनकी इतनी अधिक है, साथ ही साथ इनकी नम्रता भी श्लाघनीय है। निरुक्त के दुरूह अंशों की व्याख्या करने के अवसर पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ऐसे कठिन मंत्रों के व्याख्यान में विद्वान् की भी मति रुद्ध जाती है। हम तो इसके विषय में इतना ही जानते हैं—

'ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुःखबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वयं त्वेतावदत्रावबुद्ध्यामह इति।' ७।३१

कहीं-कहीं इन्होंने स्वयं नवीन पाठ की योजना की है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने निरुक्त के अर्थ में बड़ी छानबीन से काम लिया है। यदि हमें यह आज उपलब्ध

१. निरुक्त वृत्ति ३।१, ६।३१, ८।४१। ११।१३

२. तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य।

नहीं होती तो निरुक्त का समझना एक दुरूह ही व्यापार होता। परन्तु दुःख की बात है कि दुर्गाचार्य के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। ४।१४ निरुक्त में इन्होंने अपने को कापिष्ठल शाखाध्यायी वसिष्ठगोत्री लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति जंबूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ... ...ऽध्यायः समाप्तः।

ये जंबूमार्ग आश्रम के निवासी थे। परन्तु यह स्थान है कहाँ? डा० लक्ष्मण-स्वरूप इसे काश्मीर रियासत का जम्बू मानते हैं परन्तु पं० भगवद्दत्त का अनुमान अधिक सयुक्तिक मालूम पड़ता है कि वे गुजरात प्रान्त के निवासी थे। वे मैत्रायणी संहिता से अधिक उद्धरण देते हैं। यह संहिता गुजरात प्रान्त में किसी समय प्राचीन-काल में बहुत ही प्रसिद्ध थी। इस अनुमान का यही आधार है। दुर्गवृत्ति की सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ सम्वत् की है। अतः दुर्ग इससे प्राचीन अवश्य होगें। श्रीभगवद्दत्त ने सप्रमाण दिखलाया है कि ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ दुर्गाचार्य से परिचित हैं। अतः दुर्ग का समय विक्रम के सप्तम शतक से प्राचीन है।

निरुक्त के अन्य टीकाकारों में स्कन्ध महेश्वर की टीका लाहौर से प्रकाशित हुई है। यह टीका विद्वत्तापूर्ण तथा प्रामाणिक है। ये स्कन्ध स्वामी ऋग्वेद के भाष्यकार ही हैं। वररुचिकृत 'निरुक्त समुच्चय' नामक ग्रन्थ का परिचय श्री भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक में दिया है। यह निरुक्त की व्याख्या नहीं, परन्तु निरुक्त के सिद्धान्तानुसार लगभग सौ मन्त्रों की व्याख्या है। निरुक्त की इन टीकाओं के अनुशीलन करने से हम अनेक ज्ञातव्य विषयों पर पहुँच सकते हैं। निरुक्त तथा उसकी वृत्तियों में दिये गए संकेतों को ग्रहण कर मध्यकालीन भाष्यकार वेद का भाष्य करने में कृतकार्य हुए। इस बात पर ध्यान देने से इस युग के व्याख्या-ग्रन्थों की महत्ता भली-भाँति ध्यान में आ जाती है।

भास्कर राय—वैदिक कोष

भास्कर राय अपने समय के बड़े प्रसिद्ध तान्त्रिक थे। दक्षिण से काशी में अध्ययन करने के निमित्त आये। 'ललिता सहस्र नाम भाष्य' से पता चलता है कि ये विश्वामित्र गोत्रीय गम्भीर राय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम कोणाम्बा तथा गुरु का नरसिंह था। इन्होंने 'ललिता सहस्र नाम' के ऊपर अपने प्रख्यात तथा नितान्त प्रौढ़ भाष्य की रचना १७६३ ई० में की थी। नागेश भट्ट की सप्तशती टीका का खण्डन इन्होंने अपनी 'गुप्तवती' नामक टीका में किया है। वैदिक कोष का रचना काल १७७५ ई० है। अतः भास्कर राय का समय १८ शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है। इन्होंने वैदिक कोष की रचना कोषों के ढंग पर की है। वैदिक शब्द तो वे ही

हैं जो निघण्टु में हैं। उन्हीं शब्दों का अर्थ अनुष्टुप छन्दों में यहाँ दिया गया है जो अमरकोष के ढंग पर रचित होने से छात्रोपयोगी है। नवीनता न होने पर भी उपादेयता बहुत अधिक है।

मान्य कोषकार

संस्कृत भाषा में कोशविद्या बड़े महत्त्व की मानी जाती थी। इस भाषा के कितने कोषकार हुए? इसकी संख्या बताना वास्तव में एक विषम पहेली है। उपलब्ध हस्तलेखों में तथा ग्रन्थों में ततःप्राचीन कोषकारों का नाम उल्लिखित मिलता है जिससे उनके अस्तित्व का संकेत स्पष्टतः मिल जाता है।

(१) पुरुषोत्तम देव ने अपने 'हारावली' कोष के अन्त में एक पद्य दिया है जिसमें तीन प्राचीन कोषकारों के नाम मिलते हैं—

शब्दार्णव उत्पलिनी संसारावर्त इत्यपि।
कोषा वाचस्पति-व्याडि-विक्रमादित्य-निर्मिताः॥

इसमें क्रमशः निर्देश मानकर वाचस्पति व्याडि तथा विक्रमादित्य प्राचीन कोषकार हैं जिनके कोष क्रमशः हैं शब्दार्णव, उत्पलिनी तथा संसारावर्त।

(२) केशव ने अपने 'कल्पद्रुकोश' में (१।२) उस युग के प्रख्यात कोषकारों का नाम निर्दिष्ट किया है—

कात्य-वाचस्पति-व्याडि-भागुर्यमरमङ्गलाः।
साहसाङ्क महेशाद्या विजयन्ते जिनान्तिमाः॥

इस श्लोक में कात्य, वाचस्पति, व्याडि, भागुरि, अमर, मंगल (अथवा अमर-मंगल), साहसाङ्क, महेश, तथा हेमचन्द्र—प्रख्यात कोषकारों का नाम उल्लिखित है। गतश्लोक के वाचस्पति तथा व्याडि के नाम यहाँ भी उल्लिखित हैं।

(३) संस्कृत में १८ कोश नितान्त प्रसिद्ध हैं। नीचे के दोनों श्लोक अमरकोष के एक हस्तलेख में इस प्रकार दिये गये हैं। इनमें से कुछ तो अमर से पूर्ववर्ती है (व्याडि, वररुचि, रुद्र, कात्यायन आदि) तथा अन्य अमर से पश्चाद्वर्ती हैं (विश्वप्रकाश, मेदिनी हेमचन्द्र आदि)।

विश्वो विश्वप्रकाशश्च धरणिर्मेदिनी तथा
रत्नकोशो रन्तिदेवः शाश्वतश्च हलायुधः॥
व्याडिर्वररुचिश्चैव रुद्रकात्यायनावुभौ
रभसो वैजयन्ती च तथा शब्दार्णवाजयौ
वाचस्पतिर्हेमचन्द्रः कोषा अष्टादशैव तु॥

इस सूची को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व तथा विश्वप्रकाश दो स्वतन्त्र कोष थे। वररुचि तथा कात्यायन एक ही कोषकार न होकर स्वतन्त्र विभिन्न

कोषकार थे। साधारणत: वररुचि कात्यायन का ही अपर नाम माना जाता है, परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं दीखती।

इन तीनों सूचियों को मिलाने से कोष तथा कोषकारों के वर्णानुक्रम से नाम इस प्रकार हैं—

अजय	रुद्र
अमर	वररुचि
कात्य	१५ वाचस्पति (शब्दार्णव)
कात्यायन	विक्रमादित्य (संसारावर्त)
धरणि	विश्व
भागुरि	विश्वप्रकाश
मंगल	वैजयन्ती
महेश	२० व्याडि (उत्पलिनी)
मेदिनी	शाश्वत
१० रत्नकोश	साहसाङ्क
रन्तिदेव	हलायुध
रभस	२४ हेमचन्द्र

इन कोषकारों में से अनेक ग्रन्थों से रायमुकुट ने अपनी अमरटीका 'पदचन्द्रिका' में उद्धरण दिया है जो इनके मत जानने के लिए नितान्त महत्त्व रखते हैं। उसमें विक्रमादित्य के संसारावर्त तथा वाचस्पति के शब्दार्णव से प्रचुर उद्धरण दिये गये हैं जिससे १५ शती में इन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है।

काल-विभाग

संस्कृत भाषा में कोषों का प्रणयन विक्रम के आरम्भ से लेकर आज तक होता रहा है और इस प्रकार इसका इतिहास दो हजार वर्षों का इतिहास है। संस्कृत कोषों में अमरकोष की मान्यता, प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता सबसे अधिक है। अतः अमर को केन्द्र-बिन्दु मानकर हम कोष-विद्या के इतिहास को तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अमर-पूर्व काल; (२) अमरकाल तथा (३) अमर-पश्चात् काल। अमर से पूर्वकाल के कोषों का परिचय हमें अमर के टीकाकारों के उल्लेखों से तथा उद्धरणों से ही मिलता है। केवल एक कोष के अतिरिक्त अन्य की उपलब्धि भी समस्त रूप से नहीं हुई है।

अमरपूर्व-कोषकार

इन अमर पूर्ववर्ती कोषकारों का एक सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) **व्याडि**—व्याडि का कोष अमरकोष के समान ही संकलित था अर्थात् उसमें समानार्थ शब्दों की ही प्रधानता थी तथा एक परिच्छेद में नामार्थ शब्दों का चयन था। 'अभिधान चिन्तामणि' की टीका में हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ से लम्बे लम्बे उद्धरण दिये हैं जिनसे प्रतीत होता है इसमें शब्दार्थ के साथ साथ विशेष ज्ञातव्य विषयों का भी संकलन था। व्याडि ने बौद्धधर्म-सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों का भी वर्णन यहाँ किया है जिससे स्पष्ट है कि बौद्ध न होने पर भी इन्हें बौद्ध धर्म से गाढ़ परिचय था। इन्होंने व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थानुसन्धान की प्रक्रिया दिखलाई है—जैसे निघण्टु की व्याख्या (अर्थात् निघण्टयत्यस्मात् निघण्टुः परिकीर्तितः)। गुह्यक के विषय में नयी सूचना भी है—**"निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः"** (पदचन्द्रिका पृ० २२) उत्पलिनी' के नाम से पदचन्द्रिका में बहुत मत उद्धृत हैं। व्याडि के इस कोष का नाम 'उत्पलिनी' था पुरुषोत्तम की हारावली के अनुसार (अन्तिम श्लोक ३)।

(२) **कात्य**—ये वररुचि से भिन्न व्यक्ति हैं। वररुचि के 'लिंग-विशेष-विधि' नामक लिंगानुशासन ग्रन्थ का हर्षवर्धन आदि ग्रन्थकारों ने निर्देश किया है, परन्तु क्षीरस्वामी तथा हेमचन्द्र आदि कोषकार कोष के प्रसंग में कात्य का ही उल्लेख करते हैं। फलतः कात्य का ग्रन्थ पूरा कोष था ठीक अमरकोष के ही समान; परन्तु कहीं कहीं इसमें अर्थ का वर्णनात्मक परिचय भी उपलब्ध था। जैसे तितउ शब्द का अर्थ है चालन (चलनी) जिससे सातू आदि चाला जाता है। अमर का निर्देश केवल अर्थपरक है—चालनी तितउ पुमान् (अमरकोष २।६।२६), परन्तु कात्य का वर्णन-परक है—क्षुद्रच्छिद्रसमोपेतं चालनं तितउ पुमान्। इस कोष का नाम था नाममाला।

(३) **भागुरि**—इनके कोष का नाम था त्रिकाण्ड जो तीन काण्ड वाले अमरकोष से विभिन्न तथा स्वतन्त्र कोष था। भागुरि ने शब्दों के लिंगों के निर्देश की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल समानार्थ शब्दों का ही संकलन किया। भागुरि के मत का निर्देश तथा उनके ग्रन्थ का उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'वर्षाभू' शब्द के स्वरूप के विषय में मतभेद है। सायण ने अपने 'माधवीया धातुवृत्ति'[1] (पृ० ४२) में लिखा है कि भागुरि 'वर्षाभू' शब्द को ह्रस्व उकारान्त ही मानते थे और इस प्रसंग में उनका यह प्राचीन पद्य भी उद्धृत किया है—

---

१. माधवीया धातुवृत्तिः सम्पादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी, १९६४ ई०।

तथा भागुरिरपि ह्रस्वान्तं मन्यते। यथा ह च—

भार्या भेकस्य वर्षाभ्वी, श्रृंगी स्याद् मद्गुरस्य तु
शिली गण्डपदस्यापि कच्छपस्य डुलिः स्मृता ॥

यह श्लोक उनके कोप से ही सम्बन्ध रखता है। सायण का आविर्भावकाल १४ शती का मध्यभाग माना जाता है। फलतः भागुरि इससे प्राचीन हैं, 'नानार्थार्णव-संक्षेप' में केशवस्वामी (१२०० ई०) ने भागुरि के मत का निर्देश किया है। जिससे इनका काल १३ शती से अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता।

(४) **रत्नकोष**—इसके रचयिता का पता नहीं है। सर्वानन्द के अनुसार इसके परिच्छेदों का वर्गीकरण लिंग के आधार पर था। इसमें समानार्थ शब्दों का चयन था।

(५) **माला या अमरमाला**—इसके उद्धरण प्राचीन कोषों में दोनों नामों से आते हैं, परन्तु दोनों नामों से एक ही ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह निश्चित है। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका में तीस से ऊपर उद्धरण अमरमाला से दिये हैं। इसके रचयिता का नाम सम्भवतः अमरदत्त था जो अमरसिंह से प्राचीन कोषकार माने जाते हैं। हलायुध ने नाममाला को अपने कोष के लिए प्रधान आधार तथा उपजीव्य ग्रन्थ माना है और नाममाला की गलतियों को भी अपने ग्रन्थ में रखने से वे पराङ्मुख नहीं हैं।

(६) **वाचस्पति**—इनके कोषग्रन्थ का नाम शब्दार्णव था जो समानार्थ शब्दों का एक विशाल कोष था तथा अनुष्टुप छन्द में विरचित था। इसकी एक विशेषता यह थी कि एक शब्द के विभिन्न रूपों का तथा वर्तनी का यह उल्लेख करता है। हेमचन्द्र ने शब्दों का प्रपंच अपने कोषों में इसी ग्रन्थ की सहायता से किया है—**प्रपञ्चस्तु वाचस्पति-प्रभृतेरिह लक्ष्यताम्**। शब्दार्णव में एक नाम के अनेक रूपों को देने की विशिष्टता थी—इसका पता 'पदचन्द्रिका' में उसके उद्धरणों से चलता है। यथा 'विरिञ्चि' के स्थान पर विरिञ्च, द्रुहिण तथा द्रुघण, नारायण तथा नरायण, श्रीवत्सलाञ्छन (विष्णु) के स्थान पर श्रीवत्स भी, रूप बनते हैं। शिव के धनुष के लिए 'अजगव' शब्द ही प्रसिद्ध है। वोपालित तथा नाममाला आदि आकार मानकर 'आजगव' को भी शुद्ध मानते हैं। परन्तु शब्दार्णव का इस विषय में 'तृतीयः पन्थाः' है, क्योंकि वह 'आजकवं' तथा 'अजकावं' भी 'अजगवं' का विशिष्ट रूप मानता है। चन्द्रमा का वाचक संस्कृत शब्द 'चन्द्र' ही प्रसिद्ध है, परन्तु शब्दार्णव के मत में 'चन्द' भी पक्का संस्कृत है !!!

"हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः शशो चन्दो हिमद्युतिः"

(पदचन्द्रिका प्रथम भाग, पृष्ठ १०७)

इसी प्रकार 'चन्द्रिका' का अपर शब्द चन्द्रिमा है (वही पृ० १०९)। अगस्त्य तथा अगस्ति दोनों रूप बनते हैं। भट्टि ने 'अगस्ति' शब्द को प्रयुक्त भी किया है—**अगस्तिनाऽध्यासित-विन्ध्यशृंगम्**। सूर्य के अर्थ में मार्तण्ड तथा मार्ताण्ड दोनों इस कोश को स्वीकृत है।

(७) **धन्वन्तरि**—इन्होंने वैद्यक निघण्टु की रचना की है[1] जो इस प्रकार के कोषों में प्राचीनतम माना जाता है। क्षीरस्वामी के अनुसार अमर अपने वनौषधि वर्ग की सामग्री इसी कोष से ली है जिसके पाठ को ठीक न समझने के कारण उन्होंने गलती भी की है। क्षीरस्वामी के कथनानुसार धन्वन्तरि ने 'बालपत्र' शब्द को खदिर का पर्यायवाची बतलाया है, परन्तु अमरसिंह ने 'बालपत्र' को बालपुत्र समझने की गलती की और इसीलिए उन्होंने खदिर का पर्यायवाची 'बालतनय' माना है जो क्षीरस्वामी की दृष्टि से एकदम अशुद्ध है[2]।

(८) **महाक्षपणक** रचित कोश दो नामों से हस्तलेखों में निर्दिष्ट किया गया है। एक है अनेकार्थमञ्जरी और दूसरा है अनेकार्थध्वनिमञ्जरी। एक ही ग्रन्थ के ये दो नाम हैं। इनके समय का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। विद्वानों की सम्मति में महाक्षपणक और क्षपणक दोनों एक ही अभिन्न व्यक्ति हैं। ग्रन्थ की रचना के काल का अनुमान लगाया जा सकता है। काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव ने रघुवंश के एक श्लोक की व्याख्या में 'अनेकार्थमञ्जरी' का एक अवतरण उद्धृत किया है जो उस ग्रन्थ के हस्तलेख में उपलब्ध है। महाक्षपणक भी काश्मीरी थे। फलतः काश्मीरी वल्लभदेव के द्वारा प्रख्यात काश्मीरी कोषकार के ग्रन्थ का निर्देश सुसंगत है। वल्लभदेव के पौत्र कैयट (चन्द्रादित्य के पुत्र) ने आनन्दवर्धन के देवीशतक की व्याख्या ९७७–९७८ ई० में लिखी काश्मीर नरेश भीमगुप्त (९७७–९८२ ई०) के राज्यकाल में। फलतः वल्लभदेव का समय दशम शती के पूर्वार्ध में, ९२५ ई० के आसपास, मानना उचित प्रतीत होता है। महाक्षपणक के समय की यह पश्चिम अवधि है। इनकी दूसरी अवधि मानी जायगी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (४०१ ई०) का राज्यकाल क्योंकि महाक्षपणक धन्वन्तरि, अमरसिंह आदि के साथ उनकी सभा के नवरत्नों में से अन्यतम माने जाते थे। फलतः इनका समय ३५० ईस्वी मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता[3]।

---

१. राजनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, पूना, १८९६।

२. बालपत्रो यवासः खदिरश्चेति द्वयर्थेषु धन्वन्तरिपाठमदृष्ट्वा बालपुत्रभ्रान्त्या ग्रन्थकृद् बालतनयमाह—बालतनयो खदिरो दन्तधावनः (अमर २।४।४९)।

३. द्रष्टव्य पी० के० गोडे—Studies in Indian Literary History Vol. I. pp. 109–111 (Bombay 1953).

अमरसिंह

इन्हीं प्राचीन कोषों के आधार पर अमरसिंह ने 'नामलिंगानुशासन' नामक अपूर्व तथा सर्वतः पूर्ण कोश की रचना की है। इस कोष का नामकरण ही इसकी उत्तमता का द्योतक है। प्राचीन कोषों में दो प्रकार की शैली थी। कतिपय कोष केवल नामों का ही निर्देश करते थे (नाममात्र तन्त्र), परन्तु कतिपय कोष लिंगों के ही विवेचन को अपना मुख्य विषय मानते थे (लिंगमात्र तन्त्र)। अमरसिंह ने इन दोनों पद्धतियों का समन्वय कर अपने कोष को सर्वांग पूर्ण बनाया। लिंग-निर्देश के लिए इन्होंने कई शब्दों का प्रयोग भी स्पष्टता के लिए किया है। पुं, नपुंसक, स्त्री तथा अस्त्री आदि शब्द संस्कृत नामों के लिंगों के बताने में बड़ी सुन्दरता से प्रयुक्त किये गये हैं। अमरकोष तीन काण्डों में विभक्त है और इसलिए यह 'त्रिकाण्ड' के नाम से भी विख्यात है। प्रत्येक काण्ड में अनेक 'वर्ग' हैं। प्रथम काण्ड में स्वर, व्योम, दिश, काल, धी, शब्दादि, नाट्य, पाताल तथा नरक—ये नव वर्ग हैं। द्वितीय काण्ड में पृथ्वी, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि, नृ, ब्राह्मण, क्षत्र, विश् तथा शूद्र—ये दश वर्ग हैं। तृतीय काण्ड में विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय तथा लिंगादि-संग्रह ये पाँच वर्ग हैं। अमरकोश में सब मिलाकर १५३३ अनुष्टुप हैं। ग्रन्थ का छठा भाग (२२५ अनुष्टुप्) नानार्थ के वर्णन में है, अन्य भाग समानार्थ शब्दों का अर्थ बतलाता है। समानार्थ खण्ड में एक विषय के वाचक नामों का एकत्र संकलन है। नानार्थ भाग में अन्तिम वर्ण के अनुसार पदों का संकलन है। अव्ययों का वर्णन एक स्वतन्त्र वर्ग में हैं तथा ग्रन्थ के अन्त में लिंगों के साधक नियमों का एक साथ वर्णन किया गया है।

क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द दोनों मान्य टीकाकारों के अनुसार अमरसिंह बौद्ध थे। लोक प्रसिद्धि है कि ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से अन्यतम थे, परन्तु विक्रमादित्य के काल ही, हमें यथार्थ परिचय नहीं है। इतना तो निश्चित है कि अमरकोश का चीनी भाषा में अनुवाद षष्ठशती में हुआ था और इसलिए यह ग्रन्थ इस शती से पूर्व-कालीन है। अमरकोश का सर्वप्राचीन उद्धरण जिनेन्द्र बुद्धि के 'न्यास' में मिलता है जहाँ 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' यह वाक्य (अमरकोश ३।३।१८६) उद्धृत मिलता है। न्यास की रचना अष्टमशती में हुई थी। कोश के विषय में अमरसिंह की यह रचना इतनी चुस्त, इतनी सुन्दर तथा इतनी उपयोगी है कि भारतवर्ष में तथा उसके बाहर भी इनकी लोकप्रियता आश्चर्य की बात नहीं है। इसकी विशाल टीका सम्पत्ति भी इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त द्योतक है। इसके ऊपर ४० के आसपास टीकायें लिखी मिलती हैं जिनमें से कतिपय विशेष प्राचीन तथा स्वयं अतिशय प्रामाणिक मानी जाती हैं। इन टीकाकारों में अनेक ने अमरकोश के प्रत्येक नाम की पुष्ट व्युत्पत्ति दी है तथा अन्य कोशों से उद्धरण देकर अमर के अर्थ की प्रामाणिकता प्रदर्शित की है।

अमरसिंह बौद्ध थे—यह केवल अनुश्रुति पर ही आश्रित तथ्य नहीं है, प्रत्युत अमरकोश के मंगल श्लोक में टीकाकारों के अनुसार भगवान् बुद्ध की स्पष्ट स्तुति है। क्षीरस्वामी ने इस श्लोक[1] की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत कर 'अक्षय' शब्द से 'अक्षोभ्य' बुद्ध का तात्पर्य विवृत किया है। द्वितीय पद्य के आरम्भ में वे स्पष्टतः लिखते हैं—"इत्थं ग्रन्थारम्भेऽभीप्सितसिद्धहेतुं जिनमनुस्मृत्य श्रोतृप्रोत्साहनार्थं..." जिससे उनके भाव समझने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती। सर्वानन्द ने भी अपनी टीका में क्षीरस्वामी के ही कथन की पुष्टि की है[2]। रायमुकुट ने पदचन्द्रिका में भी यही बात लिखी है। इतना ही नहीं, अमर ने स्वर्ग-वर्ग में देवों तथा दैत्यों के नामकीर्तन के अनन्तर आदिदेव के रूप में बुद्ध का ही सर्वप्रथम नामोल्लेख किया है (श्लोक १३–१५) ब्रह्मा तथा विष्णु से पहिले। फलतः उनके बौद्ध होने की घटना संशय से सर्वथा बहिर्भूत है।

अमर का काल

अमर के न तो देश का ही पता है, न आविर्भावकाल का। समय के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। षष्ठ शतक में उज्जयिनी के निवासी गुणरात ने अमरकोश का अनुवाद चीनी भाषा में किया। अतः इनका समय षष्ठ शती से प्राचीन होना चाहिए[3]। परन्तु कितना प्राचीन? वह प्रख्यात अमरसिंह चन्द्रगोमी से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं, अमरकोश में प्रगतजानु के लिए प्रज्ञु, ऊर्ध्वजानु के लिए ऊर्ध्वज्ञुः तथा संहतजानु के लिए 'संज्ञु' शब्द निर्दिष्ट किये गये हैं। इन तीनों शब्दों की सिद्धि पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों—प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः (५।४।१२९) तथा ऊर्ध्वाद् विभाषा (५।४।१३०)—से ही हो सकती है। चान्द्र व्याकरण के मत में इन तीनों का रूप क्रमशः होगा प्रज्ञ, ऊर्ध्वज्ञ तथा संज्ञ (४।४।१२९–१३० चान्द्र व्याकरण)। यदि अमरसिंह इन रूपों से परिचित होते, तो उन्होंने निश्चयेन

---

१. यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणाः।
सेव्यतामक्षयो धीराः स श्रिये चामृताय च॥
—अमरकोश १।१

२. अत्र चानुक्तोऽपि शाक्यलक्षणोऽर्थो ज्ञानदयादिभिः स्पष्टं प्रतीयते। अमरकोश १।१ की टीका में।

३. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुआदि। अमरकोश का तिब्बती अनुवाद डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के सम्पादकत्व में एशिआटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित है, १९११।

इनका उल्लेख इस श्लोक में[1] किया होता। निर्देश न होने से अमरसिंह चन्द्रगोमी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

प्राचीन सम्प्रदाय विक्रमादित्य के नवरत्नों में अमरसिंह को अन्यतम बतलाता है, परन्तु विक्रमादित्य की समस्या एक पहेली है जिसके विना समाधान के अमर का समय निश्चित नहीं हो सकता। अमर पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का स्पष्ट संकेत करते हैं[2], उनसे सरल होने पर भी चान्द्र व्याकरण को सूत्रों का नहीं। सम्भवतः ये चान्द्र-व्याकरण की रचना (५०० ईस्वी) से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार हैं। अमर का सांख्यदर्शन से परिचय वड़ा ही अन्तरंग है। इसका प्रमाण 'गन्धर्व' शब्द का सांख्याभिमत अर्थ है—

अन्तराभवसत्त्वेऽश्वे गन्धर्वो दिव्यगायने। गन्धर्व शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है—अन्तराभवसत्त्व (अन्तरा मरणजन्मनोर्मध्ये भवं सत्त्वं यातना-शरीरम् = मरण तथा जन्म के बीच में होने वाला यातना भोगने के निमित्त निर्मित शरीर। यह मत प्राचीन सांख्याचार्यों का था परन्तु एतद्विपरीत विन्ध्यवासी[3] आचार्य का विशिष्ट मत था जिसका उल्लेख कुमारिल (श्लोकवार्तिक पृ० ३९३ तथा ७०४), भोजराज (भोजवृत्ति ४।२२), मेधातिथि (मनुभाष्य १।५५) आदि आचार्यों ने किया है—

अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥

(श्लोकवार्तिक)

विन्ध्यवासी इस मत को नहीं मानते। इनके मत के खण्डन में वसुवन्धु ने 'परमार्थसप्तति' की रचना की थी। फलतः विन्ध्यवासी का समय २५० ई०—३२० ई० के लगभग ठहरता है। विन्ध्यवासी से अमरसिंह परिचित नहीं है। अतएव इनका

---

१. खुरणाः स्यात् खुरणसः प्रज्ञुः प्रगतजानुकः।
ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानुः स्यात् संज्ञुः संहतजानुकः॥
(अमर २।६।४७)

२. शालाऽर्थाऽपि परा राजाऽमनुष्यार्थादराजकात्
(अमर ३।५।२७)

अमर का यह निर्देश पाणिनि के सूत्र 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' २।४।२३ पर साक्षात् आधारित है, चान्द्रव्याकरण के इस सरल सूत्र 'ईश्वरार्थादराज्ञः सभा' पर नहीं।

३. विन्ध्यवासी के विषय में द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन', पृ० ५८३ (सप्तम संस्करण, १९६६, शारदा मन्दिर काशी)।

समय इससे कुछ पूर्व तृतीय शती के आरम्भ में मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता (२२५ ई० लगभग)।

इनके विषय में यह विचित्र अनुश्रुति है—

अमरसिंहस्तु पापीयान् सर्वंभाष्यमचूचुरत्।

पता नहीं इसका वास्तविक स्वारस्य क्या है ? अमरकोश वस्तुतः समानार्थक कोश है, परन्तु नानार्थक शब्दों का विन्यास होने से यह दोनों का काम करता है और यही इसका वैशिष्ट्य है।

अमरसिंह के प्राचीन टीकाकार आज अज्ञात हैं, केवल क्षीरस्वामी के प्रामाण्य पर हम जानते हैं कि उपाध्याय (= अच्युतोपाध्याय), गौड (?) तथा श्रीभोज (सम्भवतः भोजराज) ने अमर पर टीकायें लिखी थीं, परन्तु ये उपलब्ध नहीं होतीं। अतः उपलब्ध टीकाओं में सर्वप्राचीन टीका है क्षीरस्वामी का **अमरकोशोद्घाटन**[1]।

अमरकोश के टीकाकार

क्षीरस्वामी

क्षीरस्वामी की अमरकोश की व्याख्या का नाम—**अमरकोशोद्घाटन** है। यह अमर की सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याख्या प्रतीत होती है। क्षीरस्वामी ने अपनी क्षीरतरङ्गिणी के भ्वादि तथा अदादिगण के अन्त में अपने पिता का नाम स्वयं ईश्वरस्वामी बतलाया है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं, क्योंकि अमरव्याख्या के आरम्भ में शङ्कर की प्रशस्त स्तुति है। इनके ग्रन्थ क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में कश्मीर के राजा जयसिंह के समय में उसकी प्रतिलिपि किये जाने का उल्लेख है। यज् धातु की व्याख्या में 'यजुः काठकम्' लिखकर इन्होंने कठशाखा के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित किया है। इस याजुष शाखा का मुख्य क्षेत्र काश्मीर में होने से क्षीरस्वामी को काश्मीरी मानना नितान्त समुचित है।

इन्होंने अपने समय का निर्देश स्पष्टतः नहीं किया है, परन्तु अनुमानतः उसकी सिद्धि की जा सकती है। इधर के ग्रन्थकारों में इन्होंने 'श्रीभोज' नाम से भोजराज के द्वारा निर्मित व्याकरण में प्रदत्त व्युत्पत्ति का बहुशः उल्लेख किया है। ग्रन्थ के आरम्भिक चतुर्थ पद्य की व्याख्या में इन्होंने भोज की व्याख्या को उद्धृत किया है जिससे भोज के अमरकोश पर टीका लिखने का अनुमान करना स्वाभाविक है परन्तु

---

१. संस्करण डा० हरदत्तशर्मा द्वारा पूना ओरियण्टल सीरीज नं० ४३, प्रकाशक ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना, १९४१।

यह टीका आज भी उपलब्ध नहीं है। वर्धमान ने स्वरचित 'गणरत्नमहोदधि' में (र० का० ११९७ विक्रमी = ११४० ईस्वी) में क्षीरस्वामी का दो बार उल्लेख किया है। इस प्रकार भोजराज (मृत्यु लगभग १०६५ ई०) तथा वर्धमान (११४० ई०) के मध्यकाल में होने से इनका समय ११ शती का अन्तिम तथा १२ शती का आदिम चरण माना जाना उचित है (अर्थात् लगभग १०८० ई० से लेकर ११३० ई०)।

ग्रन्थ

अमर-व्याख्या तथा क्षीरतरंगिणी के उपक्रम में इन्होंने षड्वृत्तियों के निर्माण का संकेत किया है[1]। इनमें दो ग्रन्थ नितान्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय हैं—(१) अमरव्याख्या (अमरकोशोद्घाटन नाम्नी); (२) क्षीरतरङ्गिणी (पाणिनीय धातुओं की विशद व्याख्या); (३) निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति (अप्रकाशित); (४) गणवृत्ति (सम्भवतः गणपाठ की व्याख्या), (५) अमृततरङ्गिणी या कर्मयोगामृततरङ्गिणी (सम्भवतः व्याकरणविषयक ग्रन्थ क्षीरतरङ्गिणी में संकेतित) (६) षष्ठी वृत्ति का पता नहीं।

अमरकोशोद्घाटन

क्षीरस्वामी का प्रौढ़ प्रमेयबहुल ग्रन्थ है जिसमें अमरकोश के प्रत्येक शब्द का विवेचन मार्मिकता से किया गया है। व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति दी गयी है, परन्तु रामाश्रमी की भाँति प्रत्येक पद के निमित्त व्युत्पत्ति देने का कोई आग्रह नहीं है। व्युत्पत्ति के अतिरिक्त शब्दों के स्वरूप का भी विवेचन है तथा उसकी पुष्टि में प्राचीन कोशकारों का उल्लेख तथा उनके वचनों का उद्धरण दिया गया है। क्षीरस्वामी तन्त्रशास्त्र के विशेष पण्डित सिद्ध होते हैं। इन्होंने 'संहितासु' कहकर वैष्णव संहिताओं से आवश्यक वचन उद्धृत किये हैं। विष्णु भगवान् की गदा की संज्ञा 'कौमोदकी' है, क्योंकि वे स्वयं 'कुमोदक' नाम से अभिहित किये जाते हैं ('विष्णुः कुमोदकः शौरिः' इति दुर्गवचनात्)। स्वामी का कथन है कि इसका संहिताओं में निर्दिष्ट नाम 'कौपोदकी' है, क्योंकि वह गदा कूपोदक से उत्पन्न मानी गयी है। सूर्यविषयक सौरतन्त्र से भी वे परिचय रखते हैं, तभी तो उन्होंने सूर्य के १६ परिचारकों के नामों के लिए सौरतन्त्र से उद्धरण दिया है[2]। आयुर्वेद के तो वे प्रकाण्ड पण्डित तथा विशेषज्ञ हैं ही। इसका पूरा पता वनौषधि वर्ग की टीका से किसी भी आलोचक को मिलने में विलम्ब नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उन्होंने अमरसिंह की जो त्रुटियाँ शब्दों के चयन में निकाली हैं, वे उनकी गम्भीर आलोचना का परिचय देती हैं।

---

१. न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवतां षड्वृत्तयः कल्पिताः
—अमरटीका, अष्टम श्लोक।

२. द्रष्टव्य—अमरटीका व्योमवर्ग में 'माठर' शब्द की वृत्ति श्लोक ३२।

अमर की त्रुटियाँ

(१) 'खदिर' शब्द के पर्याय के लिए अमर ने 'बालतनय' दिया है। धन्वन्तरि ने अपने निघण्टु में (१।१२५) इसके लिए 'वालपत्र' पर्याय दिया है,[1] परन्तु अमरसिंह ने 'बालपत्र' को 'बालपुत्र' समझकर इसके लिए 'बालतनय' देने की गलती की है—

द्व्यर्थेपु धन्वन्तरिपाठमदृष्ट्वा बालपुत्रभ्रान्त्या ग्रन्थकृद् बालतनयमाह[2]।

(२) इसी प्रकार की त्रुटि 'दन्ती' के लिए 'उपचित्रा' पर्याय देते समय की गयी है[3]।

(३) पुष्करमूल के लिए अमर ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है जिसमें 'पद्मपत्र' अन्यतम शब्द है। क्षीरस्वामी की दृष्टि में यह भ्रान्ति है। असली शब्द है 'पद्मवर्ण', परन्तु लिपि की भ्रान्ति से अमर ने 'पद्मपत्र' पढ़ लिया जिससे यह त्रुटि हो गयी[4]।

(४) असनपर्णी या अपराजिता लता के लिए अमरकोश में वातक तथा शीतल ये दो पर्याय दिये गये हैं (स्याद् वातकः शीतलोऽपराजिता शणपर्ण्यपि २।४।१५०) परन्तु तथ्य यह है कि यहाँ एक ही संज्ञा है 'शीतलवातक'। फलतः एक संज्ञा को दो पर्यायों में तोड़ने तथा उनका व्यत्यय कर देने के दोष से अमरसिंह को बचाया नहीं जा सकता[5]।

क्षीरस्वामी के इन उद्धरणों से धन्वन्तरि (निघण्टु-रचयिता) अमर से प्राचीन हैं। अमर से पश्चाद्वर्ती वैद्यों से भी स्वामी का परिचय पर्याप्त है। ऐसे वैद्यों में वाहड या वाग्भट, चन्द्र, इन्दु तथा चन्द्रनन्दन मुख्य हैं। व्याकरण तथा कोश तो स्वामी के

---

१. कण्टकीबालपत्रश्च जिह्मशल्यः क्षितिक्षमः।

धन्वन्तरि निघण्टु १।१२५

२. क्षीरस्वामी की टीका पृ० ४३।

३. द्व्यर्थे उपचित्रा दन्ती पृश्निपर्णी चेति (अ० द्व० २।६०) दन्त्यां द्रवन्तीभ्रान्त्या ग्रन्थकृदुपचित्रामाह (पृ० १०३)

४. पुष्करमूले त्रीणि नामानि। पद्मपत्रमितिग्रन्थकृद् भ्रान्तः। पद्मवर्णेति लिपि-भ्रान्त्या पद्मपर्णेति बुद्धवान् पृ० ११७।

५. 'शीतलवातक' इत्येका संज्ञा। यद् धन्वन्तरिः शणपर्णी शीतलवातक इत्याह। द्व्यर्थेऽपराजिता शीतलवातको गिरि-कर्णिका च। अमरटीका पृ० ११६।

अपने विशिष्ट क्षेत्र हैं। इन शास्त्रों के लेखकों का संकेत करना स्वाभाविक ही है। काशिका के अतिरिक्त चान्द्रव्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी का भी अनेक वार संकेत यहाँ मिलता है।

ऊपर कहा गया है कि क्षीरस्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओं में प्राचीनतम है। इससे भी प्राचीन टीकायें उस युग में थीं—इस तथ्य के द्योतक क्षीरस्वामी के ही वाक्य हैं। नाम्ना चार टीकाकारों का उल्लेख स्वामी ने किया है—उपाध्याय[1], गौड[2], श्रीभोज[3] तथा नारायण[4]। सम्भव है कि क्षीरस्वामी की लोकप्रियता के कारण ये प्राचीन टीकायें लुप्त हो गयीं। उपाध्याय का तात्पर्य अच्युतोपाध्याय से है जिन्होंने अमरकोश के ऊपर व्याख्याप्रदीप नामक व्याख्या लिखी थी। गौड के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। 'श्रीभोज' राजा भोज का ही आदर-सूचक अभिधान है, परन्तु इनकी किसी अमरटीका का परिचय अब तक नहीं मिला।

टीका-सर्वस्व

सर्वानन्द की अमरटीका टीकासर्वस्व नाम्ना प्रसिद्ध है[5]। इसकी रचना का उल्लेख ग्रन्थ के भीतर ही कालवर्ग की व्याख्या में किया गया है। समय है ११५९ ईस्वी[6]। सर्वानन्द की उपाधि 'वन्द्यघटीय' है जो डा० हरप्रसाद शास्त्री के मन्तव्यानुसार आजकल 'वन्द्योपाध्याय' उपाधि की ही प्रतिनिधि है। फलतः सर्वानन्द बंगाली ब्राह्मण थे। ये बंगाल के निवासी थे—आर्तिहर के पुत्र। यह टीका क्षीरस्वामी के समान ही प्रामाणिक तथा पाण्डित्यपूर्ण है। बंगाली कोषकारों में सम्भवतः ये ही प्रथमतः कोषकार हैं जिनकी व्याख्या का प्रभाव वहाँ के कोषकारों के ऊपर विशेष पड़ा है।

---

१. इनके मत का उल्लेख पृ० ३, ६३, १४४, २००, २०१ तथा २३४ पर किया गया है।
२. मत का उल्लेख पृ० ३, ५, ६२, ७६ आदि पर है। (१२ बार)
३. इनके मत का उल्लेख पृ० ३ पर है।
४. इनका मत पृ० ५२ पर निर्दिष्ट है।
द्रष्टव्य—क्षीरस्वामी की टीका का संस्करण, प्र० ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना १९४१। इसी सं० के पृष्ठ ऊपर निर्दिष्ट हैं।
५. सं० टी० गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में कई भागों में अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९१४–१७।
६. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिक-सहस्रैकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन (१०८१ शक) षष्टिवर्षाधिक द्विचत्वारिंशच्छतानि कलिसन्ध्याया भूतानि (४२६०)।
—अमर १।४।२१ टीका

अपनी व्याख्या की पुष्टि इन्होंने प्राचीन कोष तथा आधार ग्रन्थों के तत्तत् वाक्य उद्धृत कर की है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(१) ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त वाडव शब्द की व्युत्पत्ति क्षीरस्वामी ने लिखी है 'वाडव इवावृतः'। इस व्युत्पत्ति को कल्पनाजन्य मानकर सर्वानन्द ने व्युत्पत्ति दी है वडवायां भवः = वाडवः। वडवा=ब्राह्मणी 'वडवा कुम्भदास्यश्च स्त्रीविशेषो द्विजाङ्गना' (इति रभसः)। यह व्युत्पत्ति अधिक औचित्यपूर्ण है।

(२) 'कुतप' शब्द की व्युत्पत्ति देते समय सर्वानन्द स्मृति का वचन उद्धृत करते हैं जिसमें दिन के १५ भागों के विशिष्ट नाम हैं। उन भागों में अष्टम भाग का नाम 'कुतप' है जो श्राद्ध के लिए उचित काल माना जाता है। इस स्मृति-वचन के साहाय्य से इस शब्द का ठीक अर्थ समझ में आता है, क्षीरस्वामी द्वारा इस प्रसंग में उद्धृत स्मृतिवचन से नहीं (द्रष्टव्य द्वितीय काण्ड, ब्रह्मवर्ग का ३१ श्लो०)। अमर का वचन है—

अंशोऽष्टमोऽह्नः कुतपोऽस्त्रियाम् ॥

(३) लोहार का वाचक शब्द है—व्योकार। इस विचित्र शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। इस शब्द की व्याख्या के प्रसंग में सर्वानन्द ने लोहकार तथा कर्मकार (बँगला कामार) के अर्थ में सुन्दर पार्थक्य दिखलाया है। खान से निकले कच्चे लोहे को शुद्ध करने वाला होता है लोहकार—और इस संस्कृत लोहे से चाकू, आयुध आदि बनाने वाला होता है कर्मकार। व्योकार के प्रयोग के लिए सर्वानन्द हर्षचरित से एक विशिष्ट स्थल उद्धृत करते हैं। क्षीरस्वामी ने श्रीभोज का मत दिया है कि 'व्यो' अयस् का पर्याय है। सर्वानन्द कहते हैं—व्यो इति लोहबीजस्य प्रसिद्धिः। तो 'वि + अयोकार' शब्द ही घिसकर 'व्योकार' बन गया है क्या ?

सर्वानन्द ने इन प्राचीन कोशकारों का निर्देश इस टीकासर्वस्व में किया है—

अजय, पुरुषोत्तमदेव, भागुरि, रभस, रुद्र, वररुचि, शाश्वत, वोपालित, व्याडि, हट्टचन्द्र तथा हलायुध।

इनमें से अनेक कोषकारों के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते, केवल उद्धरणों के द्वारा ही उनके मतों का परिचय हमें मिलता है। इनमें से कतिपय कोषकार बंगाल के ही निवासी हैं। रायमुकुट ने 'पदचन्द्रिका' में इनमें से प्रायः सब कोषकारों को उद्धृत किया है। सर्वानन्द तथा रायमुकुट—इन दोनों टीकाओं की तुलनात्मक परीक्षा करने पर रायमुकुट का विवेचन अधिक तुलनात्मक तथा परीक्षणात्मक है। विभिन्न ग्रन्थकारों के मतों का उपन्यास कर उन्होंने अपनी सम्मति सर्वत्र देने की व्यवस्था की है। सर्वानन्द ने अमर की दस टीकाओं का सार संकलन किया है, तो रायमुकुट ने

सोलह टीका का सार ग्रहण किया है। रायमुकुट ने सर्वानन्द से लगभग तीन सौ वर्षों के बाद अपनी टीका का प्रणयन किया। अमर की लोकप्रियता के कारण टीकाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती ही चली गयी।

कामधेनु

सुभूतिचन्द्र की अमरकोश टीका कामधेनु के नाम से विख्यात है। सुभूतिचन्द्र (या सुभूति) बौद्ध थे और इस टीका की लोकप्रियता का अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद विद्यमान है तथा तिब्बत के नागोर बौद्धमठ में इस टीका का संस्कृत हस्तलेख (परन्तु अधूरा) उपलब्ध होता है (लेखन काल ३१३ नेपाली सं० = ११९१ ई०)। मद्रास की पत्रिका में इस व्याख्या का दूसरा अपूर्ण हस्तलेख वर्णित है जिसमें सुभूति ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगार-प्रकाश का निर्देश इस टीका में किया है। फलतः ये १०६२ ई० से अनन्तर हुए जो भोजराज का मरणकाल माना जाता है। शरणदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' में (रचना काल ११७२ ई०) इनका एक वचन उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय १०६२ ई०—११७२ ई० के बीच में होना चाहिए—सम्भवतः १२ शती के प्रथम चरण में। नागोर बौद्धमठ का हस्तलेख इसका पोषक माना जा सकता है। सुभूति की कामधेनु टीका का प्रभाव अवान्तरकालीन अमर टीकाकारों पर विशेष रूप से पड़ा है। सर्वानन्द ने, (जो स्वयं बौद्ध थे और जिनका बौद्ध विद्वान् के ऊपर आग्रह सुसंगत प्रतीत होता है) अपनी अमर टीका में (र० का० ११५९ ई०) न तो सुभूति का, और न उनकी अमर टीका का ही, उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि सुभूति की टीका की ख्याति उस समय तक विशेष नहीं हुई थी। सर्वानन्द ने लिखा है कि उन्होंने अमर की दस टीकाओं का अध्ययन कर अपनी टीका का प्रणयन किया था। सुभूति का अनुल्लेख उस समय उनकी ख्याति के अभाव का ही द्योतक है।

पदचन्द्रिका में सुभूति के विशिष्ट मतों का बहुशः उल्लेख मिलता है। अमर के एक अर्वाचीन टीकाकर लिङ्गाभट्ट ने अपनी टीका में सर्वानन्द के साथ ही साथ सुभूति का उल्लेख कम से कम ७३ बार किया है जिससे अवान्तरकालीन टीकाकारों पर सुभूति के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। सुभूति की कामधेनु टीका की उपलब्धि कोशविद्या के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध होगी[2]। पदचन्द्रिका में

---

१. संज्ञापूर्व विधेरनित्यत्वात् वृद्ध्यभाव इति सुभूतिः।
(दुर्घटवृत्ति, पृ० ८२; अनन्तशयन ग्रन्थमाला सं०)

२. द्रष्टव्य—P. K. Gode-Studies in Indian Litrary History. Vol. I pp.

सुभूति के उल्लिखित तथ्यों के अनुशीलन से उनके विचारों का परिचय मिल सकता है। यथा चिह्नवाचक 'लक्ष्मण' शब्द के विषय में सुभूति रभस से विरुद्ध हैं। रभस इस शब्द में मकार को मध्य स्थित मानते हैं (= लक्ष्मणम्), परन्तु सुभूति को मकारहीन शब्द अभीष्ट है (= लक्षणम्) खेलने के अर्थ में 'कुर्दन' को सुभूति ह्रस्व मानते हैं। क्षीरस्वामी दीर्घ मानने के पक्षपाती है (कूर्दन)। 'पुलिन' शब्द के अर्थ के विषय में अमर का वचन है—तोयोत्थितं तद् पुलिनम्। इस पर सुभूति का कथन है कि जो द्वीप क्षणभर के लिए तोय से मुक्त होता है वह होता है 'पुलिन'। यह मत स्वामी के मत से विरुद्ध है। ऐसे अनेक वैशिष्टयों का परिचय पदचन्द्रिका के अध्ययन से चलता है।

पदचन्द्रिका

अमरकोश की पदचन्द्रिका[1] नामक टीका अपने विविध गुणों के कारण विशेष महत्त्व रखती है। इसके आरम्भ के पद्यों में इसके रचयिता ने अपना परिचय दिया है। उनका नाम था—बृहस्पति। पिता का नाम गोविन्द तथा माता का सुखायि देवी। बंगाल के प्रख्यात राढा नगर के निवासी। गौड के राजा ने इन्हें 'पण्डित-सार्वभौम' की पदवी दी। रायमुकुटमणि अथवा रायमुकुट नाम से ये प्रख्यात थे। इनके पुत्र विश्वास, राम आदिक दिग्विजयी विद्वान् तथा कवीन्द्र थे। फलतः इनका समाज में विशेष महत्त्व तथा महती प्रसिद्धि थी।

काल वर्ग की टीका में इन्होंने अपने समय का स्पष्ट संकेत दिया है[2]— १३५३ शकाब्द, ४५३२ कलि वर्ष जो ईस्वी सन् १४३१ ठहरता है। यही पदचन्द्रिका का रचना काल है। टीका बड़ी प्रौढ़ है, जिसमें प्राचीन उद्धृत ग्रन्थों की संख्या डा० आडफ्रेक्ट के गणनानुसार २७० है। रायमुकुट ने इसकी रचना अमरकोश की १६ टीकाओं के अनुशीलन करने के उपरान्त उनके सार को लेकर की—इसका उल्लेख वे स्वयं करते हैं[3]। क्या ही अच्छा होता कि इन १६ टीकाओं के नाम कहीं निर्दिष्ट किये

---

१. पदचन्द्रिका का प्रथम भाग गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज कलकत्ता से डा० कालीकिंकर दत्त के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है, १९६६। हस्तलेखों पर आधृत यह सं० विशुद्ध तथा प्रामाणिक है।

२. इदानीं शकाब्दाः १३५३ द्वात्रिंशदब्दाधिक-पञ्चशतोत्तर-चतुःसहस्रवर्षाणि कलिसन्ध्याया भूतानि ४५३२।

—वही, पृ० १५७।

३. इयं षोडश टीकार्थसारमादाय निर्मिता।
अतोऽभिलिखितोऽर्थोऽस्यां न हेयः सहसा बुधैः॥

आरम्भ का ९म श्लोक।

गए रहते। कोश विद्या के इतिहास के लिए यह कितना महत्त्वपूर्ण उल्लेख होता !!! ग्रन्थ के भीतर अमर के अनेक टीकाओं के उल्लेख तथा उद्धरण विद्यमान हैं। तथा तदितर कोशों के प्रयोगार्थ काव्य-ग्रन्थों का निर्देश रायमुकुट के बहुल पाण्डित्य का सूचक है।

(क) प्राचीन निस्मृत तथा अनुपलब्ध कोशों के विषय में यहाँ प्रभूत सामग्री विद्यमान है जिसके अध्ययन से शब्दविषयक बहुमूल्य तथ्य ज्ञात होते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'चन्द्रमा' शब्द का मूलभूत अंश 'मास्' है जो स्वतः चन्द्रवाची है। √चदि आह्लादे से निष्पन्न 'चन्द्र' आह्लादक अर्थ का वाचक प्रथमतः 'मस्' के विशेषणरूप में प्रयुक्त होता था जो पीछे स्वयं पृथक् होकर संज्ञा-शब्द बन गया। इस तथ्य का पता व्याडि की 'उत्पलिनी' से चलता है—माः शब्दोऽपीह चन्द्रे सम्मतो बहुदृश्वनाम् क्षीरस्वामी इसका समर्थन करते हैं (पदचन्द्रिका पृ० १०६)। इस प्रकार मेदिनि, शब्दार्णव, सुभूति, सर्वधर, सर्वानन्द, वोपालित, व्याडि, कौमुदी, नामनिधान, नाममाला, अमरमाला आदि प्राचीन कोशों का अनेक उद्धरण इस टीका की महनीयता का एक निदर्शन है। प्राचीन काव्यों में भारवि, माघ, कुमारसम्भव के अतिरिक्त पाणिनि के जाम्बवती काव्य से भी इस खण्ड में दो उद्धरण मिलते हैं।

(ख) अनेक नूतन शब्दों का तथा नवीन प्रयोगों का निर्देश रायमुकुट के बहुज्ञान तथा विशाल अध्ययन का सूचक है। चन्द्रवाचक सोम शब्द अकारान्त तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु उणादि (४।१५०) के अनुसार वह नकारान्त (सोमन्) भी होता है। इस अप्रसिद्ध रूप का उल्लेख रायमुकुट करते हैं (पदचन्द्रिका पृ० १०७)। प्रतीत होता है कि उस युग में भोज का 'शृंगारप्रकाश' प्रख्यात था, इसके भी उद्धरण मिलते हैं। 'दुर्दिन' शब्द के अर्थविषय में अमर केवल 'मेघ से आच्छन्न दिन' के लिए शब्द का प्रयोग मानते हैं 'मेघच्छन्नेऽह्नि' (दिग्वर्ग, श्लोक ७९), परन्तु मेघाच्छन्ना रात्रि का भी यह वाचक है। इसलिए रायमुकुट कुमारसम्भव का एक सुन्दर उद्धरण देते हैं—'अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेऽप्यभिसारिकाः।' (६।४३)

(ग) शब्दों के अर्थों का तुलनात्मक विवेचन बड़े महत्त्व का है। ध्यातव्य है कि बँगला भाषा में 'रौद्र' शब्द घाम के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला ठेठ बँगला शब्द है, परन्तु इसकी संस्कृतमयी आकृति से लुब्ध होकर बंगीय लेखक संस्कृत में भी इसका प्रयोग करते हैं। फलतः पृ० १३२ पर उद्धृत कोक्कुट नामक कोशकार इसी पहिचान से बँगाली निश्चित रूप से है। रायमुकुट ने रोचिः, दीप्ति, आतप—आदि शब्दों (पृ० १३२–१३३) के अर्थ की छानबीन के निमित्त प्राचीन कोशों तथा काव्यों का गम्भीर अनुशीलन कर अपना मत दिया है। शब्दों की वर्तनी (स्पेलिंग) के विषय में भी इनकी सूझ बड़ी है।

अमरकोश (१।२१) में पाठ आता है 'ब्रह्मसूर्विश्वकेतुः स्यात्'। इससे प्रथम कामदेव का नाम है और पीछे अनिरुद्ध का। दोनों के मध्य में आने वाले ये नाम किसके हैं? इसकी मीमांसा टीकाकार की बहुज्ञता की सूचिका है। विश्वकेतु के स्थान पर रिश्यकेतु पाठ मिलता है इन दोनों में कौन पाठ ठीक है? क्षीरस्वामी तो 'विश्वकेतु' को अपपाठ कहकर शब्द की आलोचना से छुट्टी ले लेते हैं, परन्तु रायमुकुट इसकी भी व्याख्या करते हैं तथा ऋष्यकेतु (रिश्यकेतु अथवा रिष्यकेतु) पद की यौक्तिकता दिखलाने के लिए साम्बपुराण का वचन उद्धृत करते हैं जिससे अनिरुद्ध की ध्वजा में मृग की स्थिति सिद्ध होती है। फलतः 'रिष्यकेतु' अनिरुद्ध का ही वाचक सिद्ध होता है। इसी प्रकार स्वर्गवाची 'त्रिविष्टप' शब्द की वर्तनी के विषय में भी मतभेद है। उचित शब्द कौन-सा है—त्रिविष्टप अथवा त्रिपिष्टप। रायमुकुट प्राचीन कोशों के साहाय्य से दोनों शब्दों को ही ठीक मानकर अपना निर्णय देते हैं। सर्पवाचक शब्द अलगर्घ है अथवा अलगर्द? (अमर २१६ श्लोक) इसकी मीमांसा तथा व्युत्पत्ति पदचन्द्रिका की विशिष्टता रखती है (पृ० २५९)।

इस प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति, वर्तनी तथा प्रयोग के विषय में पदचन्द्रिका अलौकिक महत्त्व रखती है।

रामाश्रमी

(५) भानुजि दीक्षित—भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित ने अमरकोश की एक लोकप्रिय व्याख्या लिखी जिसका नाम तो है व्याख्या-सुधा, परन्तु अपने रचयिता के नाम से वह रामाश्रमी कहलाती है। इसका अर्थ है कि भानुजि दीक्षित ने पीछे संन्यास ले लिया था और उस समय उनका नाम हुआ—रामाश्रम। इसकी एक अपूर्व हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है १६४९ ईस्वी की, जो लेखक की समसामयिक प्रति है[1]। इसकी पुष्पिका से पता चलता है कि भानुजि ने बघेलवंशोद्भव महीधर-विषयाधिपति महाराजकुमार कीर्तिसिंह की आज्ञा से इस टीका का निर्माण किया था। डा० गोडे की स्थापना है कि कीर्तिसिंह का मूल नाम फतेहसिंह था जो अपने पिता अमरसिंह (१६२४–१६६० ई०) के शासनकाल में रीवा से अलग हटकर महीधर (मईहर) के शासक बन गये थे। इनका समय १७ शती का मध्य काल है (लगभग १६३०–१६७० ई०)। रामाश्रम के शिष्य वत्सराज ने १६९८ विक्रमी (=१६४१ ई०) में वाराणसी-दर्पण-प्रकाशिका नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें वे लिखते हैं—

---

१. द्रष्टव्य डा० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री भाग ३ (पूना, १९५६; पृ० २५–३४)।

भट्टोजि-दीक्षितं नत्वा रामाश्रम-गुरुं पुनः ।
वत्सराजः करोत्येतां काशीदर्पणकाशिकाम् ॥

इससे स्पष्टतः प्रतीत होता है १६४१ ई० से पहिले ही भानुजि संन्यासी बन गये थे। गृहस्थाश्रम में रहते ही समय उन्होंने व्याख्यासुधा लिखी थी। इस सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका से यह तथ्य विदित होता है। भट्टोजि दीक्षित का समय १५६० ई०–१६२० ई० नियत किया गया है। फलतः भानुजि दीक्षित का काल १६०० ई०–१६५० ई० मानना सर्वथा उचित होगा। यह टीका बहुत ही विस्तृत तथा प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति देती है। इसके पाण्डित्यपूर्ण होने में सन्देह नहीं।

(६) भरत मल्लिक—बंगाल के गौरांग मल्लिक के पुत्र भरत मल्लिक या भरतसेन ने अमरकोश के ऊपर टीका लिखी है जो बहुत ही विस्तृत तथा निर्देश-ग्रन्थों से मण्डित टीका है। शब्दों के विभिन्न रूपों को भी यहाँ दिखलाया गया है। यहाँ शब्दों की व्युत्पत्ति वोपदेव के व्याकरणानुसार दी गई है। वोपदेव के ग्रन्थ कविकल्पद्रुम (रचनाकाल १६३६ ईस्वी) की टीका में दुर्गादास ने भरत की अमर-टीका को अनेक बार उद्धृत किया है। फलतः इनका समय १७ वीं शती से पहिले होना चाहिए।

अमरकोश के अन्य टीकाओं में इन टीकाओं की प्रसिद्धि है—(७) नारायण शर्मा की 'अमरकोश पंजिका' या पदार्थ कौमुदी (रचनाकाल १६१९ ई०); (८) रमानाथ विद्यावाचस्पति की 'त्रिकाण्ड विवेक' टीका (रचनाकाल १६२३ ई०); (९) मथुरेश विद्यालंकार की 'सारसुन्दरी' (र० का० १६६६ ई०); (१०) अच्युतोपाध्याय की 'व्याख्याप्रदीप', (११) रघुनाथ चक्रवर्ती का 'त्रिकाण्डचिन्तामणि' (कलकत्ते से प्रकाशित); (१२) महेश्वर का 'अमर विवेक' (बम्बई से प्रकाशित)।

अमरपश्चात् काल

अमरसिंह के अनन्तर कोशकारों के शब्दचयन में बड़ी प्रौढ़ता तथा व्यापकता है। कतिपय कोशकारों ने केवल नानार्थ कोष की ही रचना स्वतन्त्र रूप से पृथक् की है जिससे ऐसे दोषों में बड़ी व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। वैद्यकशास्त्र के विषय में अनेक निघण्टुओं का निर्माण भी विषय की लोकप्रियता का द्योतक है। संस्कृत के समान ही पाली, प्राकृत तथा देशी शब्दों की भी रचना इस युग में हुई। फलतः यह काल कोशों के इतिहास में नितान्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। मान्य कोशकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(१) शाश्वत—अनेकार्थं समुच्चय:[१]

इस कोश में केवल अनेकार्थ शब्दों का ही विस्तृत चयन है। इस चयन में किसी व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। कहीं पर पूरे पद्य में, कहीं आधे पद्य में और कहीं चौथाई पद्य में शब्दों का अर्थ दिया गया है। इस विषय में अमरकोश की अपेक्षा विशेष प्रौढ़ता तथा पूर्णता दृष्टिगोचर होती है जो शाश्वत को अमर का परवर्ती लेखक सिद्ध कर रही है। इनके समय का निर्णय अनुमानतः ही करना पड़ता है।

शाश्वत के अन्तिम पद्य में लिखा गया है[२] कि कवि महाबल तथा बुद्धिमान् वराह के साथ सम्यक् परामर्श करके यह कोश प्रयत्न से तैयार किया गया। ये दोनों जन अज्ञात हैं। शाश्वत निश्चयरूपेण अमर के पश्चाद्वर्ती है। क्षीरस्वामी का प्रामाण्य निःसंदिग्ध है। अमर में आतिथ्य शब्द का अर्थ अतिथ्यर्थ है 'अतिथये इदम्' विग्रह के द्वारा। क्षीरस्वामी का कथन है कि कात्य तथा माला दोनों के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'अतिथि' है। अतएव शाश्वत ने दोनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग लिखा है—

शाश्वतोऽत्र एवोभयमाह—आतिथ्यं स्यादतिथ्यर्थम् आतिथ्यमतिथिं विदुः।

इससे स्पष्ट है कि क्षीरस्वामी के मत में ये अमर के पश्चाद्वर्ती थे। ऐसी स्थिति में वराह से वराहमिहिर (ज्योतिषी, बृहत्-संहिताके रचयिता, षष्ठ शती) का तात्पर्य लगाना कथमपि असंगत नहीं प्रतीत होता। शाश्वत का भी समय षष्ठ शती मानना उचित प्रतीत होता है। इन्हीं के नाम पर इनका नानार्थक कोश 'शाश्वत कोश' के नाम से प्रख्यात है।

शाश्वत ने अपने विषय में लिखा है कि मैंने तीन व्याकरणों को देखा तथा पाँच लिंगशास्त्रों का (लिङ्गानुशासनों का) अध्ययन किया[३]। इस व्याकरणत्रयी में चान्द्र अवश्यमेव अन्यतम था—यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। 'तन्त्री' शब्द चान्द्र व्याकरण के उणादिसूत्र (१।६०) के अनुसार ङीवन्त है 'नदी' शब्द के समान, परन्तु पाणिनीय उणादिसूत्र (३।१४६) के अनुसार वह 'लक्ष्मी' शब्द के समान ई प्रत्यय के योग से निष्पन्न है[४]। फलतः चान्द्र के अनुसार प्रथमा एकवचन होगा तन्त्री और

---

१. ओकद्वारा संपादित, पूना १६१८। नारायण कुलकर्णी द्वारा संपादित, पूना, १६३०।

२. महाबलेन कविना वराहेण च धीमता।
सह सम्यक् परामृश्य निर्मितोऽयं प्रयत्नतः॥

३. दृष्टशिष्ट-प्रयोगोऽहं दृष्ट-व्याकरण-त्रयः।
अधीती सदुपाध्यायात् लिङ्गशास्त्रेषु पञ्चसु॥
—शाश्वतकोष, प्रारम्भ का ६ श्लो०।

४. अवि-तृ-स्तृ-तन्त्रिभ्यः ईः (तृतीय पाद, १४६ सूत्र)।

पाणिनि के अनुसार तन्त्रीः। शाश्वत तन्त्री का प्रयोग करते हैं—वीणादीनां गुणस्तन्त्री तन्त्री दृढसिरा मता (श्लोक ४४६)। इसी प्रकार के चान्द्रसम्मत 'विश्राम' का प्रयोग करते हैं, पाणिनि सम्मत 'विश्रम' का नहीं (श्लोक ५४) फलतः शाश्वत को चन्द्रगोमी से (५०० ई० लगभग) अर्वाक्कालीन मानना ही युक्तियुक्त है। अतः पूर्वोक्त कालनिर्णय की इस प्रमाण से सद्यः पुष्टि होती है।

'दृष्ट-शिष्ट-प्रयोग' होने का अभिमान भरने वाले शाश्वत कालिदास से विशेषतः परिचित हैं—यह तथ्य स्वभावसिद्ध है। कालिदास ने 'ललामन्' शब्द का प्रयोग रघुवंश में किया है (कन्या ललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः)। शाश्वत ने तदनुसार श्लोक ८० में ललाम के साथ 'ललामन्' को निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार 'भित्ति' का प्रयोग प्रदेश अर्थ में दोनों में मिलता है (रघु० ५।४३ तथा शाश्वतकोष ६५३ श्लो०)। जो पण्डित कालिदास को पंचम शती में मानते हैं, उनकी दृष्टि में भी शाश्वत कालिदासोत्तरकालीन कोपकार हैं।

(२) धनञ्जय—नाममाला

धनञ्जय कवि रचित 'नाममाला' व्यवहार में आने वाले लोकप्रचलित संस्कृत शब्दों का एक उपयोगी कोश है। इसमें केवल दो सौ श्लोक हैं और इन्हीं के द्वारा समानार्थक शब्दों का संग्रह उपस्थित किया गया है। इसमें नवीन शब्दों के निर्माण के निमित्त सुन्दर उपाय बतलाये गये हैं। जैसे पृथ्वी वाचक शब्दों में 'धर' शब्द जोड़ने से पर्वत के नाम, मनुष्यवाची शब्दों के आगे 'पति' शब्द जोड़ने से राजा के नाम, वृक्षवाची शब्दों में 'चर' शब्द जोड़ने से बन्दर के नाम निर्घात, अशनि, वज्र, उल्का शब्दों से तथा बिजुलीवाची शब्दों से 'पति' जोड़ने से मेघवाचक शब्द बन जाते हैं (जैसे निर्घातपति, वज्रपति, उल्कापति, विद्युत्पति आदि का अर्थ मेघ है)। शब्दों के चयन में लोकव्यवहार को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह इस कोश की विशेषता ध्यानगम्य है। **अनेकार्थनाममाला** मूलकोश का ही पूरक अंग है। इसके अतिरिक्त **अनेकार्थ निघण्टु** १५३ श्लोकों का एक लघुग्रन्थ है जिसकी पुष्पिका धनञ्जय को इसका रचयिता बतलाती है। फलतः धनञ्जय रचित ये दो कोष है। प्रथम कोश की व्याख्या लिखी **अमरकीर्ति** ने, जो व्याख्या विस्तृत तथा विशद होने से भाष्य के नाम से अभिहित की गयी है। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार इन्होंने व्युत्पत्ति लिखी है तथा अपने तथ्य की पुष्टि में महापुराण, पद्मनन्दिशास्त्र, यशस्तिलक चम्पू आदि ग्रन्थों तथा यशःकीर्ति, अमरसिंह, आशाधर, क्षीरस्वामी, श्रीभोज, हलायुध आदि ग्रन्थकारों को नामनिर्देशपूर्वक प्रमाणकोटि में उपस्थित किया है[1]।

---

1. भाष्य के साथ नाममाला का विशद सं० भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने प्रकाशित किया है; मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला सं० ६, १९४४।

लेखक तथा भाष्यकार के समय का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। महाकवि धनञ्जय की सर्वश्रेष्ठ रचना है द्विसन्धान काव्य जिसमें श्लिष्ट पदों के द्वारा रामायण और महाभारत दोनों के कथानक का विशद वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण के कारण ये 'द्विसन्धान कवि' की आख्या से प्रख्यात थे। नाममाला के अन्त में अपने ग्रन्थ का उन्होंने सगौरव उल्लेख किया है। जैन साहित्य के रत्नत्रय में प्रथम रत्न है अकलङ्क का प्रमाण शास्त्र, द्वितीय रत्न है पूज्यपाद का लक्षण अर्थात् व्याकरण-शास्त्र तथा तृतीय रत्न है द्विःसन्धान कवि का काव्य—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्
द्विःसन्धानकवेः काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम्
(नाममाला, श्लोक २०१)

इस द्विसन्धानकाय का उल्लेख अनेक ग्रन्थकारों ने बड़े सत्कार से अपने ग्रन्थों में किया है—(१) भोजराज के समकालीन आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ प्रमेय-कमल-मार्तण्ड (पृ० ४०२) में इस काव्य का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र का समय ११ शती का मध्यभाग है। (२) वादिराज सूरि ने (सन् १०३५) अपने 'पार्श्वनाथ चरित' में धनञ्जय के नाम का उल्लेख किया है[1]। (३) जल्हण ने अपनी सूक्तिमुक्तावली (४।९७) में राजशेखर के नाम से द्विसन्धान काव्य की प्रशस्ति उद्धृत की है[2]। ये राजशेखर बालरामायण आदि प्रख्यात ग्रन्थों के रचयिता हैं। समय दशमी शती का आरम्भ काल (८७५ ई०—९२० ई०)। (४) जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका (पृ० ३८७) में 'अनेकार्थ नाममाला' (धनञ्जय-रचित ग्रन्थ) से एक श्लोक उद्धृत किया है। धवला टीका ८७३ विक्रमी सं० (=८१६ ईस्वी) में समाप्त हुई। फलतः धनञ्जय का समय इससे पश्चाद् नहीं हो सकता। (५) धनञ्जय ने अकलंकदेव (समय सप्तम शती) का उल्लेख पूर्वोदाहृत 'प्रमाणमकलङ्कस्य' पद्य में किया है। फलतः ये सप्तम शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

---

१. इस काव्य की यह प्रशस्ति वादिराज सूरि द्वारा 'पार्श्वनाथ चरित' के आरम्भ में दी गयी है—

अनेक भेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥

२. यह प्रशस्ति इस प्रकार है—

द्विःसन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनञ्जयः।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनञ्जयः॥

—सूक्तिमुक्तावली ४।९७

निष्कर्ष यह है कि धनञ्जय का समय अकलङ्क (सप्तम शती) तथा वीरनन्दी स्वामी (८१६ ई०) के बीच में होना चाहिए। धनञ्जय का समय अष्टम शती का उत्तरार्ध मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है (लगभग ७४० ई०–७६० ई०)।

भाष्यकार अमरकीर्ति के समय का अनुमान लगाया जा सकता है। भाष्य की पुष्पिका से प्रतीत होता है कि अमरकीर्ति 'त्रैविद्य' उपाधि से विभूषित थे तथा सेन्द्रवंश (सेनवंश) में उत्पन्न हुए थे। शब्दों के पारगामी पाण्डित्य के कारण वे अपने को 'शब्दवेत्ता' कहते हैं। ये 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' के प्रणेता वर्धमान के समकालीन तथा विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्ति के सधर्मा शास्त्रकोविद विद्वान् थे[1]। दशभक्त्यादि-महाशास्त्र का समाप्तिकाल १४०४ शक (=१४८२ ई०) है। इसमें उल्लिखित होने से इनका समय १५ शती का मध्यभाग (१४५० ई०) मानना उचित प्रतीत होता है[2]।

(३) पुरुषोत्तम देव—त्रिकाण्डकोष, हारावली

पुरुषोत्तम देव ने राजा लक्ष्मणसेन (११७० ई०–१२०० ई०) के आदेश पर पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'भाषावृत्ति' नामक वृत्ति लिखी; ऐसा कथन इसके टीकाकार सृष्टिधराचार्य का है, परन्तु इन कोशों का निर्माण लक्ष्मणसेन के युवराज काल में ही हो गया होगा, क्योंकि सर्वानन्द (११५९ ई०) ने लक्ष्मणसेन के राज्या-रोहण से दस वर्ष पूर्व ही इनके तीनों कोशों का बहुशः उल्लेख अपनी अमरव्याख्या में किया है। फलतः इनका समय १२ शती का उत्तरार्ध मानना उचित है। इनके आधारग्रन्थ हैं—वाचस्पति का शब्दार्णव, व्याडि की उत्पलिनी तथा विक्रमादित्य का 'संसारावर्त'। अमरसिंह के समान ये भी बौद्ध थे। अपने कोश में इन्होंने बुद्ध के नामों की ही एक विस्तृत सूची नहीं दी है, प्रत्युत उसके साथ उनके पुत्र राहुल का तथा प्रतिद्वन्दी देवदत्त के नाम का भी निर्देश किया है।

पुरुषोत्तमदेव, अमरसिंह के समान ही, बौद्ध थे। इसका स्पष्ट प्रमाण त्रिकाण्डशेष के मंगलश्लोक तथा बुद्ध की नामावली से मिलता है। मंगलश्लोक में (नमो

---

१. अमरकीर्ति की प्रशस्ति इस ग्रन्थ में इस प्रकार है—

जीयाद् अमरकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणिः।
विशालकीर्तिं योगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविदः॥
अमरकीर्तिमुनिर्विमलाशयः कुसुमचापमहाचलवज्रभृत्।
जिनमतापहतारितमाश्च यो जयति निर्मलधर्मगुणाश्रयः॥

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—नाममाला की भूमिका (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४) पृ० ११–१३।

मुनीन्द्राय सुराः स्मृताश्च) में मुनीन्द्र को नमस्कार का विधान है। 'मुनीन्द्र' शब्द बुद्ध का ही वाचक है (मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता—अमरकोश)। देवताओं के उल्लेख में सर्वप्रथम बुद्ध के ३७ नामों का निर्देश है। तदनन्तर बुद्ध के पुत्र राहुल का, अनुज देवदत्त का, मायादेवी का तथा प्रत्येकबुद्ध का क्रमशः उल्लेख है (प्रथम काण्ड, १ वर्ग ८-१४ श्लो०) फलतः उनके बौद्ध होने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। इनकी कोशविषयक तीन रचनायें उपलब्ध हैं—

(१) **त्रिकाण्डशेष**—अमरकोश (त्रिकाण्ड) का पूरक ग्रन्थ। इसमें लोक-व्यवहार में प्रयुक्त, परन्तु अमरकोश में अनुपलब्ध, शब्दों का सुन्दर संग्रह है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अमरवत् है। क्रम अमर के समान ही है, परन्तु अनुष्टुप् से अतिरिक्त छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। श्लोकों की संख्या एक सहस्र तिरपन है। अमरकोश के समान ही इसमें तीन काण्ड तथा २५ वर्ग हैं। अमर के पूरक होने के हेतु यह कोश खूब प्रसिद्ध रहा और टीकाग्रन्थों में बहुशः उद्धृत है। इसकी टीका लंका के महानायक यतिवर श्री शीलस्कन्ध[1] ने लिखी है जो बहुत ही उपादेय है। व्याकरण से सम्बद्ध प्रभूत तथ्य यहाँ दिये गये हैं तथा अन्य कोशों के प्रमाण-वचनों से यह परिपुष्ट है।

(२) **हारावली**[2] में ग्रन्थकार अप्रचलित शब्दों को तथा असमान्य शब्दों को देने की प्रतिज्ञा करता है। २७० पद्यात्मक यह लघुकाय ग्रन्थ है—दो भागों में विभक्त। समानार्थक भाग के तीन अंश हैं पहिले में पूरे श्लोक में समानार्थक शब्द हैं, दूसरे में अर्धश्लोक में तथा तीसरे में एक चरण में ही। नानार्थक खण्ड में भी यही पद्धति है।

(३) **वर्णदेशना**—वर्तनी (स्पेलिंग, हिज्जे) की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थकार का कथन है कि गौड लिपि (बँगला लिपि) में अनेक वर्णों की लिखावट में स्वल्प भेद रहता है। इसलिए शब्दों के रूपों में भ्रान्ति होनी सम्भावना रखती है। इसी के निराकरण के लिए ग्रन्थ का उपयोग है। पूरा ग्रन्थ गद्य में हैं और अभी तक अप्रकाशित है। एकाक्षर कोश तथा द्विरूप कोश भी इनके नाम से प्रख्यात लघुकोश हैं।

(४) हलायुध—अभिधान-रत्नमाला[3]

हलायुध ने इस ग्रन्थ की रचना में अमर को ही अपना आदर्श माना है तथा

---

१. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १९१५ में टीका के साथ प्रकाशित।
२. अभिधान संग्रह (प्रथम खण्ड), बम्बई, १८८९ (प्रकाशित)।
३. डा० आफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित, लण्डन, १८६१ 'हलायुधकोष' के नाम से लखनऊ से प्रकाशित १९५७।

अमरदत्त, वररुचि, भागुरि तथा वोपालित से नवीन सामग्री का संकलन किया। अभिधान रत्नमाला में पाँच काण्ड हैं जिसमें प्रथम चार—स्वर, भूमि, पाताल तथा सामान्य—समानार्थ शब्दों का वर्णन करते हैं। अन्तिम काण्ड (अनेकार्थ काण्ड) में नानार्थ तथा अव्ययों का वर्णन है। रूपभेद के द्वारा लिंग का निर्देश किया गया है। नाना वृत्तों के लगभग नव सौ पद्यों में समाप्त यह कोश अमरकोश के आधे से कुछ अधिक है। हलायुध का समय दशम शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने अपना काव्यग्रन्थ कविरहस्य मान्यखेट के राजा कृष्णराज तृतीय (९५०ई०) के समय में तथा पिंगल की मृतसंजीवनी वृत्ति धारा के राजा मुंज (१० श० का उत्तरार्ध) के प्रतिष्ठार्थ बनाई थी। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय दशमशती का उत्तरार्ध है।

(५) यादवप्रकाश—वैजयन्ती[1]

वैजयन्ती कोश कोशों के इतिहास में एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके दो खण्ड हैं। समानार्थ खण्ड के पाँच भाग हैं—स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि, पाताल तथा सामान्य। नानार्थखण्ड के तीन भाग हैं जिनमें ग्रन्थकार ने शब्दों का चयन अक्षरक्रम से किया है। यह उतना व्यवस्थित नहीं है, परन्तु कोश के लिए वर्णक्रम से शब्द-संग्रह एक नई वस्तु है। अमरकोश की अपेक्षा वैजयन्ती के ये दोनों खण्ड अधिक पुष्ट तथा पूर्ण हैं। इसमें वैदिक शब्दों का भी संकलन है जो इसे अत्यन्त मूल्यवान् कोश बना रहा है। यादवप्रकाश रामानुजाचार्य (१०५५ई०–११३७ई०) के विद्यागुरु थे तथा काञ्ची के आसपास इनका जन्मस्थान था। ये अद्वैत वेदान्ती थे और प्रसिद्धि है कि रामानुज को जब इनके उपनिषदों की अद्वैत व्याख्या से सन्तोष न हुआ, तब इनसे अलग हो गये तथा विशिष्टाद्वैत की ओर वे झुक गये। फलतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

(६) महेश्वर—विश्वप्रकाश[2]

विश्वप्रकाश नानार्थ कोश है जिसमें शब्दों का चयन अन्तिम वर्ण के आधार पर पर किया गया है जैसे 'कद्विक' में अर्क, पिक, आदि शब्दों की गणना है जिनमें ककार अन्त में दूसरा अक्षर पड़ता है। पूरे ग्रन्थ की व्यवस्था इसी प्रकार का है। रूप-भेद से ही लिंग का निर्देश किया गया है। अन्त में अव्ययों का भी संकलन है। ग्रन्थ के आरम्भ में महेश्वर ने अपना पूरा परिचय दिया है जिससे प्रतीत होता है कि ये वैद्यकुल में उत्पन्न हुए थे तथा इनके पूर्वज हरिश्चन्द्र ने चरकसंहिता के ऊपर टीका

---

१. डा० ओपर्ट द्वारा सम्पादित, मद्रास, १८९३।
२. चौखम्भा सीरीज, काशी से प्रकाशित।

लिखी थी। ग्रन्थ की रचना ११११ ईस्वी में हुई थी[1] और अपने ही समय में इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो चली थी। सर्वानन्द (११५९ ई०) ने बंगाल के तथा हेमचन्द्र (१०८८-११७० ई०) ने गुजरात में इनके मत का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। मल्लिनाथ ने इसका विशेष उपयोग अपने व्याख्याओं में किया है। महेश्वर ने स्वयं अपने ग्रन्थ का एक परिशिष्ट लिखा है जिसका नाम 'शब्द भेद प्रकाश' है जिसके चार निर्देशों (भागों) में शब्द के भेदों पर विचार किया गया है।

(७) अजय या अजयपाल

दोनों नाम एक ही कोषकार के हैं। अजय बौद्धमतावलम्बी थे। अपने कोष के आरम्भ में इन्होंने शास्ता बुद्ध की स्तुति की है (जयन्ति शास्तुः पदपङ्कजाङ्कुराः)। 'अजयपाल' ही इनका पूरा नाम था (श्लोक २), परन्तु संक्षेप में ये प्रायः 'अजय' नाम से ही निर्दिष्ट हैं। इनके मत का उल्लेख तथा उद्धरण बहुशः उपलब्ध होते हैं। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका 'टीका सर्वस्व' में (११५९ ई०) तथा वर्धमान ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ 'गणरत्न महोदधि' (र० का० ११४० ई०) में इनका बहुशः उल्लेख किया है। फलतः ये १२ शती से प्राचीन कोषकार हैं। इनके देश का परिचय शब्दों की वर्तनी से लगाया जा सकता है। इन्होंने ब तथा व में अन्तर नहीं माना है। वत्स, वराटक, वल्लभ, विटप निश्चयेन अन्तःस्थ वकरादि शब्द हैं, परन्तु इन्होंने इन शब्दों को ओष्ठ्य बकरादि माना है तथा उसी स्थल में निर्दिष्ट किया है। इससे ठीक विपरीत बर्बर, बिम्ब, बुध तथा बाष्प आदि ओष्ठ्य बकरादि शब्द यहाँ अन्तःस्थ वकरादि स्वीकृत हैं। यह वैशिष्ट्य बंगीय लेखकों का ही प्रसिद्ध है। फलतः ये बंगदेशीय सिद्ध होते हैं।

नानार्थसंग्रह—अजय का यह कोषग्रन्थ लघुकाय होने पर भी बड़े महत्त्व का है[2]। इसमें लगभग १८०० शब्द हैं (१७३० शब्द)। वर्णक्रमानुसार शब्दों का चयन इसकी महती विशिष्टता है। वर्णक्रमानुसारी कोषों में यही सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। अमरकोश के टीकाकारों में सर्वानन्द, रायमुकुट आदि ने अजय का प्रमाण पूर्णतः माना है। केशव स्वामी ने अपने 'नानार्थार्णव संक्षेप' के लिए इस कोश को प्रधान उपजीव्य बनाया है जिसका प्रामाण्य उन्हें अधिकतर मान्य है। इसके उल्लेख प्रभूत-मात्रा में हैं।

---

१. रामानल व्योमरूपैः शलकालेऽभिलक्षिते।
कोषं विश्वप्रकाशाख्यं निरमाच्छ्रीमहेश्वरः ॥ (अन्तिम श्लोक)।

२. डा० चिन्तामणि द्वारा मद्रास यूनिवर्सिटी सं० सी० (संख्या १०) में प्रकाशित, मद्रास, १९३७।

(८) मेदिनि कोश अथवा मेदिनी कोष

इस कोश के निर्माता का नाम 'मेदिनिकर' है। इसका उल्लेख ग्रन्थ के आरम्भ में (१३ श्लोक) ही किया गया है। यह कोश 'विश्वप्रकाश' के आधार पर मुख्यतः बनाया गया है। दोनों ही नानार्थकोष है, परन्तु दोनों के शब्द-चयन में पार्थक्य है। विश्वप्रकाश अन्तिम वर्ण को ही लक्ष्य में रखकर शब्द चयन करता है, परन्तु मेदिनि-कोश में आदि वर्ग के ऊपर भी दृष्टि है। अर्थात् अकारादि वर्णक्रम का यथासम्भव ध्यान रखा गया है तथा साथ ही साथ अन्तिम वर्ण पर भी विश्वप्रकाश के समान ही लक्ष्य रखा गया है। मेदिनीकोश शब्दों की संख्या में तथा चयन की व्यवस्था में विश्वप्रकाश की अपेक्षा कहीं अधिक विशद तथा सुव्यवस्थित हैं।

मेदिनीकर के देश-काल का यथार्थ पता नहीं चलता। इनके पिता का नाम प्राणकर था, जिन्होंने पाँचसौ गाथाओं का एक संग्रह प्रस्तुत किया था। मेदिनी 'विश्वप्रकाश' को 'बहुदोष' बतलाकर अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है। फलतः इसकी रचना ११११ ई० के अनन्तर हुई जब विश्वप्रकाश का निर्माण हुआ था। यह है पूर्व अवधि। अपर अवधि के विषय में नाना मत हैं। मल्लिनाथ (१४३० ई० के आस-पास) ने माघकाव्य की टीका में (२।६५) मेदिनि के वचन को उद्धृत किया है[२]। पद्मनाभ भट्ट (जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'पृषोदरादिवृत्ति' को १३७५ ई० में बनाया) 'मेदिनीकोष' का उल्लेख अपने 'भूरिप्रयोग' ग्रन्थ में करते हैं[३]। फलतः इसका रचनाकाल चतुर्दश शती के अन्तिम चरण से पूर्व माना जाता था। परन्तु कितना पूर्व ? इस प्रश्न का उत्तर सामान्यतः दिया जा सकता है। डा० गोडे ने मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य के 'वर्णरत्नाकर' से मेदिनी का एक महत्त्व-पूर्ण उल्लेख खोज निकाला है। ज्योतिरीश्वर ने संस्कृत तथा मैथिली दोनों भाषाओं में ग्रन्थ लिखे हैं। संस्कृत में इनका 'धूर्तसमागम' प्रहसन तथा 'पञ्चसायक' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ प्रख्यात है। ये कर्नाटवंशीय मैथिल नरेश हरसिंहदेव (समय १३०० ई०—१३२५ ई०) के आश्रित विद्वान् थे। मैथिली में लिखित इनका 'वर्णरत्नाकर' उस भाषा का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। इस ग्रन्थ का निर्माण-काल चतुर्दश शती का प्रथम चरण है। इस ग्रन्थ के भाट के शिक्षण प्रसंग में १८ कोशों के नाम दिये गए हैं—धरणि, विश्व, व्यालि, अमरनाम लिंग,

---

१. बनारस संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित।

२. इनः पत्यौ नृपार्कयोरिति मेदिनी।

३. विश्वप्रकाशामरकोषटीका त्रिकाण्डशेषोज्ज्वलदत्तवृत्तीः।
हारावली मेदिनि कोषमन्यच्चालोक्य लक्ष्यं लिखितं मयैतत्॥

अजय, पलूर, शाश्वत, रुद्रट, उत्पलिनी, मेदिनीकर, आदि-आदि। इन नामों में मेदिनीकर का नाम अन्यतम है। फलतः १४ शती के प्रथम चरण में मेदिनीकोश इतना लोकप्रिय तथा प्रख्यात था कि वह मिथिला के विद्वान् द्वारा उल्लिखित होने की योग्यता रखता था। इस प्रकार विश्वप्रकाश का उल्लेख करने से तथा 'वर्णरत्नाकर' में उल्लिखित होने से मेदिनीकोश का निर्माण काल १२०० ई०—१२७५ ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है[1]।

(९) मंख—अनेकार्थ कोष[2]

विश्वप्रकाश के समान ही अन्तिम व्यंजनों के क्रम पर निबद्ध यह कोष १००७ पद्यों में बिना किसी परिच्छेद के समाप्त हुआ है। इसके ऊपर एक टीका भी है जो या तो मंख की रचना है या उसके किसी शिष्य की। काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८–११४९ ई०) के राज्यकाल में उत्पन्न तथा 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य के रचयिता मख या मंखक इस कोषकार से भिन्न नहीं हैं। यह कोष काश्मीर के कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का चयन प्रस्तुत करता है और इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, परन्तु काश्मीर के बाहर इसका प्रचार नहीं हो सका।

(१०) हेमचन्द्र—अभिधान-चिन्तामणि आदि

प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र (१०८८-११७५ ई०) ने चार कोषों की रचना कर इस शास्त्र को आगे बढ़ाया जिनके नाम हैं—अभिधान-चिन्तामणि—समानार्थ शब्दों का कोष; अनेकार्थ-संग्रह = नानार्थ शब्दों का कोष; निघण्टु कोष—वैद्यक कोष तथा देशीनाममाला—प्राकृत शब्दों का कोष।

अभिधानचिन्तामणि[3] में ६ काण्ड हैं—देवाधिदेव, देव, मर्त्य, भूमि, नरक और सामान्य। इनमें प्रथम काण्ड जैन देवी-देवताओं के नामों का संग्रह है। दूसरे में ब्राह्मण तथा बौद्ध देवता और तत्सम्बद्ध परिकरों का नाम है। अन्य काण्डों में तत्तत् विषय-सम्बन्धी शब्दों का अर्थ चिन्तन है। यह कोश नाना वृत्तों में निबद्ध १५४२ पद्यों में समाप्त हुआ है। इसके ऊपर हेमचन्द्र ने स्वयं एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य डा० गोडे का लेख Studies in Indian Literary History part I pp. 281—289. (Bombay, 1953)

२. ज़खरिया द्वारा सम्पादित।

३. ग्रन्थकार की टीका के साथ सं० यशोविजय जैनग्रन्थमाला में भावनगर; वीर संवत् २४४१।

जिसमें प्राचीन कोशकारों के मत का उपन्यास है जैसे भागुरि, हलायुध, शाश्वत, यादव आदि। ग्रन्थकार का ही 'शेष-संग्रह' नामक एक परिशिष्ट भी प्रकाशित है।

अनेकार्थ संग्रह[1] में लगभग १८२९ श्लोक हैं जो छः काण्डों में विभक्त हैं। शब्दों का संग्रह दो प्रकार से हैं अन्तिम अक्षरों के द्वारा तथा आदि अक्षरों के द्वारा। अतः शब्दों की जानकारी बड़ी आसानी से हो सकती है। हेमचन्द्र ने लिंगों के ज्ञान के लिए 'लिंगानुशासन' अलग लिखा है और इसलिए यहां उसका निर्देश नहीं है। इसकी एक टीका भी है अनेकार्थ-कैरवाकर-कौमुदी जिसके वास्तव रचयिता ग्रन्थकार के शिष्य महेन्द्र सूरि हैं, परन्तु जो हेमचन्द्र के ही नाम से प्रख्यात है।

कोषकारों के गुणदोष की विवेचना के अवसर पर हेमचन्द्र का कार्य नितान्त श्लाघनीय प्रतीत होता है। वे बड़े जागरूक कोषकार हैं। व्यवहार में आने वाले संस्कृत शब्दों को यथावत् संगृहीत करने की उनकी निष्ठा श्लाघनीय है। इस विषय का द्योतक एक तथ्य यह है। जहाँ वे अश्वों का विभाजन वर्ण के अनुसार करते हैं वहाँ उस काल में व्यवहृत होने वाले समस्त शब्दों का चयन अपने कोष 'अभिधान चिन्तामणि' में प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अनेक नाम विदेशी हैं—इसे हेमचन्द्र ने स्वीकारा है। खोङ्गाह, सेराह, खुंगाह, सुरूहक, वोरखान—आदि शब्द इसी प्रकार देशी शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति हेमचन्द्र ने वर्णों की आनुपूर्वी के निश्चयार्थ दी है[2]। ऐतिहासिक तथ्य है कि फारस तथा अरब से घोड़ों का व्यवसाय जलमार्ग से होता था। मलाबार में 'कायल' नामक बन्दरगाह घोड़ों के आयात करने के लिए १२९० ई० के आस-पास विशेषरूपेण प्रख्यात था। महाराष्ट्र के राजा सोमदेव ने अपने ग्रन्थ मानसोल्लास (या अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) में, जिसकी रचना ११३० ई० में हुई, अश्वों के नाम तद्रूप ही दिये हैं। सोमदेव तथा हेमचन्द्र प्रायः समकालीन ग्रन्थकार हैं। हेमचन्द्र का प्रभाव अवान्तरकालीन कोषकारों के ऊपर निश्चितरूपेण पड़ा है। केशव ने अपने कल्पद्रु कोष में (रचना काल १६६० ई०) हेमचन्द्र के द्वारा प्रदत्त नामों को अक्षरशः उल्लिखित किया है[3]—वेही नाम और वही व्याख्या।

(११) केशवस्वामी—नानार्थार्णव संक्षेप[4]

यह नानार्थ शब्दों का सबसे बड़ा कोश है जिसमें ५८०० के लगभग श्लोक है।

---

१. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से मूलमात्र प्रकाशित।
२. खोङ्गाहादयः शब्दाः देशीप्रायाः। व्युत्पत्तिस्त्वेषां वर्णानुपूर्वी-निश्चयार्थम्।
३. द्रष्टव्य—कल्पद्रु कोश श्लोक २०२–२०७; पृ० १११ (बड़ोदा संस्करण, १९२८)।
४. अनन्तशयन ग्रन्थमाला में मुद्रित, १९१२।

यह अक्षरों की गणना के आधार पर छः काण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक काण्ड लिंग के अनुसार ५ भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में शब्दों का संग्रह अक्षरक्रम से हुआ है। ये सब विशिष्टतायें वैजयन्ती कोश में भी पाई जाती हैं। वैदिक शब्दों का संकलन भी दोनों में समान रूप से किया गया है। इसकी एक बड़ी विशिष्टता यह है कि लगभग तीस आचार्यों, कवियों तथा वैदिक ग्रन्थकारों के मत मूल ग्रन्थ के भीतर ही श्लोकों में निबद्ध हैं। चोलवंशी नरेश कुलोत्तुंग के पुत्र राजराज चोल के आश्रय में रहकर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया और इसलिए यह राजराजीय के नाम से भी प्रख्यात है। चोल नरेशों के इतिहास में कुलोत्तुंग के पुत्र राजराज का उल्लेख दो बार मिलता है। प्रथम १२ शती में और द्वितीय १३ शती में। इन दोनों से कौन इनका आश्रयदाता था, यथार्थतः निर्णीत नहीं है। अरुणाचलनाथ ने (जिनका निर्देश मल्लिनाथ ने मेघदूत की संजीवनी में 'नाथस्तु' कहकर अनेकत्र उल्लिखित किया है) अपनी कुमारसम्भव टीका (१।१६) में तथा मल्लिनाथ ने रघुवंश टीका (१।४) में इनके मत का उल्लेख किया है। फलतः केशवस्वामी का समय १२०० ई० के आस-पास मानना उचित है। इस ग्रन्थ में ६ काण्ड तथा प्रतिकाण्ड ५ अध्याय है। काण्डों का विभाजन एकाक्षर से लेकर षडक्षर तक है। अध्यायों का विभाजन लिंग के अनुसार है—स्त्रीलिंग, पुंल्लिग, नपुंसक, वाच्यलिंग तथा संकीर्णलिंग। प्रति-अध्याय में शब्दों का चयन अक्षर-क्रम से किया है ठीक आज-कल के कोशों के अनुसार। अक्षर-क्रम से चयन का यह वैशिष्ट्य इस कोश को अन्य कोशों से पृथक् करता है[1]।

(१२) केशव—कल्पद्रु कोश[2]

कल्पद्रु कोष आज तक के ज्ञात समानार्थ कशों में सबसे बड़ा तथा विशाल है। इसमें लगभग चार हजार श्लोक हैं। इसके तीन स्कन्ध है—भूमि, भुवः तथा स्वर्ग और प्रत्येक स्कन्ध में अनेक प्रकाण्ड (या खण्ड) हैं। इसमें समानार्थ शब्दों का सबसे अधिक संख्या में संकलन है जैसे पृथ्वी के लिए ६४ शब्द तथा अग्नि के लिए ११४ शब्द आदि। शब्दों के संग्रह में अनेक नवीनतायें हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इस ग्रन्थ की रचना का काल दिया ४७६१ कलि संवत्, जो १६६० ईसवी में पड़ता है। अतः इनका समय १७ शती का उत्तरार्ध है।

कल्पद्रु कोश के शब्द चयन में बड़ा वैशद्य तथा विस्तार है। अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का संग्रह इसे विश्वकोष का रूप दे रहा है। हस्ति-प्रकरण (श्लोक १४२–१८८ श्लो०)

---

१. सं० अनन्तशयन ग्रन्थमाला, सं० २३, तीन भागों में प्रकाशित, १९१३।
२. म० म० रामवतार शर्मा की प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ बड़ोदा से दो भागों में प्रकाशित १९२८, १९३२।

में हाथियों के नामों का ही संग्रह नहीं है, प्रत्युत उनके उत्पत्तिस्थान का भी विशिष्ट निर्देश है। भिन्न-भिन्न अवस्था-वाले हाथियों के भिन्न-भिन्न अभिधान हैं (१४६–१५० श्लोक)। हाथी के जातियों की पहिचान बड़ी विशदता से यहाँ दी गई है। अमर के अनुसार दिग्गजों के नाम इस प्रकार हैं—ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम तथा सुप्रतीक (अमर १।२।५)। कल्पद्रु कोश में इन दिग्गजों के वंशज हाथियों का वर्णन स्पष्टरूपेण किया गया है जिससे उनकी पहिचान भलीभाँति हो सकती है (कल्पद्रु श्लो० १८२–१८८)। फलतः कल्पद्रु कोष केवल शब्दार्थ देनेवाला कोश नहीं है, प्रत्युत उन विषयों का विस्तृत विवरण देनेवाला विश्वकोश की समता रखता है।

(१३) शाहजी महराज—'शब्दरत्न समन्वय कोश'

इस उपयोगी कोश के रचयिता तंजोर के महाराष्ट्र नरेश शाहजी हैं। ये छत्रपति महाराज शिवाजी के अनुज वेंकाजी (एकोजी) के ज्येष्ठ पुत्र थे। तंजोर के इतिहास में शाहजी महाराज (१६८४ ई०—१७१२ ई०) का समय विद्याविलास, सुखसमृद्धि, तथा सुव्यवस्थित शासन के लिए चिरप्रसिद्ध हैं। ये स्वयं सरस्वती के सेवक थे तथा पंडितों के आश्रयदाता थे। इनकी सभा में छियालीस पंडित रहते थे और ये उन्हें संस्कृत के नाना विषयों में ग्रन्थ लिखने के लिए सदा प्रेरित करते थे। इनके पिता एकोजी ने तो केवल तंजोर राज्य की स्थापना की, परन्तु इन्होंने अपनी सुव्यवस्था से तंजोर में मराठा शासन को प्रतिष्ठा की। इनके बनाये हुए चार ग्रन्थ मिलते हैं जिनके नाम हैं—शब्दार्थ-संग्रह, चन्द्रशेखर विलास (नाटक), अष्टपति (संगीत ग्रन्थ जो श्रीनिवास के द्वारा शाहजी के प्रशंसा में लिखित शाहराजाष्टपति से भिन्न नहीं है) तथा शब्द-रत्न-समन्वय (कोश)[1]।

यह कोश नानार्थ कोश है जिसमें शब्दचयन की एक नवीन प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। सामान्य दृष्टि से अन्तिम वर्णों के अनुसार शब्दों का संग्रह है परन्तु प्रत्येक वर्ग के भीतर अक्षरक्रम से शब्दों का विन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ 'क' तृतीय वर्ग में उन शब्दों का संग्रह है जिनमें 'क' तीसरा वर्ण है जैसे जनक, जल्पाक, जम्बुक, कुहक, कुशिक, कूपक आदि। इस वर्ग के भीतर भी अकारादि क्रम के अनुसार शब्द रक्खे गये हैं। यह विशेषता संस्कृत के बहुत कम कोशों में पाई जाती है। इन्होंने क्षकार को अलग अक्षर मान कर, उससे आरम्भ होने वाले शब्दों को अन्त में दिया है। इसमें लगभग साढ़े तीन हजार श्लोक हैं। शब्दों का चयन बहुत ही व्यापक, विशद तथा प्रामाणिक है। एक शब्द के विभिन्न वर्तनी का भी उल्लेख यहाँ किया

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, संख्या ४५६, सं० १९३२ ई०।

गया है। इस कोश की रचना स्वयं शाहजी ने की। इसका एक प्रमाण यह भी है कि इसका दूसरा नाम राजकोश भी है। ऐसे सुन्दर कोश की रचना करने के लिए महाराष्ट्र नरेश सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। शाहजी के पूज्य पितृव्य शिवाजी महाराज ने भी व्यवहार में आने वाले फारसी शब्दों का संस्कृत अनुवाद अपने एक बड़े विज्ञ सभापंडित के द्वारा कराया था जिसका नाम 'राजव्यवहार' कोश है। शाहजी ने भी इसी परम्परा का अनुसरण कर इस विशद कोश की रचना की।

(१४) शब्द-रत्नाकर

इस नाम से प्रख्यात अनेक कोषों की सत्ता संस्कृत में उपलब्ध है—(क) महीप कृत महीप-कोष नामक शब्द-रत्नाकर पूर्णतः उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध होता है केवल उसका नानार्थ तिलक या अनेकार्थ-तिलक नामक अंश, जिसमें नानार्थक शब्दों का ही समुच्चय है। अनेकार्थ तिलक चार काण्डों में विभक्त है जिनमें क्रमशः एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर तथा चतुरक्षर (पञ्चाक्षर भी) शब्दों का चयन वर्णक्रम से किया है। यह वर्णक्रमानुसारी चयन, जैसा प्राचीन कोषों में देखा जाता है, आधुनिक शैली से सर्वतः पूर्ण वर्णक्रमानुसारी नहीं है, परन्तु अक्षरक्रम का अनुगमन अवश्य करता है। श्लोकों की संख्या क्रमशः ४५, ३६२, २९० तथा २१३ है (=पूरी संख्या ९१० श्लोक)। फलतः छोटा होने पर भी उपयोगी है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपने पिता का नाम सोम तथा माता का सौभाग्यदेवी बतलाया है। हेमचन्द्र के के अनेकार्थ संग्रह से इस कोष के श्लोक बहुधा मिलते हैं। फलतः यह १२वीं शती से पश्चाद्वर्ती है। डा० स्टाइन ने 'कश्मीर-जम्मू की पुस्तक सूची' में इसके एक हस्तलेख का समय १४३० वि० सं० (= १३७४ ई०) बतलाया है। यदि यह ठीक हो, तो इस कोश का समय १४ शती का उत्तरार्ध मानना उचित प्रतीत होता है।

(ख) वाचनाचार्य श्री साधु सुन्दरगणि रचित कोश भी 'शब्द रत्नाकर' नाम से प्रख्यात है[2]। इसमें ६ काण्ड हैं—(१) अर्हत्-काण्ड (१७ श्लोक), (२) देवकाण्ड (१३४ श्लोक), (३) मानवकाण्ड (३५५ श्लोक), (४) तिर्यक् काण्ड (३७२ श्लोक), (५) नारक-काण्ड (५७ श्लोक), (६) सामान्य-काण्ड (१२९ श्लोक)। अमरकोश की भाँति यह समानार्थक शब्दों का ही कोष है। इस ग्रन्थ की पुष्पिका में तथा अपने इतर ग्रन्थ धातु-रत्नाकर के आरम्भ तथा अन्त में अपने विषय में ग्रन्थकार ने जो

---

१. श्री मधुकर पाटकर द्वारा सम्पादित, डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित, १९४७ ई०।

२. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं० ३६) में प्रकाशित, काशी, वीर संवत् २४३९; हरगोविन्द दास तथा बेचर दास द्वारा संशोधित।

सूचना दी है उसके अनुसार वे साधुकीर्ति नामक पाटक के अन्तेवासी थे तथा विमल-तिलक के ये लघु गुरुभाई थे। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) उक्ति रत्नाकर, (२) धातु-रत्नाकर (व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ, जिसके ऊपर इन्होंने स्वोपज्ञवृत्ति का निर्माण किया था), (३) शब्द-रत्नाकर—इसका महनीय वैशिष्ट्य है शब्दों के विभिन्न रूपों का निरूपण। जैसे संग्राम के अर्थ में युत्, संयत्, संयत, राटी तथा रालि, समिति तथा समित तथा समित्-शब्दों के रूपों पर ध्यान देने से इस वैशिष्ट्य का परिचय मिल जाता है। यह वैशिष्ट्य इतना जागरूक है कि शब्दों के रूप-परिवर्तन पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

(ग) वामनभट्ट बाण द्वारा निर्मित एक तीसरा ही शब्द रत्नाकर है—त्रिकाण्डात्मक, अमर की शैली में विरचित।

(१३) नानार्थरत्नमाला

यह बड़ा कोश था जिसका केवल प्रथम परिच्छेद ही एकाक्षरकाण्ड के नाम से प्रकाशित हुआ है[१]। दो, तीन, चार अक्षर वाले शब्दों का भी कोश इन्होंने तैयार किया, संकीर्ण शब्दों का तथा अव्ययों का भी[२]। मेरे विचार से नानार्थरत्नमाला के ही ६ काण्ड थे जिनमें अन्तिम पाँच काण्ड अभी अप्रकाशित ही हैं[३]। इस कोश के रचयिता का नाम है—इरुग दण्डाधिनाथ (दण्डिनाथ, दण्डेश) भास्कर। ये विजयनगर के महाराज हरिहर द्वितीय के सेनानायक थे। इसीलिये ये दण्डाधिनाथ आदि नामों से प्रख्यात थे। भास्कर इनका व्यक्तिगत नाम प्रतीत होता है। समय १४ शती का उत्तरार्ध। इसमें ८१ श्लोक हैं। एकाक्षर शब्दों का चयन तथा अर्थ दोनों ही बड़ी प्रामाणिकता से उपन्यस्त हैं।

(१४) हर्षकीर्ति—शारदीयाख्य नाममाला[४]

शारदीयाख्य नाममाला अथवा शारदीयाभिधानमाला समानार्थक शब्दों का कोश है तथा तीन काण्डों में विभक्त है जिनमें से प्रत्येक काण्ड कई वर्गों में विभक्त किया गया

---

१. कुलकर्णी द्वारा सम्पादित शाश्वत कोश के परिशिष्ट रूप में, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३० ।

२. काण्डैश्चतुर्भिरेक-द्वि-त्रि-चतुर्वर्णवर्णितैः ।
संकीर्णाऽव्ययकाण्डाभ्यामिह षड्भिरनुक्रमात् ॥ श्लोक ४

३. ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से भी यही तथ्य द्योतित होता है—
इति जगदुपकारिण्याम् इरुगदण्डाधिनाथ-रचितायाम् ।
एकाक्षरपदकाण्डः सम्पूर्णो नानार्थरत्नमालायाम् ॥

४. प्रकाशक डेक्कन कालेज पूना, १९५१, सम्पादक मधुकर मंगेश पाटकर।

है। प्रथम काण्ड के तीन वर्गों के नाम हैं—(१) देववर्ग, (२) व्योमवर्ग तथा (३) धरा-वर्ग। द्वितीय काण्ड चार वर्गों में विभक्त है—(१) अङ्ग वर्ग, (२) संयोगादि वर्ग, (३) संगीत वर्ग तथा (४) पण्डित वर्ग; तृतीय काण्ड के पाँच वर्ग हैं—(१) ब्रह्म, (२) राज, (३) वैश्य, (४) शूद्र तथा (५) संकीर्ण वर्ग। पूरा ग्रन्थ ४६५ अनुष्टुप् श्लोकों में निर्मित है। इस कोश के प्रणेता हर्षकीर्ति प्रौढ विद्वान् थे तथा कोश से अतिरिक्त व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों में भी ग्रन्थ का निर्माण किया था। अधिक ग्रन्थ टीका-रूप में निर्मित्त हैं। ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) वृहच्छान्ति स्तोत्र (र० का० १६५५ वि०=१५६८ ई०) (२) कल्याण-मन्दिर स्तोत्र टीका (हस्तलेख का समय १६३५ वि० = १५७८ ई०), (३) सिन्दूर-प्रकरण टीका, (४) सारस्वत दीपिका, (५) सेटनिट् कारिका विवरण (र० का० १६६९ वि०=१६१२ ई०), (६) धातुपाठतरङ्गिणी, (७) धातुपाठविवरण, (८) योगचिन्तामणि, (९) वैद्यक सारोद्धार, (१०) ज्योतिःसार, (११) ज्योतिः-सारोद्धार, (१२) श्रुतबोध टीका, (१३) शारदीयाख्यानमाला।

हर्षकीर्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता। हम इतना ही जानते हैं कि वे जैन थे और नागपुरीय तपागच्छ शाखा के अध्यक्ष भट्टारक थे। उनके गुरु का नाम चन्द्रकीर्ति था जिन्हें दिल्ली के मुगल बादशाह जहाँगीर (१७ शती) से विशेष प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त था। धातुपाठतरङ्गिणी की प्रशस्ति से पता चलता है कि इनकी शाखा के अनेक आचार्यों को मुसलिम बादशाहों से विशेष सम्मान प्राप्त था। इस ग्रन्थकार के नाम से एक अन्य कोश की रचना उपलब्ध होती है। कोश का नाम है—शब्दानेकार्थ। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में इस पुस्तक के रचनाकाल का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है—

> बाण-तर्क-रस-ग्लौ तु (१६६५) वर्षे तपसि मासि च।
> राकायां हर्षकीर्त्याह्वसूरिश्चक्रे सतां मते॥

फलतः इसका रचनाकाल १६६५ वि० = १६०९ ई० है। अतः इनका समय १७ शती का आरम्भिक चरण मानना उपयुक्त होगा (१५७५ ई०–१६२५ ई०)।

अनेक कोशों का प्रकाशन हुआ है जिनमें कतिपय मुख्य कोशों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है। राघवकृत नानार्थमञ्जरी के समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, परन्तु इसके सम्पादक[1] की सम्मति में यह १४ शती का ग्रन्थ है। विश्वनाथ

1. कृष्णमूर्ति शर्मा द्वारा सम्पादित और डेक्कन कालेज पूना द्वारा प्रकाशित, १९५४।

का कल्पतरु[1] एक विशालकाय कोश है लगभग पाँच सहस्र श्लोकों में निबद्ध। इसमें समानार्थक तथा नानार्थक दोनों प्रकार के शब्दों का चयन है। अमरकोश की शैली में निबद्ध इस कोश के प्रणेता विश्वनाथ मेवाड के राजा जगतसिंह के आश्रित लेखक थे जिन्होंने १६२८ ई० तथा १६४४ ई० के बीच में 'जगत् प्रकाश' काव्य की रचना की। **नाममालिका**[2] नामक लघु कोश ६२६ श्लोकों में निबद्ध है तथा धारा के अधीश्वर भोजराज की रचना बतलाया जाता है जिससे इसका समय ११वीं शती है। **एकाक्षर-नाममाला-द्व्यक्षर नाममाला**[3] कोश सौभरि नामक लेखक की रचना माना जाता है। ग्रन्थकार १६ शती के उत्तरार्ध (१५८२ ई०) से अर्वाक्कालीन सम्भवतः नहीं है। नाम के अनुसार प्रथम भाग में एकाक्षर वाले शब्दों का तथा दूसरे भाग में दो अक्षर वाले शब्दों का संग्रह किया गया है। इस श्रेणी के अन्य कोशों से इसका वैलक्षण्य यह है कि इसमें 'क' का ही नहीं, प्रत्युत का, की, कु, कू आदि एकाक्षर शब्दों का भी अर्थ दिया गया है।

विशिष्ट विषयों को लेकर भी कोशों का निर्माण संस्कृत में हुआ है। महाराणा कुम्भकर्ण ने **संगीतराज**[4] नामक विशालकाय संगीत ग्रन्थ की रचना की थी। उसी का एक भाग **नृत्यरत्नकोश**[5] है जिसमें नृत्यविषयक प्रमेयों का निर्देश किया गया है। किसी अज्ञात लेखक द्वारा प्रणीत **वस्तुरत्नकोश**[6] एक विलक्षण कोश है उन सामान्य विषयों का, जिनकी जानकारी प्रत्येक सुशिक्षित भारतीय व्यक्ति को प्राचीन काल में रखनी आवश्यक थी। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग सूत्रों में निबद्ध है और दूसरा भाग सूत्रों तथा तत्सम्बन्धी विवरणों से युक्त है। इसके समयका यथार्थतः परिचय नहीं है, परन्तु यह ग्रन्थ सम्भवतः १००० ई० तथा १४०० ई० के बीच में कभी लिखा गया था।

---

१. मधुकर मंगेश पाटकर तथा कृष्णमूर्ति शर्मा द्वारा सं०; प्रकाशक वही, १६५७।
२. एकनाथ दत्तात्रेय कुलकर्णि तथा वासुदेव दामोदर गोखले द्वारा सं०, प्रकाशक पूर्ववत्, १६५५।
३. ए० द० कुलकर्णि द्वारा सं०, तथा पूर्ववत् प्रकाशित, पूना, १६५५।
४. इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट भाग हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के द्वारा प्रकाशित किया गया है।
५. सं० रसिकलाल पारीख तथा प्रियबाला शाह, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित, ग्रन्थसंख्या २५, जोधपुर १६५७।
६. सं० प्रियबाला शाह, प्रकाशक पूर्ववत्, १६५६ ई०।

यह मुख्य कोशकारों का सामान्य परिचय है। इसके अतिरिक्त अनेक कोश अभी तक हस्तलिखित रूप में हैं तथा अनेक कोशों का परिचय केवल उद्धरणों में ही मिलता है। सर्वानन्द तथा उनसे प्राचीन कोश में उद्धृत ये कोशकार १२वीं शती से प्राचीन हैं—अजयपाल ('नानार्थ संग्रह' के कर्ता), तारपाल, दुर्ग, धनंजय ('नाममाला' के कर्ता), धरणीदास ('अनेकार्थसार' के कर्ता, धरणी कोश या केवल 'धरणी' नाम से भी ख्यात), रन्तिदेव, रभस, (या रभसपाल), विश्वरूप, वोपालित, शुभांग (या शुभाङ्क)। अवान्तर कोशकारों की भी सूची थोड़ी नहीं है। पिछले युग में विशिष्ट विषयों को लेकर कोशों की रचना हुई जैसे अक्षर कोश, अन्वय कोश, वर्णभेद सूचक कोश (जैसे महेश्वर का 'शब्दभेद प्रकाश' तथा हलायुध की 'वर्णदेशना' आदि), उणादि कोश आदि।

वैद्यक निघण्टु—विषय की महत्ता की दृष्टि से वैद्यक तथा औषधि विषयक कोशों का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। ऐसे कोशों को 'निघण्टु' कहते हैं जिनमें मुख्य ये हैं—(क) धन्वन्तरि निघण्टु—जो नौ खण्डों में विभक्त है तथा क्षीरस्वामी के सम्मति में अमरकोश से भी प्राचीनतर है। अवान्तर निघण्टुओं की रचना इसी के आधार पर हुई है। (ख) माधवकर का 'पर्यायरत्नमाला' या केवल 'रत्नमाला' (समय नवम शती); (ग) पर्यायमुक्तावली (अथवा केवल मुक्तावली[1]) वैद्यक निघण्टु ग्रन्थों में पर्याप्त प्रख्यात है। माधवकर की पर्यायरत्नमाला (अथवा रत्नमाला) के ऊपर यह आधारित है। ये दोनों ग्रन्थ बंगाल में, विशेषत: वीरभूम, मानभूम, बाँकुडा तथा बर्द्वान के वैद्यों में विशेष करके प्रचलित हैं। मुक्तावली के रचयिता का नाम हरिचरण सेन था। इस ग्रन्थ के हस्तलेखों की बँगला लिपि में उपलब्धि तथा ग्रन्थकार को सेन उपाधि से भूषित होने के कारण तथा ग्रन्थ के बंगीय प्रान्त में प्रचलित होने के हेतु ग्रन्थकार को बँगाली मानना उचित प्रतीत होता है। माधवकर भी बँगाली ही थे। उनकी रचना पर्यायावलि क्रमविहीन थी[2]। फलत: उसे क्रमबद्ध करने के लिए ग्रन्थकार का सफल प्रयास है। पर्यायमुक्तावली २३ वर्गों में विभक्त है। साथ ही साथ हस्तलेखों में उन ओषधियों के नाम बँगला में दिये गये हैं जिससे उनके पहिचानने में सुविधा होता है। (घ) हेमचन्द्र का 'निघण्टु शेष' (जो ६ काण्डों में

---

१. डा० तारापद चौधरी द्वारा सम्पादित सं०।

२. निगूढार्थां बह्वीममररचितां माधवकर-
प्रणीतां पर्यायावलिमपि विहीन-क्रमवतीम्।
परं खिन्नं दृष्ट्वा सुमननधियं मूढभिषजां
निबध्नाति स्मेमां हरिचरणसेनो विमलधीः॥

—अन्तिम पद्य।

विभक्त ३९६ श्लोकों का एक परिशिष्ट ग्रन्थ है और जिसमें वृक्ष, गुल्म, लता, शाक, तृण तथा धान्य नामक काण्डों में शब्दों का विभाजन किया गया है); (च) मदनपाल विरचित मदनपाल निघण्टु—इस लोकप्रिय निघण्टु के रचयिता दिल्ली के उत्तर में काष्ठा नामक नगरी में राज्य करते थे। ये पंडितों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वयं भी वैद्यक शास्त्र के बड़े विद्वान् थे और इसीलिए ये अभिनव भोज और पंडित-पारिजात की उपाधि से विभूषित थे। 'मदन विनोद' इस निघण्टु का दूसरा नाम है जिसकी रचना १३७४ ई० में की गयी थी। इसमें दो हजार दो सौ पचास श्लोक हैं जो चौदह वर्गों में विभक्त हैं। विषय की व्यापकता के कारण यह कोश वैद्यक में नितान्त प्रसिद्ध है। औषधियों के नाम तथा गुणों के वर्णन में मराठी भाषा में भी अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जिससे अनुमान किया जाता है कि इसका रचयिता कोई महाराष्ट्री वैद्य था। (छ) वैद्यवर केशव का बनाया हुआ सिद्धमन्त्र नामक एक छोटा ग्रन्थ है जिसके ऊपर ग्रन्थकर्ता के पुत्र प्रख्यात गोपदेव (१२७०-१३०९ ई०) ने टीका लिखी है। (ज) कैयदेव निघण्टु[1]—इसका असली नाम पथ्यापथ्य-विबोधक है। कैयदेव ने इसमें अपना परिचय भी दिया है। ग्रन्थ तो बहुत प्राचीन नहीं है परन्तु विषय की दृष्टि से यह अन्य निघण्टुओं की अपेक्षा बहुत ही समृद्ध तथा पूर्ण है। यहाँ वस्तुओं के गुणदोष का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मधु के भेद के साथ-साथ उन मक्खियों का भी परिचय दिया गया है जिनके कारण मधु के रूप, रंग तथा स्वाद में भिन्नता आती है। (झ) परन्तु निघण्टुओं में सबसे बड़ा निघण्टु है—राजनिघण्टु[2] जिसके रचयिता काश्मीर-निवासी नरहरि नामक वैद्य हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में उपजीव्य ग्रन्थों के नामों में मदन-पारिजात का भी उल्लेख है जिससे नरहरि का काल १३७४ ई० के पीछे सिद्ध होता है। इस निघण्टु का दूसरा नाम अभिधान-चूडामणि भी है। विषय की दृष्टि से यह कोश भी बहुत ही पूर्ण तथा प्रामाणिक माना जाता है।

(ञ) शिवकोश—नानार्थ औषध कोशों में सर्वश्रेष्ठ निश्चितरूपेण है। इसके रचयिता शिवदत्त मिश्र हैं जो कर्पूर वंश के होने के कारण 'कर्पूरीय' विशेषण से मण्डित हैं। यह वंश ही आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वानों को उत्पन्न करने के कारण नितान्त प्रख्याति-सम्पन्न है। इनके पिता चतुर्भुज या चतुर्भुज मिश्र रसकल्पद्रुम नामक वैद्यक ग्रन्थ के निर्माता तथा गोविन्द के रसहृदय के टीकाकर्ता हैं। शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने त्रिमल्ल के 'द्रव्यगुण शतश्लोकी' की टीका लिखी। शिवदत्त मिश्र ने 'शिवकोश' की रचना कर

---

१. लाहौर से प्रकाशित।

२. धन्वन्तरि निघण्टु के साथ प्रकाशित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, १८९६ ई०।

उसकी विस्तृत टीका का निर्माण किया[1]। इन्होंने इस टीका में 'इति रामाश्रमाः' कह कर भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित (उपनाम रामाश्रम) की अमरकोश व्याख्या की ओर संकेत किया है। रामाश्रम का कार्यकाल १६०० ई०—१६५० ई० है। शिवकोश की रचना १५९९ शक सं० (= १६७७ ई०) में हुई जिसका निर्देश ग्रन्थकार ने स्वयं किया है[2]। फलतः इनका आविर्भावकाल १६५० ई०—१७०० ई० तक मानना उचित होगा। डा० गांडे के कथनानुसार शिवदत्त की वह प्रशस्ति 'कवीन्द्र चन्द्रोदय' में सम्मिलित है जिसे उन्होंने कवीन्द्राचार्य सरस्वती की प्रशंसा में निबद्ध किया था। फलतः ये काशी के ही निवासी थे अथवा उस समय काशी में निवास कर रहे थे। वैद्यक निघण्टुओं के तथा इतर कोशों के ये एक विशेषज्ञ प्रतीत होते हैं। इनका ज्ञान व्यापक था। तभी तो कोशों के अतिरिक्त ये कालिदास, भवभूति, भारवि तथा बाणभट्ट के ग्रन्थों का संकेत करने तथा उद्धरण देने में सिद्धहस्त हैं।

यह नानार्थक औषधिकोश है अर्थात् ऐसे ओषधिवाचक शब्दों का संकलन है जिसके अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। शब्दों का चयन अन्तिम वर्ण को लक्ष्य में रखकर किया गया है जैसा विश्व तथा मेदिनी कोशों में किया गया है। यह निघण्टु अत्यन्त विस्तृत, विशद तथा प्रामाणिक है। व्याख्या के कारण शब्दों का अर्थ अन्य कोशों के उद्धरणों से परिपुष्ट किया गया है। लगभग एक सौ सत्तर ग्रन्थों का निर्देश तथा उद्धरण इसे बहुमूल्य तथा महत्त्वशाली बना रहा है। व्याख्या का अनुशीलन स्वयं महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रपौण्डरीक शब्द का अर्थ 'स्थल कमल' होता है। इसे टीकाकार 'गुलाब' बतलाते हैं—यह एक नयी खोज है। इसके पर्यायवाची शब्दों को वे रभस तथा केयदेव से उद्धृत करते हैं (३८२ श्लोक की व्याख्या पृ० १३८) तथा उदाहरण के लिए कालिदास का यह पद्य उद्धृत किया गया है—

आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां।
स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥
(कुमारसम्भव)

जो लोग गुलाब को मुसलमानों की देन मानते हैं, उन्हें इस व्याख्या तथा उदाहरण की दृष्टि से अपना मत बदलना पड़ेगा। व्याख्या में देशी भाषा के शब्दों की

---

१. डा० हर्षे ने इस सटीक कोश का बड़ा ही वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया है। इसकी भूमिका उपादेय तथ्यों की विवेचना से मण्डित होने से विशद तथा प्रामाणिक है। प्र० डेक्कन कालेज, पूना १९५२।

२. नवग्रहतिथिप्राप्ते हायने हालभूभुजः।
चक्रे चातुर्भुजिः कोषं शिवदत्तः शिवाभिधम्। (पृ० ४६)

भरमार है जो लेखक के काशीवासी होने से अधिकतर हिन्दी के ही हैं। ओषधियों की पहचान के लिए इन देशी शब्दों का प्रयोग एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। ओषधियों के विशिष्ट नाम के परीक्षण से उनके उत्पत्तिस्थल का पता भली-भाँति लग सकता है[1]। वैद्यक निघण्टुओं में प्रसाद नाम्नी व्याख्या से संवलित इस 'शिवकोश' को हम सर्वश्रेष्ठ मान सकते हैं।

क्रियाकोश

कोशों में संज्ञा शब्दों की ही प्रचुरता है, परन्तु कतिपय कोश क्रिया के अर्थ का निरूपण करते हैं। ऐसे क्रियाकोशों में से दो प्रख्यात हैं—(१) भट्टमल्ल का आख्यात-चन्द्रिका[2] तथा (२) हलायुध का कविरहस्य। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित भी हैं; पहिला चौखम्भा प्रकाशन काशी से तथा दूसरा बम्बई से। भट्टमल्ल के देश काल का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। 'आख्यात-चन्द्रिका' को प्रमाण रूप में मल्लिनाथ ने अपने व्याख्याग्रन्थों में अनेकत्र उद्धृत किया है। इनसे भी प्राचीनतर उल्लेख हैं अमर के टीकाकार सर्वानन्द का। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका ११५९ ईस्वी में लिखी थी जिससे स्पष्ट है कि भट्टमल्ल १२वीं शती से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकते। आख्यात-चन्द्रिका में तीन काण्ड हैं और प्रतिकाण्ड अनेक वर्ग हैं। कविरहस्य की शैली इससे भिन्न है। इसमें भिन्न-भिन्न गणों में पठित समानाकार धातुओं को एकत्र संग्रह श्लोकरूप में किया गया है। जैसे विभिन्न अर्थों में विद् धातु विभिन्न गणों में पठित है। वर्तमान कालिक रूप में उनका एकत्र श्लोकात्मक संग्रह इन अर्थों को तथा रूपों में याद करने के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है। 'धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकम्' वाला श्लोक इसी ग्रन्थ का है। हलायुध का काल प्रायः निश्चित है।

इस विषय के इतर ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं जिनका उल्लेख 'आख्यातचन्द्रिका' की भूमिका में किया गया है—

(१) विद्यानन्द	—क्रियाकलाप
(२) वीर पाण्ड्य	—क्रियापर्यायदीपिका
(३) रामचन्द्र	—क्रियाकोश
(४) कविसारङ्ग	—प्रयुक्ताख्यानमञ्जरी
(५) गुणरत्नसूरि	—क्रियारत्नसमुच्चय
(६) दशबल अथवा वरदराज	—धातुरूपभेद

1. द्रष्टव्य—इस ग्रन्थ की डा० हर्षेरचित भूमिका पृ० १०-२२।
2. चौखम्भा, काशी से प्रकाशित; द्वितीय सं० सं० १९९२ विक्रमी।

महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा—वाङ्मयार्णव

संस्कृत के विशाल अभिनवकोश का नाम है—वाङ्मयार्णव तथा इसके रचयिता हैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर पाण्डेय रामावतार शर्मा। शर्मा जी (१८७७ ई०—१८२९ ई०) ने इस कोश का प्रारम्भ १९११ ई० में किया और जीवनपर्यन्त इसका विरचन, विश्लेषण तथा परिष्करण करते रहे। कोशविद्या के वे पारंगामी पण्डित थे। निःसन्देह यह वाङ्मयार्णव संस्कृत के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्प ज्ञात, प्रयुक्त तथा अप्रयुक्त शब्दरत्नों का रत्नाकर है जिसके भीतर धीरतापूर्वक गोता लगानेवाले व्यक्ति को निःसन्देह अनमोल शब्द-रत्न हाथ लग सकते हैं जिनका दर्शन भी अन्यत्र दुर्लभ है। कोश का प्रकाशन वाराणसी के प्रख्यात प्रकाशन-संस्थान ज्ञानमण्डल के द्वारा अभी हुआ है (संवत् २०२३ विक्रमी)।

ग्रन्थकार की जीवन लीला समाप्ति के ३८ वर्षोंके सुदीर्घ व्यवधान के अनन्तर अभी १९६७ ई० में प्रकाशित यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के इतिहास में उन्हें अमरत्व प्रदान करेगा—यह कोई भी विज्ञ आलोचक बिना किसी संकोच के कह सकता है। यह कोष अमरकोश की श्लोकमयी शैली में निबद्ध पौने सात हजार अनुष्टुपों में समाप्त हुआ है (ठीक संख्या ६७९६ छः हजार सात सौ छानवे)। ग्रन्थ के आरम्भ में १६ पद्यों का उपक्रम है तथा अन्त में छः श्लोकों का परिसमापन है। मैं इस कोश को अमरसिंह के 'नाम लिङ्गानुशासन' की परम्परा का सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम ग्रन्थरत्न मानता हूँ। अमर सिंह ने अपने विश्रुत कोश में नाम तथा लिगों का अनुशासन किया है। संस्कृत के कोष दो प्रकार के होते हैं—(१) समानार्थक तथा (२) नानार्थक। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत उन शब्दों का संकलन है जो एक ही अर्थ की द्योतना करते हैं; द्वितीय प्रकार के भीतर अनेक अर्थों के संकेतक शब्दों का चयन किया जाता है। पण्डित रामावतार शर्मा ने इस कोष में द्वितीय रीति का आलम्बन किया है। वैज्ञानिक वर्णक्रम से शब्द-चयन की सिद्धि के कारण इस कोष के ऊपर पाश्चात्य कोषपद्धति की पूरी छाप है। १२०० ई० में केशव स्वामी ने 'नानार्थार्णव संक्षेप' नामक प्रख्यात कोष के संकलन में वर्णक्रम का ही आश्रय लिया था, परन्तु वह केवल शब्द के आरम्भ ही तक सीमित था, शब्दों के भीतर वर्णक्रम का आदर नहीं किया गया है। परन्तु इस 'वाङ्मयार्णव' में शब्दों का चयन नितान्त वैज्ञानिक रीति से समग्रतया वर्णक्रम-पद्धति पर किया गया है। और यह महती विशेषता इसका वैलक्षण्य सद्यः घोषित कर रही है। शब्द प्रथमान्त में अपने विशिष्ट लिंग में प्रयुक्त हैं तथा अर्थ की द्योतना के लिए सप्तमी का प्रयोग है जैसे संस्कृत के अन्य कोशों में किया जाता है। लिंग की विशिष्ट सूचना के लिए पुं, ना, स्त्री, अस्त्री, नपुं तथा क्ली संकेतों का प्रयोग प्रचुरता से यहाँ किया गया है। शर्म्माजी की प्रतिभा के समान

उनकी मेधाशक्ति भी अलौकिक थी। फलतः अनेक कोष उनकी जिह्वा पर नाचा करते थे। यही कारण है कि इस कोष में अर्थों की समग्रता, सम्पूर्णता तथा विस्तृति पर कोषकार का विशेष आग्रह लक्षित होता है। द्वितीय वैशिष्ट्य है वैदिक शब्दों का लौकिक शब्दों के साथ समुचित सन्निवेश। निघण्टु तथा निरुक्त वैदिक शब्दों के ही कोश हैं। अमर तथा विश्व लौकिक शब्दों के चयनकर्ता हैं। अवश्यमेव यादवप्रकाश (१२ शती) की 'वैजयन्ती' इसका अपवाद है, क्योंकि उसमें वैदिक शब्दों का भी चयन है। परन्तु इसमें भी वैदिक शब्द अपेक्षाकृत न्यून है। इस न्यूनता की पूर्ति उभयविध शब्दों के संकलन से इस अभिनव कोश ने कर दी है। ग्रन्थकार इसे 'कोश' न कहकर 'विश्वविद्या' (इनसाइक्लोपीडिआ; विश्वकोष) कहते हैं। उनकी कामना थी कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति के संग में उसके प्रयोगस्थलों का पर्याप्त निर्देश किया जाय तथा आवश्यक होनेपर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक सामग्री भी प्रस्तुत की जाय। पण्डित रामावतारजी की मेधाशक्ति विलक्षण थी। एक बार पठित अथवा श्रुत श्लोक उनके हृत्पटल पर सर्वदा के लिए अंकित हो जाते थे—इतनी दृढ़ता से कि वे भूले भी नहीं भुलाये जा सकते थे। कविप्रयोगों के वे स्वयं कोश थे। श्रीमद्भागवत को छोड़कर 'कशिपु' (=सेज) शब्द का प्रयोग लौकिक संस्कृत में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता—उनका यह कथन आज भी यथार्थ है। 'कशिपु' शब्द वैदिक है और शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त भी है, परन्तु भागवत का यह पद्यांश

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ?

इसका लौकिक संस्कृत में एकमात्र दृष्टान्त माना जा सकता है। संस्कृत साहित्य के लिए यह अपूरणीय क्षति है कि वे इस कोश को अभीष्ट रूप में प्रस्तुत तथा समाप्त नहीं कर सके। सुनते हैं कि उनकी कुछ भाषाशास्त्रीय टिप्पणियाँ अवश्य उपलब्ध हुई हैं जो कारणवश इस संस्करण में नहीं दी जा सकीं। कोश की इस विशिष्टता का वर्णन स्वयमेव ग्रन्थकार ने उपक्रम के सप्तम, अष्टम तथा नवम श्लोकों में इस प्रकार किया है—

वर्णानुक्रमविन्यस्तैर्लोकवेदोभयोद्धृतैः।
पद्यबद्धैः सपर्यायैर्नानार्थैर्घटितो महान् ॥ ७ ॥
विशेषशास्त्रायुर्वेदप्रभृतीनां पदैर्युतः।
सोपयुक्तोदाहृतिभिष्टिप्पणैः समलंकृतः ॥ ८ ॥
सचित्रः प्रचुरार्वाच्यवैज्ञानिकपदोच्चयः।
परिशिष्टैश्च बहुभिः कोष एष परिष्कृतः ॥ ९ ॥

यदि इन समस्त गुणों से सम्पन्न होकर यह कोश परिष्कृत होता, तो निःसन्देह यह संस्कृत भाषा का सर्वश्रेष्ठ विश्वकोश होता। परन्तु काल के दुर्विलास से यह

हो न सका। तथापि केवल एक ही मानव की प्रतिभा तथा परिश्रम का प्रदर्शक यह ग्रन्थरत्न अपने वैलक्षण्य तथा संपूर्ति के लिए सदा स्मरणीय तथा उल्लेखनीय रहेगा।

शर्म्माजी ने मान्य कोष ग्रन्थों में वैजयन्ती, मङ्ख, अनेकार्थकैरवाकर-कौमुदी, नानार्थार्णव-संक्षेप, अभिधान चिन्तामणि, राजनिघण्टु, कल्पद्रु कोश तथा शर्मण्य संग्रहों का नाम्ना उल्लेख किया है (उपक्रम श्लोक १२–१६)। ये सब प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं और अपने विषय में प्रमाणभूत हैं। वैजयन्ती श्री रामानुजाचार्य के विद्यागुरु यादव-प्रकाश की रचना है (समय १२ शती)। मङ्ख का 'अनेकार्थ कोष' काश्मीरी कवियों के प्रयोगों का महान् आकर है (१२ श०)। 'अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी' हेमचन्द्र के 'अनेकार्थ संग्रह' की महेन्द्रसूरि रचित टीका है जो वास्तव में ग्रन्थकार के नाम से न होकर उनके गुरु हेमचन्द्र के ही नाम्ना प्रख्यात है। 'अभिधान चिन्तामणि' (समानार्थ शब्दों का वृहत् कोश) हेमचन्द्र का ही गरिमामय ग्रन्थ है। 'राजनिघण्टु' आयुर्वेदशास्त्र का प्रमुख निघण्टु है। 'नानार्थार्णव संक्षेप' केशव स्वामी की तथा 'कल्पद्रुकोष' केशव की लब्धवर्ण कृतियाँ हैं। 'शर्मण्यसंग्रह' जर्मन विद्वान् राथ तथा बोथलिंक के प्रख्यात कोषों का संकेतक है। रत्नाकर, मल्ल, सोमदेव तथा भारवि के कृतियों के निरीक्षण को भी वे आवश्यक मानते हैं। (श्लोक १६)। इनमें हरविजय के कर्ता रत्नाकर, कथा सरित्सागर के रचयिता सोमदेव तथा किरातार्जुनीय के लेखक भारवि तो अपनी रचनाओं के प्रख्यात ही हैं। परन्तु 'मल्ल' नाम से किसका संकेत है? भूमिका के लेखक 'वात्स्यायन नागमल्ल' की ओर संकेत मानते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में यह संकेत-कल्पना यथार्थ नहीं है। शर्मा जी का संकेत इस नाम की ओर प्रतीत नहीं होता। इस लेखक के ग्रन्थ 'कामसूत्र' में विरल प्रयोग वाले शब्दों की सत्ता होने पर भी यह अनुमान ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ का 'मूलकारिका' ऐसा विलक्षण शब्द है जिसके यथार्थ के विषय में सब कोष मौन हैं। परन्तु टीका जयमङ्गला के अनुसार इस दूरूह शब्द का अर्थ है 'वशीकरण करने वाली स्त्री' (**वशीकरणेन मूलेन या कर्म करोति सा; कामसूत्र पृ० २०१, काशी संस्करण**) शर्म्मा जी के दृष्टिपथ से यह विलक्षण शब्द ओझल नहीं हो सकता था, यदि 'कामसूत्र' का विश्लेषण किया गया रहता। मेरी दृष्टि में मल्ल से अभिप्राय भट्टमल्ल से है जिनका प्रख्यात ग्रन्थ आख्यातचन्द्रिका कोषकारों के लिए एक संग्रहणीय रत्न है।

पण्डित रामावतार जी ने शब्द विशेष के ऊपर होने वाले वैमत्य को भी अपने कोश में भली-भाँति दिखलाया है। प्राचीन कोषकारों ने किसी शब्द को लेकर जो मीमांसा की है उससे वे भली-भाँति परिचय रखते हैं और तत्तद् स्थान पर निर्देश भी करते हैं। 'लाजा' शब्द को ही लीजिये। हिन्दी में इसका अर्थ है आग में भूजा गया धान अर्थात् धान का लावा। इस शब्द के विषय में कोषकारों के विभिन्न मत हैं।

'लाजाः पुंभूम्नि चाक्षताः' (अमर) से प्रतीत है कि अमर की दृष्टि में यह पुंलिग है तथा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। सर्वानन्द की अमर टीका में उद्धृत विक्रमादित्य के संसारावर्त कोष के अनुसार यह शब्द स्त्रीलिंग भी है तथा एकवचनान्त भी—

लाजाः पुंसि बहुत्वे वा स्त्रियां लाजापि चाक्षतम्।

(अमर २।९।४६ की टीका)

अन्य कोष में यह क्लीब लिंग भी भिन्नार्थ में है। इन समस्त विमतियों का परिष्कार देखिये इस कोश में—

लाजं क्लीबमुशीरेऽथ स्त्रियां पुंभूम्नि चाक्षते।
भृष्टधान्येऽपि च स्त्रीत्वे किं वा पुंभूम्नि कस्यचित्॥

यह श्लोक 'लाज' शब्द के तीनों लिंगों में प्रयोग तथा विभिन्न अर्थों को स्पष्ट द्योतित करता है। 'धाना' शब्द की विलक्षणता अमर के इस वचन से सद्यः प्रतीत नहीं होती कि यह बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है—'धाना भृष्टयवे स्त्रियः' (२।९ ४७) परन्तु शर्म्मा जी ने अनेक अर्थों के साथ इस वैलक्षण्य को स्पष्ट कर दिया है—भूम्नि भृष्टयवेऽप्येवं स्थूले तच्चूर्णकेऽपि च (पृ० २०७, श्लो० २८०५)। कोष के साथ प्रकाशित अनुक्रमणी से प्रतीत होता है कि इसमें बीस हजार शब्द उपन्यस्त हैं। यदि चार शब्दों के द्वारा अर्थ को द्योतना मान लें, तो पूरे कोश में पाँच सहस्र मौलिक शब्द हैं जो वर्णानुक्रम की वैज्ञानिक पद्धति से यहाँ विन्यस्त हैं। यह नानार्थक कोश हैं अर्थात् अनेकार्थ वाले शब्दों का ही यहाँ संकलन है। फलतः एकार्थक शब्दों को बुद्धिपूर्वक नहीं रखा गया है। शब्दविशेष के नाना अर्थों का ही यहाँ विवरण नहीं है, प्रत्युत उसके लिंग-वचन का वैलक्षण्य भी उद्घाटित किया गया है। यह उद्घाटन प्राचीन कोषों के आधार पर है, परन्तु इसमें शर्म्माजी के विशाल अध्ययन तथा विशद अनुशीलन का भी परिणत फल पदे-पदे उपलब्ध होता है। पण्डित रामावतार जी को भाषाशास्त्रीय टिप्पणों के संकलन का अवसर नहीं मिला। नहीं तो यह कोष वास्तव में अद्वितीय ही होता। उनके आन्तेवासी होने की दृष्टि से लेखक पण्डित जी के भाषा-शास्त्रीय वैदुष्य तथा अलौकिक प्रतिभा से पूर्णतः परिचय रखता है। फलतः केवल दो शब्दों के विषय में उनके गम्भीरार्थक टिप्पणों का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है जिन्हें वे अवश्य लिखे रहते।

धेनु—यह शब्द सद्यः प्रसूता गौ के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके अन्य विलक्षण प्रयोग संस्कृत भाषा में उपलब्ध होते हैं। किसी भी पशु के स्त्री-व्यक्ति के प्रदर्शनार्थ भी उस शब्द के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसका मूल अर्थ है पयस्विनी गौः, तदनन्तर गोमात्र में इसका प्रयोग विस्तृत हो गया। इसके अनन्तर

स्त्रीमात्र का वाचक बन गया। यथा अश्वधेनुः = अश्वा (घोड़ी), गजधेनुः—हस्तिनी (हथिनी) आदि। खड्ग धेनु, गोधेनु तथा वडवा धेनु आदि शब्दों में धेनु शब्द स्त्रीत्व का ही बोधक है। आङ्गल भाषा में भी इसी प्रकार elephant, rhinoceros आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त cow शब्द स्त्रीलिंग का बोधक होता है। कभी-कभी यह शब्द अकेले ही घोड़ी तथा हथिनी का बोधक होता है। मनुस्मृति का प्रयोग है—यथा धेनुः किशोरेण। यहाँ किशोर (घोड़े का बच्चा, अश्वशिशु) के संयोग से धेनु शब्द अश्वधेनु का वाचक है स्वयं अकेले ही। 'धेनुका स्त्री करेण्वां तु' इस केश-वचन से धेनुका अर्थ करेणू (हस्तिनी) भी है। सामान्य स्त्रीवाची होने से धेनुका प्रयोग किसी पदार्थ के लघु रूप को द्योतित करने के लिए भी संस्कृत में उपलब्ध है। 'चाकू' के लिए प्रयुक्त पर्यायों में अमर द्वारा निर्दिष्ट असिधेनुका विशेष ध्यातव्य है (स्यात् शस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका—अमर २।८।९२)। यहाँ 'धेनुः' का ही अल्पार्थद्योतक 'धेनुका' शब्द है। धेनुरेव धेनुका। स्वार्थे कप्रत्ययः। फलतः 'असिधेनुका' का यथार्थ है—छोटी तलवार = छूरी। यहाँ धेनु या धेनुका शब्द अल्पार्थद्योतन में प्रयुक्त है। दान के अवसर पर गाय का दान न देकर घृत, तिल आदि का गोसदृश आकार बनाकर देने का विधान पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में मिलता है। घृतधेनु, तिलधेनु, जलधेनु आदि शब्द ऐसे ही अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार वामा, वामिः वामी—ये तीनों स्त्रीत्व द्योतक शब्द हैं। फलतः 'अथोष्ट्रवामी-शतवाहितार्थम्' (रघुवंश ५।३२) में कालिदास द्वारा प्रयुक्त उष्ट्रवामी का अर्थ है उष्ट्रस्त्री अर्थात् ऊँटनी, साँढिनी। प्राचीन काल में शीघ्र गति के लिए सन्देश साँढिनी सवारों के द्वारा भेजे जाते थे। अधिक बलशाली होने से माल ढोने के लिए ऊँटिनी का ही उपयोग किया जाता था। 'वामी' का अर्थ यदि कोशों द्वारा निर्दिष्ट 'घोड़ी' अर्थ ही केवल माना जाय, तो उष्ट्र के साथ उसका मेल नहीं बैठता। फलतः यह शब्द भी धेनु के समान ही स्त्रीमात्र का द्योतक सिद्ध होता है।

पारसीक तैल—इस वाङ्मयार्णव में (पृष्ठ ४४९) यह शिलाज शब्द के अर्थ-रूप में दिया गया है। 'पारसीक तैल' तथा 'तुरुष्क तैल' आजकल के किरासन के तेल के लिए संस्कृत भाषा में प्रयुक्त मिलते हैं। 'मञ्जुश्री-मूलकल्प' (द्वितीय शती) में बुद्ध-मूर्ति के सामने सहस्र बत्ती वाले दीप जलाने के लिए तुरुष्क तैल के उपयोग की बात कही गयी है। विक्रमांकदेवचरित में बिल्हणने इस शब्द का प्रयोग किया है। इराक सदा से अपने तैल के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी प्रसिद्धि-परम्परा अक्षुण्ण है। फलतः संस्कृत में यह शब्द अपनी उदयभूमि के नाम से प्रख्यात है। आज का अंग्रेजी Kerosene या Kerosine ग्रीक के Korox शब्द से उत्पन्न है जिसका अर्थ है मोम (Wax)। पृथ्वी के भीतर जो मटीली चट्टानें मिलती हैं, उन्हीं के टूटने से यह उत्पन्न होता है। पेट्रोलियम को

साफ कर इसे तैयार करते हैं। फलतः संस्कृत भाषा में शिला से उत्पन्न पदार्थ का बोधक 'शिलाज' शब्द इसके यथार्थ रूप का पूर्ण परिचायक है—

शिलाजं त्वयसि क्लीबं शिलाजतुनि च स्मृतम्।
स्यात् शिलाकुसुमे पारसीक-तैले तथा मतम्॥

(वाङ्मयार्णव, पृ० ४४८-४४६)

नवीन कोश

अंग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आने पर बंगाल के पण्डितों ने विषयों के निर्देशों से सम्पन्न विशिष्ट कोषों का संकलन संस्कृत में किया। १९वीं शती में संस्कृत कोष का प्रणयन इसी अर्वाचीन पद्धति पर किया जाय। इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग शब्दकल्पद्रुम नामक प्रख्यात-कोष में किया गया है जिसे राजा राधाकान्तदेव ने अनेक पण्डितों की सहायता से अनेक खण्डों में १८२२ ई० तथा १८५८ ई० के बीच प्रकाशित किया। इसमें शब्दों का संग्रह वर्णक्रम से है तथा पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्रमाण ग्रन्थों से इतनी आवश्यक सामग्री संकलित है कि इसे संस्कृत का विश्वकोष कहना चाहिए। परन्तु इसमें वैदिक शब्दों का अधिकांश में अभाव है। इसी के ढंग पर दो कोष और बनाये गये—शब्दार्थ चिन्तामणि (४ भाग; १८६४-१८८५) सुखानन्दनाथ द्वारा तथा वाचस्पत्य (२० भाग; कलकत्ता, १८७३-१८८४) तारानाथ तर्कवाचस्पति द्वारा। वाचस्पत्य में वैदिक शब्दों का समावेश है, परन्तु उनकी व्युत्पत्ति अधिकतर कल्पना-प्रसूत है। इसी समय में राथ तथा बोथलिंक नामक जर्मन विद्वानों द्वारा महान् संस्कृत कोष (संस्कृत वरर्टेरबुख, सेन्ट पीटर्सबर्ग, रूस; १८५२-१८७५) का प्रणयन हुआ जिसमें वैदिक शब्दों का भी पूर्ण समावेश है तथा जिसकी रचना भाषा वैज्ञानिक रीति पर दी गई है। यह कोष भी पुराना पड़ गया। सैकड़ों वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन इधर अस्सी वर्षों में हो गया है इसलिए इस कार्य की पूर्ति के लिए पूना से एक बृहत्तम संस्कृत कोष आधुनिक प्रणाली के अनुसार प्रस्तुत हो रहा है। देखें यह कब तक प्रकाशित होता है।

जर्मन विद्वानों ने अनेक पण्डितों के साहाय्य से शब्दों के प्रयोग स्थलों का ही निर्देश नहीं किया है, प्रत्युत शब्दों के अर्थविकास अंकित करने का भी श्लाघ्य प्रयास किया है। उस समय तक प्रकाशित तथा अप्रकाशित समस्त संस्कृत ग्रन्थों का विधिवत् अनुशीलन कर इस विशाल कोश की रचना की गयी है। है तो यह अनेक विद्वानों का सामूहिक प्रयास, तथापि डा० राथ ने वैदिक शब्दों का तथा डा० बोथलिंक ने वैदिकेतर शब्दों का विवरण शुद्ध भाषाशास्त्रीय पद्धति पर लेने का महनीय कार्य किया। डा० बोथलिंक ने इसका एक संक्षिप्त संस्करण जर्मन में प्रकाशित किया जिसमें अनेक नवीन शब्दों का संग्रह है। डा० मोनियर विलियम्स ने अपना संस्कृत-अंग्रेजी कोष भी बड़े

परिश्रम तथा अनुशीलन के बाद प्रस्तुत किया। यह कोष आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी (इंगलैण्ड) के द्वारा प्रकाशित है। शब्दों के चयन में तथा अर्थनिर्देश में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रयोगस्थलों का निर्देश न होना बेतर खटकता है। यह कोष भी पूर्वोक्त जर्मन संस्कृत कोष के आधार पर विरचित है अथवा उसके द्वारा बहुशः प्रभावित है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। भारतवर्ष में पण्डितवर्य वामन शिवराम आप्टे द्वारा निर्मित संस्कृत कोष बहुत ही उपादेय है छात्रों तथा पण्डितों दोनों के लिए। हाल में ही उसका नवीन संस्करण तीन खण्डों में पूना से प्रकाशित हुआ है। शब्दों के प्रयोगस्थलों का उद्धरण तथा उनके नानार्थों का विवरण देना इसका श्लाघनीय वैशिष्ट्य है। इसके खण्ड-त्रयात्मक नवीन संस्करण में नवीन शब्दों का संकलन है।

जर्मन संस्कृत कोष के प्रकाशन के बाद इधर अस्सो-पचासी वर्षों में प्राचीन वैदिक तथा वैदिकेतर सैकड़ों ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और प्रतिवर्ष हो रहा है। फलतः 'संस्कृत का वृहत्तम कोष' के प्रकाशन की योजना डेक्कन कालेज पूना के रिसर्च विभाग के डाइरेक्टर डा० कत्रे ने प्रस्तुत की है और अनेक विज्ञ सहयोगियों के साथ वे इस कार्य में संलग्न हैं। अभी तक (१९६८ तक) इस कोश का कोई भी अंश प्रकाश में नहीं आया है। भाषा वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग अर्थ देने में किया जा रहा है तथा यावत् उपलब्ध शब्दों का विधिवत् चयन किया जा रहा है। देखें यह कब तक प्रकाश में आता है।

पाली कोश

बौद्ध ग्रन्थों के विषय में भी बहुत से विशिष्ट कोश हैं। इस विषय में वे वैदिक निघंटुओं से अधिक समानता रखते हैं। वे श्लोकबद्ध नहीं लिखे गये हैं और उनका साक्षात् सम्बन्ध इन्हीं विशेष ग्रन्थों के साथ ही है। ऐसे कोशों में सबसे प्रसिद्ध कोश है महाव्युत्पत्ति जो २८४ प्रकरणों में विभक्त तथा लगभग ९००० शब्दों वाला एक विराट ग्रन्थ है। यह बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्दों का ही अर्थ नहीं देता, प्रत्युत पशुओं, वनस्पतियों तथा रोगों आदि का भी उल्लेख करता है। पर्याय-वाची शब्दों के अतिरिक्त धातु रूपों का भी उल्लेख करता है। इन दृष्टियों से यह एक विलक्षण कोश है।[१] मोग्गलान की अभिधान प्पदीपिका पाली कोशों में अत्यन्त लोकप्रिय है। यह बारह शती में लिखा गया था। यह अमरकोश के द्वारा विशेष

---

१. डा० मीनाफ के द्वारा सम्पादित, सेन्ट पीटर्सबर्ग की 'बुद्ध ग्रन्थमाला' में प्रकाशित, संख्या १३१, १९११ ई०।

प्रभावित तथा उसी शैली में निबद्ध व्यावहारिक कोश है। कहीं कहीं तो अमर के संस्कृत श्लोक पाली में अनूदित कर दिये गये हैं।[1]

प्राकृत कोश

प्राकृत कोशों में सबसे प्राचीन कोश है—धनपाल रचित कोश जिसका नाम है—

(१) **पाियअ-लच्छिनाममाला**—यह कोश ग्रन्थकार ने ९७२ ई० में अपनी छोटी वहिन सुन्दरी के उपयोग के लिए लिखा था। इसमें केवल २७९ गाथायें हैं। परिच्छेदों यह विभक्त नहीं है परन्तु इसके चार विभाग किये जा सकते हैं। यह ग्रन्थ अपने समय में बहुत ही प्रसिद्ध था और इसका हेमचन्द्र ने अपने देशीनाममाला में बहुशः उपयोग किया है।

(२) **देशीनाममाला**—हेमचन्द्र का यह प्राकृतकोश अपने ढंग का एक बहुत ही सुन्दर तथा रोचक ग्रन्थ है। प्राकृत में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—तत्सम (संस्कृत के समान शब्द), तद्भव (संस्कृत से उत्पन्न शब्द, तथा देशी शब्द 'प्रान्तीय शब्द' जो पूर्व दोनों प्रकार से भिन्न होते हैं। परन्तु इस कोश में ऐसे शब्द भी आये हैं जो देशीय न होकर तद्भव की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। इसमें आठ अध्याय या वर्ग हैं—जिनमें शब्दों का संग्रह आदि अक्षर के आधार पर किया गया है। पर्यायवाची शब्द के अनन्तर नानार्थ शब्द रक्खे गये हैं जो उसी अक्षर से आरम्भ होते हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसके ऊपर टीका[2] लिखी है। ग्रन्थ का नाम 'देशी नाम माला' होने से यह आशा करना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने केवल संस्कृतजन्य न होने वाले देशी शब्दों का ही यहाँ संग्रह किया है, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। उन्होंने तद्भव शब्दों का भी यहाँ चयन किया है। इसलिए यह ग्रन्थ प्राकृत शब्दों की भी जानकारी के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। इस कोष के अनुशीलन से उस युग (१२ शती) के लोकप्रचलित रीति-रिवाजों का भी भली भाँति ज्ञान होता है। ऐसे कुछ विशिष्ट शब्द इस प्रकार हैं—

अणंदवड (१।७२)—पति से प्रथम यौवनहरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिंटा वस्त्र। बान्धवों को आनन्दित करने के कारण यह 'आनन्दपट' कहलाता है। कई जातियों में ऐसे वस्त्र में मिठाई रखकर बिरादरी में बाँटने का रिवाज है।

खिक्खिरी (२।७३)—सूचना देने की घड़ी जिसे नीच जाति वाले धारण करते हैं जिससे लोग उन्हें स्पर्श नहीं करें। फाहियान ने ऐसा ही वर्णन किया है और

---

१. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित।

२. बाम्बे संस्कृत सीरीज, पूना तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित।

राजपूताने की कई जातियाँ आज भी अपने सिर पर कौआ या मुर्गे का पंख इसी उद्देश्य से लगाती हैं।

णवलया (४।२१)—एक रस्म जिसमें स्त्री से उसके पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है (नाँव + लया, लेने की क्रिया)।

णीरंगी (४।४१)—सिर ढँकने का वस्त्र, घूँघट। इसका संस्कृतीकरण 'नीरङ्गिका' के रूप में प्रयुक्त भी है। 'आभाणकशतक' में 'नारंगिका' शब्द प्रयुक्त है घूँघट के अर्थ में—'अन्धे श्वसुर के लिए नारंगिका कैसी ?'।

दुद्धोलणी (५।४६)—जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।

पोअलअ (६।८१)—आश्विन मास का कोई उत्सव जिसमें पति स्त्री के हाथ से लेकर अपूप (पूआ) खाता है।

बहुहाडिणी (९।५०)—एक स्त्री के रहते हुए जो दूसरी स्त्री लाई जाय।

घम्मअ (५।६३)—दुर्गा के सामने पुरुष को मार कर उसके अंग के लोहू से जंगल में धर्मार्थ बलि करने वाले चोर। यह उस समय के ठग प्रतीत होते हैं।

लय (७।१६)—नए विवाहित स्त्री पुरुषों के जोड़े का आपस में नाम लेने का उत्सव।

हिंचिअ (अथवा हिंविअ ८।६८)—एक टाँग उठाकर एक ही से चलने का बच्चों का खेल। इन विलक्षण शब्दों से उस काल के अनेक रीति रस्म का पता भली-भाँति चलता है। इस विषय में हेमचन्द्र की शब्द-संग्राहिका शक्ति विशेष अनुसन्धान-योग्य है।[1]

इधर जैन विद्वानों ने प्राकृत शब्दों का संचयन दो बड़े ग्रन्थों में किया है—(१) अभिधान-राजेन्द्र कोश तथा (२) प्राकृत शब्द-महार्णव। अभिधान राजेन्द्र शब्द कोश न होकर जैन धर्म का विश्वकोश है जिसमें जैनधर्म, दर्शन तथा साहित्य के विषयों के ऊपर प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण के साथ बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। यह सात खण्डों में दस हजार पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है।[2] प्राकृत

१. ऐसे शब्दों के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३ सं० १९७९ पृष्ठ ८८–९२।

२. रतलाम, मालवा से कई जिल्दों में प्रकाशित (१९१३-१९२५)।

शब्द महार्णव[1] भी कई खण्डों में विभक्त है तथा लगभग डेढ़ हजार पृष्ठ हैं। यह अकरादि क्रम से निबद्ध है। यह नवीन शैली का कोश है जिसमें प्रयोग के स्थलों का भी निर्देश बड़ी सुन्दरता से किया गया है। ये दोनों कोश अपने रचयिताओं के अश्रान्त परिश्रम, दीर्घ अध्ययन तथा गाढ़ विद्वत्ता के द्योतक हैं।

मुगल काल में संस्कृत का फारसी में अनुवाद अथवा फारसी का संस्कृत में अनुवाद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस विषय में अनेक कोष तैयार किये गये जिनमें दो-तीन प्रसिद्ध हैं। विहारी कृष्णदास मिश्र ने अकबर के आदेश से 'पारसीक प्रकाश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। राजा टोडरमल ने फारसी को राजभाषा बना दी थी जिसमें कागजात लिखे जाते थे। संस्कृत के पण्डितजनों को फारसी में व्यावहारिक दक्षता प्राप्त करने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने इसकी रचना की। इसके दो भाग हैं—कोश तथा व्याकरण। कोशप्रकरण में २६९ अनुष्टुप् हैं जिसमें क्रमशः स्वर्ग, दिक्, काल, नाट्य, पाताल, वारि, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा विशेषनिघ्न नामक एकादश प्रकरण हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में दिल्ली के बादशाह अकबर की प्रशस्त स्तुति है। ग्रन्थकार बड़ी नम्रता से कहता है कि पारसीक शास्त्र का बिना अध्ययन किये ही उसने इसकी रचना की है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। विहारीकृष्णदास मिश्र पारसी व्याकरण तथा कोश दोनों के प्रौढ पण्डित हैं। फारसी शब्दों के ही संस्कृत पर्याय दिये गये हैं। यथा—

> माहस्तु मासमात्रे स्याद् ऋतुमात्रे फसल् भवेत्।
> शीतकाले जमिस्तानो वहारः सुरभौ भवेत्॥ १९॥

यह कोश[2] आज भी उपयोगी तथा उपादेय है। रचनाकाल १६वीं शती का मध्यकाल—अकबर का शासनकाल। वेदांग राय का पारसी-प्रकाश १६४७ ई० की रचना है जिसमें फारसी तथा अरबी के शब्दों का संस्कृत अर्थ दिया गया है। ब्रजभूषण का पारसी-विनोद इसी युग की रचना है। महाराज छत्रपति शिवाजी की दृष्टि इस ओर आकृष्ट हुई थी और इसके लिए उन्होंने राजव्यहार कोष का संकलन अपने दरबार के पण्डित द्वारा कराया था। मराठी में शासन-सम्बन्धी बहुत से शब्द फारसी भाषा से लिये गये हैं। इन शब्दों की पूरी जानकारी के लिए शिवाजी ने यह कोष बनवाया जिसमें उनके अर्थ मराठी तथा संस्कृत में दिये गये हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र का

---

१. कलकत्ता से कई खण्डों में तथा काशी से भी प्रकाशित।

२. सं० सरस्वती भवन ग्रन्थमाला संख्या ९५; प्र० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५।

लोकप्रकाश में भी बहुत से फारसी शब्द आये हैं। यह ग्रन्थ कोष तथा अर्थशास्त्र के बीच का है जिसमें केवल शब्दों के अर्थ ही नहीं हैं प्रत्युत दैनिक जीवन के उपयोगी वस्तुओं का भी यहाँ वर्णन है। शाहजहाँ का भी उल्लेख होने से मालूम पड़ता है कि कुछ अंश इनमें सत्तरहवीं शती तक भी जोड़े गये हैं।

कोष-विद्या के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय से किसी भी आलोचक को प्रत्यक्ष हुए विना न रहेगा कि संस्कृत तथा प्राकृत के पंडितों ने अपने शब्द-भण्डार को विशुद्ध बनाये रखने तथा सुप्रचलित करने के लिए जो प्रयास किये हैं वे सर्वदा स्तुत्य हैं। कोष का इतना प्राचीन परिचय चीनी भाषा को छोड़कर और अन्य भाषा में नहीं है।

उपसंहार

संस्कृत कोशों के प्रति पण्डितजनों की भी एक भ्रान्त धारणा है कि उनमें केवल समानार्थक तथा नानार्थक शब्दों का संग्रहमात्र रहता है। परन्तु उनमें अर्थ का सूक्ष्म रूप अंकित नहीं किया जाता, जैसे अंग्रेजी के शब्दों में होता है। प्रसन्नता के सूचक pleased, delighted, happy, glad आदि शब्द अंग्रेजी में अवश्य हैं। परन्तु इन शब्दों में एक दूसरे से पार्थक्य है गाढता, लघुता आदि भावों को दृष्टि में रखकर। यह धारणा सामान्यतः ठीक है, परन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। अमरकोषस्थ कामदेव के वाचक उन्नीस शब्दों में मन्मथ, मदन, मार, कन्दर्प, पञ्चशर आदि शब्द भिन्न-भिन्न तात्पर्य के सूचक हैं। 'मन्मथ' से तात्पर्य है—मन को मन्थन करने वाला, तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाला[1]। 'मदन' का अर्थ है—हर्ष उत्पन्न करने वाला (मदयतीति मदनः)। फलतः 'मन्मथ' के द्वारा व्यज्यमान तीव्र वेदना के स्थान पर 'मदन' में हर्ष के उत्पादन की अभिव्यञ्जना है। 'मार' का स्वारस्य मार डालने वाला है (म्रियन्तेऽनेनेति मारः) 'कन्दर्प' का अभिप्राय कुत्सित दर्प वाला अथवा कुत्सित रूप से दृप्त करने वाला है[2]। 'पञ्चशर' से सामान्यतः पाँच बाणधारी का अर्थ हम समझते हैं, परन्तु बाण से यहाँ तात्पर्य लोह-निर्मित शस्त्र-विशेष से न होकर उन्मादन, शोचन, सम्मोहन, शोषण तथा मारण नामक मानसिक विकृतियों से है[3]। फलतः यह शब्द काम के द्वारा कामी पुरुष के मानस में उत्पन्न किये गये भावविकारों की ओर लक्ष्य करने में अपनी सार्थकता रखता है। अतएव ये उन्नीसों शब्द विभिन्न

---

१. मननं मत् चेतना। अनुदात्तोपदेशवनतीति (अष्टा० ६।४।३८)
अनुनासिकलोपे तुक्। मतो मनसो मथः (मथ्नातीति)
मन्मथः — क्षीरस्वामी (अमर १।१।२५ की टीका)।

२. कमव्ययं कुत्सायाम्। कं कुत्सितो दर्पोऽस्येति। कंदर्पयति वा।

३. उन्मादनं शोचनं च तथा सम्मोहनं विदुः।
शोषणं मारणं चैव पञ्चबाणा मनोभुवः॥
मदनोन्मादनश्चैव मोहनः शोषणस्तथा।
संदीपनः समाख्याताः पञ्चबाणा इमे स्मृताः॥
क्षीरस्वामी (पूर्ववत्)

अभिप्राय से कामवाचक हैं। इसलिए उनका प्रयोग सर्वत्र समभावेन कभी नहीं किया जा सकता। कालिदासीय प्रख्यात पद्य—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः॥
(कुमारसम्भव)

में शिवरूप वाच्य के ऐक्य होनेपर दोष का प्रसंग ही नहीं उठता। धनुष् धारण करने वाले शिव जिस प्रकार 'पिनाकी' शब्द के वाच्य हैं, उसी प्रकार नर-कपाल के धारण करने से वे ही 'कपाली' पद के भी तो वाच्य हैं। परन्तु दोनों शब्दों के द्वारा अभिव्यज्यमान तात्पर्य भिन्न-भिन्न हैं। ऊपर श्लोक में 'कपाली' शब्द का ही औचित्य है, 'पिनाकी' का नहीं।[1]

अब रंगवाची शब्दों के सूक्ष्म तारतम्य पर दृष्टिपात कीजिये। अंग्रेजी शब्दों के तात्पर्य से अंग्रेजी भाषाविद् पूर्णतः अभिज्ञ है कि Crimson, Red, violet, purple आदि शब्द लोहित रंग के हल्केपन तथा गाढ़ापन के सूचक होने से विभिन्नार्थक हैं, एकार्थक नहीं। यह अंग्रेजी भाषा की शाब्दिक महिमा मानी जाती है। संस्कृत शब्दों में भी ऐसा ही तात्पर्य अन्तर्निहित है, परन्तु साधारणतया संस्कृतविद् उधर ध्यान नहीं देते। परन्तु कोशकारों ने, विशेष प्राचीन कोशकारों ने, इस तारतम्य का परीक्षण किया है और उसकी अभिव्यक्ति भी की है। एक दो दृष्टान्त नमूने के तौरपर यहाँ दिये जाते हैं।

अमरसिंह से पूर्ववर्ती मान्य कोषकार भागुरि की दृष्टि भी लालिमा के बोधक शोण, लोहित तथा रक्त शब्दों की विभिन्नता की ओर आकृष्ट हुई थी और उन्होंने इस विभेदका निदर्शन इस पद्य में किया है—

बन्धुजीव-जवा-सन्ध्याच्छवौ वर्णौ मनीषिभिः।
शोण-लोहित-रक्तानां प्रयोगः परिकीर्तितः॥

बन्धुजीव का फूल शोण होता है, जवा का फूल (ओडहुल) लोहित तथा सन्ध्या रक्तवर्ण की होती है। इस प्रसंग को देकर पदचन्द्रिका कहती है—भागरिस्तु लोहित-रक्तयोरल्पं भेदमाह। इतीह भेदो नादृतः (प्रथम खण्ड पृ० १८६ की प्रथम टिप्पणी)। पार्थक्य तो सूक्ष्म है ही। इसके निरीक्षण में विभिन्नता हो सकती है। जिस सन्ध्या का वर्ण यहाँ रक्त कहा गया है, वही इस प्रख्यात पद्य में 'ताम्र' कहा गया है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।

---

१. विशेष द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास; बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७६—७७।

तात्पर्य है कि रंगों के विभेद के निरूपण की ओर संस्कृत के कोषकारों का ध्यान बहुत पहले से आकृष्ट है। अमरसिंह ने तथा उनके टीकाकारों ने इसे अधिक स्पष्टता से निरूपित किया है। यह उनका वैशिष्ट्य है।

अमरकोष की ओर ध्यान दें। लाल रंग का वाचक साधारण शब्द है लोहित। परन्तु 'शोण' का अर्थ होता है—गुलाबी लाल (शोणः कोकनन्दच्छविः' कमल के समान लाल—अमर १।४।१५); कपिश, धूम्र तथा धूमल—इन तीनों शब्दों का तात्पर्य है—बैंगनी रंग ('कपिशो धूम्र-धूमलौ कृष्णलोहिते'—अमर १।४।१६); 'अरुण' वह लाल है जिसमें लालिमा अभी प्रकट नहीं हुई है (अव्यक्तरागस्त्वरुणः) 'पाटल' है सफेदी से मिली हुई लाली—हल्का लाल (अंग्रेजी का 'पिंक'; 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' अमर १।४।१५) लालिमा की भिन्नता के सूचक संस्कृत शब्दोंका अर्थ हलायुध (कोषकर्ता) ने अपने 'अभिधानरत्नमाला' के इस पद्य में दिया है—

श्येनी कुमुदपत्राभा, शुकाभा हरिणी मता।
जपाकुसुम-संकाशा रोहिणी परिकीर्तिता॥

इसी प्रकार पीत आभा से युक्त श्वेत वर्ण के लिए 'हरिण', पाण्डुर तथा पाण्डु[1] शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'धूसर' की पाण्डुता में हल्कापन रहता है (हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः, ईषत्-पाण्डुस्तु धूसरः—अमर १।४।१३)। 'कृष्ण' (काला रंग) शब्द अपनी व्युत्पत्ति से भी अपने उस वैज्ञानिक वैशिष्ट्य का प्रतिपादक है जो सब रंगों को खींचकर अपने में अभिभूत कर देता है और अपने ही स्वरूप में सर्वथा प्रतिष्ठित रहता है[2] (वर्णान् कर्षतीति कृष्णः—क्षीरस्वामी)। 'श्याम' रंग 'कृष्ण' से हल्का होता है और उससे भी हल्का होता है 'श्यामल'। कृष्ण गाढ़े कालेपन का सूचक है। श्याम और श्यामल दोनों ही हल्के कालेपन की सूचना देते हैं। अवश्य ही 'मेचक' शब्द अत्यन्त तीव्र गाढ़े कालेपन का अर्थ रखता है—मोर के कंठ के समान[3]

१. अमर में पाण्डुर तथा पाण्डु समानार्थक है। परन्तु इन दोनों में भी पार्थक्य है—पाण्डुरस्तु पीतरक्तभागी प्रत्यूषचन्द्रवत्। पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलिसन्निभः। पाण्डरः पाण्डुरे केश्चित्, केश्चित् पाण्डौ प्रवेशितः'—पदचन्द्रिका, प्रथम खण्ड पृ० १८४। पाण्डुर तथा पाण्डर दोनों सिद्ध होते हैं।

२. तुलना कीजिये 'सूरदास की कालि कमलिया चढ़त न दूजो रंग'।

३. 'मेचकः शिखिकण्ठाभः' इति दुर्गः। क्षीरस्वामी ने इस वचन को अपनी अमरटीका में उद्धृत किया है।

कालिमा का अथवा शब्दार्णव[1] के अनुसार अलसी (तीसी) के फूल के समान कृष्ण-नीलवर्ण। इसी प्रकार भूरे रंग के द्योतनार्थ अमरकोश में छः शब्द दिये गये हैं—कडार, कपिल, पिङ्ग, पिशङ्ग, कद्रु तथा पिङ्गल। सामान्यतः ये शब्द समानार्थक हैं, परन्तु इनमें परस्पर भेद है। शब्दार्णव कोष में यह भेद दिखलाया गया है जिसे रायमुकुट ने पदचन्द्रिका (प्रथम भाग, पृ० १८७ पर) में उद्धृत किया है[2]। इन श्लोकों के अनुशीलन से किसी भी आलोचक के हृदय में सन्देह नहीं रह सकता कि संस्कृत के कोषकारों ने रंगों में विभिन्नता तथा विशिष्टता का पूरा परिचय दिया है और इसके लिए दृष्टान्तों का उपयोग वैशद्य का द्योतक है। कडार होता है तृण की आग के समान, कपिल होता है कपिला गाय के सदृश; पिशङ्ग होता है कमल की धूलि के समान और पिंग होता है दीपक की शिखा के सदृश। इन दृष्टान्तों के उपयोग के कारण इन रंगों के स्वरूप समझने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती।

इन कतिपय शब्दों के वैशिष्ट्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के शब्दों में विभिन्न तथा विचित्र रंगों की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण क्षमता है। संस्कृत के कोषकारों की दृष्टि इस आवश्यक विभेद समझने में भली-भाँति लगी थी। फलतः अंग्रेजी शब्दों की तुलना में संस्कृत शब्दों में किसी प्रकार की कमी की सम्भावना नहीं है।

---

१. 'मेचकः कृष्णनीलः स्यादतसीपुष्पसन्निभः' इति शब्दार्णवे भेदः। द्रष्टव्य पदचन्द्रिका १ खण्ड पृ० १८५।

२. सितपीत हरिद्रक्तः कडारस्तृणवह्निवत्।
अयं तुद्रिकपीताङ्गः कपिलो गोविभूषणः॥
हरिताङ्गे तु हीनेऽसौ पिशङ्गः पद्मधूलिवत्।
पिशङ्गस्त्वसितावेशात् पिङ्गो दीपशिखादिवत्।
पिङ्गलस्तु परच्छायः पिङ्गे शुक्लाङ्गखण्डवत्॥
—शब्दार्णवे तु भेदः।

चतुर्थ परिच्छेद

व्याकरणशास्त्र
का
इतिहास

(१) पाणिनि पूर्व वैयाकरण
(२) उत्कर्ष-काल
(३) व्याख्या-काल
(४) प्रक्रिया-काल
(५) खिल ग्रन्थ
(६) पाणिनि से इतर वैयाकरण सम्प्रदाय
(७) पालि—प्राकृत व्याकरण

व्याकरण प्रशस्तिः

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ ११॥

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्द एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥ १२॥

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥ १३॥

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम्॥ १४॥

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमार्गाणाम् अजिह्मा राजपद्धतिः॥ १५॥

—वाक्यपदीय—आगमकाण्ड

व्याकरण शास्त्र

व्याकरण शास्त्र वेदपुरुष का मुखस्थानीय है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्। मुख होने के कारण ही वेदाङ्गों में यह मुख्य है। शब्द तथा अर्थ के विश्लेषण पर आधारित इस विद्या का उदय भूतल पर भारतवर्ष में ही सम्पन्न हुआ। व्याकरण का साक्षात् सम्बन्ध वेद के साथ है। क्योंकि वेद में अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं[1] जो व्याकरण की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती हैं। पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन बतलाने वाली पाँच ऋचाओं को उद्धृत किया है[2] तथा उनका व्याकरण शास्त्रपरक अर्थ भी दिया है। फलतः प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में व्याकरण वेद का ही अंग है। इस शास्त्र का उदय पदपाठों से प्राचीनतर है। पदपाठ में प्रकृति का प्रत्यय से, धातु का उपसर्ग से तथा समस्त पदों में पूर्व का उत्तर पदों से विभाग पूर्णतया प्रदर्शित किया जाता है और यह विभाजन-पद्धति व्याकरण शास्त्र के अनुशीलन पर पूर्णतः आधृत है। इतना ही नहीं, व्याकरण के अन्तर्गत प्रतिपादिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय आदि प्रख्यात पारिभाषिक पदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२४) में किया गया है। अन्य ब्राह्मणों में भी ऐसे पारिभाषिक शब्द यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं। फलतः व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता, वेदनिर्दिष्टता तथा वेदाङ्गमुख्यता स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

व्याकरण का प्रयोजन—पतञ्जलि पस्पशाह्निक में व्याकरण के प्रयोजनों का विशद वर्णन किया है और अनेक वैदिक मन्त्रों को इस प्रसंग में उद्धृत किया है। कात्यायन ने भी '**रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्**' अपने वार्तिक में इसका निर्देश किया है। इसका अभिप्राय है (क) **वेद का रक्षण**—लोप, आगम तथा वर्ण में विकारों का ज्ञाता ही वेद का रक्षण कर सकता है। (ख) **ऊह**—यज्ञ में मन्त्रों की

---

१. ऐसी व्युत्पत्तियों का दृष्टान्त देखिये—
(क) ये सहांसि सहसा सहन्ते ऋ० ६।६६।९
(ख) धान्यमसि धिनुहि देवान् यजु० १।२०
(ग) येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा। साम० उ० ५।२।८।५
(घ) तीर्थैस्तरन्ति अथर्व० १८।४।८

२. चत्वारिश्रृंगा० (ऋ० ४।५८।३), चत्वारि वाक् (ऋ० १।१६४।४५) चत्वारि वाक् का व्याकरणपरक अर्थ यास्क ने भी प्राचीन काल में किया था (निरुक्त १३।२—नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणाः)।

विभक्तियों का कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। (ग) आगम—वेद स्वयं व्याकरण के अध्ययन पर आग्रह रखता है। (घ) लघु—शब्दों का लघु उपाय से ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। (ङ) असन्देह—मन्त्रों के उच्चारण तथा अर्थों के परिज्ञान में सन्देह का निराकरण व्याकरणज्ञ ही कर सकता है। फलतः लौकिक शब्दों की रूपसिद्धि तथा प्रयोगक्षमता का भी कार्य व्याकरण के ज्ञाता द्वारा ही सम्पन्न होता है। वेद के संरक्षण के साथ तो व्याकरण का प्रधान सम्बन्ध है।

संस्कृत व्याकरण के निर्माता महर्षि पाणिनि हैं और उनका शब्दानुशासन अष्टाध्यायी के नाम से विश्वविश्रुत हैं। वे इसके आदि व्याख्याता नहीं हैं, प्रत्युत उनसे प्राचीनतर आचार्यों का समुल्लेख प्रातिशाख्यों में, पाणिनि के सूत्रों में तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होकर व्याकरण की विपुलता का स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि का व्याकरण संक्षिप्त रूप में वर्तमान है। उनसे पूर्व इस शास्त्र का विशेष अभ्युदय तथा विस्तार परिलक्षित होता है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद के मन्त्रों, छन्दों तथा पदपाठ के साथ साक्षात् है। अष्टाध्यायी में शब्द के स्वरूप का विश्लेषण है। संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पाणिनीय सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वशाली तथा प्रमुख है। कातन्त्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम, चान्द्र आदि व्याकरण सम्प्रदायों का भी कालान्तर में उदय हुआ। इन सबका संक्षिप्त परिचय इस परिच्छेद में दिया जावेगा।

महर्षि पाणिनि से भी पूर्वकाल में अनेक वैयाकरण हो गये हैं जिनके मत का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में किया गया है। इस प्रकार हम पाणिनीय व्याकरण के इतिहास को चार युगों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) पूर्व पाणिनीय-काल
(२) उदय-काल (ई० पू० ६००—ई० पू० ३००)
(३) व्याख्या-काल (पञ्चम शतक—१४ शतक)
(४) प्रक्रिया-काल (१५ शतक—वर्तमान काल)

इन विभिन्न युगों की विशिष्टता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रथम युग में हम व्याकरण शास्त्र के विभिन्न आचार्यों के नाम से परिचय रखते हैं। उनकी कृतियों के कतिपय अंश ही इधर-उधर बिखरे मिलते हैं, पूरे ग्रन्थ का पता अभी तक नहीं चलता। उदय काल इस शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह इस शास्त्र का सर्जनात्मक युग है जिसमें पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपनी रचनाओं से व्याकरण के मौलिक तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत किया। व्याकरण शास्त्र में महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की मुख्यता 'त्रिमुनि व्याकरणं' की उक्ति का मुख्य आधार है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में व्याकरण के तथ्यों को सूत्रबद्ध किया।

कात्यायन ने अपने वार्तिकों की रचना की और इसीलिए वे 'वार्तिककार' के नाम से प्रख्यात हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा वार्तिकों के ऊपर भाष्य लिखकर पाणिनीय व्याकरण को प्रौढ़ता के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। व्याख्याकाल से अभिप्राय उस युग से है जिसमें अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के ऊपर टीकाग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इस युग के महनीय आचार्य हैं—जयादित्य, वामन, हरदत्त, कैयट आदि। प्रक्रियाकाल में व्याकरण को सुगम बनाने की भावना से प्रेरित होकर अष्टाध्यायी के क्रम को छोड़कर प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से सूत्रों का नवीन क्रम नियत किया गया तथा इन सूत्रों के ऊपर सरल वृत्तियाँ भा बनायी गयीं। इस काल के प्रधान वैयाकरण हैं—रामचन्द्राचार्य, शेष श्रीकृष्ण, भट्टोजिदीक्षित, नागेश आदि। इस प्रकार इन विविध युगों को पार कर पाणिनोय व्याकरण वर्तमान काल में उपनीत हुआ है जिसमें उसको प्रौढता तथा अन्तरंग अध्ययन के साथ-साथ उसके बहिरंग अनुशीलन की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति जागरूक है।

प्रथम खण्ड

पाणिनि-पूर्व वैयाकरण

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में दस प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है जिनका यहाँ वर्णानुक्रम से दिया जा रहा है—

(१) आपिशलि—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है (६।१।९२)। महाभाष्य (४।२।४५) में भी इनका मत प्रमाण-रूप से उद्धृत किया गया है। शाकटायन व्याकरण की अमोघावृत्ति (३।२।६१) में पाल्यकीर्ति ने एक महत्वपूर्ण उदाहरण दिया है—'अष्टका आपिशलपाणिनीयाः' जिससे विदित होता है कि अष्टाध्याया के समान ही आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। कात्यायन और पतंजलि के समय में इस व्याकरण का विशेष प्रचार दीख पड़ता हैं : क्योंकि आपिशल व्याकरण को पढ़ने वाली ब्राह्मणी 'आपिशला' शब्द से निर्दिष्ट की गई है। आपिशल व्याकरण भी सूत्रात्मक था। इसके उपलब्ध सूत्रों से पता चलता है कि यह बहुत ही सुव्यवस्थित तथा लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का व्याख्यान करने वाला था। पाणिनीय व्याकरण के ऊपर आपिशल व्याकरण का बहुत ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह समानता सूत्रों की रचना में ही नहीं है प्रत्युत अनेक संज्ञायें, प्रत्यय तथा प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं। इतना ही नहीं, आपिशलि के धातुपाठ के जो उद्धरण मिलते हैं वे पाणिनि के तत्तद् पाठों से समानता रखते हैं। आपिशल शिक्षा और पाठों से समानता रखते हैं। आपिशलि शिक्षा लौर पाणिनि शिक्षा के भी सूत्र बहुत सदृश हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये पूर्वपाणिनीय युग के बहुत ही प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनकी शिक्षा प्रकाशित है।

आपिशल व्याकरण के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त यहाँ संक्षेप में दिए जाते हैं—

(१) लृकार दीर्घ

आपिशल व्याकरण में ऋकार के समान लृकार को भी दीर्घ माना गया है जो पाणिनि-व्याकरण के सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) वर्णों की परिभाषा

आपिशलि ने वर्णों की परिभाषा की थी, उनके व्याकरण में वर्गीय ब और वकार का भेद दिखाया गया है।

(३) विकार आदि की परिभाषा

आपिशलि ने आगम, आदेश, विकार और लोप की परिभाषाएँ बतायी थीं। पाणिनि के '**स्थानिवदादेशः**' में 'आदेश' शब्द से लोप और विकार का भी ग्रहण होता है।

(४) संज्ञा

आपिशल व्याकरण में पदसंज्ञा-विधायक '**विभक्त्यन्तं पदम्**' सूत्र था। व्याकरणेतर ग्रन्थों में वैसे वचन मिलते हैं।

(५) कारक

आपिशल व्याकरण का चतुर्थी विभक्ति-विधायक सूत्र है—"**मन्यकर्मण्यनादर उपमाने विभाषाऽप्राणिषु**"। पाणिनि का भी ऐसा ही सूत्र है जिसमें 'उपमाने' पद नहीं है। विशेष इतना ही है कि पाणिनीय सूत्र के अनुसार उपमान से अधिक तिरस्कार बताने के लिए वाक्य में नञ् का प्रयोग करना पड़ता है—"**न त्वां तृणाय मन्ये**"। आपिशल व्याकरण के अनुसार सूत्र में 'उपमाने' पद होने के कारण उसका प्रयोग अनपेक्षित है, जिससे "**तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽपि**" यह भट्टि-प्रयोग उपपन्न होता है।

(६) तद्धित

(१) ४।२।४५ सूत्र के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि समूहार्थक तद्धित-प्रकरण में आपिशल व्याकरण में 'तदन्तविधि' होती थी। यह मत पाणिनि के द्वारा भी स्वीकृत है, जिसे पतञ्जलि ने उचित बताया है।

(२) आपिशल व्याकरण में 'सायन्तनम्' 'प्राह्णेतनम्' प्रयोगों की सिद्धि के लिए मकारादेश और एत्व पृथक् सूत्र से विहित है, जिसे पाणिनि ने प्रत्यय-विधायक सूत्र में ही निपातन किया है।

(३) आपिशल व्याकरण में 'न्यङ्कु' शब्द से तद्धित-प्रत्यय करने पर ऐजागम का निषेध था—"न्याङ्कवं चर्म"। पाणिनि के अनुसार "नैयङ्कवम्" होता है। ये दोनों प्रयोग काल-भेद से साधु हैं, इस विषय की चर्चा वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभदेव ने की है।

(४) आपिशलि और काशकृत्स्न का संयुक्त मत तद्धित में मिलता है। "शताच्च ठन्यतावशते" यह पाणिनि-सूत्र है, उन दोनों व्याकरणों में "अशते" के स्थान पर "अग्रन्थे" पाठ था। इस पाठ के अनुसार "शत्यः शतिको वा गोसंघः" इत्यादि अपाणिनीय प्रयोग बनते हैं। ऐसे प्रयोगों को कैयट आदि वैयाकरण टीकाकार

एकमत से असाधु मानते हैं। वस्तुतः पूर्वोक्त वृषभदेवीय कथनानुसार उन-उन शब्दों की देश-काल-भेद से साधुता माननी चाहिए।

आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में वतिप्रत्यय-विधायक "तदर्हम्" सूत्र नहीं था। भर्तृहरि और कैयट ने एक ही वस्तु को अवस्था-भेद से उपमा और उपमेय मानकर उक्त मत की पुष्टि की है। वास्तव में "तदर्हम्" सूत्र पढ़ने वाले पाणिनि और उक्त सूत्र का भाष्य उक्त मत के प्रतिकूल हैं।

(७) तिङन्त-पद-साधन-प्रक्रिया

आपिशल व्याकरण में पाणिनि के समान आत्मनेपद, परस्मैपद और उभयपद की व्यवस्था देखी जाती है।

आपिशल व्याकरण में पाणिनीय 'अस्' धातु 'स्' धातु था। अस्ति, आसीत् आदि प्रयोग अट् और आट् आगम से सिद्ध होते थे। काशिका के उदाहरण (१।३।२२) और उसकी टीका (न्यास तथा पदमञ्जरी) में स्पष्ट है।

भवति, सेवति आदि प्रयोगों में एक ही सूत्र से इगुपध और इगन्त धातुओं के गुण-विधान की उच्छृङ्खल व्यवस्था आपिशलि ने की थी।

कुछ प्रयोग (तवीति, रवीति, स्तवीति, इत्यादि) आपिशल व्याकरण में केवल छान्दस माने गये हैं, परन्तु ये प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार लोक में भी प्रयोगार्ह हैं।

(२) काश्यप—पाणिनि ने अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में काश्यप का मत उद्धृत किया है। (अष्टा० १।२।२५ तथा ८।४।६७)। यजुर्वेद प्रातिशाख्य में (४।५) शाकटायन के साथ इनका उल्लेख मिलता है। इनके व्याकरण का कोई भी सूत्र उपलब्ध नहीं होता। काश्यप के मत का उल्लेख व्याकरण से भिन्न ग्रन्थों में भी मिलता है जिससे इनके व्यापक पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

(३) गार्ग्य—अड् गार्ग्यगालवयोः (अष्टा० ७।३।९९), ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०), नोदात्तस्वरितोदयम् अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (८।४।६७) सूत्रों में गार्ग्य के मत मिलते हैं।

सब नाम आख्यातज नहीं है—यह गार्ग्य का मत था। ऐसा यास्क ने कहा है (निरुक्त १।२)। गार्ग्य का कोई पदपाठ था, यह निरुक्त ४।३, ४।४ की दुर्ग-स्कन्द-टीका से ज्ञात होता है। वाज० प्रति० ४।१७७ के उवटभाष्य में गार्ग्यकृत पदपाठ की एक शैली कही गयी है—अलोप इति गार्ग्यस्य अर्थात् गार्ग्यकृत पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता था। यह नियम गार्ग्यकृत सामवेदीय पदपाठ में घटता है।

गार्ग्य सामतन्त्र का प्रवक्ता था—यह अक्षरतन्त्र की भूमिका में श्री सत्यव्रतसामश्रमी ने लिखा है।

(४) गालव—पाणिनि में इनके नाम का उल्लेख चार स्थलों पर मिलता है। अष्टाध्यायी के इन उल्लेखों से ये पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति (६।१।७७) में इनके एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार लोक में दध्यत्र के स्थान पर 'दधियत्र' और मध्वत्र के स्थान पर 'मधुवत्र' भी ठीक है। निरुक्त ४।३, बृहद्देवता १।२४, ५।३६, ६।४३, तथा ७।३८ में भी गालव के मत मिलते हैं।

(५) चाक्रवर्मण—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१३०) और उणादि सूत्रों (३।१४४) में मिलता है। इनके व्याकरण का कोई सूत्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके एक विशिष्ट मत का उल्लेख 'शब्दकौस्तुभ' में किया गया है—यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मण व्याकरणे द्वयशब्दस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् (शब्दकौस्तुभ १।१।२७) इनके मत में 'द्वय' शब्द सर्वनाम होता है। इसके अनुसार प्रयोग भी मिलता है—द्वयेषाम् (शिशुपालवध १२।१३)।

(६) भारद्वाज—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी में केवल एक स्थान पर (७।२।६३) मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में इनके व्याकरण-विषयक मत का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त इनके व्याकरण ग्रन्थ के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

(७) शाकटायन—अष्टाध्यायी में इनके मत का उल्लेख तीन बार मिलता है (३।४।१११; ८।३।१८; ८।४।५०)। प्रातिशाख्यों में तथा निरुक्त में भी इनके मत उद्धृत हैं। शाकटायन प्राचीन युग के एक बड़े ही मान्य वैयाकरण थे। इसीलिए काशिकाकार का कहना है कि सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं (अनुशाकटायनं वैयाकरणाः)। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये समस्त शब्दों को धातुओं से उत्पन्न मानते थे। अष्टाध्यायी के अनुसार सब शब्द धातुज नहीं हैं। बहुत से शब्दों की उत्पत्ति नहीं दिखलाई जा सकती। परन्तु शाकटायन ने सब शब्दों को धातुज मानकर प्राचीन काल में अच्छी प्रसिद्धि पाई थी।[१] इनका व्याकरण उपलब्ध नहीं है। अतएव उसके रूप तथा प्रमाण का परिचय नहीं मिलता। शब्दों की व्युत्पत्ति देने में उनकी एक विशेषता है। उन्होंने एक पद की सिद्धि अनेक धातुओं से की थी और कई पदों की सिद्धि एक धातु से। ऐसी व्युत्पत्ति ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। आजकल की ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रचलित उणादि सूत्र शाकटायन कृत हैं (३।३।१ पर उद्योत)। श्वेतवनवासी ने लिखा है—शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता (उणादि वृत्ति का आरम्भ)। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'

---

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च—निरुक्त (१।१२)। नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्—महाभाष्य।

इस प्रख्यात व्याकरण मत से विरुद्ध शाकटायन शब्दों की 'त्रयी प्रवृत्ति' मानते हैं। उनकी दृष्टि में जाति शब्द, गुण शब्द तथा क्रिया शब्द ही होते हैं, यदृच्छा शब्द नहीं। यह परिचय हमें न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि के एक कथन से चलता है (३।३।१ सूत्र पर न्यास)।

(८) **शाकल्य**—अष्टाध्यायी में इनका मत चार बार उद्धृत हैं तथा शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में इनके मत का उल्लेख किया है। इनके व्याकरण में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का प्रवचन किया गया प्रतीत होता है। वैयाकरण शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य से अभिन्न ही हैं, क्योंकि पदपाठ में व्यवहृत कई नियम अष्टाध्यायी में शाकल्य नाम से स्मृत हुए हैं। शाकल्यकृत पदपाठ का स्मरण यास्क ने भी किया है (निरुक्त ६।२८)। कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में 'शाकल्य व्याकरण' के नाम उपलब्ध होने से उस युग में इसकी सत्ता अनुमेय है।

(९) **सेनक**—अष्टाध्यायी में केवल एक स्थल पर (५।४।११) इनका नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त हम इनके विषय में नहीं जानते हैं।

(१०) **स्फोटायन**—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१२३) एक ही स्थल पर उद्धृत करती है। हरदत्त की पदमंजरी (६।१।१२३) से पता चलता है कि ये स्फोट सिद्धान्त के प्रवक्ता आचार्य थे[1]। स्फोट के प्रतिपादन से ही इनका नाम स्फोटायन पड़ा था। यदि हरदत्त की यह व्याख्या ठीक है तो निश्चय ही स्फोटायन स्फोटतत्वका प्रथम आविष्कारक था। वैयाकरणों का स्फोटवाद तो प्राण है। यह बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त है। न्याय और मीमांसा दोनों इस वाद का खण्डन करते हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण-प्रवक्ता आचार्य प्राचीन काल में हो गये हैं जिनका नाम्ना उल्लेख पाणिनि को अष्टाध्यायी में नहीं किया गया है। ऐसे आचार्यों में मुख्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) इन्द्र

इन्द्र व्याकरणशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता थे, इसका परिचय हमें तैत्तिरीय संहिता से चलता है। इस संहिता के अनुसार (६।४।७) देवों की प्रार्थना करने पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरण की रचना की। इससे पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत थी

---

१. स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः। स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। पदमञ्जरी में 'स्फौटायन' पाठ का भी निर्देश है, परन्तु हेमचन्द्र तथा नानार्थार्णव संक्षेप के कर्ता केशव ने 'स्फोटायने तु कक्षीवान्' कहकर स्फोटायन नाम को ही यथार्थ माना है।

अर्थात् व्याकरण-सम्बन्ध से रहित थी। इन्द्र के उद्योग से प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग की प्रथम कल्पना का उदय हुआ। ऐन्द्र व्याकरण तो इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' के आरम्भ में जिन आठ व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के नामों का निर्देश किया है उनमें इन्द्र का उल्लेख सर्वप्रथम है[1]। कथासरित्सागर के अनुसार तो ऐन्द्र व्याकरण प्राचीनकाल में ही नष्ट हो चुका था, परन्तु परिमाण में यह बहुत ही विस्तृत था। महाभारत के टोकाकार देवबोध ने पाणिनि की अपेक्षा महेन्द्र व्याकरण के परिमाण को बहुत ही अधिक तथा विशाल बतलाया है[2]। इन्द्र व्याकरण के केवल दो ही सूत्र मिलते हैं जो वर्तमान कातन्त्र व्याकरण में नहीं मिलते। अतः कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र व्याकरण का वर्तमान प्रतिनिधि मानना नितान्त युक्तिरहित है। कातन्त्र पाणिनि-तन्त्र की अपेक्षा चतुर्थांश से भी कम है। ऐसी दशा में वह ऐन्द्र व्याकरण का, जो पाणिनि से विशालतर था, प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

वैदिक साहित्य की विशद प्रसिद्धि है कि इन्द्र ने बृहस्पति आचार्य से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था (बृहस्पतिरिन्द्राय शब्दपारायणं प्रोवाच—महाभाष्य) यह 'शब्दपारायण' ग्रन्थ विशेष का नाम है—भर्तृहरि ने ऐसा लिखा है। निश्चित ही 'इन्द्र' नामक किसी आचार्य के द्वारा शब्दशास्त्रविषयक ग्रन्थ वैदिक काल में रचा गया होगा। उस शास्त्र के नष्ट हो जाने पर प्रसिद्धि का अवलम्बन कर ऐन्द्रव्याकरण सम्बन्धी मान्यताओं का अस्तित्व परम्परा से पिछले ग्रन्थों में बना रहा। फलतः वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' के मंगलाचरण में आदिम वैयाकरणों में इन्द्र की गणना की है तथा 'लंकावतार सूत्र' जैसे प्राचीन महायानी बौद्ध ग्रन्थ में भी इन्द्ररचित शब्दशास्त्र का संकेत मिलता है। 'इन्द्र' नामक वैयाकरण का मत जैन शाकटायन व्याकरण (१।२।३७) में मिलता है—'जराया ङस् इन्द्रस्याचि'। भट्टार हरिश्चन्द्र की चरक व्याख्या में **'अथ वर्णसमूहः इति ऐन्द्र व्याकरणस्य'** यह वाक्य उपलब्ध होता है। दुर्गाचार्य भी **'अर्थः पदमैन्द्राणाम्'** कहकर इसकी सत्ता की ओर संकेत करते हैं (निरुक्त वृत्ति पृ० १०, पंक्ति ११)। ये ही दो सूत्र उपलब्ध होते हैं। तमिल व्याकरण की रचना ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर हुई है—ऐसा भाषाविदों का मत है। डाक्टर बर्नेल को तमिल के सर्वप्राचीन व्याकरण 'तोलकप्पियम्' में ऐन्द्र

---

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

२. यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥
—महाभारत टीका

व्याकरण के चिह्न उपलब्ध होते हैं। कवीन्द्राचार्य की सूची में 'ऐन्द्र व्याकरण' नामक ग्रन्थ के हस्तलेख का निर्देश है, परन्तु यह किसी नूतन ग्रन्थ का संकेत माना जा सकता है, क्योंकि कथासरित्सागर (तरंग ४, श्लोक २४-२५) के अनुसार यह तो प्राचीनकाल में ही नष्ट हो गया था। अतः १७वीं शती में ही उसके उल्लेख की सम्भावना बहुत ही कम है।

(ख) काशकृत्स्न

इनके ग्रन्थ तथा सूत्रों का उल्लेख अनेक व्याकरणग्रन्थों में मिलता है। वोपदेव ने अष्ट वैयाकरणों में इनका भी नाम गिनाया है। काशिका (५।१।५८) में उदाहरण दिया गया है—**त्रिकं काशकृत्स्नम्**। प्रसंग से प्रतीत होता है कि यहाँ इनके वैयाकरण ग्रन्थ के परिमाण का संकेत है जो तीन अध्यायों में विभक्त प्रतीत होता है। काशिका के एक दूसरे उदाहरण से इस ग्रन्थ की एक विशिष्टता का भी परिचय चलता है। काशिका (४।३।११५) का उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्** जिससे प्रतीत होता है कि सूत्ररचना में गुरु लाघव का विचार काशकृत्स्न ने सबसे पहिले चलाया था। इनके अनेक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने काशकृत्स्न के एक विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि श्वस् धातु को निष्ठा में वे अनिट् मानते हैं। अतः काशकृत्स्न के द्वारा 'आश्वस्त' तथा 'विश्वस्त' रूप सिद्ध होते हैं। धातुवृत्ति के कर्ता सायण ने भी काश्यप नामक किसी वैयाकरण के द्वारा निर्दिष्ट काशकृत्स्न मत का उल्लेख किया है (धातुवृत्ति पृ० २६४)। कैयट (प्रदीप ५।१।२१) के अनुसार पाणिनि के 'शताच्च ठन्यता-वशते' (५।१।२१) के स्थानपर काशकृत्स्न का सूत्र था—'शताच्च ठन्-यतावग्रन्थे'। इसी प्रकार भर्तृहरि ने प्रकीर्ण काण्ड में लिखा है—'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे'। इस कारिकांश को व्याख्या में हेलाराज व्याकरणान्तर के द्वारा आपिशल तथा काशकृत्स्न की ओर संकेत मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपिशलि तथा काशकृत्स्न दोनों वैयाकरण पाणिनि का 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र स्वीकार नहीं करते थे। उनके सम्प्रदायानुगत व्याकरण में यह सूत्र नहीं था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आगमकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति में दो सूत्र उद्धृत किया है—(१) धातुः साधने दिशि.........। (२) लिङ्गं किमिति.........। वृषभदेव ने अपनी विवृति में इन दोनों सूत्रों को काशकृत्स्न का बतलाया है। फलतः काशकृत्स्न का व्याकरणपरक कोई ग्रन्थ अवश्य था जिसकी सूचना महाभाष्य से मिलती है—यही हमारी पूर्व जानकारी थी।

यह हर्ष का विषय है कि चन्नवीर कवि द्वारा निर्मित काशकृत्स्न धातुपाठ का व्याख्यान कन्नड भाषा में प्रकाशित हुआ है जिसका संस्कृत अनुवाद भी युधिष्ठिर

मीमांसक ने बड़े परिश्रम से प्रकाशित किया है[1]। धातुपाठ की सत्ता सूत्रों की सत्ता की निर्दशिका है। इस धातुपाठ के कई वैशिष्ट्य ध्यान देने योग्य हैं—(क) दश गणों के स्थान पर यहाँ केवल नव ही गण हैं। जुहोत्यादि का अन्तर्भाव अदादि गण में किया गया है। (ख) पाणिनीय धातुपाठ से यहाँ लगभग आठ सौ धातु अधिक हैं तथा पाणिनीय धातुपाठ के लगभग ३५० धातु ऐसे हैं जो यहाँ नहीं है। फलतः काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनि की अपेक्षा लगभग साढ़े चार सौ धातु अधिक हैं और वे मुख्यरूपेण भ्वादिगण में है। अन्य गणों के धातु दोनों में प्रायः बराबर ही है। (ग) लोक तथा वेद में प्रख्यात, परन्तु पाणिनितन्त्र में अज्ञात, बहुत से धातु काशकृत्स्न द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं। 'अथर्व' शब्द की साधिका हिंसार्थक थर्व् धातु तथा हिन्दी भाषा में उपलब्ध ढुढि (ढुण्ढ) धातु की उपलब्धि इसी तथ्य की समर्थिका है।

इसी धातुपाठ विवरण में चन्नवीर कवि ने काशकृत्स्न के मूल सूत्रों को निर्दिष्ट किया है। भर्तृहरि ने दो सूत्रों, कैयट ने भी दो सूत्रों को, क्षीरस्वामी ने एक विशिष्ट मत को तथा चन्नवीर कवि ने लगभग १३५ सूत्र तथा सूत्रांशों को उद्धृत किया है। प्रकाशित सं० में सब मिलाकर १४२ सूत्र हैं। इस व्याकरण के कुछ अंश श्लोकबद्ध थे—यह प्राप्त उदाहरणों से जाना जाता है।

पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट न होनेपर भी काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्वकालीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने तीन व्याकरणों का उल्लेख किया है—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलं काशकृत्स्नमिति।** बहुत सम्भव है इस नामनिर्देश में प्राचीनता की दृष्टि कार्यशील है। पाणिनि से पूर्ववर्ती है आपिशलि (अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट) और आपिशलि से प्राक्कालीन है काशकृत्स्न। फलतः काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्वकालीन वैयाकरण मानना यथार्थ प्रतीत होता है[2]।

(ग) **पौष्करसादि**—इनका मत **'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः'** (८।४।४८ सूत्रीय वार्तिक वाक्य में मिलता है। तैत्ति० प्राति० ३।१६; ५।३७, ५।३८, १४।२, १७।६ और मैत्रा० प्राति० ५।३८, ५।४० आदि में पौष्करसादि आचार्य के मत स्मृत हुए हैं।

पौष्करसादि कृष्णयजुर्वेदीय शाखाविशेष के प्रवक्ता हैं (द्र० तै० प्राति० ५।४० माहिषेय भाष्य)। सम्भवतः इस शाखा के प्रयोग में पूर्वोक्त नियम चरितार्थ होंगे।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्' प्रकाशक— भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२२ वि० सं०।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य श्री युधिष्ठिर मीमांसा की संस्कृत भूमिका पृष्ठ १-२०। प्रकाशन वही।

(घ) भागुरि—भागुरि के विशिष्ट मत का परिचय अनेक व्याकरण-ग्रन्थों में मिलता है। उन्हें अव तथा अपि उपसर्गों के आदिम वर्ण का लोप (जैसे अवधान = वधान, अपिधान = पिधान) तथा हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों का आकारान्त होना अभीष्ट था (जैसे वाक् = वाचा; दिक् = दिशा)।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

—न्यास ६।२।३७ में उद्धृत।

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' में भागुरि के नाम से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भागुरि का व्याकरण सम्भवतः सूत्रबद्ध न होकर छन्दोबद्ध था।

वष्टि भागुररल्लोपम्······इत्यादि पूर्वोक्त प्रसिद्धकारिका में इनका मत उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'नप्त्रेति भागुरिः' (भाषावृत्ति ४।१।१० में उद्धृत) 'हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम्। चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः' ॥ (शब्दशक्ति-प्रकाशिका में उद्धृत) आदि कुछ वाक्यों में भी इन आचार्य का मत मिलता है। नामधातु से संबद्ध इनके कुछ मत शब्दशक्तिप्रकाशिका में मिलते हैं; तथैव कारकों के बलाबल का निर्णायक 'अपादान संप्रदान······' कारिका भी भागुरि-कृत है, ऐसा भाष्यव्याख्या-प्रपञ्च में कहा गया है।

भागुरि का यह व्याकरण अप्राप्य हैं, इसके हस्तलेख भी अज्ञात हैं। भागुरि-कृत किसी कोशविशेष के वचन धातुवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। भागुरि कृत कोश का नाम 'त्रिकाण्ड' था (द्र० भाषावृत्ति और उसकी टीका अर्थविवृति ४।४।१४३)। सम्भवतः भागुरि के ग्रन्थ में व्याकरणीय पदार्थों पर विचार भी किया गया था। धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्······। श्लोक भागुरि-कृत है, ऐसा राम तर्कवागीश ने कहा है (मुग्धबोध २८२ प्रमोदजननी टीका)।

(ङ) माध्यन्दिनि—काशिका ने ७।१।९४ सूत्र की व्याख्या में एक श्लोकबद्ध वार्तिक उद्धृत किया हैं जिसमें इस आचार्य के मत का उल्लेख मिलता है। वह श्लोकवार्तिक इस प्रकार है—

सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि, गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ॥

माध्यन्दिनि आचार्य के मत में 'उशनस्' शब्द की सम्बुद्धि में तीन रूप होते हैं—सान्त हे उशनः, नान्त—हे उशनन्, तथा अदन्त—हे उशन। यहां एकमात्र उल्लेख मिलता है। 'माध्यन्दिनी शिक्षा' मुद्रित हो चुकी है, परन्तु इनका व्याकरण ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है।

(च) **वैयाघ्रपद्य**—इनके दशाध्यायी व्याकरण-ग्रन्थ का उल्लेख 'काशिका' में दो बार मिलता है। ५।१।५८ की व्याख्या में **'दशकं वैयाघ्रपदीयम्'** उदाहरण मिलता है जिसकी काशिकाकृत व्याख्या है—दश अध्याय वाला व्याकरण ग्रन्थ। फलतः पाणिनि की अष्टाध्यायी से इसमें दो अध्याय अधिक थे। ४।२।६५ में इसके अध्येता **'दशका वैयाघ्रपदीयाः'** कहे गये हैं। ७।१।६४ की काशिका में उद्धृत 'श्लोक-वार्तिक' बतलाता है कि इगन्त नपुंसक शब्द की सम्बुद्धि में निश्चितरूपेण गुण होता है—यथा हे त्रपो (पदमंजरी का उदाहरण)।

दुःख है कि इतना बड़ा व्याकरण अप्राप्य है और इसके हस्तलेख भी नहीं मिलते।

पाणिनि तथा पूर्वाचार्य[1]

पाणिनि ने अपने सूत्रों में पूर्वाचार्यों का व्यक्तिशः उल्लेख किया है और कहीं-कहीं सामूहिक रूप से उल्लेख किया है। इस उल्लेख का तात्पर्य क्या है? किस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने यह निर्देश किया है? इस प्रश्न के उत्तर में पाणिनि के टीकाकारों में ऐक्यमत नहीं है। अधिकांश टीकाकारों की सम्मति है कि आचार्य का ग्रहण विभाषा के लिए है अर्थात् जिस शब्दसिद्धि के विषय में किसी आचार्य का नाम दिया गया है, वह विधि वैकल्पिक होती है (आचार्यग्रहणं विभाषार्थम्)। परन्तु इतना ही तात्पर्य मानना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि विकल्प ही महर्षि को अभीष्ट होता, तो उस अर्थ की सिद्धि वा, विभाषा तथा अन्यतरस्याम् आदि शब्दों के योग से की जा सकती थी। अन्य विप्रपत्ति भी है। विभाषा से कार्य करने वाले सूत्रों के अन्तर्गत आचार्य नाम घटित सूत्रों के सन्निवेश का तात्पर्य ही क्या है? प्रसंगवशात् ही विकल्प की सिद्धि निष्पन्न थी, तब आचार्यों के नामघटित सूत्रों का उपयोग ही क्या? अड् गार्ग्यगालवयोः (७।३।९९) सूत्र में दो आचार्यों के नाम का स्वारस्य क्या है? विकल्प विधि के निष्पादन के लिए तो एक ही आचार्य नाम पर्याप्त था। तब दो आचार्यों के नामों का निर्देश किंमूलक है? ८।४।६७ में गार्ग्य, काश्यप तथा गालव इन तीनों आचार्यों का नाम निर्दिष्ट है। साम्प्रदायिक व्याख्या का अनुसरण ऐसे स्थलों पर विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

आचार्यघटक सूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करने से यही प्रतीत होता है कि महर्षि पाणिनि ने उन आचार्यों के विशिष्ट मतों के निर्देश के ही उद्देश्य से उनका नामोल्लेख किया है। उनका वह निजी मत नहीं था। परन्तु उससे पूर्ववर्ती मान्य आचार्यों का अभिमत कुछ दूसरा ही था—इसी तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने ऐसा किया है।

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य श्री सरस्वती चतुर्वेदी का सुनिश्चित लेख—नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल सं० ७, १९४१ दिसम्बर, पृष्ठ ४६–५३)।

कभी-कभी वही मत दो आचार्यों का था, वहाँ दोनों के नाम उल्लिखित हैं। कभी-कभी तीन आचार्य एक ही तथ्य को मानते थे, वहाँ उन तीनों का उल्लेख है। यह मतभेद प्रकट करने की एक निश्चित शैली थी। जहाँ तीन आचार्यों से अधिक आचार्यों के साथ पाणिनि का मतभेद था वहाँ 'आचार्याणाम्' पद दिया गया है। व्याकरणतन्त्र के व्याख्याकारों की सम्मति है कि इस शब्द के द्वारा पाणिनि अपने आदरणीय गुरु का निर्देश करते हैं और आदरार्थ बहुवचन में शब्द का प्रयोग करते हैं। कम महत्त्वशाली साधारण वैयाकरणों का निर्देश 'एकेषाम्' पद के द्वारा किया गया है (८।३।१०४)। किसी तथ्य की स्वीकृति समस्त वैयाकरणों के द्वारा अभीष्ट है, तब पाणिनि 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग करते हैं। पाणिनि के युग में संस्कृत भाषा की पृथक् अनेक बोलियाँ थीं। इन बोलियों के पारस्परिक विभेद की सूचना देने के लिए 'प्राचाम्' तथा 'उदीचाम्' पदों का व्यवहार किया गया है। 'प्राचाम्' से अभिप्राय पूर्वदेशीय वैयाकरणों से है, तो 'उदीचाम्' पद से उत्तरदेशीय वैयाकरणों का संकेत है। प्राक्देश तथा उदीच्यदेश की विभाग सीमा का पता काशिका ने इस पद्य में दिया है। बहुत सम्भव है यह पद्य प्राचीन हो तथा पाणिनिकालीन क्षेत्र-विभाग का संकेतक हो। श्लोक यह है—

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥
(१।१।७५ की काशिका)

शरावती नदी ही प्राच्य तथा उदीच्य देशों को विभाजक मानी गयी है[1]। यह नदी सरस्वती तथा यमुना के पास ही बहने वाली मानी जाती है। शालातुरीय पाणिनि स्वयं उदीच्य थे। ब्राह्मणों के काल में उदग्देश ही संस्कृत भाषा की विशुद्धि के निमित्त नितान्त प्रख्यात था। इतर प्रान्तों के लोग विशुद्ध टकसाली संस्कृत सीखने के लिए इस देश में ही जाया करते थे। शांखायन ब्राह्मण (८।६) की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यातव्य है—

उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्।
यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते।

पाणिनि के भाषाज्ञान का यह डिंडिमघोष है कि वे भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुख्य नगर तक्षशिला के समीपस्थ शालातुर के निवासी होकर भी प्राच्य लोगों में

---

१. शरावती के विषय में पदमञ्जरी में हरदत्त का अभिप्राय—शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी। तस्या दक्षिणपूर्वस्यां व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः। उत्तरपरस्यामुदग्देशः। तौ शरावती विभजते। १।१।७५ पर पदमंजरी।

प्रचलित संस्कृत शब्दों से पूर्ण परिचय रखते थे और उनके निर्देश करने में उन्होंने कहीं त्रुटि नहीं की।

इन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दों का निर्देश संक्षेप में यहाँ किया जाता है—

आचार्य

(१) ७।३।४९ सूत्र के अनुसार 'खट्वाका' (अज्ञात खटिया) रूप सिद्ध होगा, जब पाणिनि के मतानुसार 'खट्विका' अथवा 'खट्वका' रूप होना चाहिए।

(२) ८।४।५२ सूत्रानुसार 'दात्रम्' होगा, पाणिनि मत में 'दात्त्रम्' रूप होगा (काटने वाला औजार, हँसुआ)।

आपिशलि

६।१।९२ सूत्र के अनुसार 'उप + ऋषभीयति' के सन्धि होने पर 'उपार्षभीयति' तथा 'उपर्षभीयति' दो रूप होंगे। पाणिनि के अनुसार पहिला रूप ही बनता है।

उदीचाम्

(१) ३।४।१९ सूत्र के अनुसार अपमित्य याचते बनता है जब पाणिनि के अनुसार याचित्वा अपमयते होता है। इस वाक्य का अर्थ है याचना करने के बाद वह अदल-बदल करता है।

(२) ४।१।१३० 'गौधायाः अपत्यम्' इस अर्थ में गौधार पद निष्पन्न होगा। पाणिनि के अनुसार 'गौधेर' होता है।

(३) ४।१।१५७ आम्रगुप्त के अपत्य अर्थ में आम्रगुप्तायनि शब्द बनता है। पाणिनि मत में 'आम्रगुप्ति'।

(४) ६।३।३२ के अनुसार माता और पिता के द्वन्द्व समास होने पर 'मातर-पितरौ' होगा। पाणिनि मत में 'मातापितरौ' तथा 'पितरौ'।

(५) ७।३।४६ के अनुसार 'क्षत्रियिका'; पाणिनि के मत में 'क्षत्रियका' (क्षत्रिय स्त्री)।

(६) ४।१।१५३ के अनुसार 'कारिषेणि', लाक्षणि तथा कौम्भकारि रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि के मत में कारिषेण्य, लाक्षण्य तथा कौम्भकार्य बनता है।

एकेषाम्

८।३।१०४ सूत्रानुसार 'अर्चिभिष्ट्व' पद बनता है। पाणिनि के अनुसार 'अर्चि-भिस्त्व' ही (इस शब्दका अर्थ है—यजुर्वेद का गद्यात्मक मन्त्र)।

काश्यप

(१) १।२।२५ के अनुसार √तृष्, √मृष् तथा √कृष् धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होने पर दो रूप बनते हैं—तृषित्वा तथा तर्षित्वा आदि। पाणिनिमतानुसार केवल द्वितीय रूप ही उचित है।

(२) ८।४।६७ सूत्र के अनुसार काश्यप के मत में उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित में बदल जाता है, परन्तु पाणिनि मत में यह परिवर्तन तभी होता है जब अनुदात्त के आगे उदात्त अथवा स्वरित नहीं होता। गार्ग्य तथा गालव आचार्य काश्यप का मत मानते हैं।

गार्ग्य

(१) ७।३।९९ सूत्रानुसार रुद् धातु के लुङ् लकार के अरोदत् होगा। पाणिनि मत में होगा अरोदीत्।

(२) ८।३।२० के अनुसार भोस् + अत्र की सन्धि में 'भो अत्र' होगा। पाणिनि मत में 'भोयत्र'। शाकल्य गार्ग्य के ही मत मानते हैं (८।३।१९), परन्तु शाकटायन मत में 'भोयत्र' में यकार का लघुतर उच्चारण होता है।

(३) ८।४।६७ = काश्यप का ही मत अभीष्ट है।

गालव

(१) ६।३।६१ के अनुसार 'ग्रामणीपुत्र' के स्थान पर 'ग्रामणिपुत्र' बनता है। प्रथम शब्द पाणिनि मत में निष्पन्न।

(२) ७।१।७४ के अनुसार ब्राह्मणकुलेन का विशेषण ग्रामण्या, ग्रामण्ये आदि बनता है। पाणिनि मत में ग्रामणिना, ग्रामणये आदि सिद्ध होते हैं।

(३) ७।२।९९ अरोदत् गार्ग्य के समान। पाणिनि अरोदीत्।

(४) ८।४।६७ काश्यप तथा गार्ग्य का मत अभीष्ट।

चाक्रवर्मण

६।१।१३० सूत्रानुसार—'अस्तु हीत्यब्रवीत्' वाक्य में प्लुत का अभाव होता है। पाणिनि मत में प्लुत होता है—'अस्तु ही ३ इत्यब्रवीत्'।

प्राचाम्

(१) ३।४।१८ के अनुसार 'अलं रुदित्वा' (मत रोओ); पाणिनि मत में 'अलं रोदनेन' या 'मा रोदीः'।

(२) ४।१।१७ गार्ग्यायणी; पाणिनि मत में 'गार्गी'।

(३) ४।१।४३ शोणी; पाणिनि मत में 'शोणा'।

(४) ४।१।१६० ग्लुचुकायनि; पाणिनि मत में ग्लौचुकि ।

(५) ५।३।८० 'अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त' अर्थ को सूचित करने के लिए उपड तथा उपक शब्द बनते हैं। पाणिनि मत में उपिय, उपिक,' उपिल तथा उपेन्द्रदत्तक—ये चार रूप सिद्ध होते हैं ।

(६) ५।३।९४ सूत्रानुसार एकतर तथा एकतम रूप बनते हैं। पाणिनि मत में केवल किं, यत् तथा तत् प्रातिपदिकों से ही तर तथा तम प्रत्यय का विधान है ।

(७) ५।४।१०१ के अनुसार 'द्विखारम्' । पाणिनि मत में 'द्विखारि' सिद्ध होता है ('खारी' एक विशिष्ट माप है) ।

(८) ८।२।८६ के अनुसार 'आयुष्मानेधि दे३वदत्त', देवद३त्त तथा देवदत्त३—यह तीन स्थानों पर प्लुत होता है। पाणिनि मत में केवल अन्तिम प्रयोग सिद्ध होता है ।

(९) ३।१।९० के अनुसार 'कुष्यति पादः स्वयमेव' तथा 'रज्यति वक्त्रं स्वयमेव' प्रयोग बनते हैं । पाणिनि मत में कुष्यते तथा रज्यते ही होता है ।

भारद्वाज

७।२।६१ के अनुसार या धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में 'ययिथ' रूप बनता है । पाणिनि में 'ययाथ' सिद्ध होता है ।

शाकटायन

(१) ३।४।१११ सूत्रानुसार या धातु के लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में 'अयुः' बनता है । पाणिनि में 'अयान्' ।

(२) ३।४।११२ अद्विषुः । पाणिनि में 'अद्विषन्' (√द्विष्) ।

(३) ८।३।१८ 'भोयत्र' में यकार का उच्चारण लघुतर होता है। पाणिनि के अनुसार 'यकार' का पूर्ण उच्चारण होता है। गार्ग्य तथा शाकल्य मत में यकार का लोप ही हो जाता है । द्रष्टव्य गार्ग्य तथा शाकल्य ।

(४) ८।४।५० के अनुसार 'इन्द्र' बनता है। पाणिनि के अनुसार नकार का द्वित्व भी अभीष्ट है । फलतः 'इन्न्द्र' रूप भी हो सकता है ।

शाकल्य

(१) १।१।१६ सूत्रानुसार शाकल्य के अनुसार पदपाठ 'वायो इति' होगा। पाणिनि के मत में 'वायविति' ।

(२) ६।१।१२७ के अनुसार 'कुमारि अत्र' । पाणिनि मत में 'कुमार्यत्र' ।

(३) ८।३।१९ के अनुसार 'क आस्ते' तथा 'भो अत्र' रूप बनते हैं। पाणिनि मत में कयास्ते तथा भोयत्र होगा। शाकटायन तथा गार्ग्य देखो।

(४) ८।४।५१ के अनुसार 'अर्कः' बनता है। पाणिनि में 'अर्क्कः' भी बनता है।

सेनक

५।४।११२ के अनुसार 'गिरि के समीप' अर्थ में 'उपगिरम्' पद सिद्ध होगा, पाणिनि मत में 'उपगिरि'।

स्फोटायन

६।१।१२१ के अनुसार गो + अजिनम् की सन्धि होने पर बनता है—'गवाजिनम्'। पाणिनि के अनुसार होगा गोअजिनम् तथा गोऽजिनम्।

सर्वेषाम्

(१) ७।३।९९ सूत्र में पाणिनि ने गार्ग्य तथा गालव के अनुसार रुद् धातु के लङ् लकार में 'अरोदत्' रूप निष्पन्न बतलाया है। तदनन्तर वे कहते हैं ७।३।१०० सूत्र में कि सब आचार्यों के मत में √अद् धातु के लङ् लकार में आदत् रूप बनता है।

(२) 'भोस् + अच्युत' इसकी सन्धि में गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन तथा अपने भी मत का उल्लेख कर पाणिनि ने लिखा (८।३।२२) कि 'भोस् + देवाः' की सन्धि करने पर 'भो देवाः' रूप निष्पन्न होता है—इस विषय में सब आचार्यों का ऐकमत्य है। अतः 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग किसी विशेष रूपसिद्धि के लिए समस्त आचार्यों की सहमति प्रकट करता है।

पारिभाषिक संज्ञा तथा पूर्वाचार्य

पाणिनि से पूर्व आचार्यों ने पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया था। भाष्य तथा व्याख्याग्रन्थों से उनका परिचय मिलता है। अब संज्ञा के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं पर विचार किया जायगा।

जिससे किसी का बोध भलीभाँति हो जाय, सामान्यतः उसे हम संज्ञा कहते हैं। जैसे लोक में राम, श्याम, देवदत्त इत्यादि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के प्रयोग से अनुपस्थित भी परिचित व्यक्तियों का परिज्ञान हमें हो ही जाता है। शास्त्र में भी 'सप्तर्षि' जैसी संज्ञाओं के श्रवण से अन्य बहुत ऋषियों के होते हुए भी 'कश्यप-अत्रि-वसिष्ठ-विश्वामित्र-गौतम-जमदग्नि एवं भारद्वाज' इन सात ऋषियों का वैवस्वत श्राद्धदेव मनु के काल में स्मरण किया जाता है (द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत ८।१३।१-५)। उक्त उदाहरणों से

यह बात सिद्ध होती है, कि शब्दशक्ति के अनेक अर्थों के अभिधान में सर्वात्मना समर्थ होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में उसका नियन्त्रण कर देना ही संज्ञाविधान है। कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में इसी बात को शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व की सम्पुष्टि में स्पष्ट रूप से कहा है[1]—शब्द, अर्थ एवं उनके सम्बन्ध की नित्यता में कोई विरोध उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी अर्थों को कहने में समर्थ शब्द की शक्ति का अर्थ-विशेष में नियमन कर देना ही संज्ञाकरण माना जाता है। अर्थ-विशेष में शब्द-शक्ति के इस विशेष नियमन से लाघव प्रक्रिया का समादर संज्ञा-व्यवहार में ध्वनित होता है।

सर्वत्र शब्द-व्यवहार लाघव को ध्यान में रखकर किया जाता है, उसमें भी संज्ञा-शब्दों का निर्धारण तथा उनका प्रयोग लाघव की चरम सीमा को अभिव्यञ्जित करता है। शब्दशास्त्र-निष्णात महर्षि पतञ्जलि के—'संज्ञा च नाम यतो न लघीयः' (म० भा० १।१।२७) इस वचन पर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए उक्त विषय को महाभाष्य प्रदीप में कैयट ने उद्धृत किया है। विवरण इस प्रकार है—

"शब्दव्यवहारो लघुस्ततोऽपि लघीयो नाम।"

(म० भा० प्र० १।१।२७)।

अर्थात् प्रथम तो शब्द-व्यवहार ही लाघव के लिए होता है, परन्तु उससे भी लाघव संज्ञाशब्दों में दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि—लघुभूत उपाय से ईप्सित बात को समझाने के लिए संज्ञा शब्दों का उपयोग शास्त्रों में भी किया गया है। फिर व्याकरणशास्त्र के तो सर्वतोभावेन लाघवापेक्षी होने के कारण उसमें संज्ञा-शब्दों के बिना निर्दिष्ट कार्य का विधान असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। यद्यपि प्रातिपदिक, सर्वनाम जैसी महती संज्ञाओं के उपन्यास-सन्दर्भ में शब्दकृत लाघव का नितान्त अभाव होने से उपर्युक्त वचनों में दोष प्रदर्शित किया जा सकता है, तथापि वहाँ यह समझना चाहिये कि लाघव भी दो प्रकार का होता है—'शब्दकृत एवं अर्थ-कृत'। अर्थकृत लाघव में वर्णसंक्षेप अपेक्षित न होने के कारण उक्त स्थलों में उस परम्परा का निर्वाह किया गया है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि अर्थकृत लाघव में वर्ण-बाहुल्य का समाश्रयण किसी विशेषार्थ-द्योतन के लिए होता है। इस प्रसंग में यह भी कहना अनावश्यक न होगा कि वेदमन्त्रों के यथार्थ बोध के लिए प्रथम देवतादि संज्ञा शब्दों का ही ज्ञान अनिवार्य होता है, तो उस वेद के मुखस्थानीय

---

१. सर्वार्थाभिधानयोग्य-शब्दस्य शक्तिनियमनमात्रं संज्ञाकरणमिति शब्दार्थ-सम्बन्धनित्यत्वस्यापि न विरोधः" (म० भा० प्र० १।१।२७)।

व्याकरण में उनकी आवश्यकता क्यों न हो ? महर्षि शौनक ने संज्ञाशब्दों के परिज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है—

"अवश्यं वेदितव्यो हि नाम्नां सर्वस्य विस्तरः।
न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्राः शक्या हि वेदितुम् ॥"

(बृहद्देवता १।८)।

अर्थात्—संज्ञाशब्दों के विस्तार का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनके ज्ञान के बिना मन्त्रों (मन्त्रों के तात्पर्यार्थ) को नहीं जाना जा सकता है। उन संज्ञाशब्दों तथा उनके स्वरूपों का निर्धारण सृष्टि के पूर्व ब्रह्म ने ही कर लिया था, ऐसा—'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उप० ६।३), 'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० उप० २।२।४।२) इत्यादि वचनों से—समझा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि बिना नाम और रूप के कोई भी व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता—इस बात को सिद्ध करने के लिए ही परमेश्वर ने ऐसा किया। संज्ञाशब्दों की नितान्त आवश्यकता है सब शास्त्रों में, विशेषतः व्याकरण में।

संज्ञायें सामान्यतः कृत्रिम और अकृत्रिम भेद से दो प्रकार की होती हैं। कृत्रिम वह संज्ञाएँ कही जाती हैं, जिनका प्रयोग आचार्य स्वरचित शास्त्रों में कार्यनिर्वाहार्थ किया करते हैं। अकृत्रिम उनको कहते हैं जो आदिकाल से अबतक उसी अर्थ में प्रयुक्त होती हैं और भविष्य में भी प्रयुक्त होती रहेंगी। कर्म, करण एवं अधिकरण इत्यादि कुछ संज्ञाएँ उभयविध मानी जाती हैं[१]।

इन संज्ञाओं का प्रयोग आचार्यों ने एक ही विषय के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में अनेक रूप से किया है। अतएव नागेश ने कहा है—"संज्ञात्वं न शास्त्रैकगम्यम्। संज्ञायामित्युच्चार्य विहिता एव संज्ञाशब्दा इति नेत्यर्थः" (उद्योत ६।३।१०)। अर्थात् संज्ञाधिकार में ही पढ़े गए शब्द संज्ञाशब्द हो सकते हैं इतर नहीं; ऐसा कहना सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि संज्ञा का विषय एक शास्त्र से निर्धारित नहीं किया जा सकता।

---

१. महाभाष्यकार ने "बहुगण-वतुडति संख्या" [अ० १।१।२२] सूत्र के भाष्य में कहा भी है "उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि, नावश्यमिहैव। तद्यथा—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" [अ० १।४।४९] इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। "कर्मणि द्वितीया" [अ० २।३।२] इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, "कर्तरि कर्म-व्यतिहारे" [अ० १।३।१४] इत्यत्राऽकृत्रिमस्य" [म० भा० १।१।२२] इत्यादि।

ऊपर जो महर्षि पतञ्जलि एवं कैयट की उक्तियों से संज्ञाशब्दों के संक्षिप्ततम रूप की तथा अर्थलाघव के उद्देश्य से प्रयुक्त संज्ञाओं में उस अनावश्यकता की चर्चा की गयी है, जिससे उन संज्ञाओं को कार्य निर्वाहार्थ तथा अन्वर्थ माना जाता है। उसमें अन्वर्थता क्या है ? क्या यौगिकार्थ का उनके संज्ञियों में कुछ सामञ्जस्य हो सकता है ? वह पाणिन्युपज्ञात हैं अथवा पूर्वाचार्य-प्रयुक्त ? ऐसी ही कुछ बातों को ध्यान में रखकर पाणिनीय-तन्त्र में प्रयुक्त कुछ संज्ञाओं की अन्वर्थता प्रमाण-पुरस्सर बताने का प्रयास किया जा रहा है। संज्ञाओं की अन्वर्थता या तो लोकप्रसिद्ध अर्थ से सामञ्जस्य रखती है अथवा किसी शास्त्रीय नियमविशेष को ध्वनित करती है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य में कहा भी गया है—

"अन्वर्थत्वं महासंज्ञा व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः।"

(वैदिकाभरणभाष्य १।२)।

एक अक्षर से अधिक अक्षर वाली महासंज्ञाएँ अन्वर्थ होने के कारण जिस अर्थ में नियमित की जाती हैं उससे अन्य अर्थों को भी प्रकाशित करती हैं। यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने उन संज्ञा शब्दों का अपने शास्त्रों में उपयोग किया है।

पूर्वाचार्य-कृत पारिभाषिक संज्ञाएँ

(१) वृद्धि संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने "वृद्धिरादैच्" (अ० १।१।१) सूत्र से द्विमात्रिक आ ऐ एवं औ इन तीन वर्णों के बोध के लिए जिस 'वृद्धि' संज्ञा का निर्धारण किया है, उस 'वृद्धि' संज्ञा का व्यवहार पूर्वाचार्यों ने ही किया था। इसका संकेत महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है—"**इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः ? आचार्यैः**" (म० भा० १।१।१)। 'वृद्धि' संज्ञा का सम्बन्ध उक्त तीन वर्णों के साथ पूर्वाचार्यों ने ही निश्चित कर दिया है। इस वचन की सत्यता वाजसनेयि प्रातिशाख्यादि के—"**तद्धिते चैकाक्षर-वृद्धावनिहिते**" (वा० प्रा० ५।२८) इत्यादि सूत्रवचनों से प्रमाणित होती है।

'वृद्धि' शब्द का अर्थ वर्धन क्रिया होता है। अतः इस महासंज्ञा की अन्वर्थता—'ह्रस्व अकार की अपेक्षा द्विमात्रिक आकार के उच्चारण में तथा 'ए ओ' वर्णों की अपेक्षा 'ऐ औ' वर्णों के उच्चारण में मुख का विकास अधिक होने के कारण उनमें वर्धनक्रिया का जो सम्बन्ध परिलक्षित होता है—उससे कही जा सकती है। पाणिनीय शिक्षा में कहा भी गया है—

"संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्" (श्लो० २०) तथा "तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च" (श्लो० २१) इति।

(२) गुण संज्ञा

"अदेङ् गुणः" (अ० १।१।२) सूत्र से अ ए एवं ओ इन तीन वर्णों के बोध के लिए पाणिनि द्वारा किया गया 'गुण' संज्ञा का व्यवहार शौनकादि आचार्यों के "गुणागमादेतन भावि चेतन" (ऋ० प्रा० ११।१०) इत्यादि वचनों के आधार पर पाणिनि से पूर्व ही सिद्ध होता है। 'गुण' शब्द अप्रधान अर्थ का वाचक होता है। अतः 'वृद्धि' संज्ञा के संज्ञियों से 'अ ए ओ' इन तीन वर्णों में अप्रधानता (स्थानिगत मात्रान्यूनता) मानकर 'गुण' संज्ञा को अन्वर्थ कहना उचित प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है, कि—'अ ए ओ' इन तीन वर्णों की 'गुण' संज्ञा जगत् के मूलभूत सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों की संख्या से साम्य रखती है।

(३) संयोग संज्ञा

अचों से अव्यवहित अनेक हल् वर्णों की जो 'संयोग' संज्ञा पाणिनि ने कही है "हलोऽनन्तराः संयोगः" (अ० १।१।७)। उसका निर्दिष्ट अर्थ में व्यवहार पाणिनि से पूर्व शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में किया है, उन्होंने कहा है—

"संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः" (१।३७)। अर्थात् एकत्र स्थित व्यञ्जनसमुदाय की 'संयोग' संज्ञा होती है। यहाँ 'संयोग' का अर्थ समुदाय विवक्षित है। अतः एक हल् वर्ण की 'संयोग' संज्ञा न कहकर जो अनेक हल् वर्णों की 'संयोग' संज्ञा कही गयी है, उससे इसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है। ऋक्तन्त्र में लाघव के उद्देश्य से संयोग के लिए 'सण्' शब्द का व्यवहार किया गया है (२।३।७)।

(४) अनुनासिक संज्ञा

अनुस्वार, अच् एवं वर्गीय पञ्चम वर्णों के लिए 'अनुनासिक' संज्ञा का व्यवहार ऋक् प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों के "अनुनासिकोऽन्त्यः" (ऋक् प्रातिशाख्य १।१४) तथा "अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्" (ऋ० प्रा० १।६३) इत्यादि सूत्रवचनों से पूर्वाचार्य कृत ही कहा जा सकता है। पाणिनीय शिक्षा में (श्लो० ३९) 'य् व् ल्' वर्णों को भी अनुनासिक माना गया है। अपने मुख्य स्थान के साथ नासिका का आश्रय लेकर जिन वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उनको 'अनुनासिक' कहते हैं। अतः वर्गीय पञ्चम ङ् ञ् आदि वर्णों के उच्चारण में मुख एवं नासिका रूप दो स्थानों का आश्रय लिए जाने से 'अनुनासिक' संज्ञा को अन्वर्थ माना जाता है (द्र०—ऋ० प्रा०, उ० भा० १।१४)।

(५) सवर्ण संज्ञा

समानजातीय (समान स्थान प्रयत्न वाले) अच् वर्णों के लिए 'सवर्ण' संज्ञा का व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के "स्थान-प्रश्लेपोपदेशे स्वराणां ह्रस्वदेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ" (ऋ० प्रा० १।५५) में किया गया है। सवर्ण का अर्थ सदृश होता है। अतः सदृश = तुल्य-स्थान-प्रयत्न वाले अच् वर्णों को यह 'सवर्ण' संज्ञा अन्वर्थक ही है (द्र० तै० प्रा०, त्रिभाष्यरत्नम्—१।३)।

(६) प्रगृह्य सञ्ज्ञा

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" (अ० १।१।११) सूत्र से द्विवचनान्त जिन ईकारान्त ऊकारान्त तथा एकारान्त शब्दों की 'प्रगृह्य' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है, उसका व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के "ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः" (ऋ० प्रा० १।६८) इत्यादि सूत्रों में देखा जाता है। जहाँ पदों का भली-भाँति ग्रहण होता हो उसको 'प्रगृह्य' कहते हैं। अतः 'प्रगृह्य' संज्ञक शब्दों में सन्धि-विधान न होने से उनके स्वरूपों की जो पूर्ववत् स्थिति बनी रहती है, उससे 'प्रगृह्य' संज्ञा की अन्वर्थता प्रतीत होती है।

(७) संख्या संज्ञा

एक, द्वि, बहु इत्यादि शब्दों के लिए लोक-प्रसिद्ध ही 'संख्या' संज्ञा का व्यवहार महर्षि यास्क ने "एक इता संख्या, द्वौ द्रुततरा संख्या" (निरु० ३।२) इत्यादि वचनों से किया है। जिससे किन्हीं पदार्थों का संख्यान (परिगणन) किया जाय, उसे संख्या कहते हैं। यही कारण है कि पाणिनि के द्वारा "बहु-गण-वतुडति संख्या" (अ० १।१।२३) सूत्र में एक इत्यादि शब्दों की 'संख्या' संज्ञा का निर्देश न किए जाने पर भी उन सभी शब्दों का ग्रहण 'संख्या' संज्ञा के अन्तर्गत होता है—इसी प्रकार उसकी अन्वर्थता भी सिद्ध होती है। इसका संकेत पाणिनि द्वारा "ष्णान्ता षट्" (अ० १।१।२४) सूत्र से षान्त नान्त 'संख्या' संज्ञक शब्दों की की गयी 'षट्' संज्ञा के विधान में प्राप्त होता है, क्योंकि षान्त नान्त शब्दों की बिना 'संख्या' संज्ञा हुए उनकी 'षट्' संज्ञा उपपन्न नहीं हो सकती।

'चित्' एवं 'वचन' शब्द का भी पूर्वाचार्य व्यवहार करते थे (द्र०—का० धा० व्या०, सू० १–२ "धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्", "लिंगे किम् चिति विभक्तावेतन्नाम")।

(८) सर्वनाम संज्ञा

निरुक्त में "अथ प्रत्यचकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चेतेन सर्वनाम्ना" (निरु० ७।२।२।) एवं "अथाध्यात्मिका उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्व-

नाम्ना" (निरु० ७।२।५) इत्यादि वचनों से पाणिनीय "सर्वादीनि सर्वनामानि" (अ० १।१।२७) सूत्र के सर्वादिगण में पठित 'युष्मद्-अस्मद्' शब्दों को सर्वनाम कहा गया है। इस संज्ञा की अन्वर्थता को बताते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि सर्वार्थवाचक ही सर्वादि शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं, अतः किसी व्यक्ति का 'सर्व' यह नाम होनेपर एवं किसी अन्य का विशेषण होनेपर 'सर्व' शब्द सर्वार्थवाचक न होने के कारण 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं हो सकता (द्र०—म० भा० १।१।२७)।

(९) अव्यय संज्ञा

निपातादिकों के लिए पाणिनि द्वारा "स्वरादि निपातमव्ययम्" (अ० १।१।३७) इत्यादि सूत्रों से की गई 'अव्यय' संज्ञा की गोपथ ब्राह्मण में विस्तृत चर्चा होने के कारण उसको पूर्वाचार्य प्रयुक्त मानना ही होगा। वहाँ इसकी अन्वर्थता को बताते हुए कहा गया है—

"निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति । तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु,
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्"

(१।१।२६)।

अर्थात् जिन शब्दों का रूप तीनों लिङ्गों सभी विभक्तियों एवं सभी वचनों में अविकृत रहे उन शब्दों की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

'अव्यय' संज्ञक शब्दों में विकार न होने के कारण 'अव्यय' संज्ञा के अन्वर्थ होने से विशेषणीभूत निपातों की 'अव्यय' संज्ञा नहीं होती है।

(द्र०—म० भा० १।१।३८)।

(१०) सम्प्रसारण संज्ञा

पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट 'य् व् र् ल्' वर्णों के स्थान में क्रम से होने वाले 'इ उ ऋ लृ' वर्णों की 'सम्प्रसारण' संज्ञा का व्यवहार पाणिनि से पूर्व "यजां यवराणां य्वृतः सम्प्रसारणं कानुबन्धे" (काशकृत्स्न व्या०, सू० ११) सूत्र में आचार्य काशकृत्स्न ने किया है। 'सम्प्रसारण' का अर्थ विस्तार होता है, अतः अर्धमात्रिक यण् वर्णों के स्थान में एकमात्रिक इक् वर्णों का हो जाना ही 'सम्प्रसारण' संज्ञा की अन्वर्थता है। गोपथ ब्राह्मण (१।१।२६) में इसके लिए 'प्रसारण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(११) प्रत्याहार संज्ञा

संक्षेप में बहुत वर्णों का बोध कराने के लिए पाणिनीय सम्प्रदाय में समादृत 'प्रत्याहार' संज्ञा का निर्देश ऋक्तन्त्र के "अथ वर्णाः संज्ञाप्रत्याहारसमाः" (१।१) इत्यादि वचनों में उपलब्ध होता है। पूर्व प्रसिद्ध होने के कारण ही "आदिरन्त्येन सहेता" (१।१।७१) इस प्रत्याहारसंज्ञा-विधायक सूत्र में 'प्रत्याहार' शब्द का उल्लेख न होने पर भी व्याख्याकारों ने उक्त सूत्र से की जाने वाली अण् अच् आदि संज्ञाओं का 'प्रत्याहार' शब्द से व्यवहार करने के लिए निर्देश किया है। जिसमें वर्णों का संक्षेप किया जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं। अतः अच् अल् आदि प्रत्याहारों के अन्तर्गत बहुत वर्णों का समावेश होते हुए भी उच्चारण में संक्षेप होने के कारण इस संज्ञा को अन्वर्थ कहना सङ्गत ही प्रतीत होता है।

(१२) प्रातिपदिक संज्ञा

गोपथब्राह्मण के "कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्" (१।१।२६) इस वचन में कृदन्त अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा का निर्देश देखा जाता है। अन्यान्य आचार्यों ने इस संज्ञा के लिए नाम, लिङ्ग, फिट्, ल्य, मृत् जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है। प्रत्येक पदों में जिसकी स्थिति हो उसे प्रातिपदिक कहते हैं, इस अर्थ के आधार पर प्रतीत होता है, कि पूर्वाचार्यों ने धातुओं की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा की थी, क्योंकि सभी नाम-पद धातुज माने जाते हैं। पाणिनि ने यद्यपि "अर्थवद-धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (अ० १।४।४५) इस सूत्र से धातुभिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा कही है, तथापि योगरूढ मानकर 'प्रातिपदिक' संज्ञा को अन्वर्थ कहना ही ठीक है।

(१३) धातु संज्ञा

निरुक्त में 'धातु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—"धातुर्दधातेरिति" (निरु० १।६) इति। अर्थात् जो अर्थों को धारण करे उसे धातु कहते हैं। अन्य गोपथब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी पाणिनि निर्दिष्ट ("भूवादयो धातवः" अ० १।३।१ सूत्र में) क्रियावाची शब्द के लिए ही 'धातु' शब्द का व्यवहार होने से उसकी प्राचीनता स्पष्ट है। अनेक अर्थों का जो वाचक हो उसे 'धातु' कहते हैं, इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की भ्वादि धातुओं में सङ्गति होने से उसे अन्वर्थ माना जाता है।

(१४) पद संज्ञा

दुर्गाचार्य द्वारा निरुक्तभाष्य में प्रदर्शित "अर्थः पदम् इत्यैन्द्राणाम्" (निरु० भा० १।१।८) इस वचन में वैयाकरण इन्द्र के मत से अर्थवान् शब्दों की 'पद' संज्ञा

बतायी गयी है। इस मत का समादर वाजसनेयि प्रातिशाख्य (३।२) में भी किया गया है। अन्यत्र पूर्वाचार्यों ने नाम-आख्यात इत्यादि शब्दों से पदों के भेद बताये हैं। निरुक्तकार ने वैयाकरणों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार पदों को माना है (निरुक्त १३।९)। भर्तृहरि (वा० प० ३।१।१) एवं दुर्गाचार्य (निरु० भा० १।१।८) ने गति तथा कर्मप्रवचनीय भेदों को लेकर पाँच और छः प्रकार के भी पदों की चर्चा की है।

सिद्ध अर्थ को कहने वाले नाम पद होते हैं, तथा साध्य अर्थ को कहने वाले आख्यात। आख्यात के क्रियाप्रधान होने से उपसर्ग निपात एवं कर्मप्रवचनीय को उसी के अन्तर्गत मानकर कोई आचार्य मुख्यतः दो ही पद मानते रहे हैं। परन्तु उपसर्ग केवल सिद्ध अर्थ की विशेषता को द्योतित करते हैं जब कि निपात सिद्ध एवं साध्य इन दोनों अर्थों की विशेषता को बतलाते हैं। कर्मप्रवचनीय भी साक्षात् क्रिया-विशेष को नहीं कहते हैं। अतः इन तीनों को स्वतन्त्र रूप में भी पद माना गया है। पाणिनि ने प्रथम **"सुप्तिङन्तं पदम्"** (अ० १।४।१४) से 'सुबन्त तिङन्त' रूपों की 'पद' संज्ञा कहकर कार्यविशेष के उद्देश्य से कुछ प्रातिपदकों की भी 'पद' संज्ञा का निर्देश किया है।

जिससे अर्थबोध हो उसे पद कहते हैं। अतः सुबन्तादि पदों के अर्थबोधक होने के कारण 'पद' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(१५) कारक संज्ञा

नाट्यशास्त्र में पूर्वाचार्योक्त व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कुछ शब्दों के लक्षणों का निर्देश करते हुए कहा गया है—

"तत्प्राहुः सप्तविधं पदकारकसंयुतं प्रथितसाध्यम्"।

(ना० शा० १४।२३)।

'साधन' 'विभक्ति' एवं 'नाम' शब्दों का भी प्रयोग कारक के लिए पूर्वाचार्य करते रहे हैं। क्रिया-निष्पत्ति की भिन्नता से कारक छः प्रकार का माना जाता है। क्रिया का बाह्य या बौद्ध विभाग जिससे होता है उसे अपादान, कल्याण-कामना से दानादि रूप क्रिया का विभाग जिसके लिए होता है उसे सम्प्रदान, क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक होता है उसे करण, क्रिया के आधार को अधिकरण, क्रिया के प्रेरक को कर्म तथा क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र होता है उसे 'कर्त्ता' कारक कहते हैं। कर्त्ता के अतिरिक्त कर्मादि भी अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण 'कारक' कहलाते हैं। क्रिया की निष्पत्ति कारकों के द्वारा होती है। अतः कर्त्रादिकों की

'कारक' संज्ञा अन्वर्थ ही है। कर्त्रादि कारकों का निर्धारण वक्ता की इच्छा पर आधारित होता है।

(१६) परस्मैपद संज्ञा

काशकृत्स्न आचार्य ने **"उदात्तानुबन्धः परस्मैपदम्"** (का० धा० व्या०, सू० ६०) सूत्र में उदात्त अनुबन्ध वाली धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों का तथा **"अनुदात्त-अनुबन्ध आत्मनेपदम्"** (का० धा० व्या०, सू० ८८) सूत्र में अनुदात्त अनुबन्ध-विशिष्ट धातुओं से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों का निर्देश किया है, जिससे इन संज्ञाओं की प्राचीनता परिज्ञात होती है। परस्मैभाष एवं आत्मनेभाष शब्दों का भी प्रयोग पूर्वाचार्य करते थे; ऐसा कैयट ने लिखा है (द्र०—प्रदीप ६।३।७)। पाणिनि ने प्रथम तिप् आदि अठारह प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा का निर्देश करके त आदि नव प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा विशेष रूप से कही है। सामान्यतः परप्रयोजन तथा आत्मप्रयोजन जिससे प्रतीत हो उसे क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद कहते हैं। क्रिया का फल जब कर्त्ता को प्राप्त होता है तब स्वरित एवं ञित् धातुओं से आत्मनेपद, जब क्रिया का फल दूसरे को प्राप्त होता है तब परस्मैपद का विधान किया गया है। यहाँ इसी उद्देश्य से की गई यह 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञाएँ आंशिक रूप से अन्वर्थ कही जा सकती हैं।

(१७) संहिता संज्ञा

ऋक् प्रातिशाख्य में **"संहिता पदप्रकृतिः"** (२।१) कहकर **"पदान्तान् पदादिभिः सन्दधदेति यत् सा कालाव्यवायेन"** (ऋ० प्रा० २२) इस सूत्र-वचन से संहिता के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् पदान्तरूपों का अन्य पदों के साथ जो संयोग होता है उसे 'संहिता' कहते हैं। निरुक्त (१।३) में संहिता के प्रसंग में संहिता को पदों का विकाररूप माना गया है, परन्तु दुर्गाचार्य ने पदों को ही विकार-रूप में सिद्ध किया है (द्र०—निरु० भा० १।६)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद-अक्षर-वर्ण एवं अङ्ग भेद से चार प्रकार की संहिताएँ मानी गयी हैं (तै० प्रा० २४।२)। पाणिनि शास्त्र के व्याख्याकारों ने वर्णों का परम सन्निकर्ष अर्धमात्राकालिक व्यवधान में निश्चित किया है। जहाँ अनेक वर्ण या पद परस्पर सन्धि को प्राप्त होते हैं, उसे संहिता कहते हैं—इस अर्थ की सङ्गति सर्वत्र 'श्रीशः' इत्यादि प्रयोगों में होने से 'संहिता' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहा जा सकता है।

(१८) समास संज्ञा

पाणिनि से पूर्व बृहद्देवता में शौनक ने **"विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते"**

(२।१०६) इस वचन से 'समास में विग्रहपूर्वक निर्वचन करना चाहिए' इसका निर्देश करके छः समासों के नाम गिनाए हैं जैसे—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च,
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः"
(बृ० दे० २।१०५)।

श्लोकार्थ स्पष्ट ही है। इनमें अव्ययीभाव प्रायः पूर्वपदार्थ-प्रधान, तत्पुरुष उत्तरपदार्थ-प्रधान, द्वन्द्व उभयपदार्थप्रधान, बहुव्रीहि अन्य-पदार्थ-प्रधान माना जाता है। द्विगु और कर्मधारय तत्पुरुष के ही भेद हैं। यह छः प्रकार का समास अवान्तर भेदों से २८ प्रकार का होता है। समास का अर्थ संक्षेप होता है। अतः भिन्नार्थक अनेक पदों के परस्पर मिलकर एकार्थवाचक होने से जो संक्षेप क्रिया प्रतीत होता है, उससे 'समास' संज्ञा को अन्वर्थ कहना ठीक ही होगा।

(१९) प्रत्यय संज्ञा

गोपथ ब्राह्मण में "ओङ्कारं पृच्छामः। को धातुः ? किं प्रातिपदिकम् ?…… ……कः प्रत्ययः ?" (१।१।२४) इत्यादि प्रकरण में 'प्रत्यय' संज्ञा का स्मरण किया गया है, जिससे प्रत्यय संज्ञा को पाणिनि उपज्ञात न कहकर पूर्वाचार्यकृत कह सकते हैं। इन्द्र के द्वारा पदपाठ रूप शब्दोपशब्द का प्रकृति-प्रत्यय रूप में विभक्त किया जाना भी इस संज्ञा की प्राचीनता को सिद्ध करता है। बिना प्रत्ययों के अर्थ का सम्यक् बोध न होने से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता लोक में प्रसिद्ध हैं। प्रत्यय का अर्थ ज्ञान होता है। अतः इसकी अन्वर्थता बताते हुए व्याख्याकारों ने कहा है—जिससे अर्थ का सम्यक् बोध हो जाय, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। प्रत्यय भी सुप्, तिङ् इत्यादि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। यह किसी अर्थ के वाचक होते हुए भी पृथक् प्रयोगार्ह नहीं होते।

(२०) कृत् संज्ञा

गोभिल गृह्यसूत्र में "कृतं नाम दध्यात्" (२।८।१४) सूत्र से कृत्प्रत्ययान्त नामों के लिए निर्देश किया गया है। व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कृत्प्रत्ययान्त नामों को प्रशंसनीय बताया गया है। पाणिनीय शास्त्र में धातुओं से किए जाने वाले प्रत्ययों में 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर सभी 'क्विप्' आदि प्रत्यय कृत्संज्ञक माने गए हैं ("कृदतिङ्" अ० ३।१।९३)। कर्त्ता अर्थ में 'कृ' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'कृत्' शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'क्विप्' प्रत्यय के साथ छत्रिन्याय से 'ण्वुल्-तृच्' आदि प्रत्ययों को जो 'कृत्' संज्ञा की गयी है, वह अन्वर्थ ही है।

(२१) अपृक्त संज्ञा

"अपृक्त एकाल् प्रत्ययः" (अ० १।२।४१) सूत्र से पाणिनि ने 'अपृक्त' संज्ञा का निर्देश अल् मात्र प्रत्ययों के लिए किया है, परन्तु "वेरपृक्तस्य" (अ० ६।१।६७) इत्यादि सूत्रों में अपृक्त शब्द से हल्मात्र प्रत्ययों का ग्रहण होता है। हल्मात्र की 'अपृक्त' संज्ञा न कहकर पाणिनि ने जो अल्मात्र की संज्ञा की है, उसे नागेश ने अदृष्टार्थ माना है (द्र०—शब्देन्दुशेखर, अजन्त—पुं० प्र०, १।२।४१ "अपृक्तप्रदेशेषु हल्-ग्रहणेनैव सिद्धे संज्ञाविधानमदृष्टार्थम्" इति)।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद संज्ञक एक अच् वर्ण की 'अपृक्त' संज्ञा देखी जाती है ("एकवर्णः पदमपृक्तः" १।५४)। त्रिभाष्य रत्नाकर ने यहाँ 'अपृक्त' को व्यञ्जन-रहित कहा है। परस्पर न मिले हुए पदार्थ को 'अपृक्त' कहते हैं। अतः स्वतन्त्र अल्, अच् या हल् वर्णों को की गयी 'अपृक्त' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(२२) तद्धित संज्ञा

प्रातिपदिकों से किए जाने वाले यत् आदि प्रत्ययों को 'तद्धित' संज्ञा का निर्देश बृहद्देवता में शौनक ने इस प्रकार किया है—

"विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते,
प्रविभज्यैव निर्ब्रूयाद् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि"।
(२।१०६)।

अनेक पदों का व्युत्पादक होने से जिज्ञासुओं के लिए हितसाधक अथवा अनेक प्रयोगों के हितसाधक प्रातिपदिकों से बहुत अर्थों में किए जाने वाले प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त इस 'तद्धित' शब्द को अन्वर्थ ही मानना चाहिए। तद्धित प्रत्ययान्त प्रयोग दाक्षिणात्यों को अधिक प्रिय होने के कारण महाभाष्यकार ने कहा है—

"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः"
(पस्पशाह्निक)।

(२३) अभ्यास संज्ञा

"पूर्वोऽभ्यासः" (अ० ६।१।४) इस सूत्र से षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण में पूर्व-स्थित रूप की जो 'अभ्यास' संज्ञा पाणिनि ने कही है, उसको काशकृत्स्न आचार्य ने भी "पूर्वोऽभ्यासः" (का० धा०व्या०, सू० ३७) सूत्र से स्पष्ट किया है। लोक में प्रथम किए गए कार्य की आवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। प्रतीत होता है—आचार्यों ने भी उसी के आधार पर द्वित्व रूप में प्रथम रूप की 'अभ्यास' संज्ञा करके लोक-प्रसिद्ध-अर्थ रूप अन्वर्थता को व्यक्त किया है।

(२४) अभ्यस्त संज्ञा

षष्ठाध्याय के द्वित्व-प्रकरण में द्वित्व किए जाने से निष्पन्न दोनों रूपों की 'अभ्यस्त' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने **"उभे अभ्यस्तम्"** (अ० ६।१।५) सूत्र से किया है। इसका अनुशासन उक्त अर्थ में ही काशकृत्स्न आचार्य ने **"द्वयमभ्यस्तम्"** (का० धा० व्या०, सू० ७८) सूत्र से तथा यास्क ने **"एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः"** (निरुक्त ४।४) इत्यादि वचनों से किया है।

लोक में यद्यपि जिस कार्य की अनेक आवृत्तियाँ की जाती हैं उस कार्य की एवं उस कार्य की आवृत्तियों को करके कुशलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति को 'अभ्यस्त' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु शास्त्र में द्विरावृत्त वर्णों की की गयी 'अभ्यस्त' संज्ञा अपनी योगरूढि रूप अन्वर्थता को ही व्यक्त करती है। नुमागम के निषेधार्थ 'जक्ष' इत्यादि सात साधुओं की 'अभ्यस्त' संज्ञा विशेष रूप से पाणिनि ने कही है (अ० ६।१।६)।

(२५) आम्रेडित संज्ञा

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में—**"द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्"** (१।१४६) सूत्र से द्विरुक्त पद की 'आम्रेडित' संज्ञा की गयी है। पाणिनि ने अष्टम अध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वितीय शब्दरूप की **"तस्य परमाम्रेडितम्"** (अ० ८।१।२) सूत्र से 'आम्रेडित' संज्ञा कही है।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इस संज्ञा की अन्वर्थता बताते हुए कहा है, **"आम्रेड्यते = आधिक्येनोच्यते इत्याम्रेडितम्"** (न्या० ८।१।२)। अर्थात् जो अधिक रूप में कहा जाय उसे 'आम्रेडित' कहते हैं। अतः दर्शनीयता एवं रुचि की अधिकता प्रदर्शित करने के लिए **'अहो दर्शनीया-अहो दर्शनीया, मह्यं रोचते-मह्यं रोचते'** इत्यादि प्रयोगों में द्वित्व का उपयोग किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में दोनों रूपों के लिए 'आम्रेडित' शब्द का व्यवहार किया जाता है, व्याकरण शास्त्र में आचार्य पाणिनि ने 'अभ्यस्त' संज्ञा से भेद बोधित करने के लिए 'पटत्पटेति, कांस्कान्' इत्यादि द्वित्वसम्पन्न रूपों में द्वितीय 'पटत्' एवं 'कान्' इत्यादि रूपों की 'आम्रेडित' संज्ञा की है।

(२६) विभाषा संज्ञा

कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में आचार्य आपिशलि के मत में 'विभाषा' संज्ञा का उल्लेख किया है—

"मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु इत्यापिशलिरधीते स्म" (म० भा० प्र० २।३।१७)। अन्य पूर्वाचार्यों ने विकल्पार्थ में **अन्यतरस्याम्-वा-उभयथा-**

एकेषाम् इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया था। अनित्य रूप से किन्हीं पदार्थों के वर्णन को विभाषा कहते हैं। अतः "न वेति विभाषा" (अ० १।१।४४) सूत्र से पाणिनि द्वारा निषेध और विकल्प की की गयी 'विभाषा' संज्ञा से पाक्षिक कार्य का बोध होने के कारण 'विभाषा' संज्ञा अन्वर्थ ही कही जा सकती है।

(२७) ह्रस्व संज्ञा

ऋक् प्रातिशाख्य में एकमात्रिक 'अ इ उ ऋ' इन वर्णों को 'ह्रस्व' संज्ञा, द्विमात्रिक 'आ ई ऊ ॠ' इन वर्णों की 'दीर्घ' संज्ञा तथा त्रिमात्रिक अचों की 'प्लुत' सञ्ज्ञा का निर्देश उपलब्ध होता है ("ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्, अन्ये दीर्घाः, तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः" ऋ० प्रा० १।१७-१८, ३०)।

जिस अच् के उच्चारण में ह्रास हो जाय अर्थात् जिससे कम मात्राएँ अन्य अचों में न हो सकें उसको 'ह्रस्व', जिस अच् के उच्चारण में ह्रस्व वर्ण की अपेक्षा मात्रा का आयाम (विस्तार या वृद्धि) हो जाय उसे 'दीर्घ' तथा इन दोनों प्रकार के वर्णों की मात्राओं का जिससे प्लवन (अतिक्रमण) हो जाय उसे 'प्लुत' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनों संज्ञाओं को अन्वर्थ कहा जा सकता है।

पाणिनि ने उक्तार्थ में ही ये तीनों संज्ञाएँ की हैं—

"अकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः"। (अ० १।२।२७)।

(२८) उदात्त संज्ञा

महर्षि शौनक ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य में उदात्त एवं स्वरित स्वरों के उच्चारण में शरीर के अङ्ग किस रूप में हो जाने चाहिए, इसका निरूपण करते हुए कहा है—

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः,
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः।"
(ऋ० प्रा० ३।१।१–२)।

अर्थात् वायु के द्वारा जब अङ्ग विस्तृत हो जाते हैं, उस समय उच्चरित वर्ण 'उदात्त' संज्ञक, वायु के द्वारा जब अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं उस समय उच्चरित वर्ण 'अनुदात्त' संज्ञक तथा वायु के द्वारा अङ्गों में जब तरलता सी प्रतीत हो उस समय उच्चरित वर्ण 'स्वरित' संज्ञक होते हैं।

निरुक्त में उत्कृष्टार्थवाचक पद को उदात्त तथा हीनार्थवाचक पद को अनुदात्त कहा है ("अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्" निरु० ४।४।६१–६२ इत्यादि)।

कण्ठताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से वायु का सम्बन्ध होनेपर उच्चरित वर्ण की 'उदात्त' संज्ञा, अधोभाग से सम्बन्ध होनेपर उच्चरित वर्ण की 'अनुदात्त' संज्ञा तथा जिस अच् के उच्चारण में दोनों स्वरधर्मों (उदात्त-अनुदात्तत्व) का सन्निवेश हो उस वर्ण की 'स्वरित' संज्ञा पाणिनि ने कही है ("उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहार स्वरितः" अ० १।२।२९-३१)।

वेदों में इन स्वरों का उच्चारण उक्त प्रकार से किए जाने के कारण उदात्तादि संज्ञाएँ भी अन्वर्थ ही हैं।

(२९) विभक्ति संज्ञा

नाट्यशास्त्र में पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'विभक्ति' का लक्षण करते हुए कहा गया है—

> "एकस्य बहूनां वा धातोर्लिङ्गस्य पदानां वा,
> विभजन्त्यर्थं यस्माद् विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः।"
> (ना० शा० १४।३०)।

अर्थात् एक या अनेक धातु, प्रातिपदिक या पदों के अर्थों का जिससे विभाग होता है उसे 'विभक्ति' कहते हैं। पाणिनीयशास्त्र में भी जिससे प्रातिपदिकार्थ का विभाग किया जाय, उस अर्थ में प्रयुक्त 'विभक्ति' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

पाणिनि ने "विभक्तिश्च" (अ० १।४।१०४) सूत्र से 'तिङ्' प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा विभक्तिस्थ तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्-संज्ञा का निषेध करने के लिए की है। "प्राग्दिशो विभक्तिः" (अ० ५।३।१) सूत्र से तसिल् आदि प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा त्यदादि-विधि-सम्पादन के उद्देश्य से की है।

(३०) आमन्त्रित संज्ञा

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के "न सप्तम्यामन्त्रितयोः" (वा० प्रा० ३।१३६) सूत्र में 'आमन्त्रित' संज्ञा का स्मरण किया गया है। इस सूत्र के भाष्य से यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने "सामन्त्रितम्" (अ० २।३।४८) सूत्र से जो सम्बोधन में प्रथमान्त पद की 'आमन्त्रित' संज्ञा कही है, वही अर्थ पूर्वाचार्यों को भी अभीष्ट था।

आमन्त्रित का अर्थ आमन्त्रण होता है। अतः आमन्त्रण का साधन जिन शब्दों से होता है उनकी की जाने वाली 'आमन्त्रित'-संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(३१) सार्वधातुक संज्ञा

आचार्य काशकृत्स्न ने "नामिनो गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः" (का० धा० व्या०, सू० २२) सूत्र से 'सार्वधातुक' एवं 'आर्धधातुक' संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर

नामिसंज्ञक इकारादि वर्णों का गुणविधान किया है। इसके अतिरिक्त "दानादीनां सन् सार्वधातुके" (वही, सू० ६५) इत्यादि सूत्रों में भी 'सार्वधातुक' संज्ञा का उल्लेख किया गया है।

पाणिनि ने "तिङ्शित् सार्वधातुकम्" (अ० ३।४।११३) सूत्र से 'तिङ्' एवं 'शित्' प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा की है। 'शप्, श, श्नम्' इत्यादि शित् प्रत्यय गण-विशेष के अनुसार भ्वादि इत्यादि गणों में पढ़ी गयी सभी धातुओं से होने के कारण 'सार्वधातुक' कहलाते हैं। 'सार्वधातुक' संज्ञक 'खश्' प्रत्यय को सभी धातुओं से न होते देखकर तथा 'आर्धधातुक' संज्ञक 'ण्वुल्' 'तृच्' आदि प्रत्ययों को सभी धातुओं से होते देखकर इस प्रकार इन संज्ञाओं का विभाग व्यवहाराधिक्य के कारण मानना पड़ता है।

यह भी कहा जा सकता है, कि—पूर्वाचार्य शबादि विकरणयुक्त धातुओं से ही होने वाले प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा करते थे। अर्थात् शबादि विकरण से युक्त होकर जहाँ धातु समग्र रूप में रहती हो, उससे किए गए प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा तथा जहाँ शबादि विकरण-रहित धातु हो उससे किए गए प्रत्ययों की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है। पूर्वाचार्यों का 'सर्व' शब्द से विकरण विशिष्ट का तथा 'अर्ध' शब्द से विकरणरहित का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस प्रकार सर्व (विकरण-विशिष्ट) धातुओं में होने वाले 'तिङ्' तथा शबादि विकरणों की की गयी 'सार्वधातुक' संज्ञा, अथ च अर्ध (विकरणरहित) धातुओं में होने वाले 'ण्वुल्' 'तृच्' आदि प्रत्ययों की की गयी 'आर्धधातुक' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

जैसे 'भवति' में 'तिप्' प्रत्यय के 'सार्वधातुक' होने के कारण 'शप्' प्रत्यय विकरण रूप में सम्पन्न होता है, परन्तु 'बभूव' में लिट् के स्थान में हुए 'तिप्' प्रत्यय को 'आर्धधातुक' संज्ञा होने के कारण 'शप्' विकरण नहीं होता है। इसी प्रकार 'जनमेजयः' में तो 'खश्' प्रत्यय के सार्वधातुक होने से 'शप्' होता है, परन्तु 'कारकः' में ण्वुल् प्रत्यय के 'सार्वधातुक' संज्ञक न होने से 'शप्' नहीं होता है।

"पूर्वाचार्यैः कैश्चिदतिः प्रत्ययत्वेन परिकल्पितः" (म० भा० प्र० १।३।१) इस कैयट के कथन से किन्हीं आचार्यों के मत में शबादि विकरण पृथक् न होकर तिबादि के साथ प्रत्यय रूप में ही पढ़े गए थे जिससे कहा जा सकता है, कि 'अति' इत्यादि प्रत्ययों की ही सामूहिक रूप से 'सार्वधातुक' संज्ञा पूर्वाचार्य करते रहे होंगे।

पूर्वाचार्य द्वारा व्यवहृत पूर्वोक्त संज्ञाओं की सत्ता का आधार महाभाष्य, उसके व्याख्याकार कैयट और नागेशभट्ट आदि अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थ हैं।

द्वितीय खण्ड

उत्कर्ष-काल

उत्कर्ष काल का आरम्भ पाणिनि से तथा अन्त पतञ्जलि से होता है। यही काल संस्कृत व्याकरण के सर्जन का काल है। महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी का, कात्यायन ने अपने वार्तिकों का तथा पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य का प्रणयन किया। ये तीनों ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं तथा टीका-टिप्पणियों के द्वारा अपने अर्थ का विशद प्रतिपादन करते हैं, परन्तु इस युग का विशालकाय लक्ष-श्लोकात्मक परिमाण वाला 'संग्रह' नामक ग्रन्थ सदा-सर्वदा के लिए विस्मृति के गर्त में चला गया। इसके रचयिता महर्षि व्याडि की स्मृति व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय उद्धरणों तथा उल्लेखों से ही जागरूक है। इस काल का विस्तार लगभग एक सहस्र वर्षों का मानना कथमपि अनुचित न होगा—अष्टम शती वि० पू० से लेकर द्वितीय शती वि० पू० तक। संस्कृत भाषा के व्याकरण-निर्माण का यह स्वर्णकाल है। संस्कृत लोकभाषा थी इस युग की आरम्भिक शताब्दियों में और शिष्टभाषा बनी रही इस सहस्राब्दी के अन्तिम काल तक। पाणिनि ने सूत्रों का निर्माण किया जिसमें अपेक्षित कमी की पूर्ति कात्यायन ने अपने वार्तिकों से की। पतञ्जलि ने इन वार्तिकों के ऊपर अपनी श्लाघनीय व्याख्या लिखी महाभाष्य में। वार्तिकों के स्वरूप तथा संख्या जानने का आज महाभाष्य को छोड़कर कोई अन्य उपाय ही नहीं है। व्याडि का आविर्भाव काल पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य-स्थित कालखण्ड में हुआ था। पाणिनि के कुटुम्ब के साथ निकट स्थित होने से उनका समय पाणिनि से विशेष दूर न था। व्याकरण के दार्शनिक विचारों के ये ही अग्रदूत थे।

पाणिनि

पाणिनि संस्कृत में व्याकरण शास्त्र के सबसे बड़े प्रतिष्ठाता तथा नियामक आचार्य हैं। उनका व्याकरण ग्रन्थ शब्दानुशासन के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है, परन्तु आठ अध्यायों में विभक्त होने के हेतु वही अष्टाध्यायी के नाम से लोकप्रचलित है। संस्कृत भाषा के विश्लेषण का आरम्भ पाणिनि से मानना नितान्त अनुचित है, दीर्घ-कालीन भाषा-विश्लेषण के युग के वे अन्तिम प्रतिनिधि हैं। वे देववाणी के आद्य वैयाकरण नहीं हैं, प्रत्युत उनसे प्राचीन लगभग अस्सी-पचासी वैयाकरणों के नाम, मत तथा ख्याति का संकेत हमें वैदिक वाङ्मय से, विशेषतः प्रातिशाख्यों से, उपलब्ध होता

है। उन्होंने एकादश वैयाकरणों का नाम निर्देश स्वयं किया है जिनके मत का विवरण ऊपर दिया गया है। विभिन्न वेदाङ्गों के निर्माता यास्क तथा शौनक का नाम उन्होंने उल्लिखित किया है जिनसे पाणिनि की उनसे पश्चात्कालीनता स्वतः सिद्ध होती है। उनके आविर्भाव काल के यथार्थतः परिचय देने में अनेक मत हैं, परन्तु उनमें कोई भी असन्दिग्ध नहीं प्रतीत होता। कथासरित्सागर (तरङ्ग चतुर्थ) उन्हें व्याडि तथा कात्यायन वररुचि का समकालीन बतलाता है तथा कात्यायन को मगध-नरेश राजा नन्द का मन्त्री। इस कथा पर आस्था रखने से उनका समय ई० पू० चतुर्थ शतक सिद्ध होता है। परन्तु भाषा के तारतम्य परीक्षण से सूत्रकार वार्तिककार के सम-सामयिक कथमपि नहीं माने जा सकते। दोनों के द्वारा व्याख्यात संस्कृत भाषा के रूप में विद्वानों ने भिन्नता सिद्ध की है। पाणिनि की भाषा ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रों की भाषा से साम्य रखती है और कात्यायन की भाषा अवान्तरकालीन देववाणी से मेल खाती है।

मेरी दृष्टि में पाणिनि के कालनिर्णय में नियामक सूत्र मानना चाहिए '**निर्वाणोऽवाते**' (अष्टा० ८।२।५०) को। यह सूत्र निर्वाण पद की सिद्धि बतलाता है। इस पद का अर्थ है—शान्त हो जाना और काशिका के उदाहरणों—**निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणो दीपः** तथा **निर्वाणो भिक्षुः**—से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। इस पद का बौद्ध धर्म का विशिष्ट अर्थ मोक्ष है। यदि पाणिनि बुद्ध के अनन्तर उत्पन्न होते, तो अवश्य ही इस प्रख्यात अर्थ का उल्लेख करते। फलतः वे बुद्ध के कथमपि अर्वाचीन नहीं माने जा सकते। कतिपय विद्वान् **कुमारः श्रमणादिभिः** (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' के उल्लेख से पाणिनि को बुद्ध से पश्चाद्वर्ती मानते हैं। उनका तर्क है कि 'श्रमण' (या संन्यासी) नाम तथा तत्प्रतिपादित त्यागमार्ग की स्थापना बुद्ध ने अपने धर्म में सर्वप्रथम की। **कुमारः श्रमणादिभिः** सूत्र के श्रमणादि गण में 'श्रमणा' शब्द का भी पाठ किया गया है। स्त्रियों को संन्यास देने की प्रथा का आरम्भ बुद्ध ही ने किया। अतः बुद्धदेव के द्वारा बौद्धधर्म की स्थापना के अनन्तर ही पाणिनि का आविर्भाव मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। इस तर्क का खण्डन भली-भाँति किया गया है। संन्यास की प्रथा का उदय, स्त्रियों को संन्यास लेने का विधान तथा 'श्रमण' शब्द का प्रयोग बुद्ध के आविर्भाव से प्राचीन युग की घटना है। 'श्रमण' शब्द बुद्धोपज्ञ है—यह सिद्धान्त ही मिथ्या है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। शतपथ-ब्राह्मण ने सुषुप्ति अवस्था के निरूपण-प्रसंग में सर्वोपाधि की निवृत्ति का प्रतिपादन किया है और इस अवसर पर 'श्रमण' शब्द का प्रयोग भी किया है[1]। शाङ्कर भाष्य से

---

1. **अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः··· ·········श्रमणो अश्रमणः, तापसः अतापसः इति। (शतपथब्राह्मण १४ काण्ड, ७ अ०, १ ब्राह्मण, २२ कण्डिका)।**

स्पष्ट है कि 'श्रमण' शब्द परिव्राजक अर्थ में यहाँ अभिप्रेत है। याज्ञवल्क्य ऋषि के आदेश से मैत्रेयी ने संन्यास ग्रहण किया था। इसका भी प्रतिपादन इसी काण्ड में हैं। फलतः इन समग्र सूत्रों के परीक्षण का परिणत फल यही है कि पाणिनि बुद्धदेव से प्राचीन हैं। उनसे वे कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकते। वार्तिकों से अनुशीलन से भी वे कात्यायन के समकालीन नहीं प्रतीत होते हैं (जैसा कथासरित्सागर ने भ्रम फैलाया है), प्रत्युत वे कम से कम तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं। फलतः विक्रम-पूर्व अष्टम शती में पाणिनि का आविर्भाव मानना सर्वथा उपयुक्त है।

पाणिनि का देश-काल

त्रिकाण्ड-शेष कोष में पाणिनि के नामों में 'शालातुरीय' शब्द पठित है। 'गणरत्न महोदधि' के जैन लेखक वर्धमान ने इस शब्द की व्याख्या में लिखा है—'शालातुरो नाम ग्रामः। सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः'। इस व्याख्या से पाणिनि के मूल ग्राम का नाम 'शालातुर' था। ५।१।१ काशिका की व्याख्या न्यास में भी 'शालातुरीय' शब्द प्रयुक्त है।[1] गुप्त शिलालेखों में वलभी से प्राप्त एक शिलालेख में (३१० संवत्सर) पाणिनीय शास्त्र के लिए 'शालातुरीयतन्त्र' का नाम प्राप्त होता है। श्वेन-च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि शालातुर में उसने पाणिनि की वह प्रतिमा देखी जिसे वहाँ के निवासियों ने उनकी प्रतिष्ठा करने के लिए स्मारकरूप में स्थापित किया था। इसका स्थल-निर्देश भी उसने किया है कि यह ग्राम गन्धार देश में 'उद्भाण्ड' नामक प्रसिद्ध स्थान से प्रायः दो कोस के भीतर लहुर ग्राम के पास है। यह 'उद्भाण्ड' आज ओहिन्द नाम से प्रसिद्ध है और सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम पर स्थित हैं। उससे पश्चिमोत्तर दिशा में आज भी उतनी ही दूरी पर 'लहुर' नामक ग्राम है और यहीं पाणिनि की जन्मभूमि थी। फलतः वे उदीच्य थे। इस प्रान्त का बौद्धकाल में सबसे विख्यात विश्वविद्यालय (या विद्यापीठ) तक्षशिक्षा था और अपने जन्मस्थान से समीपस्थ इस विद्यापीठ में सम्भवतः पाणिनि की शिक्षा-दीक्षा हुई थी—यह मत उचित प्रतीत होता है। सम्भव है वयस्क होनेपर पाणिनि ने पाटलिपुत्र (पटना) निवासी वर्ष उपाध्याय का भी शिष्यत्व स्वीकार किया था।

पाणिनि का वैयक्तिक परिचय बहुत ही स्वल्प है। महाभाष्य में पाणिनि का नाम दाक्षीपुत्र[2] दिया गया जिससे इनकी पूज्या जननी का नाम 'दाक्षी' सिद्ध होता

---

१. अतः शालातुरीयेण 'प्राक्-टञश्छः' इति नोक्तम्। (५।१।१ का न्यास) (काशिका, चतुर्थ भाग पृ० ६)।

२. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। (महाभाष्य, १।१।२० सूत्र पर)।

है। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में षड्गुरु-शिष्य ने छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बतलाया है। लक्ष-ग्रन्थात्मक 'संग्रह' के रचयिता को पतञ्जलि ने दाक्षायण[1] कहा है, उधर पाणिनि के लिए 'दाक्षीपुत्र' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार दोनों में कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में व्याडि पाणिनि के मातुल-तनय प्रतीत होते हैं[2]। राजशेखर अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पाणिनि की विद्वत्ता की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी और उसके बाद ही उन्हें सार्वभौम प्रसिद्धि प्राप्त हुई। पता नहीं इस जनश्रुति का क्या आधार है? उस प्राचीन युग में भी पाटलिपुत्र और तक्षशिला के विद्वानों में आदान-प्रदान की घटना होती थी—यह बात सम्भावना के बाहर नहीं है। पाणिनि के विषय में स्थूलरूप से हम ये ही बातें जानते हैं।

ग्रन्थ

पाणिनि ने घोर तपस्या से शिवजी को प्रसन्न किया और उनके अनुग्रह से 'अइउण्' आदि १४ सूत्रों को प्राप्त किया। ये माहेश्वर सूत्र पाणिनि व्याकरण के मूलपीठस्थानीय हैं। पाणिनि के भाषागत वैदुष्य की तुलना किसी से करना घोर अन्याय होगा। वे अपने विषय के अनुपम पारखी, गम्भीर तत्त्ववेत्ता, भाषा के सूक्ष्म पारद्रष्टा तथा विश्लेषण में नितान्त नैपुण्य-सम्पन्न आचार्य थे जिनकी प्रतिभा पर भारतीय विद्वान् तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् सर्वतोभावेन मुग्ध हैं। लक्षण ग्रन्थ लक्ष्यानुसारी होता है। महर्षि ने संस्कृत के यावदुपलब्ध लक्ष्य-ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर ही इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण का निर्माण किया। उनमें प्रातिभ ज्ञान था, आर्षचक्षु से तथ्यों का यथावत् निरीक्षण था। इस निरीक्षण के लिए एक सूत्र का प्रमाण लीजिए। उदक् च विपाशः (४।२।७४) सूत्र के द्वारा विपाश् (आधुनिक विआस नदी) के उत्तर ओर वर्तमान कूपों के नाम निर्देश में अञ् प्रत्यय जोड़ा जाता है और दक्षिण तीरस्थ कूपों के लिए अण् प्रत्यय का विधान है। शब्दरूप में कोई भी अन्तर नहीं। 'दत्त' के द्वारा निर्मित दोनों ओर के कूप 'दात्त' ही कहे जायेंगे, परन्तु

---

१. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः ॥ (वही)।

२. कुछ विद्वान् व्याडि को पाणिनि का मातुल मानते हैं; परन्तु यह मत सयुक्तिक नहीं है। कारण यह है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी पर आश्रित 'संग्रह' ग्रन्थ लिखा। अतः वय में उन्हें पाणिनि की अपेक्षा न्यून होना चाहिये और यह वय-सम्बन्धी तारतम्य व्याडि के मातुल-पुत्र होनेपर भी संगत बैठता है। अतः दोनों में यही सम्बन्ध मानना न्यायतः उचित प्रतीत होता है।

स्वरों का विभेद है। उत्तरकूल का 'दात्त' शब्द आद्युदात्त प्रयुक्त होता था और दक्षिणकूल का 'दात्त' शब्द अन्तोदात्त बोला जाता था। सूक्ष्म स्वर का परीक्षण पाणिनि के गम्भीर निरीक्षण का परिणाम है। इसीलिए तो काशिकाकार ने (४।२।७४ वृत्ति) आश्चर्यभरे शब्दों में अपनी भावना व्यक्त की है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

आचार्य की सूक्ष्मेक्षिका का एक और उदाहरण लीजिये। उस युग में संस्कृत भाषा के प्रयोग के दो प्रकार थे। एक प्राच्य आचार्यों का और दूसरा उदीच्य आचार्यों का। इन दोनों आचार्यों के प्रयोग-पार्थक्य को आचार्य पाणिनि ने बड़ी सूक्ष्मता से देखा था। अष्टाध्यायी का एक सूत्र है **उदीचां माङो व्यतीहारे** (३।४।१९)। 'व्यतीहार' का अर्थ है अदला-बदला करना। पूर्वकाल का अर्थ होने पर भी धातु से 'त्वा' प्रत्यय होता है। भुक्त्वा व्रजति—भोजन करके वह जाता है। पूर्वकालिक होने से 'भुज्' में क्त्वा प्रत्यय हुआ—यही सार्वत्रिक नियम है, परन्तु मेङ् दाने धातु से इससे विपरीत होने पर भी क्त्वा प्रत्यय होता है। उदीच्य आचार्यों के ही मत से यह नियम है; प्राच्य आचार्यों के मत में नहीं।

(१) 'पहिले माँगता है और पीछे उसके बदले में देता है' इस अर्थ में होता है प्रयोग—'**अपमित्य याचते**'—औदीच्य आचार्यों का प्रयोग।

(२) **याचित्वाऽपमयते**—प्राच्य आचार्यों का प्रयोग। इनमें प्रथम प्रयोग का निरीक्षण बड़ा ही मार्मिक है। सामान्य बुद्धि का विद्वान् इस सूक्ष्म प्रयोग का निरीक्षण क्या कर सकता है? पाणिनि स्वयं औदीच्य थे। अतः औदीच्य प्रयोग से उनका गाढ परिचय होना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु प्राच्य-प्रयोग का विधिवत् निरीक्षण उनकी सूक्ष्म ईक्षिका का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

सैकड़े ऐसे प्रयोग हैं जिनमें पाणिनि की प्रतिभा उन्मीलित होकर आज भी आश्चर्य का विषय है। थोड़े में विशाल संस्कृत शब्दार्णव को बाँध डालना एक दैवी शक्ति का चमत्कार ही है।. महर्षि ने अनुबन्ध, प्रत्याहार, परिभाषा, पारिभाषिक संज्ञा आदि की उद्भावना इस व्यापार के निमित्त की। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि—आदि भी व्याकरण की समग्रता के निमित्त निर्मित किये गये हैं। पाणिनि ने प्राच्य तथा उदीच्य रूप से संस्कृत के दो प्रकार की भाषा-भिन्नता का स्पष्ट निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है[1]। महर्षि स्वयं उदीच्य थे और सांख्यायन ब्राह्मण के प्रामाण्य पर[2]

---

१. पूर्वाचार्यों के विषय में इसका उल्लेख पीछे किया गया है।

२. उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते—सांख्यायन ब्रा० ८।६।

उदीच्य देश की भाषा ही विशुद्ध संस्कृत मानी जाती थी जिसे सीखने के लिए प्राच्य देशों से भी छात्र जाया करते थे और शिक्षा प्राप्त करने पर सत्कार के पात्र माने जाते थे। अतएव पाणिनि ने यहाँ विशुद्ध संस्कृत वाणी का व्याकरण प्रस्तुत किया। शब्दरूप, धातुरूप, सन्धि, समास, तद्धित, कृत् आदि समस्त भाषावयवों का निरूपण अष्टाध्यायी के सूत्रों में विस्तार से उपलब्ध होता है। भाषागत विश्लेषण के संग में उस प्राचीन युग का सांस्कृतिक इतिहास भी इन सूत्रों के माध्यम से आज हमें प्राप्त हो रहा है[1]। इससे महर्षि के भाषाशास्त्रीय वैदुष्य तथा सांस्कृतिक अनुशीलन दोनों का पूर्ण परिचय आलोचकों के सामने प्रस्तुत होता है। पाणिनि की प्रतिभा महाभाष्य तथा काशिका में अनेकत्र प्रशंसित तथा समादृत हुई हैं।

शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः (भाष्य २।३।६६); आकुमारं यशः पाणिनेः (वही, १।४।८९) तथा 'पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते' (काशिका २।१।६)—ऐसी ही श्लाघ्य प्रशस्तियाँ हैं।

अष्टाध्यायी का विषय-क्रम

अष्टाध्यायी में मुख्य रूप से तीन भाग दृष्ट होते हैं (व्याकरणीय प्रक्रिया की दृष्टि से)—

१. वाक्यों से पदों का संकलन (१-२ अध्याय);

२. पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग (३-५ अ०);

३. प्रकृति प्रत्ययों के साथ आगमादेशादि का संयोजन कर परिनिष्ठित पदों का निर्माण (विशेषतः सन्धिकार्य कर, ६-८ अ०)।

शास्त्ररचना के कारण अपरिहार्य और सम्बद्ध विषयों का प्रतिपादन भी मूल विषयों के साथ सर्वत्र किया गया है।

प्रथम अध्याय

पाद १—यह अध्याय मुख्यतः संज्ञापरक है। इसमें पूर्णतया शास्त्र में व्यवहार्य संज्ञाओं का कथन है। प्रकरण-नियत उपपद आदि संज्ञाएँ तत्तत्प्रकरणों में कथित हुई हैं। संज्ञा के साथ परिभाषा का अत्यन्त सादृश्य है, अतः कहीं-कहीं विषय के नैकट्य के अनुसार कुछ परिभाषाएँ भी संज्ञाओं के साथ पठित हुई हैं। १।१।१—१।१।१० तक वर्णसम्बन्धी संज्ञाएँ हैं। १।१।११ से वर्णसमूहात्मक शब्दों की संज्ञाएँ हैं। १।१।४४-४५ में आर्थी संज्ञारूप विभाषा और संप्रसारण संज्ञा कथित हुई हैं।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—इण्डिया एज नोन टू पाणिनि (लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५३) तथा पाणिनिकालीन भारतवर्ष, काशी।

संज्ञासम्बन्धी कार्य की पूर्ति के लिए १।१।४५ से परिभाषा प्रकरण का आरम्भ किया गया है। यह प्रासंगिक है, अतः १।१।६० में पुनः अर्थसंज्ञा रूप लोप का विधान किया गया है। आदेश और लोप के साथ टिसंज्ञा और उपधासंज्ञा अत्यावश्यक प्रतीत होती हैं, अतः उनका निर्देश १।१।६४-६ में किया गया है। पादान्त मे उपसंहार की दृष्टि से सौत्रशब्द व्यापारसम्बन्धी कुछ परिभाषाओं का पाठ है। सर्वान्त में वृद्धसंज्ञा के स्थापन का उचित कारण अन्वेष्य है।

१।२ पाद—प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञाकरण आरम्भ में है (१।२।१–२६)। चूँकि यह अतिदेश भी है और संज्ञा भी। अतः पृथक् पाद में इस विषय का उपन्यास किया गया।

१।२।२७ से ह्रस्वादि संज्ञाओं का विधान है साथ ही १।२।२६-४० में वैदिक उदात्तादि का विवरण किया गया है। यह विषय शिक्षा-प्रातिशाख्य से मूलतः सम्बद्ध है। अतः पूर्वपाद से 'पृथक् पाद में यह उपदिष्ट हुआ है। ह्रस्वादि वर्ण-सम्बद्ध संज्ञाएँ हैं। अतः वर्णविषयक अपृक्त संज्ञा १।२।४१ में पठित हुई है।

१।२।४२-४३ में समाससम्बद्ध दो संज्ञाएँ पठित हुई हैं। चूँकि समास प्रकरण में इनका पाठ करने पर दोष होता, अतः इन दोनों का पाठ समास-प्रकरण में न कर यहाँ किया गया है। प्रातिपदिक-ज्ञान से पहले जिन संज्ञा परिभाषाओं का ज्ञान करना आवश्यक है, उनका पाठ यहाँ तक किया गया है।

१।२।४५ में प्रातिपादिक संज्ञा का उल्लेख किया गया है। प्रतिपादिक विचार के साथ-साथ १।२।६४ सूत्र से 'एकशेष' का विचार किया गया है। 'प्रातिपदिकानामेकशेषः' यह वैयाकरणों में प्रसिद्ध भी है।

१।३ पाद के आरम्भ में धातुसंज्ञा का उल्लेख है। धातु नाम के अधीन होता है, अतः नाम के बाद धातु का उपन्यास करना उचित ही है। धातु अनुबन्ध-बहुल होते हैं, अतः अनुबन्धों (= इत्) की चर्चा १।३।११ तक की गयी है।

१।३।१२ से आत्मनेपद परस्मैपद की चर्चा की गयी है, क्योंकि ये दो धातुसम्बद्ध ही विषय हैं। 'विप्रतिषेध नियम' को मानकर पहले 'आत्मनेपद' और उसके बाद 'परस्मैपद' का उपस्थापन किया गया है।

१।४ पाद—इसमें परिशिष्टभूत संज्ञाओं की चर्चा पहले की गयी है।

१।४।२३ सूत्र से कारकाधिकार प्रवर्तित होता है। कारक से पहले 'वचन' (१।४।२१-२२) का उपन्यास करना न्याय की दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि संख्या के बाद कारक का बोध होता है। कारकों का उपन्यास 'अपादान-सम्प्रदान-करण-अधिकरण-कर्म-कर्ता' इस क्रम से किया गया है। इसमें 'विप्रतिषेध नियम' ही हेतु है।

१।४।५६ से 'निपात' और १।४।५९ से 'उपसर्ग' का विचार किया गया है। इन दोनों का कारकज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कारक से पहले इनका उपन्यास न कर बाद में किया गया है।

'निपात-उपसर्ग' के बाद उपसर्ग-सदृश 'कर्मप्रवचनीय' का उपन्यास करना उचित ही है। अतः १।४।८३ सूत्र से कर्मप्रवचनीयों का उपन्यास किया गया है। १।४।६०-८२ पर्यन्त गतिसंज्ञक शब्दों की चर्चा की गयी है क्योंकि उपसर्ग ही क्रियायोग से शून्य होने पर (तथा अन्य विशेष गुण से युक्त होने पर) गतिसंज्ञक होते हैं।

१।४।९९ से 'तिङ्' का विचार किया गया हैं। वाक्यगत पदसामान्य का विचार प्रथमाध्याय का विषय है, अतः अध्यायान्त में तिङ् का विचार प्रसक्त होता है, क्योंकि वाक्य = एकतिङ्। प्रसंगतः १।४।९१-१०० में 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञा का उल्लेख है। तिङ् और उपग्रह के साथ सम्बन्ध रहने के कारण १।४।१०१ से 'पुरुष' की चर्चा की गयी हैं।

अध्यायान्त में 'संहिता' संज्ञा (१।४।१०९) और 'अवसान संज्ञा' (१।४।११०) का उल्लेख किया गया है। स्वभावतः 'पदसामान्य-विचार' के अन्त में ही इनका उपन्यास करना उचित प्रतीत होता है।

द्वितीयाध्याय का विश्लेषण

'विशेष पदों का संकलन' इस अध्याय का मुख्य विषय है। कुछ सम्बन्धित विषय भी उपन्यस्त हुए हैं। प्रथमाध्याय में व्यासरूप वाक्य (पदसामान्य) ही मुख्यतः विवेचित हुआ है।

२।१–२ पाद—समासरूप विशिष्ट पद का विवेचन किया गया है। समासों में पूर्वपदार्थ-प्रधान होने के कारण 'अव्ययीभाव' का उपन्यास सबसे पहले किया गया है (२।१।२१ सूत्र पर्यन्त)। उसके बाद उत्तरपदार्थ-प्रधान 'तत्पुरुष' का आरम्भ २।१।२२ से किया गया है। तत्पुरुष प्रायेण द्विपदघटित होता है, अतः प्रायेण बहुपद-घटित 'बहुव्रीहि द्वन्द्व' से इसका उपन्यास पहले किया गया है। बहुव्रीहि तत्पुरुष का शेष है, अतः तत्पुरुष के बाद 'बहुव्रीहि' का विवेचन है। बहुव्रीहि २।२।२९ पर्यन्त है। उभयपदार्थ-प्रधान होने के कारण 'द्वन्द्व' का प्राधान्य है और इसी दृष्टि से (तु० द्वन्द्वः सामासिकस्य च) सर्वान्त में द्वन्द्व का उपन्यास किया गया है। पर में उपन्यस्त विधि बलवान् होता है। इस न्याय से भी उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व का उपन्यास सर्वान्त में करना आवश्यक था।

सर्व समास सम्बद्ध 'उपसर्जन' प्रकरण चतुर्विध समासों के बाद २।२।३० सूत्र से आरब्ध हुआ है।

२।३ पाद—सुबन्त शब्दों का समास होता है। अतः समास के बाद इस पाद में 'सुप्-विभक्तियों' का अर्थ दिखाया गया है।

२।४ पाद—आरम्भ में पूर्वारब्ध समास से सम्बन्धित 'लिङ्गवचनों' का विधान किया गया है (२।४।३१ सूत्र पर्यन्त)। २।४।३२ सूत्र से जिन विषयों का उपन्यास किया गया है, हमारी दृष्टि में वे विशिष्ट पद के अन्तर्गत हैं। 'अन्वादेश' विशिष्टपद है (२।४।३४ पर्यन्त); तथैव आर्धधातुक-सम्बन्धी 'धात्वादेश' (२।४३५) भी वशिष्ट धातु ही हैं। २।४५८ से नाम और विकरण सम्बन्धी 'लुक् प्रकरण' हैं। मुख्यतः पदसम्बन्धी होने के कारण पदविधिपरक इस अध्याय के अन्त में यह विषय रखा गया है। सत्रान्ति सूत्र 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' (२।४।८५) है। प्रत्ययाधिकार में इसे पढ़ने से दोष होता (अभीष्ट सर्वदिशत्व सिद्ध नहीं होता)। अतः विशिष्ट पद-विचार के अन्त में तथा प्रत्ययाधिकार से ठीक पहले इसको रखा गया है।

३–५ अध्याय पर्यन्त प्रत्ययाधिकार है। सामान्य और विशिष्ट पदों का 'प्रकृति-प्रत्यय में विभाग' इन तीन अध्यायों में किया जायगा।

तृतीय अध्याय

३।१ पाद—प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य विचार १–४ सूत्र में किया गया है। चूँकि धातु के बाद कृत्प्रत्यय होते हैं, अतः 'प्रत्ययान्त धातु' का उल्लेख यहीं कर दिया गया है (३।१।५–२२)। ३।१।२३ से 'विकरण' का आरम्भ किया गया है। ये विकरण धातु के अव्यवहित पर में होते हैं तथा कृत् से ये अन्तरंग हैं। अतः कृत्-प्रत्ययों से पहले इनका उपन्यास किया गया है (३।१।८६ पर्यन्त)। कुछ सम्बद्ध विषयों की चर्चा ३।१।९० तक की गई है।

३।१।९१ सूत्र में 'कृत्प्रत्ययों' का अधिकार किया गया है। इसके दो ही विभाग हैं, 'कृत्य' और 'कृत्'। अल्पसंख्यक तथा नाम विशेषण-निष्पादक कृत्य का आरम्भ पहले किया गया है (३।१।१३२ सूत्र पर्यन्त)। ३।१।१३३ से नाम विशेषण निष्पादक 'कृत्' अभिहित हुए हैं। ण्वुल्-तृच् आदि कृत्प्रत्यय कालानुसारी विभक्त हैं यह कृत्प्रत्यय २ पाद पर्यन्त है। प्रथम पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' की चर्चा नहीं है। ३।२ पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' की अपेक्षा है।

३।३ पाद—आरम्भ में उणादि (१–३ सूत्र) है। ४ सूत्र से भविष्यत्कालिक कृत प्रत्यय हैं। १–२ पाद में सार्वकालिक और भूतकालिक प्रत्यय कहे गए हैं। ३।३।१८ सूत्र में 'भाव' का अधिकार है—अत्रत्य कृत्-प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची होते हैं।

३।४ पाद—यह कृत्प्रत्यय का परिशिष्टभूत है। 'अव्ययरूप' 'कृत्प्रत्ययों' का विवरण मुख्यत: इसमें है। ३।४।७७ सूत्र से 'लादेश' का प्रसंग किया गया है। आदेश के सिद्ध पद विशेष्यवाची होता है। अत: विशेष्यपद निष्पादक 'अव्ययकृत्' के बाद 'लादेश' का उपस्थापन न्याय्य ही है।

चतुर्थ-पञ्चम अध्याय

धातु से नाम की उत्पत्ति कहने के बाद 'नाम से नाम को उत्पत्ति' के लिए चतुर्थ-पञ्चमाध्याय प्रणीत हुए हैं। आरम्भ में 'स्त्रीप्रत्ययों' की चर्चा है (४।१।३–४।१।८१)। पहले 'साधारण स्त्रीप्रत्यय' और उसके बाद ४।१।१४ से 'अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय' कहे गए हैं।

४।१।८२ सूत्र से 'तद्धित प्रकरण' का आरम्भ किया गया है (यों 'तद्धिता:' सूत्र ४।१।७६ में है)। चूँकि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द के बाद स्त्रीप्रत्यय होते हैं, अत: स्त्रीप्रत्यय के प्रतिपादन के बाद 'तद्धित प्रकरण' रखा गया है। तद्धित में भी पहले 'अस्वार्थिक तद्धित' और ५।३।१ सूत्र से 'स्वार्थिक तद्धितों' का उपन्यास किया गया है। चतुर्थ अध्याय में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है—अण्, ठक् तथा यत्। पञ्चम अध्याय के अस्वार्थिक प्रत्ययों में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है—छ, ठक् और ठञ्। ५।२ पाद वस्तुत: तद्धित प्रत्ययों का परिशिष्ट है। ३-४ पादों में 'स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय' हैं। ५।३।२६ सूत्र पर्यन्त 'विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिक तद्धित' और ५।३।२७ सूत्र से 'केवल स्वार्थिक प्रत्यय' विहित हुए हैं।

५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' आरब्ध हुआ है। प्रक्रिया की दृष्टि से समासान्त को तद्धित प्रत्यय मानना पड़ता है। अत: तद्धिताधिकार में ही (स्वार्थिक तद्धित के अन्त में) 'समासान्त' को रखा गया है।

षष्ठ अध्याय

यहाँ से अष्टाध्यायी के तृतीय भाग का आरम्भ हो रहा है। पहले प्रकृति (धातु आदि) सम्बन्धी कार्यों (आदेशादि) का उल्लेख है और उसके बाद प्रत्ययसम्बन्धी कार्यों का। प्रकृत्याश्रित कार्य प्रत्ययाश्रित कार्यों से अन्तरंग होता है, इस न्याय से ऐसा करना आवश्यक है।

६।१।१-१२ तक धातुसम्बन्धी कार्य कहे गए हैं ('द्वित्व विधि')। १३ सूत्र से 'सम्प्रसारण रूप' आदेश कहा गया है। ४५ सूत्र से 'आत्वविधि'। इन स्थलों में आदेश के साथ आवश्यक आगम भी उक्त हुए हैं। आगम-आदेश में सादृश्य भी बहुलतया है, अत: एकत्र पाठ करना संगत ही है। ६।१।७२ सूत्र से वे आदेश विहित हुए हैं, जो संहिता में होते हैं। संहिताधिकार ६।१।१५७ पर्यन्त है।

६।१।१५८ से ६।२ पाद पर्यन्त स्वरविधि है। यह स्वरविधि अष्टमाध्यायोक्त स्वरविधि के साथ नहीं पढ़ा गया, इसमें पाणिनीय पारिभाषिक प्रक्रिया ही हेतु है।

६।३ पाद में भी प्रकृति-कार्य हैं, पर ये कार्य उत्तर पदसापेक्ष हैं। ६।४ पाद से 'अङ्गाधिकार' आरब्ध हुआ है, जो सप्तमाध्याय पर्यन्त है। 'प्रत्यय परे रहते प्रकृति की अङ्गसंज्ञा होती है', अतः इस विशिष्टता की रक्षा के लिए अङ्गप्रकरणोचित कार्यों का पाठ पृथक् रूप से किया गया है। 'अङ्ग कार्य' में भी पहले 'सिद्धकार्य' और उसके बाद ६।४।२२ सूत्र से 'असिद्ध कार्य' यह असिद्ध-प्रकरण अष्टमाध्यायीय असिद्ध-प्रकरण से विलक्षण है।

सप्तमाध्याय

मुख्यतः प्रत्यय-कार्यों का उपदेश इस अध्याय में दिया गया है। प्रत्यय-कार्यों के साथ सम्बद्ध आगमों का भी उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में बाहुल्येन 'विप्रतिषेध' नियम के अनुसार कार्यों का उपस्थापन किया गया है।

अष्टमाध्याय

प्रथम पाद में द्वित्व-विधि का अनुशासन है। यह पद-द्वित्व है। चूँकि सप्तमाध्याय पर्यन्त पद-निर्माण समाप्त हो गया है, अतः यहाँ पद-द्वित्व का उपन्यास करना उचित ही है। ८।१।१५ तक 'द्वित्व' है। ८।१।१६-१७ में 'पदस्य' 'पदात्' का अधिकार है। इसमें पदस्वर प्रक्रिया है।

२-३ पाद में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (१ सूत्र) रूप असिद्ध काण्ड रचित हुआ है। 'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्' इस न्याय के अनुसार यहाँ आदेशलोपादिकार्य अनुशिष्ट हुए हैं।

पाणिनि और संस्कृत भाषा

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को स्थायित्व प्रदान करने का जो कार्य किया, वह अलौकिक तथा अद्भुत है। लक्ष्यानुपरीक्षण पर लक्षण का निर्माण स्वाभाविक माना जाता है। पाणिनि ने अपने युग तक उपलब्ध साहित्य का विधिवत् परीक्षण करने के बाद अपने व्याकरण-ग्रन्थ का प्रणयन किया—इस सिद्धान्त का अपलाप नहीं किया जा सकता। भाषा की दृष्टि से संस्कृत भाषा तथा शब्दों का ह्रास ही सम्पन्न होता जा रहा है, विकास नहीं। पाणिनि संस्कृत-भाषा के शब्दों के नियमन करने वाले आचार्य हैं, परन्तु यह देववाणी पाणिनि के व्याकरण से कहीं अधिक विशद, विस्तृत तथा व्यापक है। महाभारत के टीकाकार देवबोध (१२वीं शती) का यह कथन

यथार्थ प्रतीत होता है कि माहेन्द्र व्याकरण अर्णव है जिसकी तुलना में पाणिनीय व्याकरण गोष्पदमात्र है—

> यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

जब गोष्पदभूत पाणिनीय व्याकरण इतने शब्दों की सिद्धि तथा परीक्षा में समर्थ है, तब महेन्द्र व्याकरण को कितने शब्दों के विश्लेषण तथा परीक्षण का श्रेय प्राप्त होगा ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर कौन दे सकता है आज !!! फलतः देववाणी का शब्दभण्डार पाणिनि-व्याख्यात शब्दभण्डार की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक है—यह तो निश्चित ही है।

पाणिनि के सूत्रों में उल्लिखित तथा इन सूत्रों की सहायता से व्युत्पन्न शब्द भी पर्याप्तरूपेण ऐसे हैं जिनका प्रयोग अवान्तरकालीन व्यवहार से बिल्कुल लुप्त हो गया है अथवा लुप्तप्राय-सा है। पिछले युगों के साहित्य में उनका प्रयोग नितान्त स्वल्प है या नितान्त अभावग्रस्त है। ऐसे कतिपय शब्दों का अर्थ यहाँ काशिका के आधार पर दिया जाता है जिससे पाणिनिकालीन शब्द-व्यवस्था की एक फीकी झाँकी भाषा के जिज्ञासुजनों के सामने स्वयं प्रस्तुत हो जाती है। प्रत्येक शब्द के ऊपर भाषाशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा है—

(१) स्थेय—विवाद के पक्षों का निर्णयकर्ता, निर्णायक अथवा जज्ज। इसीके लिए 'प्राड्विवाक' शब्द भी पिछले धर्मशास्त्रों में प्रयुक्त है, परन्तु वह दो शब्दों के योग से बना शब्द है; और यह है स्वतः एकाकी अर्थ-प्रकाशक अभिधान (१।३।२३)।

(२) गन्धनं = अपकार प्रयुक्त हिंसात्मक सूचनम् (१।३।३२)।

(३) प्रतियत्न: = सतो गुणान्तराधानम् (वही सूत्र)

(४) उपनयनम् = विवाहः, स्वीकरणम् (१।२।१६)

(५) वृत्तिः = अप्रतिबन्धः (१।३।३८)

(६) सर्गः = उत्साहः (१।३।३८)

(७) तायनम् = स्फीतता = विकसित होना (१।३।३८)

(८) आध्यानम् = उत्कण्ठा-स्मरणम् (= उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) १।३।४६।

(९) प्रत्यवसानम् = अभ्यवहारः (भोजन) १।४।५२

(१०) निवचनम् = वचनाभावः (मौन हो जाना) १।४।७६

(११) एकदेशी = अवयवी २।२।१

(१२ अपवर्गः = क्रियापरिसमाप्तिः २।६।६

(१३) आयुक्तः = व्यापारितः २।३।४०
(१४) अनुपात्यंयः = क्रमप्राप्तस्यानतिपातः (परिपाटी)।
(१५, मूर्तिः = काठिन्यम् ३।३।७७
(१६) समापत्तिः = सन्निकर्षः ३।४।५०
(१७) माथः=पन्थाः ४।४.३७ ('दण्डमाथं धावति' = दाण्डमाथिकः । सीधे राह पर दौड़ने वाला व्यक्ति (न्यास)।
(१८) दिष्टम् = प्रमाणानुपातिनी मतिः ४।४।६०
(१९) अभिजनः = पूर्वबान्धवः (४।२।९०) तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि अभिजन इत्युच्यते यस्मिन् पूर्वबान्धवैरुषितम्।
(२०) उपज्ञातम् = विनोपदेशेन ज्ञातम् ४।३।११५
(२१) तीर्थः = गुरुः ४।४।१०७
(२२) उपधानः = चयनवचनः ४।४।१२५
(२३) अवष्टब्धम् = आसन्नम् ५।२।१३
(२४) पार्श्वम् = अनृजुरुपायः (कुटिल उपाय) ५।२।७५ (पार्श्वकः = मायावी)
(२५) निष्कोषणम् = अन्तरवयवानां बहिर्निष्कासनम् ५।४।६२
(२६) प्रवाणी = तन्तुवायशलाका ५।४।६०
(२७) परीप्सा = त्वरा ३।४।५२
(२८) समवायः = समुदायः ६।१।१३८
(२९) प्रतिष्कशः = वार्तापुरुषः सहायः पुरोयायी वा ६।१।१५२ (किसी के आने की खबर देनेवाला अथवा आगे जानेवाला पुरुष)।
(३०) मस्करः = वेणुर्दण्डो वा
(३१) मस्करी = परिव्राजकः (माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते) (कर्म का खण्डन करनेवाला बौद्धकालीन भिक्षु)।
(३२) कुशा = यज्ञ में प्रयुक्त उदुम्बर काष्ठ की बनी शंकु (खूँटी) छन्दोगाः स्तोत्रीय-गणनार्थान् औदुम्बरान् शंकून् 'कुशा' इति व्यवहरन्ति (तत्त्व-बोधिनी)।
(३३) कुशी = हल का बना लोहे का फाल (बुन्देलखण्डी 'कुसिया' उसी का वाचक तद्भव शब्द है, परन्तु भोजपुरी 'चौभी' शब्द देशी है। 'अयस्कुशा' इसीका अपर पर्याय प्रतीत होता है)।

पाणिनिकालीन लोकभाषा

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जिस संस्कृत का व्याकरण लिख रहे थे वह लोकभाषा थी—सामान्य जनता की व्यवहार्य

भाषा। सैकड़ों ऐसे सूत्र हैं जिनका उपयोग व्यवहारगम्य शब्दों की सिद्धि के निमित्त ही होता है, किसी शास्त्रीय शब्द के लिए नहीं। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर बलात् उपनीत होते हैं कि संस्कृत उस युग में बोली जाने वाली भाषा थी। इस विषय के कतिपय सूत्रस्थ प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं—

(क) प्लुतविधान की युक्तिमता

प्लुतविधान के निमित्त अनेक सूत्र हैं। (१) दूराह्वान अर्थात् दूर से बुलाने के लिए प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है—जैसे सक्तून् पिब देवदत्त३। यहाँ दत्त का अन्तिम अकार प्लुत हुआ है। (२) दूराह्वान वाले वाक्य में यदि है हे का प्रयोग हो, तो इन शब्दों को ही प्लुत होता है यथा हे३ राम तथा राम है ३ (है हे प्रयोगे हैहयोः ८।२।२२); (३) इसी प्रकार देवदत्त को दूर से पुकारना होगा, तो देवदत्त में तीन स्थानों पर क्रमशः प्लुत होगा दे३वदत्त; देवद३त्त, देवदत्त३ (सूत्र ८।२।८६); (४) अशूद्रविषयक प्रत्यभिवादन में प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है। अभिवादन के उत्तर में जो वाक्य प्रयुक्त होता है, उसे 'प्रत्यभिवादन' कहते हैं। यथा—

(१) अभिवादन = अभिवादये देवदत्तोऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि देवदत्त ३।

(२) अभिवादन = अभिवादये गार्ग्योऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि गार्ग्य ३।

जिस प्रत्यभिवादन वाक्य के अन्त में नाम तथा गोत्र का प्रयोग किया जाता है, वहीं यह नियम लगता है। पूर्वोक्त वाक्यों में पहिले वाक्य के अन्त में नाम प्रयुक्त है और दूसरे में गोत्र। अतः इन दोनों में प्लुत का श्रवण होता है[1]। वार्तिककार भी, क्षत्रिय तथा वैश्य नाम को भी प्लुतविधान करते हैं। सूत्र में इस तथ्य का स्पष्टीकरण न था। इसलिए कात्यायन ने इस वार्तिक के द्वारा स्पष्टीकरण किया है[2]।

इस प्लुतविधान की युक्तिमता तभी सिद्ध हो सकती है, जब भाषा प्रयुक्त हो। लिखित भाषा के लिए ये सब नियम व्यर्थ हैं।

(ख) आक्रोश की गम्यमानता

आक्रोश गम्यमान होने पर आदिनी (खाने वाली) शब्द परभाग में रहने पर

---

१. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३। नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते, तत्रैव प्लुत इष्यते—कौमुदी।

२. भोराजन्य विशां चेति वाच्यम्। पूर्वसूत्र पर वार्तिक।

पुत्र शब्द में द्वित्व नहीं होता[1] यथा पुत्रादिनी त्वमसि पापे (बेटा खाने वाली हो तू पापिनी) यह गाली है और आज भी हमारे गाँवों तथा नगरों में सुनी जा सकती है। भोजपुरी में गाली का शब्द ही है—बेटा-खौकी (बेटा खाने वाली)। वार्तिककार यहाँ हत और जग्ध शब्दों के प्रयोग करने पर पुत्र शब्द में विकल्प से द्वित्व मानते हैं जैसे पुत्त्रहती तथा पुत्रहती, पुत्त्रजग्धी तथा पुत्रजग्धी। दोनों ही गाली हैं। गाली देने में प्रयुक्त भाषा लोकभाषा है, लिखित भाषा नहीं।

(ग) व्यावहारिक वस्तुओं का नामकरण

पाणिनि ने व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं के नाम सिद्ध करने के लिए सूत्रों का निर्माण किया है। इन वस्तुओं का सम्बन्ध शास्त्रों से न होकर ठेठ लोक-संस्कृति से है। दो-चार उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

(क) जितना अनाज एक खेत में बोआ जाता है, उतने से उसका नामकरण पाणिनि ने किया है। प्रास्थिक, द्रौणिक तथा खारीक आदि शब्द इसी नियम से बनते हैं (तस्य वापः ५।१।४५)।

(ख) किसी नदी को तैरकर पार करने के लिए भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग लोक में आज भी करते हैं और उस समय भी करते थे। गाय का पूँछ पकड़ कर जो व्यक्ति किसी नदी को पार करता है वह कहलाता है 'गौपुच्छिक' (गोपुच्छाट्ठञ् ४।४।६), परन्तु जो घड़े की सहायता से पार जाता है वह होता है 'घटिक' और अपने बाहुओं के सहारे नदी पार जाने वाली स्त्री 'बाहुका' कही जाती है (नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७)।

(ग) रंगरेज भिन्न-भिन्न रंगों से कपड़े रँगते हैं। वहाँ के रंगों की भिन्नता के कारण उन कपड़ों के भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। मञ्जिष्ठा (मजीठ) से रँगा गया वस्त्र 'माञ्जिष्ठ' कहलाता है, तो लाक्षा रंग से रँगा गया 'लाक्षिक' तथा रोचन से रँगा गया 'रौचनिक' नाम से पुकारा जाता है। तेन रक्तं रागात् ४।२।१ तथा लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२ सूत्रों से ये शब्द निष्पन्न होते हैं।

(घ) बाजार में आज भी कुँजडे तरकारी बेंचते समय मूली तथा शाक की छटांक, पाव तथा आधा पाव की मुट्ठी या गड्डी बनाकर बेंचते हैं। इस गड्डी को 'मूलकपण' तथा 'शाकपण' क्रमशः नामों से पाणिनि अभिहित करते हैं ('नित्यं पणः परिमाणे' ३।३।६६ सूत्र से ये पद सिद्ध होते हैं)। इसी प्रकार सैकड़ों लौकिक शब्दों के अभिधानार्थ पाणिनि ने विशिष्ट सूत्रों का निर्माण किया है। यह इसका स्पष्ट प्रमाण

---

१. नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८। वा हत-जग्धयोः (इसी सूत्र पर वार्तिक)।

है कि उस युग में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी, अन्यथा इन नियमों की उपयुक्ति ही नहीं बैठती।

(घ) मुहावरों का प्रयोग

अष्टाध्यायी में ऐसे मुहावरें (वाग्योग) उस समय प्रचलित थे जो संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध करते हैं। चलती भाषा में ही ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं, लोक-व्यवहार से बहिर्भूत भाषा में कभी नहीं। णमुल् के विविध प्रयोग इसे स्पष्ट सिद्ध करते हैं—

(क) शय्योत्थायं धावति = सेज से सीधे उठकर दौड़ता है अर्थात् त्वरा के कारण वह अन्य आवश्यक कार्यों की बिना परवाह किये दौड़ता है। (३।४।५२)।

(ख) रन्ध्रापकर्षं पयः पिबति = पात्र में रखकर दूध पीने के स्थान पर जल्दी के मारे वह गाय के स्तनों के छिद्र को खींच कर दूध पीता है। (३।४।५२)।

(ग) यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहम्। किं तवानेन ? (३।४।२८) (असूया (ईर्ष्या) के प्रतिवचन गम्यमान होने पर यह प्रयोग बनता है। कोई असूया से पूछ रहा है उसका उत्तर इस वाक्य में है। जिस तरह से मैं चाहूँ, उस तरह से भोजन करूँगा। आपका इससे क्या ?)।

(घ) कर्णेहत्य पयः पिबति; (ङ) मनोहत्य पयः पिबति (दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है—भरपूर दूध या जल पीना। इसमें दूसरा वाक्य आज भी हिन्दी में प्रचलित है। 'मन मार कर पीना' अर्थात् मन की इच्छा को मार कर पूर्ण रूप से पीना जिससे प्यास फिर न रहे। श्रद्धा-प्रतिघात का यही स्वारस्य है)। ये समग्र प्रयोग संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध कर रहे हैं।

संस्कृत के लोकभाषा होने का यह तथ्य पाणिनि के आविर्भावकाल की प्राचीनता का स्पष्ट द्योतक है। महावीर तथा गौतम बुद्ध के समय में उत्तर भारत में संस्कृत से इतर भाषाओं का प्रयोग लोक-व्यवहार में होने लगा था। महावीर के उपदेश अर्धमागधी में तथा बुद्ध के उपदेश मागधी (या पालि में दिये गए हैं। ये दोनों उपदेशक जनसाधारण के हृदय को आकृष्ट करने के लिए लोकभाषा में ही प्रवचन किया करते थे—यह तो सर्वप्रसिद्ध तथ्य है। पाणिनि के समय में इन लोकभाषाओं का उदय ही नहीं हुआ था—ऐसी दशा में पाणिनि का समय महावीर तथा बुद्ध से प्राचीनतर मानना ही नितान्त समुचित है।

पाणिनि-उपज्ञात संज्ञाएँ

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रभूत संज्ञाओं का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है, परन्तु लाघव के निमित्त उन्होंने अनेक स्वोपज्ञ संज्ञायें उद्भावित की हैं उन्हीं में से कतिपय प्रख्यात संज्ञाओं का विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) घु संज्ञा

पाणिनि द्वारा "दा धा घ्वदाप्" (अ० १।१।२०) सूत्र में 'दा-धा' संज्ञियों के लिए प्रयुक्त 'घु' संज्ञा के विषय में प्राचीन प्रमाण न होने से उसे पाणिन्युपज्ञात ही मान लेना तर्क-सङ्गत प्रतीत होता है। किञ्च इसका व्यवहार लाघव से अर्थबोध कराने के लिए स्वेच्छया किया गया है। स्वेच्छया प्रयुक्त होने पर भी शिष्टोच्चरित होने से 'घु' संज्ञा को अपभ्रंश-रूप में नहीं कहा जा सकता। लोक में कभी हस्तादि के संकेत से जैसे अर्थबोध कराया जाता है, ठीक उसी प्रकार किन्हीं शब्दों का बोध कराने के लिए ऐसे सांकेतिक संज्ञा शब्दों का प्रणयन आचार्य किया करते हैं[१]।

(२) घ संज्ञा

"तरप तमपौ घः" (अ० १।१।२२) सूत्र में पाणिनि ने जो प्रातिपदिक एवं तिङन्त शब्दरूपों से होने वाले 'तरप्-तमप्' प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा कही है, वह भी स्वेच्छया विहित होने से अन्वर्थ न होकर सांकेतिक ही कही जा सकती है।

(३) वृद्ध संज्ञा

जिस समुदाय में आदि अच् वर्ण वृद्धिसंज्ञक हो उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है ("वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" अ० १।१।७३)। परन्तु इस अर्थ में 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग पूर्वाचार्यकृत प्रतीत नहीं होता। पाणिनि ने पौत्रादि अपत्य की जो 'गोत्र' संज्ञा की है अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (अ० ४।१।१६२)। उसके लिए पूर्वाचार्यों ने 'वृद्ध' संज्ञा का व्यवहार किया था, जैसा कि पाणिनि ने भी "वृद्धो यूना" (अ० १।२।६५) इत्यादि सूत्र में स्मरण किया है। ऋक्तन्त्र में त्रिमात्रिक अच् वर्ण के लिए भी 'वृद्ध' संज्ञा की गयी है ("तिस्रो वृद्धम्" २।५।४)।

वृद्ध शब्द का अर्थ वृद्धि-युक्त होता है। अतः जिस समुदाय में आदि वर्ण वृद्धि-

---

१. हरदत्त ने पदमञ्जरी के प्रारम्भ में हो यही बात कही है—

"यास्त्वेताः स्वेच्छया संज्ञाः क्रियन्ते टिं घु भादयः,
कथं नु तासां साधुत्वं नैव ताः साधवो मताः।
अनपभ्रंशरूपत्वाच्चाप्यासामपशब्दता,
हस्तचेष्टा यथा लोके तथा संकेतिता इमाः।
नासां प्रयोगेऽभ्युदयः प्रत्यवायोऽपि वा भवेत्,
लाघवेनार्थबोधार्थं प्रयुज्यन्ते तु केवलम्।"

"अथ शब्दानुशासनम्" इति सूत्र-विवरणे, पृ० १०।

संज्ञक होता है, उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश होने से उसको अन्वर्थ कहा जा सकता है।

(४) इत् संज्ञा

पाणिनि ने "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (अ० १।३।२) इत्यादि सूत्रों से धातु और सूत्रादिकों में पढ़े गए अनुनासिक अच् आदि वर्णों को 'इत्' संज्ञा कहकर उनका "तस्य लोपः" (अ० १।३।६) इस सूत्र से लोप किया है। चले जाने वाले को 'इत्' कहते हैं। अतः यहाँ इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाने से 'इत्' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहना ठीक होगा।

(५) नदी संज्ञा

ह्रस्व, नुट् आदि विधान के लिए स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की जो 'नदी' संज्ञा पाणिनि ने की है, वह स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त संज्ञीरूप नदी शब्द को लेकर की गयी प्रतीत होती है ("यू स्त्र्याख्यौ नदी" अ० १।४।३)। स्त्री-गत दोषों से जैसे कुल दूषित या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार नदी के वेग से उनके तट ध्वस्त हो जाते हैं। इस अर्थ-साम्य को लेकर नदी संज्ञा को अंशतः ही अन्वर्थ माना जा सकता है।

सर्वांश में 'नदी' शब्द के अर्थ का समन्वय न होने से पाणिनि पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

पाणिने नं नदी गङ्गा यमुना वा नदी स्थली।
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्॥

अर्थात् पाणिनि के मत से गङ्गा और यमुना शब्द तो आकारान्त होने से नदी-वाचक नहीं होंगे, किन्तु स्थली शब्द ईकारान्त होने से नदी वाचक हो जायगा। इस विषय में और कहा ही क्या जा सकता है कि समर्थ आचार्य निरंकुश होने के कारण जैसा चाहते हैं, वैसा अनुशासन करते हैं।

(६) भ संज्ञा

पाणिनि ने "यचि भम्" (अ० १।४।१८) सूत्र से यकारादि तथा अजादि सर्व-नामस्थान संज्ञक प्रत्ययों से भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व पद की जो 'भ' संज्ञा की है, उसको कार्यनिर्वाहार्थ ही किया गया कहना ठीक होगा।

(७) गोत्र संज्ञा

अपत्य रूप से विवक्षित पौत्र-प्रभृति की 'गोत्र' संज्ञा पाणिनि ने की है (अपत्य-

२८

पौत्रप्रभृति गोत्रम्" अ० ४।१।१६२)। पूर्वाचार्य इसके लिए 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग करते थे, महाभाष्य पतञ्जलि ने इसे कण्ठतः स्वीकार किया है—

पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते।"
(म० भा० १।२।६८)।

जिसने पूर्वपुरुषों का बोध हो उसे गोत्र कहते हैं, इस निर्वचन से यहाँ भी 'गार्ग्य-वात्स्य' इत्यादि प्रयोगों में गोत्र-अर्थ में हुए यञ् प्रत्यय से गर्गादि पूर्वपुरुषों का जो बोध होता है, उससे 'गोत्र' संज्ञा को अन्वर्थ ही मानना ठीक होगा। किञ्च इस संज्ञा के अन्वर्थ होने से लोक-प्रसिद्ध प्रवराध्याय में पढ़े गए गोत्र-नामों का भी यहाँ ग्रहण होता है।

(८) युवा संज्ञा

मूल पुरुष से चतुर्थ अर्थात् पौत्र प्रभृति का जो अपत्य उसकी पित्रादि के जीवित होनेपर तथा ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहते कनिष्ठ आदि की 'युव' संज्ञा का विधान पाणिन्युपज्ञात ही प्रतीत होता है ("जीवति तु वंश्ये युवा," "भ्रातरि च ज्यायसि" अ० ४।१।१६३–६४)।

पित्रादि से जो सम्बन्ध रखता उसको 'युवा' कहते हैं। अतः 'गार्ग्यायण' इत्यादि में हुए फक् प्रत्यय से जो गार्ग्यादि पित्रादिकों के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, उससे 'युव' संज्ञा भी अन्वर्थ ही है।

विशेष—पित्रादिकों के जीवित रहने पर जिन पौत्र-प्रभृति की 'युव' संज्ञा की गई है, उन्हीं की पित्रादि के जीवित न रहने पर 'गोत्र' संज्ञा मानी जाती है। अर्थात् जो पहले गार्ग्यायण था वही बाद में गार्ग्य कहा जाता है। इस सम्बन्ध में हेतु देते हुए किसी ने ठीक ही कहा है—

"तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा पित्रा वियुज्यते।"

(९) तद्राज संज्ञा

"जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्" (अ० ४.१।१६८) इत्यादि सूत्रों से अपत्यार्थ की तरह राजार्थ में भी होने वाले अञ् इत्यादि प्रत्ययों की तथा पूगादिवाचक शब्दों से स्वार्थ में विहित प्रत्ययों की ("ञ्यादयस्तद्राजाः" अ० ५।३।११९) जो पाणिनि ने 'तद्राज' संज्ञा की है, उसकी अन्वर्थता बताते हुए वासुदेव दीक्षित ने कहा है कि

राजार्थ के भी वाचक होने के कारण अञादि प्रत्ययों की की गयी 'तद्राज' संज्ञा अन्वर्थ ही है[1]।

नारायण भट्ट ने भी प्रक्रिया सर्वस्व में इसी बात की सम्पुष्टि की है—

"तस्य राजन्यपत्यार्थे तुल्यप्रत्ययशासनात्।
तदर्थवन्तस्तद्राजा अपत्य-प्रत्यया अपि।"

(समास खण्ड, पृ० ६०)।

(१०) कृत्य संज्ञा

धातुओं से होने वाले तिङ्-भिन्न प्रत्ययों को पहले पाणिनि ने 'कृत्' संज्ञा कहकर ("कृदतिङ्" अ० ३।१।९५ सूत्र से) 'तव्यत्-अनीयर' आदि 'भाव-कर्म' में होने वाले कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा का निर्देश किया है ("कृत्याः" अ० ३।१।९६)।

'कृ' धातु से क्यप् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'कृत्य' शब्द को लेकर की गई यह 'कृत्य' संज्ञा भी अन्वर्थ ही है, क्योंकि क्यप् प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञा के अधिकार में पठित है।

'कृत्य'-संज्ञक प्रत्यय कारक और क्रिया दोनों के वाचक होते हैं, किन्तु 'कृत्'-संज्ञक प्रत्यय केवल कारक के ही वाचक होते हैं। इसी अन्तर को प्रदर्शित करने के लिए ही इनका विभाग किया गया प्रतीत होता है।

दाक्षायण व्याडि

महर्षि पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य में होने वाले कालखण्ड को किन वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थरत्नों से प्रद्योतित किया ? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर देने में आलोचक मौन हैं। केवल एक ही व्यक्ति का इन गुणों से मण्डित होने का संकेत मिलता है। और वे हैं दाक्षायण व्याडि। इनके महत्त्वपूर्ण लक्ष-ग्रन्थात्मक ग्रन्थरत्न का नाम संग्रह था जो कतिपय शताब्दियों तक अपनी प्रभा और प्रभाव को विखेर कर महाभाष्य की रचना (द्वितीय शती ई० पू०) से पूर्व ही अस्तंगत-विग्रह हो गया। दैव की इतनी ही अनुकम्पा रही कि वह अस्तंगत-महिमा नहीं हुआ। अवान्तरकालीन

---

1. प्रत्ययानां तद्राजत्वं तद्वाचकत्वाद् गौणम्। एवञ्च तद्राजवाचकास्तद्राजा इत्यन्वर्थ संज्ञैषा, न तु टि घु भादिवदवयवार्थरहिता। तथा चाऽञादिप्रत्ययानां तद्राजसंज्ञकानां राजवाचकत्वमपि विज्ञायते इति राजन्यपि वाच्ये ते भवन्तीति विज्ञायते इत्यर्थः" (बालमनोरमा ४।१।१६८)।

व्याकरण-ग्रन्थों ने कहीं सामान्य निर्देश से तथा कहीं विशिष्ट उद्धरणों के द्वारा संग्रह के स्वरूप, विषय तथा महत्त्व को बतला कर उसे जिज्ञासुओं के लिए बचाये रखा।

'संग्रह' के विषय में सर्वप्रथम सूचना महाभाष्य से प्राप्त होती है जहाँ दो बार इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय की चर्चा है[1]। भर्तृहरि ने इस विषय में हमारे ज्ञान को और भी आगे बढाया वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में इसके दस वचनों को साक्षात् उद्धृत करके। इन वचनों की मीमांसा बतलाती है कि इस 'संग्रह' ने शब्द तथा अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध आदि विषयों का विचार किया है जिससे स्पष्ट है कि 'संग्रह' का प्रधान विषय पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों का विवेचन था। **'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्'** इस महाभाष्य की व्याख्या में भर्तृहरि का कथन है कि इस संग्रह में १४ सहस्र वस्तुओं की परीक्षा की गई थी[2]। यहाँ 'वस्तुओं' से तात्पर्य व्याकरण-सम्बन्धी दार्शनिक विषयों से है। इससे इस ग्रन्थ के वृहत् परिमाण का किञ्चित् संकेत मिलता है, परन्तु यह कितना परिमाण वाला था? इस प्रश्न के उत्तर में पुण्यराज (वाक्यपदीय की टीका में) का कहना है—

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्ष-ग्रन्थ-परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।

जिसकी पुष्टि नागेश ने नवाह्निक भाष्य के प्रदीपोद्योत में की है[3]। पुण्यराज के महत्त्वपूर्ण कथन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(क) संग्रह पाणिनीय व्याकरण से ही सम्बद्ध ग्रन्थ था, किसी दूसरे व्याकरण से नहीं।

(ख) इसमें 'लक्षग्रन्थ' थे (लक्षश्लोक नहीं)। लक्षश्लोक का तात्पर्य होता कि समग्र ग्रन्थ पद्यात्मक है तथा उसकी श्लोकसंख्या एक लक्ष तक है। प्राचीनकाल में तथा आज भी किसी ग्रन्थ के परिमाणको मापने की एक ही प्रणाली है। उसके अक्षरों को गिन कर ३२ की संख्या से भाग देने पर जो संख्या निष्पन्न होती है वह 'ग्रन्थ' कहलाती है। संग्रह में ऐसे ही एक लाख ग्रन्थ विद्यमान थे, एक लाख पद्यात्मक श्लोक नहीं।

---

१. संग्रहे तावत्र प्राधान्येन परीक्षितम् नित्यो वा स्यात् कार्यो वा स्यादिति। संग्रहे तावत् कार्य-प्रतिद्वन्द्वि-भावात् मन्यामहे नित्य-पर्याय-वाचिनो ग्रहणम्। पस्पशाह्निक।

२. चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।

३. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोक संख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः॥

—प्रदीपोद्योत, पस्पशाह्निक।

(ग) इस सुबृहत् परिमाण की पुष्टि भर्तृहरि के द्वारा निर्दिष्ट १४ सहस्र वस्तुओं के परीक्षण की घटना से सर्वथा होती है।

(घ) यह निबन्ध ग्रन्थ है, व्याख्या-ग्रन्थ नहीं। निबन्ध ग्रन्थ से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो किन्हीं विषयों पर तदुपलब्ध समग्र सामग्री का विधिवत् परिशीलन कर स्वाभिमत व्यक्त कर लिखी गयी हो। इस अर्थ में संग्रह तथा निबन्ध की एकवाक्यता भरत ने नाट्यशास्त्र में की है[1]। धर्मशास्त्र के इतिहास में निबन्ध-ग्रन्थों का प्रणयन पिछले युग के धर्मशास्त्रियों का प्रधान लक्ष्य था। निबन्ध ग्रन्थ को आजकल की भाषा में 'थीसिस' कह सकते हैं। संग्रह ऐसा ही निबन्ध ग्रन्थ था।

नाना ग्रन्थों से संगृहीत संग्रह के उद्धरणों[2] के परीक्षण से यह स्पष्ट है कि यह गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया था। पुण्यराज द्वारा निर्दिष्ट लक्ष ग्रन्थात्मक का यही स्वारस्य है कि इनमें केवल श्लोक ही न थे, प्रत्युत गद्य-भाग भी था और इस तथ्य की पुष्टि इन उद्धरणों से पूर्णतया होती है। चान्द्र-व्याकरण की वृत्ति (४।१।६२) में 'पंचकः संग्रहः' उदाहरण दिया गया है जिससे संग्रह के पाँच अध्यायों में विभक्त होने की घटना प्रतीत होती है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ के लोप हो जाने का कारण निर्देश भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय (द्वितीय काण्ड, श्लोक ४८४ तथा ४८५) में किया है[3] कि संक्षेप में रुचि रखने वाले अल्प विद्यासम्पन्न वैयाकरणों को पाकर संग्रह अस्तंगमित हो गया। और यह घटना महाभाष्य की रचना से पूर्व ही घटित हो गई थी। महाभाष्य के द्वारा सुव्यवस्थित रूप से तत्तत् विषयों के प्रतिपादन के कारण भी यह ग्रन्थ लुप्त हो गया; ऐसा अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता।

संग्रह का रचयिता

संग्रह का रचयिता कौन था? पुण्यराज ने 'व्याडि' का नाम निर्दिष्ट किया है,

---

१. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्योः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥
—नाट्यशास्त्र ६।१।

२. द्रष्टव्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग (द्वि० सं०) पृष्ठ २७३—७५।

३. प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्या-परिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

परन्तु महाभाष्य (२।३।६६) के इस कथन से इस विषय में एक नवीन जानकारी प्राप्त होती है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः ।

इस वाक्य में संग्रह के कर्ता 'दाक्षायण' कहे गये हैं और यह उक्ति पाणिनि तथा व्याडि के परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध को जोड़ने वाली यह शोभन शृंखला है। पाणिनि को भाष्यकार 'दाक्षीपुत्र' कहते हैं और व्याडि को 'दाक्षायण'। फलतः पाणिनि और व्याडि का परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध था। 'दाक्षायण' पद की गम्यमान व्युत्पत्ति से कुछ लोग व्याडि को पाणिनि का मातुल (मामा) मानते हैं, परन्तु मेरी सम्मति में वे उनके मातुल-पुत्र (मामा के पुत्र) थे और इस विषय की साधक युक्ति[1] परीक्षणीय है। फलतः व्याडि पाणिनि के कनिष्ठ समकालिक थे, ज्येष्ठ समकालिक नहीं।

शौनक ने ऋक् प्रातिशाख्य में पाँच स्थानों पर व्याडि के मत का निर्देश किया है[2]। ये मत शब्दसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं, शब्दविषयक किसी दार्शनिक मत से नहीं। ऐसी दशा में ये मत 'संग्रह' की ओर संकेत नहीं करते। इससे दो ही परिणाम निकाले जा सकते हैं—(क) प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट व्याडि संग्रहकार से भिन्न व्यक्ति हैं अथवा (ख) व्याडि ने संग्रह के अतिरिक्त सूत्रों की कोई व्याख्या भी लिखी थी। न्यास ने एक स्थान पर (७।३।११) ऐसी ही सूत्र-व्याख्या की ओर संकेत किया है। दोनों व्याडियों की एकता के प्रश्न की परीक्षा के लिए पुष्ट प्रमाण खोजने की आवश्यकता है।

शब्द के अर्थ के विषय में व्याडि का विशिष्ट मत था। सब शब्दों का अर्थ द्रव्य ही है, क्योंकि द्रव्य ही तो क्रिया के साथ साक्षात् समन्वय धारण कर चोदना का

---

१. मातुल तथा भागिनेय (मामा, भांजा) के सम्बन्ध की बहुशः परीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मामा की उम्र भांजे की उम्र से प्रायः अधिक होती है। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि संग्रह पाणिनीय सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ था अर्थात् अष्टाध्यायी की रचना के अनन्तर ही संग्रह का निर्माण हुआ था। फलतः व्याडि पाणिनि से वय में निश्चित-रूपेण छोटे थे और यह वयःक्रम ऊपर निर्दिष्ट तथ्य के ऊपर ही सामान्यतः सुसंगत बैठता है। इसलिए व्याडि को पाणिनि से न्यून वाला ममेरा भाई मानना ही लोकतः समुचित प्रतीत होता है। व्याकरण से पदसिद्धि इस तर्क में बाधक नहीं है।

२. ऋक्प्रातिशाख्य २।२३; २।२८; ६।४३; १३।३१; १३।३७।

विषय होता है। यह मत वाजप्यायन आचार्य के मत से भिन्न है जो जाति को ही पदार्थ मानते थे। व्याडि के इस विशिष्ट मत का उल्लेख बहुत्र उपलब्ध है। वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की व्याख्या (प्रकाश) में हेलाराज ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

वाजप्यायनाचार्यमतेन सार्वत्रिकी जातिपदार्थव्यवस्थोपपद्यते। व्याडिमते तु सर्वशब्दानां द्रव्यमर्थः। तस्यैव साक्षात् क्रिया-समन्वयोपपत्तेः। वाक्यार्थाङ्गतया चोदनाविषयत्वात्[1]।

हेलाराज (द्रव्य समुद्देश, प्रथम कारिका) की व्याख्या के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भर्तृहरि इस कारिका में व्याडि के मत का उपन्यास कर रहे हैं—

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

द्रव्य के ही पर्याय हैं—आत्मा, वस्तु, वस्तु, स्वभाव, शरीर तथा तत्व। और यह द्रव्य नित्य होता है। भाष्यकार ने 'द्रव्यं नित्यमाकृतिरन्या चान्या च भवति' कह कर इसी मत का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, कात्यायन के ऊपर भी व्याडि का प्रभाव लक्षित होता है। संज्ञा शब्दों के द्वारा द्रव्य का प्रतिपादन गम्यमान है; परन्तु आख्यात-शब्दों के द्वारा क्या प्रतिपाद्य है? व्याडि का उत्तर है द्रव्य ही। और हेलाराज ने इस पक्ष का प्रतिपादन विस्तार से किया है[2]।

कात्यायन

सूत्रों के ऊपर व्याख्यान ग्रन्थों का सामान्य अभिधान वार्तिक है। वार्तिकों के रचयिता एक न होकर अनेक थे। वार्तिकों के परिज्ञान के लिए पतञ्जलिकृत महाभाष्य ही एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ है। तथ्य यह है कि महाभाष्य सूत्रों का विशद व्याख्यान न होकर वार्तिकों का ही विस्तृत व्याख्यान है। भाष्यकार के सामने पाणिनि-सूत्रों पर विभिन्न लघु तथा वृहत् वार्तिक विद्यमान थे। पतञ्जलि ने इनका सूत्रों के साथ

---

१. जातिसमुद्देश की टीका में इस मत का परिचय बड़े स्पष्ट शब्दों में हेलाराज ने दिया है। द्रष्टव्य—हेलाराज की तृतीय काण्ड की टीका; पृ० ९–१०, पूना संस्करण।

२. द्रष्टव्य हेलाराज—वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की टीका, पृ० १८९–१९० (पूना सं०, १९६३)।

तारतम्य, संगति अथवा विसंगति मिलाकर अपना मत प्रदर्शित किया है। इस दृष्टि से पतञ्जलि तुलनात्मक वैयाकरण हैं जिन्होंने उस युग के वार्तिककार वैयाकरणों के मतों की तुलना कर अपनी समालोचना व्यक्त की। इनमें कात्यायन का स्थान प्रमुख है। उनसे पहिले किसी वार्तिककार का संकेत नहीं मिलता। उनसे अवान्तरकालीन वार्तिककारों में 'सुनाग' का नाम महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है। सुनाग कात्यायन के पश्चाद्वर्ती हैं तथा उनके वार्तिक कात्यायन-वार्तिकों से स्वरूप में विस्तृत थे, इसका परिचय हमें कैयट के शब्दों से मिलता है[1]। इससे समालोचकों की यह सम्मति मान्य है कि भाष्य में 'अत्यल्पमिदमुच्यते' कह कर जहाँ वार्तिकों का विन्यास किया गया है, वे सब वार्तिक सम्भवतः सुनाग के ही प्रतीत होते हैं। कात्यायन-वार्तिक की आलोचना से पूर्व 'वार्तिक' के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य से परिचय नितान्त आवश्यक है।

वार्तिक का लक्षण

नागेशभट्ट ने वार्तिक का लक्षण दिया है—

सूत्रेऽनुक्त-दुरुक्त-चिन्ताकरत्वं वार्तिकत्वम्।
उक्तानुक्त-दुरुक्त-चिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम्॥

इन दोनों लक्षणों का तात्पर्य एक समान है। सूत्र में उक्त, अनुक्त (नहीं कहे गये) अथवा दुरुक्त (अनुचित कहे गये) विषयों की चिन्ता (विश्लेषण) करने वाला वाक्य 'वार्तिक' कहलाता है। 'मुनित्रयं' के परस्पर सम्बन्ध का बोधक पदमंजरीस्थ यह पद्य इस विषय में ध्यातव्य है—

यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥

सूत्रकार के द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट विषय को स्पष्टतः प्रतिपादन वाक्यकार (वार्तिक-रचयिता) करते हैं और उनसे अदृष्ट विषय का विवेचन भाष्यकार करते हैं। इस पद्य में 'दुरुक्त-चिन्ता' की बात नहीं कही गई है।

कैयट ने वार्तिक को 'व्याख्यान-सूत्र' नाम से अभिहित किया है, अर्थात् वार्तिक ऐसे सूत्रात्मक वाक्य है जो पाणिनि के मूलभूत सूत्रों के व्याख्यान हैं। यह नाम सार्थक है और वार्तिक के स्वरूप का यथार्थ द्योतक है। 'व्याख्यान' के भीतर प्राचीन लोग केवल 'चर्चापद' का ही समावेश करते थे, परन्तु पतञ्जलि ने इस शब्द के

---

१. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।
(महाभाष्य प्रदीप २।२।२८)

व्यापक तात्पर्य के भीतर उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्याध्याहार इन तीनों को समाविष्ट किया है। अन्यत्र महाभाष्यकार वार्तिकों को लक्ष्य कर कहते हैं कि वे कभी उन विषयों की चर्चा करते हैं जो सूत्र में नहीं कहा जा सका है और कभी कहे गये का प्रत्याख्यान करते हैं—

इह किञ्चिदक्रियमाणं चोद्यते, किञ्चिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते।
(महाभाष्य ३।१।१२)।

ये दोनों वैशिष्ट्य क्रमशः अनुक्तचिन्ता तथा उक्त-चिन्ता के ही प्रकारान्तर प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पतञ्जलि चोदना तथा प्रत्याख्यान को वार्तिक का अन्तरंग स्वरूप मानते हैं। कैयट ने इन दोनों का मार्मिक विश्लेपण किया है[1]। चोदना (या प्रतिपादन) कम बुद्धि वालों की दृष्टि से की जाती है और प्रत्याख्यान श्रोताओं अथवा पाठकों की प्रतिपत्ति की दृष्टि से किया जाता है। व्याकरणशास्त्र दोनों का आश्रयण दोनों प्रकार के व्यक्तियों को लक्ष्य कर करता है। कैयट के अनुसार वार्तिकों की अनुक्त-चिन्ता का तात्पर्य कमबुद्धि वाले व्यक्ति से हैं तथा उक्त-चिन्ता का लक्ष्य विशिष्ट पाठकों की ओर है।

भर्तृहरि ने भी 'वार्तिक' के स्वरूप का निर्देश किया है। वे वार्तिक को 'भाष्यसूत्र' की महनीय संज्ञा से पुकारते हैं। यह नाम बड़ा ही सार्थक है। 'भाष्य के व्याख्यान के निमित्त गम्भीरार्थक वाक्य'—सचमुच ही वार्तिक के रूप का द्योतक अभिधान है। क्योंकि इन्हीं वार्तिकों के अर्थ के व्याख्यान के निमित्त ही तो भाष्यकार का समग्र प्रयत्न है। भर्तृहरि की दृष्टि में वार्तिक का स्वरूप है—(क) गुरुलाघव का अनाश्रयण (गुरुलाघव का आश्रयण सूत्रों में निश्चित रूप से है, परन्तु वार्तिक में इसका अविचार है); (ख) लक्षणप्रपञ्च[2] का आश्रयण (सूत्र के समान ही)—

भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपंचाभ्यां प्रवृत्तिः। —महाभाष्य दीपिका।

---

१. अबुध-बोधनार्थं तु किञ्चिद् वचनेन प्रतिपाद्यते। न्याय-व्युत्पादनार्थं च आचार्यः किञ्चित् प्रत्याचष्टे। नहि अत्रैकः पन्थाः समाश्रीयते॥
—कैयट, प्रदीप ७।२।९६।

२. लक्षणप्रपंच के उदाहरण के निमित्त देखिए डा० रामसुरेश त्रिपाठी का सुचिन्तित लेख 'वार्तिक का स्वरूप' जो अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मुख-पत्रिका 'अभिनव-भारती' में प्रकाशित हुआ है।

इन दोनों वैशिष्ट्यों में प्रथम पाणिनिसूत्र से भाष्यसूत्र का विभेदक है। पाणिनि-सूत्र में गुरुलाघव का पूर्ण विचार है और लाघव की ओर समधिक दृष्टि है, परन्तु वार्तिक में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। सूत्रों की भाँति इनमें कसावट नहीं है, परन्तु सूत्रों के समान लक्षणप्रपञ्च का समाश्रयण विद्यमान है। 'लक्षण' होता सामान्य नियम और 'प्रपञ्च' होता है उसी का विशेष रूप। सूत्रकार की शैली है कि वे प्रथमतः लक्षण देते हैं, तदनन्तर उसी नियम के विशेष-प्रकारों का उल्लेख करते हैं। लक्षणप्रपञ्च का यह पौर्वापर्य नियमतः प्रस्तुत है अष्टाध्यायी में। वार्तिक में यह विद्यमान है, परन्तु इसी क्रम से नहीं। कहीं लक्षण के अनन्तर प्रपञ्च है और कहीं लक्षण से पूर्व ही प्रपञ्च है। वार्तिक इस दृष्टि से पाणिनिसूत्र के बहुत समीप चला आता है अपने स्वरूप के निर्धारण में।

निष्कर्ष यह है कि वार्तिक सूत्रों के व्याख्यान है। वृत्तिग्रन्थ भी तो सूत्रों के व्याख्यान हैं। तब दोनों में पार्थक कहाँ ? पार्थक दोनों के स्वरूप में है। किसी भी व्याख्या का मुख्य तात्पर्य होता है भाव को प्रकट करना, असंगतियों को सुलझाना, आक्षेपों का उत्तर देना तथा त्रुटियों की ओर संकेत करना। वार्तिक में यह सब विद्यमान हैं, परन्तु सूत्र की शैली में ही। वृत्ति-ग्रन्थों में भी यह सब वर्तमान है, परन्तु उदाहरण-प्रत्युदाहरण समन्वित शैली में। एक तथ्य और भी ध्यातव्य है। वार्तिकों का उद्देश्य पाणिनि व्याकरण को दार्शनिक विचार कोटि में पहुँचाना था जिससे यह व्याकरण केवल शब्दों की रूपसिद्धि का ही साधन न होकर शब्दार्थ के गम्भीर तत्त्वों का भी निरूपक सिद्ध हो। कात्यायन का प्रथम वर्तिक—**सिद्धे शब्दार्थे सम्बन्धे** ही व्याकरण दर्शन के मौलिक तथ्य की अवतारण करता है कि शब्द, उसका अर्थ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध तीनों को सिद्ध (नित्य) मान कर ही यह व्याकरणशास्त्र लिखा गया है। अन्यत्र वार्तिकों के भीतर व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर पूर्ण संकेत किया गया है। वार्तिकों के भीतर इन दार्शनिक तथ्यों का अन्वेषण तथा समीक्षण आज भी गवेषणा का स्पृहणीय विषय है।

कात्यायन का वैशिष्ट्य

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कात्यायन पाणिनि के विदूषक व्याख्याकार नहीं थे, जिन्होंने उनके सूत्रों की विद्रूप व्याख्या की है। न वे उनके प्रतिस्पर्धी थे (जैसा कथासरित्सागर में चित्रित किया गया है)। वे पाणिनि के निन्दक नहीं थे, प्रत्युत प्रशंसक थे। परन्तु वे थे मुख्यतः व्याख्याकार ही। और एक सच्चे व्याख्याकार का काम उन्होंने इन वार्तिकों के द्वारा निष्पन्न किया। यह भी कहना यथार्थ नहीं है कि वार्तिक उन शब्दों का विश्लेषण करता है जो पाणिनि के अनन्तर संस्कृतभाषा में व्यवहृत होने लगे थे (जैसे पाश्चात्य पण्डितों की भ्रान्त धारणा है) और इसलिए पाणिनि को

उनके विषय में नियम बनाने का अवसर नहीं था। अतएव कात्यायन को पाणिनि के एक कठोर आलोचक के रूप में न देख कर पाणिनि का एक न्यायसंगत प्रशंसक मानना ही यथार्थ तथ्य है।

कात्यायन से पूर्व ही 'व्याडि' आचार्य ने अपने 'संग्रह' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें पाणिनिय व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का उन्मीलन था। 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिकस्थ 'सिद्ध' पद की व्याख्या के अवसर पर पतञ्जलि के कथन से प्रतीत होता है कि कात्यायन के ऊपर 'व्याडि' का प्रभाव पड़ा था[1]। 'सिद्ध' शब्द का 'नित्य' अर्थ में प्रयोग कात्यायन ने संग्रह के आधार पर किया था महाभाष्यकार की यही सम्मति है।

महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिक पहिचाने जा सकते हैं। उनके परिज्ञान के लिए कतिपय नियम निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। वार्तिककार सूत्र पर विचार करते समय कभी उसके आदि के शब्द[2] को, कभी अन्त के शब्द[3] को और कभी बीच के शब्द[4] को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और विशेष अवसरों पर पूरे सूत्र को प्रतीक रूप में लेते हैं। कभी-कभी कात्यायन कई सूत्रों के आदि अक्षर को एक साथ लेकर वार्तिकों का निर्माण करते हैं[5]। अन्य भी प्रकार हैं जिनके द्वारा सूत्रों का उल्लेख या संकेत वार्तिकों में किया गया है। इस 'प्रतीक शैली' की सहायता से वार्तिकों की पहचान भली-भाँति

---

१. इस तथ्य का प्रमापक वाक्य भर्तृहरि ने अपनी 'महाभाष्य दीपिका' में दिया है—
संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। तत्रैकत्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यात् इहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः॥
२. यथा इको गुणवृद्धी (१।१।३) का प्रथम वार्तिक 'इग्ग्रहणम्......' आदि—अक्षर को लेकर प्रस्तुत है।
३. हलोऽनन्तरा संयोगः १।१।७ का प्रथम वार्तिक 'संयोग संज्ञायां सहवचनं यथान्यत्र' सूत्र के अन्तिम पद को ग्रहण कर विन्यस्त है।
४. ह्रस्वो नपुंसके प्रतिपदिकस्य १।२।४७ का प्रथम वार्तिक 'नपुंसक ह्रस्वत्वे ......' मध्य के पद से आरम्भ होता है।
५. संपुंकानां सत्वम् (८।३।१२ का प्रथम वार्तिक) इन तीन सूत्रों के आदि अक्षरों को लेकर विन्यस्त है। ये सूत्र हैं—
(क) 'समः सुटि' ८।३।५ का प्रथम अक्षर सं।
(ख) पुमः खय्यम्परे ८।३।६ का प्रथम अक्षर पुं।
(ग) कानाम्रेडिते ८।३।१२ का प्रथम अक्षर का।

की जा सकती है और महाभाष्य के गम्भीर शब्दार्णव से ये वार्तिकरत्न चुन कर निकाले जा सकते हैं।

कात्यायन की भाषा

कात्यायन पाणिनि के गम्भीर आलोचक थे। जहाँ कहीं उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का दोष दृष्टिगोचर होता, उसका वे सुधार करने में तनिक नहीं सकुचाते। कभी-कभी पाणिनि के सूत्रों के प्रति लक्ष्य न कर उनके वृत्तिकारों के वचनों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया है, जिन्होंने कात्यायन से पूर्व उन सूत्रों की वृत्तियाँ लिखी थीं जो आज उपलब्ध नहीं हो रही हैं।

वार्तिकों के स्वरूप-परिज्ञान के लिए एक तथ्य पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं कि पाणिनि और कात्यायन के बीच काल-खण्ड में ये शब्द व्यवहृत होने लगे थे, परन्तु तथ्य इससे भिन्न हैं। ये शब्द पाणिनि के काल में ही नहीं, प्रत्युत उनसे भी प्राचीन थे, परन्तु सूत्रकार की पकड़ से बाहर रहे अर्थात् उनके नियमों में न आ सके, क्योंकि उन्होंने समस्त शब्दों को नियमबद्ध बनाने को प्रतिज्ञा थोड़े ही की थी। यही कार्य कात्यायन को करना पड़ा और इसके लिए उन्होंने अपने वार्तिकों का प्रणयन किया। इस तथ्य को दृष्टान्तों से पूर्णतः परिपुष्ट की जा सकती है। कात्यायन ने **'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'** वार्तिक के द्वारा 'कुलटा' शब्द को पररूप के द्वारा सिद्ध किया है, परन्तु यह पररूप पाणिनि ने सूत्रों में निर्दिष्ट नहीं किया। परन्तु 'कुलटाया वा' (४।१।१२७) सूत्र में 'कुलटा' शब्द का तो प्रयोग स्वयं पाणिनि ने किया है. तो कात्यायन द्वारा व्याख्यात होने से यह शब्द पाणिनि को अज्ञात कैसे घोषित किया जाय? वेद में प्रयुक्त अनेक शब्द पाणिनि द्वारा व्याख्यात न होकर कात्यायन द्वारा निष्पन्न किये गये हैं। तो क्या ये शब्द पाणिनि से अर्वाचीन हैं? कथमपि नहीं। 'स्वैरी' और 'स्वैरिणी' पदों में पाणिनि ने वृद्धि का विधान नहीं किया; विधान किया है कात्यायन ने 'स्वादीरेरिणोः' वार्तिक द्वारा। परन्तु ये दोनों पद छान्दोग्य उपनिषद् में श्रुत हैं—

न मे स्तेनो जनपदे...............न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'।

इसी के समान 'प्रैष' शब्द की सिद्धि पाणिनि के सूत्रद्वारा न होकर कात्यायन द्वारा की गई है **'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु'**, परन्तु यह पद शतपथ ब्रा० १३।५।२।२३ **'यद्वत प्रजापतिमिति प्रैषः'** में स्पष्टतः प्रयुक्त है। फलतः यह पाणिनि से निश्चितरूपेण प्राचीन है। दशार्ण नामक देश का तथा दशार्णा नदी का नामोल्लेख महाभारत में किया गया है, परन्तु सूत्रों से व्याख्यात न होकर **'प्रवत्सतर कम्बल वसनार्णदशानामृणे'** वार्तिक से यह सिद्ध होता है। वार्तिक से व्याख्यात होने मात्र से किसी शब्द को पाणिनि

अपेक्षया अर्वाक्कालीनता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। इन दृष्टान्तों की समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अनेक वैदिक तथा प्राचीन लौकिक शब्द अल्प-प्रयोगवशात् अथवा अनवधानवशात् पाणिनि के द्वारा छूट गये हैं। इन्हीं को पूर्ति कात्यायन ने की है। शब्दों में अपूर्वता कथमपि नहीं है।

कात्यायन ने ऐसे शब्दों का भी नियमन किया है जो लोकजीवन से सम्बद्ध थे और सम्भवत: लोकभाषा के थे। चिल्लपिल्ला (आँख के कोंचर के अर्थ में व्यवहृत शब्द) सम्भवत: देशी प्रतीत है, परन्तु 'भेड़ी के दूध' अर्थ में अविसोढ, अविदूस तथा अविमरीस शब्दों की उन्होंने जो वार्तिक से सिद्धि की है, वह भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचारणीय है। सोढ, दूस तथा मरीस—इन तीनों को जो विद्वान् संस्कृतेतर भाषा के शब्द मानते हैं वे गम्भीरतापूर्वक विचारने की कृपा करें।

अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचः (वार्तिक ४।२।३६)

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः (४।२।३६) पाणिनि के इस निपातन सूत्र पर उक्त वार्तिक पठित है। इसका अर्थ होगा—अवि (= भेड़ी) शब्द से दूध के अर्थ में सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं। बालमनोरमाकार ने इस वार्तिक का अर्थ इस प्रकार किया है—" 'अवि का दूध' इस अर्थ में अवि शब्द से सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं।" उनका इस प्रकार का अर्थ उपयुक्त नहीं है। कारण, अवि शब्द पञ्चम्यन्त है और महाभाष्यकार ने भी 'अवि का दूध' इस प्रकार का व्याख्यान नहीं किया है। इसके अतिरिक्त शाकटायन व्याकरण में **"दुग्धेऽवेस्सोढ-दूसमरीसचम्'** इस प्रकार का सूत्र है।

अवि-सोढ

मर्षणार्थक √ सह धातु से निष्ठा में क्त प्रत्यय होने पर सोढ शब्द की निष्पत्ति होती है। यही सोढ शब्द **'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्'** (३।१।१७) पाणिनि सूत्र के गणपाठ में दृष्टिगोचर होता है। वाकरनागल महाशय बेनफाइ-संस्कृत कोश के अनुसार सोढ प्रत्यय की √ सहधातु से संवद्ध बताते हैं। यह सोढ शब्द दूध के अर्थ में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अत: सह धातु से निष्पन्न सोढ शब्द को 'अवि-सोढम्' (= भेड़ी का दूध) में प्रत्यय रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुत: सोढ-प्रत्यय ऊधस् शब्द का रूपान्तर है—ऊधस्→ऊढस्→सूढ→सोढ (तु० काफिरी भाषा—ऊड और ऊढ = दूध)। आइस्लैण्डिक भाषा का जूर् (गूर्) र् शब्द ऊधस्-अर्थक है क्योंकि * जुड्र के स्थान में कभी-कभी प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद में ऊधस् शब्द मेघ, जल, दुग्धाधार तथा दुग्ध का भी वाचक है (द्र० ४।१।१९; ३।४८।३; २।१।६)। ऋग्वेद में यह रात्रि (शैत्य), रस और

सार और योनि का भी अभिधायक है (द्र० १०।६१।९; १०।७६।७; १०।३२।९; ८।३१।९)।

पश्तो भाषा में 'शीदे' शब्द दूध का वाचक है। तुर्किश राज्य में प्रयुज्यमान जिप्सी (रोमानी) भाषा में 'तुत, सुत, सोउत, छुति' यह चार शब्द दुग्धार्थक हैं। ब्राउन महाशय ने इनका सम्बन्ध तुर्किश 'सुद' के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया था।

इस प्रकार आर्यभाषा की परम्परा मिलने पर भी तमिल भाषा का शोर्व (शोर्ड = दूध) तथा कन्नड भाषा का सौर (= फलरस) शब्द मननीय हैं।

अवि-दूस;

भगवान् पतञ्जलि ने वार्तिककारोक्ति तीनों प्रत्ययों पर चर्चा नहीं की। यद्यपि संस्कृत वाङ्मय ने इन सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्ययों से विशिष्ट शब्दों का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता, तथापि महाभाष्यकार और उनके टीकाकार कैयट तथा नागेश ने इनका अनभिधान नहीं कहा।

पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के टीका-ग्रन्थों में प्रक्रिया-कौमुदी इस वार्तिक को उद्धृत नहीं करती। जैनेन्द्र और मुग्ध-बोध व्याकरणों में भी इन प्रत्ययों का विवरण नहीं है। अमरकोश भी इन प्रत्ययों से विशिष्ट शब्दों का उल्लेख नहीं करता। संक्षिप्तसार व्याकरण में सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग में दिखाये गये हैं।

आधुनिक गुण-दोष विवेचनशील, भाषाविद् बाप, ड्रुगमन्, वरो प्रभृति विद्वान् इन प्रत्ययों या प्रत्यायान्त शब्दों के प्रवन्ध में चुप्पी साधे हैं। केवल वाकरनागल महाशय ने तीनों प्रत्ययों को पालिस्रोतस्क या प्राकृतस्रोतस्क बताया है। किन्तु प्रत्यय अथवा प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग-विषय में मौनावलम्बन हो कर रखा है। उन्होंने बेनफी महाशय द्वारा उद्धृत अथर्ववेद का दूषिका शब्द दूस की तुलना के लिए उपस्थित अवश्य किया है किन्तु व्याख्या आदि कुछ नहीं की।

अब प्रश्न उठता है कि महाभाष्यकार आदि इन प्रत्ययों या प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में चुप क्यों हैं? वस्तुतः ये तद्धित प्रत्यय नहीं हैं किन्तु षष्ठीसमास होने के कारण स्वतन्त्र शब्द हैं।

स्काटिश् भाषा में √ दुश्, धातु मेषादिकृत अभ्याहनन में प्रयुक्त होता है। पश्तो भाषा में दूरनाई शब्द दोहनी (दुग्धघटी) अर्थ में मिलता है। सिन्धी भाषा में 'दोसो' शब्द खजूर-रस के अ ं में व्यवहृत होता है। पूर्वीय बाल्टिक रोमानी (जिप्सी) भाषा में दोश् धातु दोहने के अर्थ में उपलब्ध है।

दुग्धवाचक ऊधस् शब्द से यद्यपि ऊधस्→ घूस्→ दूस विकास असम्भव नहीं है तथापि भारतीय परम्परा में उपलब्ध न होने के कारण यह मनस्तोष-कारक नहीं कहा जा सकता।

अवि-मरीसम्

यह मरीस शब्द यूरोप की अनेक भाषाओं में रूपान्तर से अनुगत मिलता है। जर्मन गेट मिल्श शब्द का उदाहरण पर्याप्त होगा।

यद्यपि दुग्धार्थक मरीस शब्द निश्चयत: आर्यभाषा-स्रोतस्क है तथापि तमिल भाषा में मेषीदुग्धार्थक 'मरि-शैक्कु' शब्द विद्यमान है। वहाँ मरि = मेषी और शैक्कु-दुग्ध है[1]। सारांश यह है कि सोढ, दूस तथा मरीस—ये तीनों कात्यायन-निर्दिष्ट प्रत्यय न होकर स्वतन्त्र शब्द हैं दुग्ध के अर्थ में और इनका प्रयोग आर्य भाषा-भाषी यूरोप तथा अन्य देशों के निवासी आज भी करते हैं। इन शब्दों का प्रत्यय-रूप में वार्तिक में उल्लेख होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक महनीय उपलब्धि है।

कात्यायन का देश काल

कात्यायन के देश विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। कथा सरित्सागर में पाणिनि तथा कात्यायन का एकत्र निवास तथा परस्पर संघर्ष की जो बातें लिखी हैं, वे सब काल्पनिक हैं। इसी प्रकार उन्हें राजा नन्द के मन्त्री होने का निर्देश भी कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखता। उनके देश के निर्णयार्थ महाभाष्य की 'तद्धित-प्रिया हि दाक्षिणात्याः' उक्ति प्रमाणभूत मानी जानी चाहिए। लोकवेदेषु के स्थान पर वार्तिक में 'लौकिक वैदिकेषु' का पाठ पतञ्जलि की दृष्टि में उस निष्कर्ष का प्रमापक है। फलतः कात्यायन दक्षिण देश के निवासी थे—पतञ्जलि के प्रामाण्य पर इतना ही कहा जा सकता है।

पतञ्जलि से कात्यायन कितनी शताब्दियों पूर्व थे? कात्यायन तथा पतञ्जलि के बीच अनेक वैयाकरणों ने कात्यायन वार्तिकों की विविध वृत्तियाँ लिखीं जिनका उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थानों पर है। दाक्षिणात्य कात्यायन के वार्तिकों का उत्तर भारत में प्रचलित होने, वैयाकरण सम्बन्धी नाना तथ्यों के उद्घाटन तथा अनेक वृत्तियों के वार्तिक पर निर्माण के लिए कई शताब्दियों का समय अपेक्षित है। पतञ्जलि का समय पुष्यमित्र के साथ समसामयिकता के कारण ई० पू० द्वितीय शती निश्चित किया जाता

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—"तद्धितान्ताः केचन शब्दाः" पुस्तक। लेखक डा० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी (वागीश शास्त्री)। प्रकाशक—मोती-लाल बनारसी दास, वाराणसी (१९६७)।

है। उस समय से कम से कम तीन-चार शताब्दी पूर्व कात्यायन का समय मानना कथमपि अनुचित न होगा । फलतः कात्यायन मोटे तौर पर ई० पू० पञ्चम शती में उद्भूत हुए थे—इस परिणाम पर पहुँचना अशक्य नहीं माना जा सकता ।

पतञ्जलि

पाणिनीय व्याकरण के उदय काल का सबसे अन्तिम ग्रन्थ पतञ्जलि-रचित 'महाभाष्य' है। यह ग्रन्थ व्याकरण-विषयक प्रौढ पाण्डित्य, गम्भीर अर्थ-विवेचन, सर्वाङ्गीण अनुशीलन तथा व्यापक दृष्टि के कारण अनुपम है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के मूल विवेचक ग्रन्थ भाष्य की ही सामान्य संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं, परन्तु अपनी पूर्वोक्त विशिष्टता के हेतु ही यह ग्रन्थ महाभाष्य के अभिधान से मण्डित किया गया है। इसके रचयिता महर्षि पतञ्जलि है।

पतञ्जलि का यह ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा उदाहरण-प्रचुर होने से नितान्त रोचक है। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'आह्निक' हैं। 'आह्निक' शब्द का अर्थ है एक दिन में अधीत अंश। यह ग्रन्थ की शैली कथनोपकथन से युक्त संवादमयी है। इसी शैली से गुरु शिष्य को विद्याभ्यास कराता है तथा पाठों को पढ़ाकर विषय को हृदयंगम बनाता है। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार अपने पाठकों को सामने प्रत्यक्ष करके पढ़ा रहा है। विषय की पूर्ति के लिए नाना विद्याओं का, विषयों का तथा व्यावहारिक शास्त्र का विवरण भी प्रसंगतः उपन्यस्त किया गया है और वह भी इतनी सुन्दरता से कि इसे समझने में परिश्रम करना नहीं पड़ता। महाभाष्य एक ग्रन्थ न होकर स्वयं एक ग्रन्थालय है। उस युग का सांस्कृतिक इतिहास पाठकों के सामने अनायास उपस्थित हो जाता है। उस युग का आचार-विचार, धर्म-कर्म, भोजन-छाजन कृषि-वाणिज्य, साहित्य-दर्शन सब कुछ पाठकों के हृत्पटल पर अङ्कित हो उठता है[1]। और इस विवरण की सहायता से मूल वैयाकरण तथ्य अत्यन्त आकर्षक तथा रोचक हो जाते हैं। संवाद-शैली महाभाष्य का निजी वैशिष्ट्य है।

देश-काल

पतञ्जलि के महाभाष्य की अन्तरंग परीक्षा से उनके देश-काल का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक महाभाष्यकार पतञ्जलि को काश्मीर-देशज

---

१. उस युग के सांस्कृतिक इतिहास के लिए द्रष्टव्य—डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री रचित 'पतञ्जलिकालीन भारत' (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२) नामक प्रौढ तथा प्राञ्जल ग्रन्थ।

मानते हैं[1], परन्तु यह नितान्त असत्य है। उनकी उक्ति है कि "महाभाष्य ३।२।११४ में 'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः। तत्र|सक्तून् पास्यामः' इत्यादि उदाहरणों में असकृत् कश्मीर-गमन का उल्लेख मिलता है। प्रतीत होता है कि कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है"। यह कथन निर्युक्तिक है। कश्मीर जाने का इच्छुक व्यक्ति वहाँ से बाहर का निवासी प्रतीत होता है। आर्यावर्त से विद्याध्ययन के लिए छात्र सर्वदा कश्मीर जाया करते थे। शारदापीठ होने से काश्मीर की विद्या तथा विद्वानों की महती ख्याति समग्र देश में थी। उसी की ओर उक्त कथन में संकेत लक्षित होता है। काशी-मण्डल का छात्र सक्तुशान तथा ओदन का नितान्त प्रेमी होता है। इसी-लिए इस कथन में वहाँ की यात्रा के लिए प्रलोभन उपस्थित किया गया है।

पतञ्जलि का परिज्ञात भौगोलिक क्षेत्र भारतवर्ष का पूर्व भाग है—काशी मण्डल से सम्बद्ध देश। वे मथुरा, साकेत, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र से भली-भाँति अभिज्ञ है। महाभाष्य में वर्णित आचार-विचार (विशेषतः भोजन तथा कृषि) इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। पतञ्जलि ने अपने युग के मनुष्यों का प्रतिनिधि 'देवदत्त' को खड़ा किया है। इसके भोजन छाजन को छानवान उसे काशिमण्डलीय सिद्ध कर रहा है। देवदत्त दही-भात का शौकीन है। सातू के पीने का वह अभ्यासी है। कोई उसे याद दिलाता है कि देवदत्त, तुम्हें मालूम है कि हम काश्मीर गये थे तथा भात खाये थे। धान के नाना प्रकारों से महाभाष्य परिचय रखता है। मगध के सुगन्धित शालि का, व्रीहि का, नीवार का संकेत महाभाष्य में बहुशः है। सक्तु पीने की प्रथा का भूरिशः उल्लेख है। सक्तु अधिकतर जौ का बनता था। दधि के साथ मिलाया सक्तु 'दधिग्रन्थ' तथा पानी के साथ 'उदमन्थ' कहलाता था। गुड़ की चाशनी में पकाया गया भूंजा धान 'गुडधाना' के नाम से प्रख्यात था। तिलकूट 'पलल' की संज्ञा धारण करता था। ब्राह्मण-भोजन में दही परोसने का प्रचलन था तथा दधिभोजन अर्थसिद्धि का आरम्भ माना जाता था (**दधिभोजनमर्थसिद्धेरादिः, ६।१।१६१ महाभाष्य**)। यह सब भोजन-व्यवस्था आज भी इस काशीमण्डल में प्रचलित है। इतना ही नहीं, 'कृषि' के प्रचार का समस्त महाभाष्यसम्मत वर्णन आज भी यहाँ प्रत्यक्ष किया जा सकता है[2]। पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित वाक्योग (मुहावरा) काशी की भोजपुरी में अक्षरशः उपलब्ध है[3]।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३१५।
२. द्रष्टव्य—पतञ्जलि कालीन भारत पृष्ठ २५१–२७१।
३. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (अष्टम सं०, १९६८) पृष्ठ २१।

महाभाष्यकार ने कृ धातु के अर्थ-प्रसंग में लिखा है कि कृधातु निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे पादौ कुरु (पैर साफ करो) तथा 'पृष्ठं कुरु' (पीठ को मीसो)। इन प्रयोगों का आज भी बनारसी बोली में प्रयोग होता है (खड़ी बोली में नहीं) 'गोडो कइली, मूड़ौ कइली, तवू काम ना भइल' (पैर साफ किया; सिर दबाया, सेवा की, परन्तु काम नहीं हुआ)। बनारसी का यह वाक्य महाभाष्य की स्पष्ट व्याख्या है तथा संस्कृत के लोकवाणी होने का समर्थक है[1]। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'एङ् प्राचां देशे' से सिद्ध प्राग्देशीय गोनर्दीय आचार्य से वे भले ही भिन्न हों, परन्तु वे काशीमण्डल के निवासी थे, काश्मीर के नहीं—इस तथ्य के मानने में सन्देह नहीं है।

महाभाष्य के अन्तरंग अनुशीलन से उसके रचनाकाल का विवरण मिलता है। पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को स्वयं यज्ञ कराने का उल्लेख किया है और इस क्रिया को 'प्रवृत्तस्याविराम' कह कर वर्तमानकालिक बतलाया है[2]। पुष्यमित्र काण्व वंश के संस्थापक ब्राह्मण राजा थे जिन्होंने बौद्ध मतानुयायी मौर्यों का नाश कर अपने वंश की स्थापना की थी और अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में दो बार अश्वमेघ यज्ञ किया था। पतञ्जलि इसी यज्ञ का निर्देश करते हैं। यह घटना ई० पू० द्वितीय शती के उत्तरार्ध में घटित हुई थी। लङ् लकार की व्याख्या में उनका कहना है कि लोकविज्ञात परोक्ष के लिए, जो प्रयोक्ता के दर्शन का विषय हो सकता है, लङ् का प्रयोग होता है[3]। यथा **अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।** फलतः यवन के द्वारा साकेत (प्राचीन अयोध्या) तथा मध्यमिका (चित्तौर के समीप 'नगरी') के अवरोध की घटना पतञ्जलि के जीवन-काल में ही सम्पन्न हुई थी। यह यवन आक्रामक 'मिनाण्डर' के ग्रीक नाम से प्रख्यात था जो बौद्ध हो जाने पर 'मिलिन्द' कहलाया। पंजाब तथा अफगानिस्तान पर वह १४२ ई० पू० के आस-पास शासन करता था। इन उदाहरणों के आधार पर महाभाष्य की रचना का काल ई० पू० द्वितीय शती का मध्य अथवा १५० ई० पू० के आसपास स्वीकार किया गया है। शुङ्गकालीन वैदिक धर्म के अभ्युदय के साथ महाभाष्य जैसे वेदज्ञानोपयोगी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की संगति

---

१. करोतिरभूत-प्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते (१।३।१ पर भाष्य)।

२. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः॥ (३।२।१२३ पर महाभाष्य)।

३. परोक्षे च लोक-विज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। (वही, ३।२।१११ सूत्र)।

भी ठीक बैठती है। फलतः इस ब्राह्मण युग में पतञ्जलि की स्थिति मानना नितान्त औचित्यपूर्ण है।

महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या न होकर उसके वार्तिकों का बृहत् व्याख्यान है। पतञ्जलि से पूर्व काल में अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी के ऊपर वार्तिकों का निर्माण किया जिनमें कात्यायन तथा सुनाग के वार्तिक मुख्य थे। इन सब के मतों का यथार्थ परीक्षण कर खण्डन-मण्डन के द्वारा पतञ्जलि ने अपनी विशिष्ट 'इष्टियों' की उद्भावना की है। महाभाष्य व्याकरण का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें व्याख्यान-मुखेन व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तरशः निरूपण किया गया है। पतञ्जलि के कथन के आधार पर ही भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' का प्रासाद प्रतिष्ठित किया तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' के निमित्त सिद्धान्तरत्नों का संकलन किया। कथन की शैली इतनी सुबोध तथा प्रसादमयी है कि तथ्यों को हृदयंगम करने में विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। यह व्याकरण के सिद्धान्तों का ही आकार नहीं है, प्रत्युत निखिल शास्त्रों के तथ्यों का प्रतिपादक महनीय ग्रन्थ है—यह इसके अध्ययन से स्पष्ट है। इसीलिये भर्तृहरि का यह यथार्थ कथन ध्यान-योग्य है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्याय बीजानां महाभाष्ये निबन्धने[1] ॥

(वाक्यपदीय २।४८६)

पतञ्जलि की संवाद-शैली

पतञ्जलि की शैली का एक निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें एक शब्द के साधुत्व के विषय में वैयाकरण तथा सूत का रोचक वार्तालाप इन शब्दों में अंकित किया गया है (२।४।५६ सूत्र पर महाभाष्य में)—

वैयाकरण—इस रथ का प्रवेता कौन है ?

---

१. प्रतीत होता है कि इसी पद्य के आधार पर महाभाष्य को 'निबन्धन' की संज्ञा प्राप्त हुई जिसका उल्लेख महाकवि माघ ने अपने इस प्रख्यात पद्य में किया है—

अनुत्सूत्र-पदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥

(शिशुपालवध २।११२)।

सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता[1] हूँ (हांकने वाला)।

वैयाकरण—'प्राजिता' तो अपशब्द है।

सूत—देवानां प्रिय (महाशय) आप प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ नहीं। यह प्रयोग इष्ट है। यही रूप अभिलषित है।

वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें बाधा पहुँचा रहा है।

सूत—आपका 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द √ सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न हुआ है; वेञ् धातु (बिनना) से नहीं। यदि आपको निन्दा अभीष्ट हो, तो 'दु:सूत' शब्द का प्रयोग करें।

इस रोचक संवाद से उस युग की भाषा, आचार तथा प्रयोग की बातें ध्यान में आती हैं। 'प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः'—सूत का वैयाकरण के लिए प्रयुक्त यह वाक्य बड़े महत्त्व का है। इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के काल में 'देवानां प्रिय' शब्द आदर तथा सम्मान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। सूत के हृदय में वैयाकरण के लिए महती श्रद्धा की भावना विद्यमान है। फलतः मूर्ख की कल्पना अभी तक इस शब्द के साथ संयुक्त नहीं हुई थी। दूसरी महत्त्व की बात है प्राप्ति तथा इष्टि का अन्तर। 'प्राप्ति' वे स्थल हैं जहाँ तक वह सूत्र जा सकता है, उस सूत्र की पकड़ में आ सकते हैं। 'इष्टि'[2] (स्वीकृति) लोक-व्यवहार में आनेवाले प्रयोगों की स्वीकृति है। प्राप्ति की अपेक्षा भाष्यकार की सम्मति में इष्टि का महत्त्व है। लोक-व्यवहार की मुहर वाला शब्द ही व्यवहार्य है तथा उचित है। भाष्यकार की यह सम्मति वैयाकरणों के लिए सर्वमान्य है। शास्त्र तथा लोक के इस तारतम्य को दिखला कर महाकवि श्रीहर्ष ने लोक को व्याकरणशास्त्र से समधिक महत्त्वशाली माना है। तभी तो चन्द्रमा के लिए 'शशी' का प्रयोग उचित होने पर भी

---

१. इस शब्द का प्रयोग माघ ने किया है—

रंहोभाजामचधुः स्यन्दनानां।
हाहाकारं प्राजितुः प्रत्यनन्दत्॥
(शि० व० १८।७)

२. जो नियम सूत्रों में दिये गये हैं, उनके अपवाद या उनसे अधिक नियम इष्टि (मंजूरी, स्वीकृति, मानना, चाहिये) कहे जाते हैं। उन्हें जानने-वाला 'इष्टिज्ञ'।

तदनुरूप 'मृगी' (मृगः अस्ति अस्य) का प्रयोग लोकबाह्य होने से अस्पृहणीय है[1]।

पतञ्जलि की भाषा

पतञ्जलि की भाषा लोक व्यवहार के उपयोग में आनेवाली है। उन्होंने अनेक शब्दों को गढ़कर तैयार किया है जिनका प्रयोग बड़ा ही अन्वर्थक तथा प्रतिपाद्य भाव को अभिव्यक्त करने वाला है। ऐसे अर्थगभित शब्द महाभाष्य में प्रयुक्त हैं जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। कतिपय शब्दों का निर्देशमात्र यहाँ किया जा रहा है—

शब्दगडुमात्रम् (शब्दों का बकवास मात्र)।

काकपेया नदी (क्षीण, छिछले जलवाली नदी)।

वहंलिट् (चलते-चलते खेत चरनेवाला बैल या पशु)।

अषडक्षीण (दो व्यक्तियों के बीच की गुप्त मन्त्रणा)

अपस्किरण[2] (बैल को सींग से भूमि कुरेदना; कुत्ते या पक्षियों द्वारा भूमि कुरेदने की क्रिया)।

उष्णक (शीघ्र करने योग्य काम को शीघ्रता से करने वाला)।

शीतक (शीघ्र करने योग्य काम को ढिलाई से करने वाला)।

आशितंगु (चरागाह, जिसकी घास गायों द्वारा चर ली गयी हो)।

पुष्पक (आँख में फुल्ली वाला व्यक्ति)।

पार्श्वक (सीधे ढंग से करने योग्य काम को कपट उपायों से करनेवाला व्यक्ति)।

समाश (= सहभोज)।

चचा (= तृणमयः पुमान्। पशुओं को डराने के लिए खेत में घास से बनायी गई आकृति)।

केशक (बालों का शौकीन व्यक्ति)।

आयःशूलिक (मृदु उपाय-साध्य कार्य को जोर-जबरदस्ती से करने वाला व्यक्ति)।

महाभाष्य में अनेक स्थलों पर जीवन की अनुभूति पर आधृत अनेक मनोरम तथा रोचक सूक्तियों और कहावतों का प्रयोग किया गया है जिससे कथन में विशेष

---

१. भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥
—नैषध २२।८४।

२. इसका प्रयोग भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—
छायापस्किरमाण-विष्किर-मुख-व्याकृष्ट कीटत्वचः।

बल मिलता है। कभी-कभी ये सूक्तियाँ सोदाहरण मिलती हैं और कभी तथ्य के प्रकटनरूप में ही। इनका उपयोग भाष्यकार ने अपने किसी कथन को तथा तर्क को पुष्ट करने के लिए किया है। दो-चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) द्विबद्धं सुबद्धं भवति।

(२) समानगुण एव स्पर्धा भवति। न ह्याढ्याभिरूपौ स्पर्धेते।

(३) पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।

(४) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

(५) नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते; न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते॥

(६) आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे (पूछा आम, बतावे इमिली)।

पतञ्जलि का जीवन-चरित

पतञ्जलि शेषनाग के अवतार थे—यही सार्वत्रिकी प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त उनके जीवन-चरित के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य है। इधर द्रविड देश के सुकवि रामभद्र दीक्षित (समय १६ शती) ने 'पतञ्जलि-चरित' नामक काव्य में भाष्यकार के जीवन के विषय में नवीन तथ्यों की उद्भावना की है। उनका कहना है कि आचार्य गौडपाद (श्री शङ्कराचार्य के दादा गुरु) भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। इसकी पुष्टि में उन्होंने एक विचित्र घटना का उल्लेख किया है। कह नहीं सकते यह कहाँ तक परम्परा से पोषित है। उधर उनसे प्राचीन विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'शंकरदिग्विजय' में श्रीशङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य को पतञ्जलि का रूपान्तर माना है[1]। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतञ्जलि का सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त के सम्प्रदाय से आचार्यों ने जोड़ा है। कारण यही सम्भावित होता है कि शब्द ब्रह्म के प्रतिपादक पतञ्जलि शब्दाद्वैतवादी थे। वे शब्द की एक तथा अभिन्न सत्ता स्वीकार करते थे। शब्द से ही सृष्टि होती है और शब्द में ही सृष्टि का विलय होता है। इसी शब्दाद्वैत-वाद के प्रतिष्ठापक होने से पतञ्जलि को अद्वैतवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया गया है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' में तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' में महाभाष्य

---

१. दृष्ट्वा पुरा निज सहस्रमुखीमभैषु-
रन्ते वसन्त इति तामपहाय शान्तः।
एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान्
अन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम्॥
—शंकरदिग्विजय ५।९५ (हरिद्वार संस्करण, १९६७)

के ही तथ्यों के आधार पर अपना सुचिन्तित सिद्धान्त-प्रासाद खड़ा किया है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यातव्य है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि

पतञ्जलि के साथ कात्यायन के सम्बन्ध को यथार्थतः समझने से दोनों के माहात्म्य का पूर्ण परिचय किसी भी आलोचक को प्राप्त हो सकता है।

(क) कात्यायन का वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है। उनसे पूर्व व्याडि ने अपने 'संग्रह' ग्रन्थ में इस स्वरूप को भली-भाँति प्रकट किया था और यह स्वाभाविक है कि उनके पश्चाद्वर्ती कात्यायन के ऊपर उनके ग्रन्थ का प्रभाव पड़े। परन्तु लक्षश्लोकात्मक 'संग्रह' के कालकवलित हो जाने से कात्यायन के वार्तिकों के साथ उसका तुलना नहीं की जा सकती और न कात्यायन को अधमर्णता की मात्रा का ही पता लगाया जा सकता। कात्यायन का प्रथम वार्तिक है सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे। और पतञ्जलि ने 'सिद्ध' शब्द के 'नित्य' अर्थ की पुष्टि में संग्रह का प्रामाण्य उपस्थित किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि कात्यायन के ऊपर संग्रह का प्रभाव मानते थे—विशेषतः उन स्थलों पर जहाँ शब्दार्थ से सम्बद्ध दार्शनिक तथ्यों का विवरण उपन्यस्त है। यह सामान्य धारणा है जिसकी पुष्टि के लिए महाभाष्य का अनुशीलन अपेक्षित है।

(ख) पतञ्जलि का महाभाष्य कात्यायन के वार्तिकों का ही विस्तृत तथा विशद व्याख्यान है। पतञ्जलि कात्यायन के पूर्ण समर्थक हैं। वे स्वयं आक्षेप तथा सन्देह को उपस्थित कर वार्तिक के समाधान को गौरवमण्डित बनाते हैं। वे स्वयं दूषण देते हैं और तब उसका निरास करते हैं। वार्तिक के सिद्धान्तों की व्याख्या में—समर्थन में अनेक प्रकार की युक्तियाँ देते हैं जिससे भाष्यकार के बुद्धि-कौशल का ही पता नहीं चलता, प्रत्युत कात्यायन के प्रति उनकी पूर्ण आस्था का भी परिचय मिलता है। यथा 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन'—इस वार्तिक के भाष्य के अनुशीलन से उनकी कात्यायन के सिद्धान्तों के प्रति भूयसी आस्था अभिव्यक्त होती है। इसमें अनेक समाधानों को देकर तथा सम्भाव्य आक्षेपों का निराकरण कर पतञ्जलि ने कात्यायन के मत को पूर्णतः पुष्ट किया है। नये-नये प्रश्नों के उत्तर में वे मूल वार्तिक के ही समस्त शब्दों का नवीन विग्रह कर समुचित समाधान करते हैं। 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' के व्याख्यान के अवसर पर पदार्थ की समस्या उठ खड़ी

---

१. संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव। —पस्पशाह्निक।

होती है कि पदार्थ आकृति है अथवा द्रव्य। इन दोनों पक्षों के समर्थन में वे 'शब्दार्थ सम्बन्धे' के दो प्रकार के विग्रह प्रस्तुत करते हैं और कात्यायन के मान्य सिद्धान्त को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। प्रत्याहाराह्निक में वर्ण की सार्थकता तथा अनर्थकता को सिद्ध करने के लिए अनेक वार्तिक हैं। इनकी व्याख्या पतञ्जलि ने उदाहरणों के द्वारा जिस मार्मिक ढंग से की है वह दर्शनीय है। उदाहरणों के वैशद्य के कारण यह प्रसंग खिल उठता है।

(ग) कात्यायन के वार्तिकों के ऊपर पतञ्जलि का महाभाष्य ही सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्यान है, प्रत्युत पतञ्जलि से पूर्व ही अन्य व्याख्याकारों ने इनके ऊपर व्याख्यायें लिखीं थीं। इन व्याख्याकारों के नाम से तो हम परिचित नहीं हैं, परन्तु इनकी सत्ता के लिए महाभाष्य ही प्रमाण उपस्थित करता है। भाष्यकार ने अपनी व्याख्या लिखने के बाद इन प्राचीन व्याख्याकारों के मत का उल्लेख 'अपरस्त्वाह' कहकर किया है[1]। इसका ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि पतञ्जलि तथा कात्यायन के बीच में समय का पर्याप्त व्यवधान है, परन्तु कितने समय का? इसका यथाथ उत्तर दुष्कर है।

(घ)-कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि वेद के विशेष मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं। वेद का उनका अध्ययन गम्भीर तथा मौलिक था—यह निष्कर्ष उनके भाष्य के अनुशीलनकर्ता को पदे-पदे उपलब्ध होता है। पस्पशाह्निक में व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों के उल्लेख के अवसर पर इसका प्रमाण उपन्यस्त है। व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त पतञ्जलि ने चार वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया है तथा उनका व्याकरणपरक अर्थ भी किया है—(१) चत्वारि श्रृंगा[2] (ऋ० ४।५८।३), (२) चत्वारि वाक् परिमिता[3] (ऋ० १।१६४।४५); (३) उत त्वः पश्यन्...... (ऋ० १०।७१।४); (४) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो (ऋ० १०।७१।२)। इनसे अतिरिक्त अन्य मन्त्र तथा अनुष्ठान-वाक्य भी इस प्रसंग में दिये गये हैं। पतञ्जलि ने वेद, वैदिक शाखा, वैदिक चरण तथा वेदाध्ययन प्रणाली पर इतनी प्रचुर

---

१. यथा पस्पशाह्निक में 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' वार्तिक का एक नवीन व्याख्यान 'अपरस्त्वाह' शब्दों के अनन्तर प्रस्तुत किया गया है।

२. यह मन्त्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है—वाज० सं० १७।९१; तैत्ति० आर० १०।१०।२; नि० १३।७।

३. यह मन्त्र अन्यत्र भी उपलब्ध है—अथर्व ९।१०।२७; तै० ब्रा० २।८।८।५; शत० ब्रा० ४।१।३।१७; नि० १३।९।

सामग्री अपने भाष्य में भर दी है कि उसके आधार पर इन विषयों का सुव्यवस्थित स्वरूप हमारे मानसपटल के सामने सद्यः खड़ा हो जाता है। वेद का इतना गम्भीर तथा विस्तृत परिचय होना सचमुच आश्चर्य की घटना है। कठ तथा कलाप शाखा से महाभाष्य का गहरा परिचय दृष्टिगोचर होता है। काठकों की प्रतिष्ठा पाणिनि के काल में भी थी जिन्हें उनकी संहिता में प्रयुक्त होने वाले 'देवायन्तः' तथा 'सुम्नायन्तः' पदों के लिए एक विशिष्ट नियम[1] बनाने की आवश्यकता पड़ी। पतञ्जलि के युग में तो कठ और कलापी की संहितायें गाँव-गाँव में पढ़ाई जाती थीं[2]। ये दोनों वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे—उस वैशम्पायन के, जिन्होंने यजुर्वेद के प्रवचन को आरम्भ किया था। जिस प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनि की कृति को महद् तथा सुविहित (सुव्यवस्थित) कहा है, उसी प्रकार कठों की संहिता को भी[3]। कठों, कलापों तथा कौथुनों की संहिता के गान तथा उनके प्रति मंगल-कामना के उल्लेख भी भाष्य में मिलते हैं[4]। इस प्रकार पतञ्जलि के महाभाष्य के अध्ययन से वेद के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का आविष्करण हो सकता है। उनके समान वेद के ज्ञाता वैयाकरण की उपलब्धि उस प्राचीन युग में भी विरल थी। इसीलिए उन्होंने वेदज्ञान के लिए व्याकरण की भूयसी उपयोगिता मानी है।

---

१. देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ७।४।३८ सूत्र के द्वारा वे दोनों पद सिद्ध होते हैं। इस सूत्र का 'यजुषि' पद इस बात का प्रमाण है कि कठशाखा यजुर्वेद के अतिरिक्त भी है। हरदत्त के अनुसार कठशाखा ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। वहाँ 'देवान् जिगाति सुम्नयुः' ऐसा 'आत्' विरहित ही प्रयोग होगा। पदमंजरी के शब्द ध्यातव्य हैं—'बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा। ततो भवति प्रत्युदाहरणम्। अनन्ता वै वेदाः' (पूर्वसूत्र की पदमञ्जरी)। 'अनन्ता वै वेदाः' हरदत्त का आश्चर्यसूचक उद्गार है जो बतलाता है कि कठशाखा का प्रख्यात सम्बन्ध तो यजुर्वेद से ही है, परन्तु ऋग्वेद में भी उस शाखा का सम्भावित अस्तित्व है। विशेष द्रष्टव्य—डा० रामशंकर भट्टाचार्य का ग्रन्थ 'पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन' पृ० १९८—२०२ (वाराणसी, १९६६ ई०)।

२. ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते (४।३।१०१)।

३. यथेह भवति पाणिनीयं महत् सुविहितमिति, एवमिहापि कठं महत् सुविहितम् (४।२।६६)।

४. नन्दन्तु कठकालापाः, वर्धन्तां कठकौथुकाः (२।४।३)।

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्

पाणिनि व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसके स्रष्टा तीन महामुनि थे—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, जो क्रम से एक दूसरे से उत्तरोत्तर थे कालक्रम से। व्याकरण सम्प्रदाय का परिनिष्ठित मत है—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् अर्थात् उत्तरोत्तर मुनि का प्रामाण्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार पाणिनि से बढ़ कर कात्यायन का तथा उनसे भी बढ़कर प्रामाण्य है पतञ्जलि का। कुछ लोग इसे भट्टोजि दीक्षित का ही अविचारित-रमणीय मन्तव्य मानते हैं, परन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्त भी जो दीक्षित से सर्वथा प्राचीन वैयाकरण हैं इसी मन्तव्य के समर्थक थे। पदमंजरी का प्रामाण्य इस विषय में स्पष्ट है। इस तथ्य के पोषक कतिपय उदाहरण यहाँ उपन्यस्त हैं—

(१) **न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४) सूत्र का तात्पर्य है कि धात्वंशलोप निमित्तक आर्धधातुक परे रहने पर इक् को गुण तथा वृद्धि नहीं होता। बेभिदिता, मरीमृजक, लोलुव आदि इसके उदाहरण हैं। परन्तु पतञ्जलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। उनका कथन है कि सर्वत्र अकार के लोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव होने से गुण-वृद्धि नहीं होगी, तब सूत्र का प्रयोग ही क्या ? आजकल समस्त वैयाकरण इस प्रत्याख्यान को ही आदर देते हैं, सूत्र को नहीं। सूत्र केवल शुद्ध अदृष्टार्थक ही माना जाता है।

(२) **न बहुव्रीहौ** (१।१।२८) सूत्र का अर्थ है कि बहुव्रीहि चिकीर्षित होने पर सर्वादि को सर्वनामता नहीं होती। इसके उदाहरण हैं **त्वत्कपितृकः (त्वं पिता यस्येति-विग्रहे)**। इस सूत्र पर पतञ्जलि को इष्टि है—**'अकच्-स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्त-संशयौ'** और इस दृष्टि के अनुसार उन्होंने अकच् घटित पद को ही मान्य बतलाया है—जिससे पूर्वोदाहृत पद होंगे **त्वकत्-पितृकः** तथा **मकत्पितृकः**। इन रूपों को सिद्ध कर महाभाष्यकार ने सूत्र का प्रत्याख्यान किया। और आज यही मत सर्वत्र मान्य है, सूत्रकार का मत नहीं।

(३) **'नामन्त्रिते समानाधिकरणे'** (८।१।७३) अष्टाध्यायी का सूत्र है जिसके अनन्तर दूसरा सूत्र है **'सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने'**। यहाँ पर दूसरे सूत्र में 'बहुवचन' इस पद की पूर्ति कर **'सामान्यवचनम्'** का प्रत्याख्यान किया गया है। और 'विशेष वचने' पद का सम्बन्ध पूर्व सूत्र में स्थापित किया भाष्यकर ने। इससे सूत्र का अर्थ हुआ 'बहुवचनान्त विशेष्य समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण परे रहने पर अविद्यमानवत् होता है विकल्प से' और यही सूत्र का अर्थ सर्वत्र मान्य होता है। **'ब्राह्मणा वैयाकरणाः'** इस लक्ष्य में उत्तर वैयाकरणपद का विकल्प से निघात सिद्ध

होता है। और 'ब्राह्मण वैयाकरणः' इस लक्ष्य में तो निघात नित्य ही होता है। इस सूत्र में 'बहुवचन' पद के प्रवेश के अभाव में एकवचनान्तादिकों का अविद्यमानवद्भाव होने पर अनिष्ट की प्रसक्ति हो सकेगी। अतएव भाष्यकार की व्यवस्था इस सूत्र में सब वैयाकरणों के द्वारा स्वीकृत की जाती है।

(४) 'उपसर्गादनोत्परः' (८।४।२८) सूत्र का अर्थ है—उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'नस्' के नकार को णत्व होता है, ओकार परभाग में नहीं होने पर। 'प्रणसः' इसका उदाहरण है। अत्र विचारणीय है—'प्रणो नय' इस लक्ष्य में ओकारपरत्व होने से णत्व सिद्ध नहीं होगा तथा 'प्र नः पूषा' इस लक्ष्य में ओकारपरत्व न होने से णत्व होगा—इस प्रकार अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति को देखकर भगवान् भाष्यकार ने सूत्र से 'अनोत् परः' इस पद को हटाकर उसके स्थान पर बहुलम् पद की योजना की है। इससे इष्ट प्रयोग की सिद्धि होती है। आज भाष्यकार की ही व्यवस्था शब्दवेत्ताओं के द्वारा समाहृत होती है।

(५) 'पदव्यवायेऽपि' (८।४।३८) पाणिनि का सूत्र है। उसका अर्थ है—पूर्व पदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त विभक्ति-स्थित 'नुम्' के नकार को णत्व नहीं होता, यदि पद से व्यवधान होवे। इसका उदाहरण 'चतुरङ्ग-योगेन' है। इस सूत्र के ऊपर कात्यायन का 'अतद्धिते इति वक्तव्यम्' यह वार्तिक है जिसका अर्थ है कि सूत्र वाला नियम तद्धित से भिन्न स्थलों में ही होना चाहिए। इसलिए 'आर्द्र-गोमयेण' पद में णत्व का निषेध नहीं होता। परन्तु इस वार्तिक का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया। उन्होंने 'पदव्यवाये' इस सूत्रस्थ पद में 'पदे व्यवायः' यही सप्तमी-समास स्वीकृत किया और इस समास स्वीकार करने पर सर्वत्र इष्ट सिद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार का यह प्रकार ही सर्वसम्मति से स्वीकृत किया जाता है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में सूत्रकार तथा वार्तिककार की अपेक्षा भाष्यकार का मत प्रशस्त माना जाता है। इसका अभिप्राय वैयाकरण सम्प्रदाय में यह नहीं है कि सूत्रकार तथा वार्तिककार का मत अप्रमाण है, प्रत्युत उत्तर मुनि के तात्पर्य में ही उनका भी तात्पर्य है। कैयट की इस विषय में स्पष्ट उक्ति है—

> पाणिनीय व्याख्यानभूतत्वेऽपि इष्ट्यादि-कथनेन
> अन्वाख्यातृत्वाद् अस्य इतरभाष्यवैलक्षण्येन महत्त्वम् ॥
>
> (प्रदीप १।१।१)

मेरी दृष्टि में भाष्यकार की इष्टियाँ उन्हें 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' वैयाकरण सिद्ध कर रही हैं। भाष्यकार ने धातुओं के अर्थ-प्रसंग के दो शब्दों का व्यवहार किया है—विद्यते

तथा इष्यते। 'विद्यते' का अर्थ है कि धातु का वह अर्थ पाणिनि द्वारा आम्नात है—निर्दिष्ट है। 'इष्यते' का तात्पर्य है कि लोकव्यवहार में उसका भिन्न ही अर्थ विद्यमान है। इसी प्रकार लोकव्यवहार में प्रचलित शब्द की सिद्धि, जो सूत्र तथा वार्तिक द्वारा कथमपि नहीं हो सकती, 'इष्टि' के द्वारा ही सम्पन्न होती है। पतञ्जलि व्यवहार को शास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने वाले वैयाकरण हैं। फलतः व्यावहारिक प्रयोगों को शास्त्र की मर्यादा में बाँधने के लिए ही पतञ्जलि ने अपनी इष्टियों का निर्माण किया। इससे उनकी अलौकिक शेमुषी तथा भाषा और व्याकरण के परस्पर सन्तुलन की दृष्टि लक्ष्य में आती है। निःसन्देह पतञ्जलि संस्कृत भाषा के प्रखर प्रतिभाशाली महनीय वैयाकरण हैं।

तृतीय खण्ड

व्याख्या-युग

पाणिनीय सम्प्रदाय का व्याख्या-युग पञ्चम शती से लेकर १४ शती तक व्याप्त है। इससे पूर्व युग में जिन दो मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उन्हीं के ऊपर व्याख्या-ग्रन्थों का निर्माण कर उन्हें सुलभ तथा बोधगम्य बनाया गया। वार्तिकों को अन्त-र्निविष्ट करने के कारण महाभाष्य ही अष्टाध्यायी के अनन्तर व्याख्या की आवश्यकता रखता था। फलतः इन्हीं दोनों के ऊपर व्याख्याग्रन्थों का निर्माण इस युग का निजी वैशिष्ट्य है। अष्टाध्यायी की अपेक्षा पातञ्जल महाभाष्य गम्भीर तथा दुरूह होने के कारण सर्वप्रथम व्याख्यान की अपेक्षा रखता था और इसीलिए इस युग में उसके ऊपर व्याख्या-ग्रन्थों की रचना हुई। अष्टाध्यायी के व्याख्या-ग्रन्थ का क्रम उसके अनन्तर प्रतीत होता है। इन्हीं दोनों ग्रन्थों की टीका-प्रटीका की रचना के कारण इस लम्बे काल को 'व्याख्या-युग' का अभिधान हम प्रदान करते हैं।

'व्याख्या-युग' का नामकरण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार प्राचीनतम सम्पूर्णवृत्ति 'काशिकावृत्ति' के निर्माण के कारण ही है, अन्यथा वृत्तियों का रचना सप्तम शती से पूर्वकाल की घटना है। काशिका ने अपने उपजीव्य ग्रन्थों में ही किसी 'वृत्ति' का निर्देश किया है[1]। इस 'वृत्ति' के विषय में पदमञ्जरी में हरदत्त ने कोई नाम निर्देश नहीं किया, परन्तु उनसे पूर्ववर्ती जिनेन्द्रबुद्धि ने इस श्लोक के अपने "न्यास' में चुल्लिभट्टि तथा निर्लूर की वृत्तियों का नाम्ना संकेत किया है। फलतः ये वृत्तियाँ काशिका से प्राचीनतर हैं, परन्तु इनमें से किसका आश्रयण काशिका में विशेषरूप से है? इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इतना ही क्यों? सूत्रवृत्ति की सत्ता पतञ्जलि महभाष्य से भी प्राक्कालीन है। उस युग में कुणि नामक आचार्य की वृत्ति नितान्त प्रख्यात थी। 'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७५) सूत्र में 'प्राचां' से क्या तात्पर्य माना जाय? इस विषय में मत-द्वैविध्य है। सामान्यरूपेण यह शब्द प्राचीनिवासियों का ही वाचक माना गया था ('काशिका' को भी यही स्वीकार्य है) परन्तु कुणि की सम्मति में यह शब्द प्राक्देशीय आचार्यों

---

१. वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनाम-पारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः॥
—काशिका का प्रथम श्लोक।

का संकेतक है तथा इस सूत्र में व्यवस्थित विभाषा भी है।[1] कुणि के इस मत को पतञ्जलि ने भी माना है। इस तथ्य का परिचय हमें इस सूत्र के प्रदीप में कैयट के शब्दों से वैशद्येन उपलब्ध होता है[1]। फलतः कुणि की पतञ्जलि से प्राक्कालीनता निःसंदिग्ध है।

इतने से सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सूत्रकार पाणिनि ही प्रथम वृत्तिकार भी प्रतीत होते हैं। वह वृत्ति तो आज उपलब्ध नहीं, परन्तु मान्य वैयाकरणों के उल्लेख इस तथ्य के मानने में प्रमाण माने जा सकते हैं। स्वयं महाभाष्यकार के वचन इस विषय में प्राचीनतम निर्देश माने जा सकते हैं। आ कडारादेका संज्ञा (१।४।१) सूत्र के पाठ के विषय में सन्देह उठाया गया है महाभाष्य में। और उत्तर है कि इस सूत्र के दो रूप हैं—आ कडारादेका संज्ञा तथा प्राक् कडारात्परं कार्यम्। और यह आचार्य के प्रामाण्य पर ही स्वीकार्य माना गया है—'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिता केचिदा कडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति'; महाभाष्य के ये वचन नितान्त स्पष्ट हैं।

काशिका ने अनेक सूत्रों की दो प्रकार की व्याख्यायें दी हैं और इसके लिए आचार्य को ही प्रमाण माना है। ५।१।५० सूत्र (तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः) पर दो प्रकार के अर्थ तथा दो प्रकार की शब्दसिद्धि दिखला कर काशिका कहती है—

सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। तदुभयथापि ग्राह्यम् (काशी सं०, चतुर्थ भाग, पृ० ५५)। ५।१।९४ सूत्र (तदस्य ब्रह्मचर्यम्) में इसी प्रकार व्याख्या के दो प्रकार हैं। एक के अनुसार प्रत्यय का अर्थ ब्रह्मचारी है और दूसरे के अनुसार ब्रह्मचर्य प्रत्ययार्थ है। ये दोनों अर्थ प्रमाण हैं दोनों प्रकार के सूत्र प्रणयन से—

> पूर्वत्र ब्रह्मचारी प्रत्ययार्थः। उत्तरत्र ब्रह्मचर्यमेव।
> उभयमपि प्रमाणम्। उभयथा सूत्र-प्रणयनात्[2] (काशिका)॥

---

१. कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्य-निर्देशार्थं व्यवस्थित-विभाषार्थं च व्याख्यातम्......भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रयत् (१।१।७५ पर भाष्यप्रदीप)। पदमंजरी में भी यही मत स्वीकृत है।

२. इस वाक्य का अर्थ दोनों टीकाकारों के अनुसार एक समान ही है। उभयस्मिन्नपि ह्यर्थे सूत्रमेतद्-आचार्येण प्रणीतम्। द्वयमपि प्रमाणम् (न्यास)। उभयोरप्यर्थयोः सूत्रकारेणैव सूत्रस्य व्याख्यातत्वात् (पदमंजरी)।

अष्टाध्यायी का १।१।४५ सूत्र (इग् यणः सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण संज्ञा का विधान करता है। इस सूत्र के तात्पर्य के विषय में दो मत हैं (जिसका उल्लेख काशिका करती है)। एक के अनुसार वाक्यार्थ की संज्ञा सम्प्रसारण है और दूसरे के अनुसार यण् के स्थान में होने वाले इक् (वर्ण) की ही वह संज्ञा है। काशिकाकार ने इस द्वैविध्य के लिए प्रमाण नहीं दिया, परन्तु भर्तृहरि पाणिनि को ही इसका उत्थापक मानते हैं—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। केचिद् वाक्यस्य, केचिद् वर्णस्य[1]।

सारांश है कि भर्तृहरि के मत में आचार्य पाणिनि ने ही अपने शिष्यों को यह दो प्रकार का व्याख्यान दिया था। किन्हीं को वाक्य का ही सम्प्रसारण बतलाया था और किन्हीं को वर्ण को ही।

निष्कर्ष यह है कि काशिका, भर्तृहरि तथा पतञ्जलि जैसे प्राचीन आचार्यों के पूर्वोक्त उद्धरणों से हमें पता चलता है कि पाणिनि ने स्वयं ही अपने सूत्रों का प्रवचन कर शिष्यों को तात्पर्य समझाया था। फलतः सूत्रकार को ही प्रथम वृत्तिकार मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इस विषय में सम्प्रदाय की अक्षुण्णता अवलोकनीय है।

महाभाष्य की 'विपुल' टीका सम्पत्ति में तीन व्याख्यायें मुख्य तथा लोकप्रिय हैं—(१) भर्तृहरि रचित 'महाभाष्य दीपिका'; (२) कय्यट कृत 'महाभाष्य प्रदीप' तथा तदुपरि (३) नागेश निर्मित प्रदीपोद्योत। अष्टाध्यायी की व्याख्यायों (वृत्तियां) में मुख्य ये हैं—(१) जयादित्य तथा वामन रचित काशिका वृत्ति, जिसके गम्भीर अर्थ की व्याख्या जिनेन्द्र बुद्धि ने 'काशिका विवरण पञ्जिका (प्रख्यात अभिधान 'न्यास') में तथा हरदत्त ने पदमञ्जरी में की; (२) अज्ञातनामा आचार्य की 'भागवृत्ति' (३) पुरुषोत्तम देव की 'भाषा वृत्ति', (४) शरणदेव की 'दुर्घट वृत्ति' तथा (५) भट्टोजि दीक्षित कृत 'शब्द कौस्तुभ'। इस प्रकार व्याकरण के व्याख्या-युग के सर्व-प्राचान आचार्य भर्तृहरि हैं।

भर्तृहरि

पाणिनीय सम्प्रदाय में भर्तृहरि के समान अशेष-तत्त्व-निष्णात वैयाकरण मिलना दुर्लभ नहीं, नितान्त असम्भव है। पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में व्याकरण के दार्श-

---

१. यह वचन उद्धृत है संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पृ० ४०४ पर।

निक पक्ष का जो रहस्य उद्घाटित किया है, उन्हीं से प्रेरणा तथा स्फूर्ति ग्रहण कर भर्तृहरि ने अपना अलौकिक पाण्डित्य-मण्डित ग्रन्थ लिखा जो वाक्य तथा पद के रहस्यों का यथाविधि उद्घाटन करने के हेतु 'वाक्यपदीय' के नाम से प्रख्यात है। पतञ्जलि की वैयाकरण-वैदग्धी के समीप तक जाने की योग्यता भर्तृहरि में निःसन्देह है। इनके देश-काल का यथार्थ परिचय उपलब्ध नहीं। पुण्यराज के प्रामाण्य पर इनके गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिंग के निराधार तथा भ्रान्त उल्लेखों ने विद्वानों में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। ये वैदिक धर्मानुयायी थे। इसका परिचय वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। जो व्यक्ति धर्म की व्यवस्थिति के लिए तर्क से अधिक महत्त्व आगम—वेद-को देता है[1] और जो तर्क की मर्यादा को वेद तथा शास्त्र के अविरोधी होने पर ही मान्यता देता है[2], वह क्या बुद्धमतानुयायी कथमपि माना जा सकता है? गणरत्न-महोदधि के कर्ता जैन वर्धमान सूरि भर्तृहरि को वेदज्ञों का अलंकारभूत मानता है (वेदविदामलङ्कार-भूतः)[3] काश्मीरी दार्शनिक उत्पलाचार्य ने भी इनके किसी मत को बौद्धमत के साथ साम्य दिखलाया है। फलतः ग्रन्थ की अन्तरग तथा बहिरंग परीक्षा से ये निश्चित रूप से प्रौढ़ वैदिकमतानुयायी सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

भर्तृहरि-निर्मित महाभाष्य-व्याख्या को महाभाष्य की उपलब्ध टीकाओं में सर्व-प्राचीन मान सकते हैं, परन्तु प्रथम टीका नहीं, क्योंकि इसमें प्राचीन भाष्य-व्याख्यायों[4] का बहुशः उल्लेख है, नाम्ना नहीं, केवल 'अन्ये' 'अपरे' शब्दों के द्वारा ही। विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में इसके उद्धरण सिद्ध करते हैं कि भर्तृहरि ने समग्र महाभाष्य पर टीका लिखी थी,[5] परन्तु आज उपलब्ध है केवल त्रिपादी की व्याख्या ही। वर्धमान भर्तृहरि को महाभाष्य त्रिपादी का ही व्याख्याता मानता है—भर्तृहरिर्वाक्यपदीय-प्रकीर्णयोः

---

१. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
(वाक्यपदीय १।४६)।

२. वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
(वही १।१३६)।

३. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२२।

४. भाष्यकारस्याभिप्रायमेतं व्याख्यातरः समर्थयन्ते।
(दीपिका का वचन)

५. द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग (पृष्ठ ३५४–३५५) अजमेर सं० २०२०।

कर्ता महाभाष्य-त्रिपाद्या व्याख्याता च। प्रतीत होता है कि विक्रम की १२ शती में, जब वर्धमानने अपने 'गणरत्नमहोदधि' का निर्माण किया, महाभाष्य-दीपिका की 'त्रिपादी' ही अवशिष्ट रह गई थी। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि की यह टीका पतञ्जलि के गूढ़ रहस्यों की उद्घाटिनी है।

वाक्यपदीय

'वाक्यपदीय' में तीन काण्ड हैं। इनमें से वाक्यपदीय कितने अंश का नाम है? इस विषय में प्राचीन वैयाकरणों में तथा टीकाकारों में भी ऐकमत्य नहीं है। इस वैमत्य के कारण का यथार्थ पता नहीं चलता। 'गणरत्न-महोदधि' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणेता वर्धमान भर्तृहरि को वाक्यपदीय तथा प्रकीर्ण का कर्ता मानता है (भर्तृहरि-वाक्यपदीय-प्रकीर्णयोः कर्ता) अर्थात् तृतीय काण्ड के प्रकीर्ण काण्ड होने के कारण उसकी दृष्टि में प्रथम तथा द्वितीय काण्ड का ही अभिधान 'वाक्यपदीय' सुसंगत है। प्रकीर्ण काण्ड का टीकाकार हेलाराज प्रथम काण्ड का उल्लेख वाक्यपदीय नाम्ना करता है। इससे यही सूचित होता है कि वह वाक्यपदीय को प्रकीर्ण काण्ड से पृथक् तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ मानता है। इस मत की सत्ता रहने पर भी हमें यही उचित प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण त्रिकाण्डी का ही नाम 'वाक्यपदीय' है, केवल प्रथम-द्वितीय काण्ड का नहीं।

इस मत की स्थापना का बीज हेलाराज की वृत्ति से भली-भाँति उपलब्ध होता है। ध्यान देने की बात है कि वैयाकरणों के अनुसार व्यवहार में उपयोगी होने से वाक्य ही प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण होता है। भाषा की वाक्य ही मुख्य इकाई है जिसके विश्लेषण करने पर हम पदों की सत्ता पर पहुँच जाते हैं। किसी भी व्यक्ति को घड़े के लाने में प्रवृत्त कराने तथा उस कार्य से निवृत्त कराने वाला वाक्य 'घटमानय' तथा 'घटं माऽऽनय' ही भाषाशास्त्रीय दृष्टि से मुख्यता रखता है। इन वाक्यों के अपोद्धार से ही तद्घटक पदों की सत्ता हमें उपलब्ध होती है। इस प्रकार वाक्य की ही मुख्यता होती है और तदवयवभूत होने से पद की गौणता होती है। इस तथ्य की ओर भर्तृहरि ने स्वयं संकेत किया है तृतीय काण्ड के आरम्भिक पद्य में—

> द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा।
> अपोधृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥

फलतः तृतीय काण्ड का ही समुचित अभिधान है—पद-काण्ड। विषयों के वैभिन्य के कारण ही उसे प्रकीर्ण काण्ड के लोकप्रिय नाम से अभिहित करते हैं, परन्तु यथार्थतः वह पदकाण्ड ही है। द्वितीय काण्ड का विषयानुसारी नाम है—वाक्य-काण्ड और

इन काण्डों की भूमिका के रूप में आता है प्रथम काण्ड जिसमें व्याकरण-सम्मत मूल तथ्य शब्दब्रह्म-का विमर्श प्रौढि के साथ, परन्तु बड़े वैशद्य से, संक्षेप में किया गया है। वेद के स्वरूप का प्रतिपादन भी इसमें है। फलतः आगम काण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड के नाम से अभिधीयमान यह काण्ड पूरे ग्रन्थ के लिए भूमिका-प्रस्तावना का काम करता है। इस प्रकार इन तीनों काण्डों में परस्पर सुसंगति है तथा पौर्वापर्य का समुचित व्यवस्थापन है। इसलिए उचित यही प्रतीत होता है कि तीन काण्डों को मिलाकर 'वाक्यपदीय' नाम चरितार्थ होता है। फलतः तृतीय काण्ड मूल ग्रन्थ का अविभाज्य अंग है। उसे पृथक् काण्ड के रूप में मानना कथमपि न्याय्य तथा समुचित नहीं प्रतीत होता। वाक्य तथा पद—यही व्याकरण-सम्मत पौर्वापर्य है और इसीलिए इन दोनों के प्रतिपादक ग्रन्थ का समुचित अभिधान 'वाक्यपदीय' सर्वथा सुसंगत है।

तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय का अङ्ग मानने में हमने ऊपर जो अपना मत व्यक्त किया है उसकी सम्पुष्टि पुण्यराज के व्याख्यान से भी होती है। जैसे कि—

"वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद् वस्तुमात्रमुदाहृतम्।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा॥"
(वा० प० २।४८५)

इस कारिका पर टीका करते हुए उन्होंने कहा है—

"अत्रास्मिन् वाक्यकाण्डे काण्डद्वये वा केषाञ्चिदेव न्यायवर्त्मनां वस्तुमात्रं बीजमात्रं प्रदर्शितमेव। शिष्टे तु तृतीयेऽस्य ग्रन्थस्य पदकाण्डद्वयनिष्यन्दभूते न्यक्षेण आदरविशेषेण स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तवर्तिनां विचारणा युक्तायुक्तविचारपूर्वकनिर्णीतिर्भविष्यति। ततो नायमेतावान् व्याकरणागमसङ्ग्रह इति" (पृ०५७६)।

इस व्याख्यान से तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय ग्रन्थ का ही विशिष्ट भाग माना जा सकता है, क्योंकि व्याकरण का विवक्षित विषय दो काण्डों में पूर्णरूपेण वर्णित नहीं हुआ है। प्रकीर्ण विषयात्मक इस तृतीय काण्ड का पूर्ववर्ती दो काण्डों में अन्तर्भाव नहीं होता; ऐसा कहने का एकमात्र तात्पर्य है कि तीनों काण्डों को ही वाक्यपदीय यह नाम देना चाहिए। इस विषय में हम विशिष्ट विद्वानों के ही निर्णय को प्रमाण मान सकते हैं।

भर्तृहरि का देश

अब हम वाक्यपदीयकार आचार्य श्री भर्तृहरि के देश और काल पर विचार उपस्थापित करते हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को अनेक व्याकरण-ग्रन्थों में तथा तदितर शास्त्रीय ग्रन्थों में भी अनेक बार भर्तृहरि, हरि, और हरिवृषभ इन तीन नामों से उद्धृत किया गया है। प्रबल प्रमाण के अभाव में केवल यही निश्चयेन नहीं कहा

जा सकता कि वैयाकरणाग्रणी महात्मा भर्तृहरि भारतवर्ष के किस स्थान में किस समय उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनके जीवन-चरित के विषय में भी कुछ न कहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य भर्तृहरि ने न तो मूलकारिकाओं में, न प्रथम काण्ड की सम्पूर्ण स्वोपज्ञ वृत्ति में और न द्वितीय काण्ड की विच्छिन्न रूप में उपलब्ध स्वोपज्ञ वृत्ति में ही कहीं कोई निर्देश या संकेत किया है। अधिक क्या, भर्तृहरि ने अपने गुरु के भी नाम का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित कारिका-वचन से यही सिद्ध होता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की मूल कारिकाओं को अपने गुरु से ही सुनकर संगृहीत किया था। कारिका यह है—

"न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्,
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसङ्ग्रहः"।
(वा० प० २।४८४)

"पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः,
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।"
(वा० प० २।४८३)।

इस कारिका के व्याख्यानावसान में—

"अथ कदाचिद् योगतो विचार्य तत्रभगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः सञ्ज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्याऽस्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वक्रममभिधातुमाह— न्यायप्रस्थानेति" (संस्कृत वि० वि० संस्करण वाले ग्रन्थ के ५७४ पृष्ठ पर पुण्यराज की वृत्ति)। इस पुण्यराज के वक्तव्य से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि के गुरु का वसुरात यह नाम था। इन्हीं महात्मा वसुरात ने वाक्यपदीय के मूलभूत व्याकरण-शास्त्रीय पदार्थों का संग्रह किया था, इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

यद्यपि भर्तृहरि ने अपने जन्मस्थानादि का निर्देश नहीं किया है, तथापि किन्हीं सम्भावित विशुद्ध प्रमाणों के आधार पर हमें यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के पूर्व पुरुषों का निवास स्थान काश्मीर देश था। कारण यह है कि वाक्यपदीय यह शब्द "शिशुक्रन्द-यमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः" (अष्टाध्यायी ४।३।८८) सूत्र के द्वन्द्व समास से 'छ' प्रत्यय के उदाहरण रूप में सर्वप्रथम काशिका में उपन्यस्त हुआ है। काशिका शब्द की व्युत्पत्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त ने 'काशिषु भवा' यह की है। ऐसी प्रसिद्धि है कि काशिका ग्रन्थ के रचयिता वामन तथा जयादित्य काश्मीर देश के ही रहने वाले थे। स्वभावतः किसी ग्रन्थकार के द्वारा समीपवर्ती ही किसी अन्य ग्रन्थकार का परिचय दिया जाता है। अतः काश्मीर-निवासी वामन एवं जयादित्य के द्वारा जो वाक्यपदीय ग्रन्थ का नाम्ना प्रथम परिचय काशिका में प्रस्तुत किया गया है, इससे

यह सम्भावना की ही जा सकती है कि भर्तृहरि के साथ वामन और जयादित्य का अत्यन्त घनिष्ठ तथा निकट देशज सम्बन्ध था।

द्वितीय प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि काश्मीर-वास्तव्य कुछ शैवमता-नुयायी आचार्यों ने भर्तृहरि की कारिकाओं को कहीं पर खण्डन करने के उद्देश्य से तथा कहीं पर अपने मत का समर्थन करने के उद्देश्य से उद्धृत किया है। इन शैवाचार्यों ने भर्तृहरि की केवल कारिकाओं पर ही नहीं किन्तु प्रथम काण्ड की स्वोपज्ञ वृत्ति पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। स्वोपज्ञवृत्तिस्थ कारिकाओं एवं किन्हीं विशिष्ट लक्षणों पर भी इन तन्त्रशास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों ने आलोचना की है। जैसे—

(क) आचार्य सोमानन्द (८८० ई०) ने अपने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ के द्वितीय आह्निक में जहाँ पर वैयाकरण-समस्त शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है, उस प्रसंग में "अनादिनिधनं ब्रह्म" (वा० प० १।१) तथा "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके" (वा० प० १।१२३) इन दो कारिकाओं को उद्धृत किया है। किञ्च भर्तृहरि-विरचित समझ कर—

> "अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा,
> स्वरूपज्योतिरेवाऽन्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।"

इस कारिका का भी उल्लेख किया है।

वस्तुतः यह कारिका भर्तृहरि-विरचित नहीं है, क्योंकि १।१४२ कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में भर्तृहरि ने किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धरण रूप में इस कारिका का निर्देश किया है।

(ख) आचार्य सोमानन्द के साक्षात् शिष्य श्री उत्पलाचार्य (९२५-९५० ई०) 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ की व्याख्या में आचार्य भर्तृहरि की कारिका तथा स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख करते हैं। साथ ही "अनादिनिधनं ब्रह्म" (वा० प० १।१) कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में उपन्यस्त विवर्त के लक्षण को भी उद्धृत करते हैं। विवर्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः।"

विद्वानों को यह विदित होना चाहिए कि भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ग्रन्थ के व्याख्याता हेलाराज और पुण्यराज का अभिजन काश्मीर देश ही था। इनमें दशम शताब्दी (९५० ई०) के मध्य में होने वाले व्याख्याकार हेलाराज शैवाचार्य श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। इन्होंने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या की है जिसमें प्रमेय पदार्थों के विवक्षित रहस्य को सरल ढंग से बताया गया है। इस समय

तृतीय काण्ड की प्रसिद्ध 'प्रकाश' नामक व्याख्या मुद्रित रूप में उपलब्ध होती है। 'पूर्ववर्ती ब्रह्मकाण्ड और वाक्यकाण्ड पर इन्होंने व्याख्या की थी' ऐसा इनके ही द्वारा किये गए स्पष्ट निर्देश से ज्ञात होता है। परन्तु काल के प्रभाव से इस समय उसका नाम भी सुनाई नहीं पड़ता है तो फिर उसके प्राप्ति की चर्चा ही कैसे की जा सकती है। इसी प्रकार पुण्यराज का भी अभिजन काश्मीर देश ही माना जाता है।

उपरि प्रदर्शित प्रमाणानुसार काश्मीरक जयादित्य (छठी शताब्दी) के द्वारा काशिका में वाक्यपदीय ग्रन्थ का प्रथम नामोल्लेख किए जाने से, सोमानन्द (९वीं शताब्दी) प्रभृति प्राचीन काश्मीरक शैवाचार्यों के द्वारा वाक्यपदीय ग्रन्थ की कारिकाओं उद्धृत किए जाने से एवं काश्मीरक हेलाराज तथा पुण्यराज के द्वारा इस ग्रन्थ की व्याख्या किए जाने से यह अनुमान किया जा सकता है कि वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि का अभिजन काश्मीर देश ही था। इस विषय में प्रस्तावित मत की सम्पुष्टि के लिए अन्य भी प्रमाण अपेक्षित हैं।

भर्तृहरि का काल

आचार्य भर्तृहरि का समय भी अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। वाक्यपदीय की अन्तरंग परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्य में वर्णित विषय के रहस्य को समझकर व्याकरणशास्त्र को अनेक शाखाओं में विभक्त किया। कहा भी गया है—

"पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः,
स नीतो बहु-शाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।"

(वा० प० २।४८९)।

इस कारिका में भर्तृहरि के द्वारा निर्दिष्ट चन्द्राचार्य का देश और काल प्रमाणाभाव से निश्चित नहीं किया जा सकता। कल्हण ने राजतरंगिणी में व्याकरण-प्रणेता चन्द्राचार्य का इस प्रकार स्पष्ट स्मरण किया है—

"चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम्,
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्।"

(राजतरंगिणी १।१७६)।

उपर्युक्त वाक्यपदीय तथा राजतरंगिणी इन दोनों ग्रन्थों में नामतः निर्दिष्ट चन्द्राचार्य एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। कविवर कल्हण के वचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य ने अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी बनाया था।

व्याकरणशास्त्र के वाङ्मय में पाणिनीय-व्याकरण से भिन्न क्रम का अनुसरण करने वाला चन्द्रगोमि-प्रणीत चान्द्र-व्याकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध-सम्प्रदाय में 'गोमिन्' शब्द का प्रयोग अतिशय पूज्य-भाव को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि वाक्यपदीय तथा राजतरंगिणी में चन्द्रगोमी के लिए ही चन्द्राचार्य का निर्देश किया गया है। चन्द्राचार्य का जन्म-समय किसी स्वतन्त्र प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण आचार्य भर्तृहरि के भी जन्म-समय में निःसन्देह रूप से कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

(क) मैंने पहले यह कहा है कि काशिका में ही सर्वप्रथम वाक्यपदीय ग्रन्थ का नामतः निर्देश उपलब्ध होता है। इससे इतना तो निश्चित ही है कि काशिका की रचना के पूर्व वाक्यपदीय ग्रन्थ की रचना हुई थी। किञ्च काशिका में "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" (अष्टा० १।३।१३) सूत्र की व्याख्या में "संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः" (किरातार्जुनीय ३।१४) इस किरातार्जुनीय काव्य के श्लोकांश को उद्धृत किया गया है। अतः काशिका की रचना 'भारवि' (४५० ई०) के पश्चात् ही की गई मालूम होती है। इस काशिका-ग्रन्थ का निर्माण-काल अनुमानतः यदि ४७५ ई० माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस समय से पूर्व ही भगवान् भर्तृहरि हुए थे।

(ख) शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री हरिस्वामी "वाग्वा अनुष्टुब् वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति" (श० प० ब्रा० १।३।२।१६) इस अंश का व्याख्यान करते हुए अपने अभीष्टार्थ की सम्पुष्टि में पहले मनुवचन को तदनन्तर तैत्तिरीयोपनिषत् के "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः (सम्भूतः)" इस वाक्य को प्रमाणरूप में उद्धृत करने के बाद कहते हैं—

"अन्ये तु शब्दब्रह्मं वेदं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया इत्यत आहुः।"

इस प्रकार प्रदर्शित उद्धरण-क्रम से ज्ञात होता है कि—"विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" (वा० प० १।१) कारिका के रचयिता आचार्य भर्तृहरि हरिस्वामी के समय से अधिक पूर्वकालिक नहीं हो सकते। अतः अनुमानतः हम यह कह सकते हैं कि भर्तृहरि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री हरिस्वामी के निकट पूर्ववर्ती आचार्य थे।

(ग) प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य दिङ्नाग भोट भाषा में लिखे गए (संस्कृत भाषा में अनुपलब्ध) अपने त्रैकाल्यपरीक्षा नामक ग्रन्थ में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति को भोटभाषा में परिणत करके इस प्रकार लिखते हैं—

"अथ विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः,
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।

तदेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया,
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तते।"

(डेक्कन कालेज सं०, 'सवृत्ति वाक्यपदीयम्', पृ० १३–१४, श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, पूना १९६६)।

अतः आचार्य दिङ्नाग से आचार्य भर्तृहरि अवश्य ही पूर्वभावी सिद्ध होते हैं। प्राचीन इतिहासवेत्ता आचार्य दिङ्नाग का समय ५०० ई० मानते हैं।

उक्त तीन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ४०० ई० से लेकर ४५० ई० पर्यन्त समयावधि में उत्पन्न हुए थे। अतः सामान्य रूप से यही समय आचार्य भर्तृहरि का निश्चित करना संगत प्रतीत होता है।[1]

कारिकाओं की संख्या

कारिकारात्मक वाक्यपदीय ग्रन्थ में ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड एवं पदकाण्ड यह तीन भाग हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण में भर्तृहरि की ही नहीं, अपि तु उनके गुरु आचार्य श्री वसुरात की भी कुशलता परिलक्षित होती है। आचार्य भर्तृहरि की निर्माण-कुशलता का द्योतक यह ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय से बहिर्भूत स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। किन्तु आचार्य वसुरात के द्वारा प्रयोज्य यह व्याकरणागम प्राचीन व्याकरण की परम्परा का अनुयायी है। इसकी कारिकाओं का स्वरूप तथा उनकी संख्या इत्यादि का निर्णय अनेक हस्तलेखों के अनुसन्धानात्मक अनुशीलन पर आधारित है। ऐसा देखा जाता है कि अभ्यंकर–लिमये द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में १५६ कारिकाएँ हैं, परन्तु श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित वृत्ति-पद्धतियुक्त वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में १४७ ही कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसमें उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि १०८वीं कारिका से लेकर ११५वीं कारिका तक जो ८ कारिकाएँ अन्यत्र देखी जाती हैं वे ग्रन्थकार के द्वारा अपने मत की सम्पुष्टि के लिए किसी अज्ञात ग्रन्थ से प्रमाणरूप में उद्धृत की गई हैं। सम्पादक महोदय के इस मत का समर्थन स्वोपज्ञवृत्ति के उपोद्घात से भी होता है। इसी प्रकार कोई भी विवेचक हस्तलेखादि की सहायता से तीनों वृत्तियों का सम्यक् परिशीलन करके मूल कारिकाओं की संख्या तथा उनके स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ हो सकता है। और ऐसा निर्णय भर्तृहरि की कारिकाओं के वास्तविक तात्पर्यार्थ को समझने में विशेष उपयोगी होगा। परन्तु इस कार्य-सम्पादन के लिए अधिक से अधिक प्रयास अपेक्षित है।

---

1. भर्तृहरि के समय के सम्बन्ध में अभ्यंकर-लिमये द्वारा पूना से १९६५ ई० में संपादित वाक्यपदीय ग्रन्थ की भूमिका पृ० १२–१३ देखनी चाहिये।

अब हम पुण्यपत्तन (पूना) से प्रकाशित वाक्यपदीय में उल्लिखित कारिकाओं[1] की संख्या प्रस्तुत करते हैं। जो इस प्रकार है—

(क) प्रथम (ब्रह्म) काण्ड में १५६ कारिका।

(ख) द्वितीय (वाक्य) काण्ड में ४८७।

(ग) तृतीय (पद) काण्ड अथवा प्रकीर्णक काण्ड में—

(१) जाति समुद्देश में	१०६ कारिका
(२) द्रव्य समुद्देश में	१८
(३) सम्बन्ध समुद्देश में	८८
(४) भूयोद्रव्य समुद्देश में	३
(५) गुण समुद्देश में	९
(६) दिक् समुद्देश में	२८
(७) साधन समुद्देश में	१६७
(८) क्रिया समुद्देश में	६४
(९) काल समुद्देश में	११४
(१०) पुरुष समुद्देश में	९
(११) संख्या समुद्देश में	३२
(१२) उपग्रह समुद्देश में	२७
(१३) लिङ्ग समुद्देश में	३१
(१४) वृत्ति समुद्देश में	६२७
	१३२३

ऊपर के प्रदर्शित क्रम से तीनों काण्डों की समग्र कारिका-संख्या १९६६ होती है। पूना से प्रकाशित संस्करण में पद्य द्वारा तृतीय काण्ड के समुद्देशों का नाम इस प्रकार बताया गया है—

---

१. संख्यैषा श्री अभ्यङ्कर-आचार्य लिमये महाभागाभ्यां सम्पादित वाक्यपदीयानुसारिणी वर्तते। पूना विश्वविद्यालयात् १९६५ ई० वर्षे प्रकाशितमेतद् संस्करणं नानोपयोगिसामग्रीसंवलितं प्रामाणिकं पाण्डित्यमण्डितं चेति नास्त्यत्र सन्देहः। एतदर्थं सम्पादकमहाभागयोरुपकारततिं प्रदर्शयन्ति वाक्यपदीयरहस्यजिज्ञासवः सर्वे विद्वांसः।

"जातिर्द्रव्यं च सम्बन्धो भूयोद्रव्यं गुणस्तथा,
दिक् साधनं क्रिया कालः पुरुषो दशमः स्मृतः।
संख्या चोपग्रहो लिङ्गं वृत्तिः पुनरिति स्मृता"।

टीका-सम्पत्ति

प्रथम काण्ड की टीका

दार्शनिक विषय का वर्णन करने वाली काण्डत्रयात्मक इस वाक्यपदीय ग्रन्थ के मुख्य भाग की कारिकाएँ, जिनमें प्रमेय पदार्थों का तथा परिभाषिक शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग हुआ है, क्या बिना ही व्याख्यान के अपना गम्भीर रहस्य किसी विद्वान् को भी बताने में समर्थ होंगी ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक स्वर में ही देना होगा। यही कारण है कि कारिकाओं को इस दुर्ज्ञेयता को सरलतापूर्वक समझाने के लिए स्वयं आचार्य भर्तृहरि ने ही आदि के दो काण्डों पर स्वोपज्ञ वृत्ति बनाई है। उसमें प्रथम काण्ड (ब्रह्म या आगम काण्ड) को स्वोपज्ञवृत्ति का प्रकाशन श्री चारुदेव शास्त्री ने अपने महान् प्रयत्न से किया है। यह वृत्ति वाक्यपदीय के रहस्य को जानने की इच्छा करने वाले विद्वानों के लिए परमोपकारिणी है। इस स्वोपज्ञवृत्ति के ही आधार पर काश्मीरक हेलाराज ने प्रथम काण्ड की व्याख्या की थी। तृतीय काण्ड के 'प्रकाश' नामक व्याख्यान में वह स्वयं कहते हैं—

"काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थ-सतत्त्वतः,
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः।
तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन् सप्रपञ्चे स्वरूपतः,
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते"।

यहाँ प्रथमश्लोकोक्त 'यथावृत्ति' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें वृत्तिशब्द स्वोपज्ञवृत्ति का ही द्योतक है। आदि के दो काण्डों पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति बनाई थी, जिसको आधार मानकर ही हेलाराज ने अपनी वृत्ति की रचना की। तृतीय काण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति का परिचय हेलाराज ने कहीं पर भी नहीं दिया है, इससे मेरा ऐसा विश्वास है कि तृतीय काण्ड पर भर्तृहरि नें स्वोपज्ञवृत्ति की रचना नहीं की थी। यदि ऐसा होता तो उसका उल्लेख निश्चय ही उक्त पद्य में किया जाता। ब्रह्मकाण्ड पर हेलाराज के द्वारा प्रणीत वृत्ति का नाम शब्द-प्रभा था; ऐसा हेलाराज के वचन से ही सिद्ध होता है। जैसे—

(क) 'क्रमाख्या कालशक्तिर्ब्रह्मणो जन्मवत्सु पदार्थेषु जन्मादिक्रियाद्वारकमेव पौर्वापर्येणावभासोपगमविधायिनी, नापरो द्रव्यभूतः कालः।

---

१. डेक्कन कालेज पूना, वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, हेलाराज वृत्ति सहित, १९६३, पृ० ४४-४५।

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः,
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः।
(वा० प० १।३)।

इत्यत्र शब्दप्रभायां निर्णीतोऽयमर्थः।

(ख) ज्ञानं त्वस्मद्विशिष्टानां तासु सर्वेन्द्रियं विदुः,
अभ्यासान्मणिरूप्यादि-विशेष्येष्विव तद्विदाम्।
(वा० प० ३।१।४६)।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए हेलाराज ने स्वरचित शब्दप्रभा का नामोल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—

"तदेवागमप्रामाण्यमाश्रित्य सर्वज्ञसिद्धिरत्र सूचिता पूर्वार्धेन। विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्।"

दुर्भाग्यवश यह शब्दप्रभा भी आज उपलब्ध नहीं है। यदि कहीं पर इसका हस्तलेख मिल जाय, तो वाक्यपदीय का गूढार्थ समझने में विद्वानों को सरलता हो जाय। और यह विषय उनके लिए अत्यन्त हर्षकारक हो।

ब्रह्मकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रणीत सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञवृत्ति के कर्तृत्व-विषय में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता[1]। इस वृत्ति में कारिकार्थ का यद्यपि भली भाँति विवेचन किया गया है, तथापि शास्त्रीय शब्दों का अधिक प्रयोग होने से स्पष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः विद्वानों को वृत्तिकार का अभिप्राय भी शीघ्र समझ में नहीं आता है। इसकी पूर्ति करने के लिए ही श्री वृषभदेव[2] ने 'पद्धति' नामक व्याख्या की रचना की है जिसमें न केवल कारिकाओं के ही, अपि तु स्वोपज्ञवृत्ति के भी तात्पयार्थ को विशद रूप में वर्णित किया गया है। इससे जिज्ञासुओं को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त होता है। वस्तुतः स्वोपज्ञवृत्ति का तात्पर्यार्थ इस 'पद्धति' व्याख्या के

---

१. श्रीमद्भिः सुब्रह्मण्य अय्यर महाभागैर्विषयोऽयं दृढतरप्रमाणोपन्यासेन नूनं समर्थितः। तन्मतावगतये द्रष्टव्यो ब्रह्मकाण्डस्याङ्ग्लभाषानुवादे भूमिकाभागः, पृ० १८—३८। प्रकाशक : डेक्कन कालेज पूना, १९६५।

२. वृत्तिपद्धति-सहितं वाक्यपदीयम्—प्रथमकाण्डम्, सं० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदयः। प्रकाशक : डेक्कन कालेज पूना, १९६६।

अनुशीलन से ही स्पष्ट जाना जा सकता है। यद्यपि विशुद्ध हस्तलेखों के अभाव में किन्हीं स्थलों पर इस व्याख्या में भी अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता है, जिससे विद्वानों को क्लेश होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अर्थज्ञान की अभिव्यञ्जिका होने से यह व्याख्या निःसन्देह परम उपकारिणी ही मानी जा सकती है।

द्वितीय काण्ड की टीका

इस वाक्यकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा रचित स्वोपज्ञवृत्ति पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं होती है। श्री चारुदेव शास्त्री ने इस वृत्ति का जितना अंश प्रकाशित किया है, उतने को ही हम परम गौरव का विषय मानते हैं। केरल देश में मूलतः मलयालम लिपि में लिखित तदनु देवनागराक्षरों में परिणत की गई जो प्रतिलिपि मद्रास के हस्तलेख-पुस्तकालय में सुरक्षित है वह तो अत्यन्त अशुद्ध तथा बीच-बीच में त्रुटित होने से प्रकाशन के सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः उससे विद्वानों का कोई उपकार नहीं हो सकता। सम्प्रति इस काण्ड पर केवल पुण्यराज-कृत एक ही टीका प्राप्त होती है जो कि स्वोपज्ञवृत्ति के सारांश को अभिव्यक्त करने में समर्थ होने के कारण स्वोपज्ञवृत्ति के ही आधार पर रचित कही जा सकती है। द्वितीय काण्ड पर की गई टीका निश्चित ही प्रथमकाण्डीय टीका की सत्ता को सिद्ध करती है। इससे यह सम्भावना की जा सकती है कि पुण्यराज ने प्रथमकाण्ड पर भी अपनी कोई टीका अवश्य ही बनाई थी। सामान्यतः हमारा विश्वास है कि पुण्यराज बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

तृतीय काण्ड की टीका

(क) इस प्रकीर्णात्मक तृतीयकाण्ड पर हेलाराज कृत 'प्रकाश' नामक सम्पूर्ण व्याख्या कारिकाओं के तात्पर्य को प्रकाशित करती है। यह व्याख्या कुछ ही स्थलों पर त्रुटित हुई है।

तन्त्रालोक से ऐसा ज्ञात होता है कि हेलाराज परम-माहेश्वर श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। आचार्य अभिनवगुप्त का जन्म-समय उन्हीं के द्वारा कुछ ग्रन्थों के अन्त में ग्रन्थ निर्माण-काल का निर्देश किए जाने से स्पष्ट जाना जा सकता है। उन्होंने क्रम-स्तोत्र की रचना लौकिक वर्ष ६६ (९९० ई०) में, भैरवस्तव की लौकिक वर्ष ६८ में, अर्थात् क्रमस्तोत्र की रचना से दो वर्ष बाद (= ९९२ ई०) तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी नामक टीका की रचना लौकिक वर्ष ९० (= १०१४ ई०) में की थी। अतः इनका जन्म समय साधारणतः ९५० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इस प्रकार अभिनव गुप्त के गुरु श्री हेलाराज भी ईशवीय दशम शताब्दी के प्रारम्भ में हुए। ऐसा निश्चय होता है। हम यह कह सकते हैं कि आचार्य हेलाराज का जन्म ९२५ ई० से लेकर १००० पर्यन्त समय में हुआ था और इसी समय के अन्तर्गत इन्होंने वाक्यपदीय की व्याख्या का भी प्रणयन किया था।

(ख) हेलाराज ने अपने इतर तीन ग्रन्थों का उल्लेख प्रकाश में किया है—क्रियाविवेक (वा० प० तृतीय काण्ड पृष्ठ ६०), अद्वयसिद्धि (वही, पृष्ठ० ११७), तथा वार्तिकोन्मेष (वही)।

(ग) सम्भवतः ये वही हेलाराज हैं जिन्होंने काश्मीर के राजाओं के विषय में द्वादश सहस्र श्लोकात्मक ग्रन्थ का निर्माण किया था। कल्हण का यही कथन है (राजतरंगिणी १।१७-१८)।

(घ) प्रकाश के अन्त में हेलाराज ने अपना परिचय दिया है। प्रत्येक समुद्देश की टीका के अन्त में वे अपने को 'भूतिराज तनय' लिखते हैं। उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज भी भूतिराज के पुत्र थे। अतः सम्भव है हेलाराज तथा इन्दुराज भाई हों।

(ङ) पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने लिखा है कि पुण्यराज तथा हेलाराज दोनों ही भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य थे। प्रमाणों के अभाव में यह कथन नितान्त निराधार है। हेलाराज के 'प्रकाश' का अनुशीलन बतलाता है कि उनसे पहिले भी वाक्यपदीय के टीकाकार हो गये थे जिन्हें उन्होंने पूर्वे, केचित्, अन्ये आदि शब्दों से संकेत किया है। इतना ही नहीं, हेलाराज के समय में पाठ भेद भी उत्पन्न हो गये थे। जाति-समुद्देश के श्लोक २४, ५० तथा ५७ वीं टीका में उन्होंने इस पाठभेद का विवरण दिया है। क्या भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य होने पर अन्यकर्तृक पाठभेद की कथमपि सम्भावना प्रतीत होती है? नहीं, कभी नहीं। भर्तृहरि तथा हेलाराज के बीच में अनेक शताब्दियों का अन्तर प्रतीत होता है।

(च) प्रकाश का अन्तिम श्लोक बतलाता है कि ये काश्मीर के राजा मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण वंश में उत्पन्न हुये थे, तथा इनके पिता का नाम भूतिराज था[1]।

---

[1] मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमगमत् कश्मीर-देशे नृपः
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोत् श्री भूतिराजात्मजः॥

वाक्यपदीय के संस्करण—

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति के साथ सं० चारुदेव शास्त्री (प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, १९३४)।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति तथा वृषभदेव की पद्धति। सं० सुब्रह्मण्यम् अय्यर डेक्कन कालेज, पूना, १९६६।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति का अंग्रेजी अनुवाद। संपादक तथा प्रकाशक पूर्ववत्, १९६७।

वाक्यपदीय (सम्पूर्ण, मूलमात्र) सम्पादक प्रो० काशीनाथ शास्त्री अभ्यङ्कर तथा आचार्य विष्णु प्रभाकर लिमये। प्र० पूना विश्वविद्यालय, पूना, १९६५ ई०।

लक्ष्मण तथा हेलाराज के बीच कितनी पीढ़िया बीती थीं—इसका स्पष्ट निर्देश न होने से इनके समय का पता नहीं चलता। इतना ही ज्ञात होता है कि ये काश्मीरी थे। पुण्यराज तथा हेलाराज की व्याख्या के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्ययुग में काश्मीर व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रधान केन्द्र था—भाष्य तथा वाक्यपदीय का अनुशीलन विशेष रूप से यहाँ सम्पन्न किया गया था; इस तथ्य के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इन दोनों वैयाकरणों ने भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका का विशद अध्ययन किया था और उसी को आधार मानकर अपनी व्याख्यायें निबद्ध की थीं।

'प्रकाश' के अध्ययन से हेलाराज की अलौकिक वैदुषी, निखिलशास्त्र-पारंगामिता तथा प्रकृष्ट व्युत्पत्ति का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। भर्तृहरि की कारिकायें सूत्रों के समान गम्भीरार्थ से मण्डित हैं। उस अर्थ का प्रकाशन कर 'प्रकाश' अपना नाम सार्थक कर रहा है। भर्तृहरि ने संक्षेप में अपनी कारिकाओं में विपुल तथ्यों पर अपना पाण्डित्य भर दिया है। उसका प्रकाशन हेलाराज की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। जाति-समुद्देश के ४६ श्लोक की ईश्वर तथा शास्त्र के परस्पर सम्बन्ध तथा नित्यत्व आदि विषयों की प्रकाशिका व्याख्या उदाहरण के तौर पर द्रष्टव्य है।

प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड)

वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में शब्द को ही ब्रह्म बताया गया है। अतः प्रथम काण्ड की प्रसिद्धि ब्रह्मकाण्ड के रूप में है। 'आगमसमुच्चय' के रूप में भी इसका स्मरण किया जाता है—"आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डम्[1]"। वस्तुतः यह काण्ड उत्तरवर्ती काण्डद्वय की भूमिका के रूप में निबद्ध है।

ब्रह्म शब्दतत्त्वात्मक है तथा जगत् की प्रकृति शब्द है। यद्यपि शब्द ब्रह्म एक है तथापि शक्तियों की भिन्नता के कारण उसमें नानात्व व्यवहार होता है। शब्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय 'वेद' है। वेद की महिमा बहुत अधिक है। वह एक है किन्तु शाखाभेद के कारण वह भी अनेक मार्गों वाला है। उससे स्मृतियों की रचना की गयी है। विभिन्न दर्शनों के मूल में वेद संनिहित है। समस्त विद्याभेदों के मूल में भी वेद विद्यमान हैं। वेद का प्रधान अङ्ग व्याकरण है—

> आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
> प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ १, ११।

---

१. स्वोपज्ञटीका की पुष्पिका।

पदार्थों के निबन्धन शब्द ही हैं। शब्द के आधार पर पदार्थों का बोध होता है। और शब्दों का बोध व्याकरण के बिना नहीं होता। अतः व्याकरण परब्रह्म-प्राप्ति का साधन है। शब्द और अर्थों का सम्बन्ध नित्य है। शब्द अनादि हैं। व्याकरण शब्द-साधुत्व-ज्ञान में उपाय है। धर्म-निर्णय में तर्क की अपेक्षा आगम प्रबल होता है। आर्ष ज्ञान आगमपूर्वक होता है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. उपादान और निमित्त। प्रयोक्ता की बुद्धि में स्थित शब्द श्रोता की बुद्धि में स्थित प्रत्यायक शब्द का निमित्त होता है। नादध्वनि स्फोट का व्यञ्जक होती है। ध्वनि क्रमशः उत्पन्न होती है। उस क्रम रूप से तब एक होता हुआ भी स्फोट भेदवान्-सा प्रतीत होने लगता है। वह स्फोट स्वयं क्रमरहित है। उसमें पूर्वत्व और अपरत्व कुछ नहीं है। नाद = ध्वनि के क्रम से उत्पन्न होने का कारण स्थान, करण, अभिघात आदि हैं जो क्रमपूर्वक होते हैं। इसलिए उन स्थान-करण आदि के क्रम से जायमान नाद भी क्रमवान् हो जाता है।

पद-ध्वनि से व्यज्यमान स्फोट पद के रूप में और वाक्य ध्वनि से व्यज्यमान वाक्य ध्वनि के रूप में मान लिया जाता है। ऐसा होने पर भी वस्तुतः स्फोट में न तो पदत्व है और न वाक्यत्व ही। पदध्वनि की अवयव भूत वर्णध्वनियाँ भी अभाग पदस्फोट के भागभूत की भाँति दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि स्फोट के एक होने पर भी वृत्ति के भेद से औपाधिक भेद हो जाता है।

ध्वनियाँ भी प्राकृत तथा वैकृत दो होती हैं। शब्द की अभिव्यक्ति के समय नीर-क्षीरन्यायेन ध्वनि और स्फोट की उपलब्धि पृथक् रूपेण न हो सके उस ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। उस स्फोट को उस ध्वनि की प्रकृति = स्वभाव जैसा मान लेने से उसे प्राकृत ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत ध्वनि के अनन्तर होने वाली ध्वनि स्थितिभेद की हेतु होने के कारण विलक्षण ही उपलब्ध होती है। अतः उस ध्वनि से स्फोट में विकार जैसा होने लगता है। इसलिए उसे वैकृत ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत और वैकृत ध्वनि के विषय में संग्रहकार व्याडि का श्लोक इस प्रकार है—

> शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
> स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

विश्वजनिका शक्ति शब्दाश्रित ही है। समस्त अर्थ शब्द के आश्रित हैं। लोक में समस्त इतिकर्तव्यता शब्दाधीन है। समस्त ज्ञान शब्द में अनुविद्ध है। संसारियों का चैतन्य वाग्रूपता ही है। जाग्रदवस्था के समान स्वप्न में भी वाणी ही व्यवहार का साधन है। शब्द का संस्कारक होने से धर्मजनन द्वारा व्याकरण ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। धर्म की उत्पत्ति में साधु शब्दों का ही सामर्थ्य है। धर्म साधन के विषय में शुष्क

तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। व्याकरण शब्द के साधुत्व और असाधुत्व का नियामक है। अतः धर्मावबोध में प्रमाण है। व्याकरणस्मृति वैखरी आदि तीन वाणियों का ज्ञापक है।

अपभ्रंश शब्दों का बोध साधु शब्द स्मरण पूर्वक होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साक्षात् रूपेण वाचक नहीं हैं। उन-उन अर्थों में परम्परया अपभ्रंशों की लोक प्रसिद्धि के कारण स्त्री शूद्र आदि को अपभ्रंश से ही अर्थ-बोध हो जाता है। यह सारांश वाक्य-पदीय के प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड) का है।

द्वितीय काण्ड (वाक्यकाण्ड)

अब द्वितीय काण्ड के सम्बन्ध में लिखा जाता है। वाक्य स्वरूप के विस्तारपूर्वक प्रतिपादन के लिए द्वितीय काण्ड का प्रारम्भ किया गया है। अतः विद्वान् इस काण्ड को 'वाक्यकाण्ड' कहते हैं। आचार्यों के मतभेद को लेकर वाक्य-स्वरूप आठ प्रकार का माना जाता है। वे आठ पक्षभेद इस प्रकार हैं—(१) आख्यात शब्द वाक्य है; (२) पदसमूह वाक्य है, (३) संघातवर्तिनी जाति वाक्य है; (४) अनवयव एक शब्द वाक्य है; (५) क्रम वाक्य है; (६) बुद्धि की अनुसंहृति वाक्य है; (७) आद्य पद ही वाक्य है; और (८)—सभी साकाङ्क्ष पद वाक्य है। ४८५ श्लोकों के इस द्वितीय काण्ड में वाक्य-स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

तृतीय काण्ड (पदकाण्ड)

तृतीय काण्ड को विद्वानों ने प्रकीर्णकाण्ड के नाम से अभिहित किया है क्योंकि इसके अन्तर्गत १४ समुद्देशों का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं—

(१) जातिसमुद्देश; (२) द्रव्यसमुद्देश; (३) सम्बन्धसमुद्देश; (४ भूयोद्रव्यसमुद्देश; (५) गुणसमुद्देश; (६) दिक्समुद्देश; (७) साधनसमुद्देश; (८) क्रियासमुद्देश; (९) कालसमुद्देश; (१०) पुरुषसमुद्देश; (११) संख्यासमुद्देश; (१२) उपग्रहसमुद्देश; (१३) लिङ्गसमुद्देश; और (१४) वृत्तिसमुद्देश। व्याकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का वाक्यपदीय महार्णव है। थोड़े में वर्णन असम्भव है।

महाभाष्य का पाठोद्धार

महाभाष्य के प्रथम पाठोद्धार की घटना भर्तृहरि से पूर्व की घटना है, क्योंकि इन्होंने अपने वाक्यपदीय (२।४८७—४८९) में चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार का उल्लेख किया है[1] और यह घटना राजतरङ्गिणी के द्वारा प्रमाणित तथा

---

१. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्य बीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
(वा० प० २।४८९)।

पुष्ट की गई है[1]। महाभाष्य के पुनः विलुप्त हो जाने पर द्वितीय बार उद्धार की घटना अष्टम शती में काश्मीर के राजा जयापीड़ के द्वारा सम्पन्न की गई भर्तृहरि से लगभग तीन सौ वर्ष बाद[2]। राजा जयापीड़ ने क्षीर नामक शब्द-विद्योपाध्याय के द्वारा यह कार्य सिद्ध किया। क्षीर के व्यक्तित्व के विषय में विद्वानों को सन्देह है। विन्टर नित्स इस क्षीर को कोषकार अमर के टीकाकार क्षीरस्वामी से भिन्न नहीं मानते, परन्तु काल की दृष्टि से यह तादात्म्य समर्थित नहीं होता। अपनी अमर टीका में भोजराज को उद्धृत करने वाले क्षीरस्वामी ११ शती ई० से कथमपि पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। उधर जयापीड़ के समसामयिक क्षीर उपाध्याय नवमशती से पश्चाद्वर्ती नहीं हो सकते। फलतः महाभाष्य के द्वितीय उद्धारक क्षीर उपाध्याय क्षीरस्वामी से नितान्त भिन्न हैं। इस युग के महाभाष्य के अध्ययन की दुर्दशा का संकेत नैषधकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष ने इस प्रकार किया है—

फणिभाषितभाष्य-फक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

महाभाष्य के विषम पंक्तियों का रहस्य जब नहीं खुलता था, तब पण्डितगण उनके चारों ओर गोलाकार कुण्डली लगा दिया करते थे। ऐसी कुण्डलना शताब्दियों तक बनी रहीं और इनका उद्धार तभी हुआ जब आचार्य कैयट ने महाभाष्य पर प्रदीप का निर्माण कर इनकी दुर्बोधता को चुनौती देकर ध्वस्त कर दिया। काशी की विद्वन्मण्डली की यही मान्यता है।

कैयट

इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि के बाद कैयट के समान महभाष्य का मर्मवेत्ता दूसरा वैयाकरण नहीं हुआ। कैयट (कय्यट) काश्मीर के निवासी थे और काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट के अग्रज होने की किम्वदन्ती काल-वैभिन्य के हेतु स्वतः असंगत है। प्रदीप की पुष्पिका से पता चलता है कि इनके पिता का नाम उपाध्याय जैयट था। कैयट ने अपने समय का संकेत नहीं किया है, परन्तु पदमञ्जरी तथा प्रदीप की तुलना करने से कय्यट हरदत्त से पूर्वकालीन सिद्ध होते हैं। पदमञ्जरी

---

१. चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥
(रा० त० १।१७६)।

२. देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥
क्षीराभिधानाच्छब्द-विद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः ॥
(रा० त० ४।४८८, ४८९)

में प्रदीप के मत का उद्धरण तथा खण्डन अनेकत्र है। इस विषय में संशय का स्थान नहीं रह जाता, जब पदमञ्जरी 'भाष्यं व्याचक्षाणा' कह कर भाष्य की व्याख्या की ओर स्पष्ट संकेत करती है[1]। इस पौर्वापर्य से इनके समय का भी पता चलता है। सर्वानन्द ने अपने अमर-व्याख्यान 'टीका सर्वस्व' की रचना १२१५ सं० (=११५८ ई०) में की थी। इसमें उल्लिखित है मैत्रेयरक्षित का धातुप्रदीप। मैत्रेय ने धातु प्रदीप में धर्मकीर्ति और उनके रूपावतार का निर्देश किया है। धर्मकीर्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करते हैं और हरदत्त कय्यट का स्पष्ट निर्देश करते हैं। प्रति ग्रन्थकार पच्चीस वर्ष का काल व्यवधान मानने पर कय्यट का समय ईस्वी ११ शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है[2]—(१००० ई०—१०५० ई० लगभग)।

महाभाष्य प्रदीप नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है और बिना इसकी सहायता के महाभाष्य का मर्म समझना नितान्त कठिन है। काश्मीर महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन का गढ़ था। फलतः काश्मीरी वैयाकरणों की पूरी वैदुषी इस प्रदीप के माध्यम से हमारे सामने प्रतिफलित होती है। इसकी गम्भीरता का अनुमान इसकी व्याख्या-सम्पत्ति से भली-भाँति किया जा सकता है। कैयट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी, उन सबका सार-संकलन कर इन्होंने अपना यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

प्रदीप के ऊपर भी अनेक व्याख्यायें प्राप्त हैं, परन्तु वे अधिकतर अप्रकाशित ही हैं। नागेशभट्ट की टीका, जिसका नाम 'उद्योत' या विवरण है, नितान्त प्रख्यात है। नागेशभट्ट (या नागोजी भट्ट) काशीवासी प्रख्यात वैयाकरण थे समय था १८वीं शती का पूर्वार्ध। उद्योत सचमुच ही प्रदीप के गूढ़ रहस्यों को उद्योतित करने में समर्थ है। इस उद्योत के ऊपर भी नागेश के ही प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने छाया नाम्नी अपनी व्याख्या लिखी—जो नवाह्निक तक ही उपलब्ध होती है[3]। नागेश से पूर्ववर्ती वैयाकरण अन्नंभट्ट ने (१६०० ई०—१६५० ई०) 'प्रदीपोद्योतन' नामक व्याख्या प्रदीप पर निबद्ध की है जिसके प्रथम अध्याय का प्रथम पाद मुद्रित

---

१. अन्ये तु हे त्रप्विति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीति भाष्यं व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति। पदमञ्जरी ७।१।७२। यह मत महाभाष्य प्रदीप में विद्यमान है। द्रष्टव्य इसी सूत्र का भाष्य प्रदीप। प्रदीप का कथन है—हे त्रपु हे त्रपो इति। हे त्रपु इति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीत्यर्थः (७।३।७२)।

२. द्रष्टव्य संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६५—३६८।

३. पं० शिवदत्त शर्मा के द्वारा सम्पादित तथा निर्णय सागर द्वारा मुद्रित नवाह्निक सं० में यह टीका प्रदीप तथा उद्योत के साथ प्रकाशित है।

होकर प्रकाशित हैं। अन्नंभट्ट तैलंगदेश के प्रौढ़ वैयाकरण थे। नागेश की टीका के साथ इस व्याख्या के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों ग्रन्थकारों के दृष्टिकोण का पार्थक्य भली-भाँति समझा जा सकता है।

अष्टाध्यायी की वृत्तियाँ

अष्टाध्यायी के ऊपर प्राचीन काल में अनेक वृत्तियों की सत्ता का पता वैयाकरण ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु काशिका वृत्ति ही ऐसी सर्वमान्य व्याख्या है जिसके सहारे हम पाणिनि का मर्म भलीभाँति समझने में कृतकार्य होते हैं। प्राचीन तथा आज लुप्त-प्राय वृत्तियों के अर्थ का परिचय हमें इसी वृत्ति से होता है। यहाँ अनेक प्राचीन उदाहरण दिये गये हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त उल्लेखनीय है। इसके रचयिता दो महनीय वैयाकरण हैं—जयादित्य तथा वामन। इन्होंने प्राचीन सूत्र-वृत्तियों के आधार पर इसका निर्माण किया। जयादित्य ने प्रथम पाँच अध्यायों की तथा वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों की व्याख्या लिखकर इसे अपने सम्मिलित प्रयास का परिणत फल बनाया। न्यास तथा पदमञ्जरी के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जयादित्य तथा वामन ने पृथक रूप से समग्र ग्रन्थ पर भी पूर्ण वृत्तियाँ लिखी थीं जिनमें कहीं परस्पर विरोध भी था। सम्भवतः ये पूर्ण वृत्तियाँ उनके युग में उपलब्ध भी थीं, परन्तु कालान्तर में दुर्लभ हो चलीं। आज उपलब्ध काशिका वृत्ति इस वैयाकरण युगल का सम्मिलित प्रयास है।

काल का निर्णय बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है—

(१) भाषावृत्ति के अनुसार भागवृत्ति काशिका का खण्डन करती है। फलतः इसे प्राचीनतर होना चाहिए भागवृत्ति से। सीरदेव की 'परिभाषा वृत्ति' के अनुसार भागवृत्ति ने भारवि तथा माघ के द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को असाधु माना है। फलतः काशिका वृत्ति माघ से प्राचीनतर है। भागवृत्ति का समय ७०१ सं० तथा ७०५ सं० के मध्य में कहीं पड़ता है (६४४ ई०—६४८ ई०)। भागवृत्ति से प्राचीनतर होनेवाली काशिकावृत्ति सप्तमी शती के मध्य-काल से अर्वाचीन नहीं हो सकती। यह हुआ बहिरंग प्रमाण।

(२) 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) सूत्र की व्याख्या में काशिका 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' पद्यांश को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करती है। न्यास के अनुसार यह किरातार्जुनीय महाकाव्य ३।१४ का एकदेश है। फलतः भारवि के अनन्तर ही जयादित्य का समय है। दक्षिण देश के राजा दुर्विनीत ने (राज्यकाल ५३९ वि०—५६९ वि० अर्थात् ४८२ ई०–५१२ ई०) ने किरात के १५वें सर्ग की व्याख्या लिखी है। फलतः भारवि का समय पञ्चम शती ई० का मध्यकाल (५४० ई०) है।

अतः काशिका का रचना-काल ४५० ई०—६०० ई० के बीच में कहीं पड़ता है—पञ्चम शती का अन्त तथा षष्ठ शती का आरम्भ मानना उपयुक्त होगा (५०० ई०–५२५ ई०)।

वामन ने काशिकावृत्ति के अन्त में इसकी विशिष्टता का प्रतिपादन स्वयं किया है जिसका निर्देश न्यासकार ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया है—

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्न-रूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम[1]॥

इष्टियों के उपसंख्यान, शुद्ध गणों का विवरण, सूत्र के गूढ़ अर्थों की विवृत्ति तथा व्युत्पन्न रूपों की सिद्धि—इन चारों तथ्यों से समन्वित होना इस काशिकावृत्ति का वैशिष्ट्य है। वास्तव में ये विशष्टतायें यहाँ पूर्णतया प्रदर्शित की गई हैं।

काशिकावृत्ति ही पाणिनीय सूत्रों के यथाविधि अर्थ जानने के लिए उपलब्ध प्राचीनतम वृत्ति है। उपलब्ध वृत्तियों में यह प्राचीनतम है, परन्तु प्रथम वृत्ति नहीं है। इससे पूर्व भी अनेक वृत्तियों का निर्माण हो चुका था जिनके अस्तित्व का तथा विशिष्ट मत का निर्देश प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों में प्राप्त है। पदमञ्जरी में वृत्त्यन्तरों का वैशिष्ट्य गणपाठ का अभाव बतलाया गया है, परन्तु काशिका में गणपाठ का आवश्यक सूत्रों में निर्देश निश्चित रूपेण है। काशिकावृत्ति के अध्ययन से हम सूत्रों का विधिवत् अर्थ जानने में समर्थ होते हैं; इतना ही नहीं, काशिका प्राचीन वृत्तियों के व्याख्यानों का भी निर्देश करती है जिसकी सहायता से हम सूत्रों के अर्थ केविषय में प्राचीन मत का संकेत स्पष्ट पा सकते हैं। प्राचीन वृत्तियों में विशिष्ट तथा विलक्षण उदाहरण भी दिये गए थे; इसका भी पता हमें काशिका भली-भाँति देती है। यथा 'अव्ययं विभक्तिसमीप' इत्यादि सूत्र (२।१।६) के व्याख्यान के अवसर पर सादृश्य अर्थ में निष्पन्न अव्ययीभाव समास का उदाहरण 'सदृशः किख्या सकिखि' प्राचीन वृत्ति के आधार पर ही है। 'किखी' शब्द का अर्थ है छोटा परिमाणवाला शृगाल और इसी अर्थ में बंगला में यह शब्द 'खेशे सियार' के रूप में आज भी उपलब्ध है। इस शब्द के यथाविधि अर्थ का परिचय पदमञ्जरी से ही चलता है[2]। आजकल अप्रचलित

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—इस कारिका की पदमञ्जरी। न्यास के अनुसार यह ग्रन्थ के अन्त की कारिका है, परन्तु पदमंजरी की दृष्टि में यह काशिका के प्रारम्भ की द्वितीय कारिका है और वहीं इसकी व्याख्या भी लिखी है।

२. अपचितपरिमाणः शृगालः किखी। अप्रसिद्धोदाहरणम् चिरन्तनप्रयोगात्। (२।१।६ की पदमंजरी)।

तथा अज्ञात होने से इसके स्थान पर 'सहश: सख्या ससखि' पाठ प्रचलित हो गया है।

क्षेपे (२।१।४७) सूत्र का अर्थ है कि निन्दा गम्यमान होने पर सप्तम्यन्त का क्त प्रत्ययान्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है। इसका उदाहरण है—अवतप्ते नकुलस्थितं तवैतत्। इसका अर्थ है—यह तुम्हारी चपलता है। एक कार्य में न टिक कर अस्त-व्यस्त चित्त होने वाले व्यक्ति के लिए इस वाक्य का प्रयोग होता है। यह प्राचीनों का प्रयोग है[1]। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र के अनुसार यहाँ विभक्ति का लुक् नहीं होता। फलतः यह अलुक् तत्पुरुष है।

भाग-वृत्ति

भागवृत्ति काशिका के पश्चात् निर्मित वृत्तियों में अपना महनीय स्थान रखती है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लौकिक तथा वैदिक सूत्रों में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं किया। लौकिक प्रयोगों का वैशिष्ट्य दिखाते समय उन्होंने वैदिक प्रयोगों की सिद्धि के लिए सूत्रों का निर्माण किया। प्राचीन वृत्तियाँ तथा काशिका इस नियम का अक्षरशः पालन करती हैं, परन्तु भागवृत्ति लौकिक तथा वैदिक सूत्रों का विभाजन कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं[2]। फलतः भागशः वृत्ति होने के कारण उसका 'भागवृत्ति' नामकरण सर्वथा सार्थक है। भागवृत्ति की रचना के पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने भागवृत्ति के इस वैलक्षण्य से काशिकावृत्ति को पृथक् करने के लिए उसके लिए 'एकवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। 'एकवृत्ति' का तात्पर्य हुआ एक तन्त्र से या एक क्रम से उभयविध सूत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत करने वाली वृत्ति। 'एकवृत्ति' नाम का प्रयोग पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में किया है (सूत्र १।१।१६) और उनके टीकाकार सृष्टिधर की

---

१. इस प्रयोग का यथाविधि अर्थ हरदत्त ने पदमंजरी में दिया है—चिरन्तनप्रयोगः। तस्यार्थमाह—चापलमेतत् तव। यथा अवतप्ते प्रदेशे नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याणि आरभ्य यश्चापलेन न चिरं तिष्ठति; स एवमुच्यते इत्यर्थः। द्रष्टव्य—२।१।४७ की पदमंजरी। पदमंजरी की यह व्याख्या न्यास के ही अनुसार है। द्रष्टव्य—इस सूत्र का न्यास।

२. अतएव भाषावृत्तौ भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च क्वसुकानजे विधानलक्षणं न लक्षितवान् इति गोयीचन्द्रः। अथवैतन्न वक्तव्यं छान्दसत्वात्। अतएव भागवृत्तौ भाषाभागे न। —संक्षिप्तसार टीका।

व्याख्या से 'काशिका' के लिए 'एकवृत्ति' नामकरण का पूर्वोक्त वैशिष्ट्य भली-भाँति गम्य होता है[१]।

भागवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने बड़े परिश्रम से व्याकरण ग्रन्थों में उद्धृत उसके अंशों को एकत्र कर 'भागवृत्ति-संकलन' नाम से इसका सम्पादन-प्रकाशन किया है[२]। उन्होंने काशिका तथा भागवृत्ति के वैशिष्ट्य का निर्देश करते लिखा है कि भागवृत्ति जहाँ महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानकर चलती है, वहाँ काशिका सम्भवतः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर, महाभाष्य का स्थान-स्थान पर खण्डन करती है। भट्टोजिदीक्षित तथा उनके सम्प्रदाय वाले वैयाकरण इसीलिए काशिका के मत में उतनी आस्था नहीं रखते और उसे खण्डन करने से पराङ्मुख नहीं होते। भागवृत्ति के प्रति उनकी दृष्टि आस्थाबहुल है। भट्टोजि ने अपने शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त-कौमुदी दोनों ग्रन्थों में भागवृत्ति से अनेक उद्धरण दिये हैं।

भागवृत्ति के देश-काल—भागवृत्ति के कर्ता का परिचय यथार्थतः नहीं मिलता। 'कातन्त्र परिशिष्ट' के रचयिता श्रीपतिदत्त (समय लगभग १२ वीं शती) भागवृत्ति को 'विमलमति' नामक किसी लेखक की रचना बतलाते हैं[३], उधर उनके अवान्तर-कालीन सृष्टिधर (१५ शती) अपनी 'भाषावृत्यर्थ-विवृति' में भागवृत्त के रचयिता का नाम भर्तृहरि मानते हैं जिन्होंने श्रीधरसेन नरेन्द्र के आदेश से इसका निर्माण किया[४]। इस प्रकार का मतद्वैविध्य उपलब्ध होता है। भट्टिकाव्य के निर्माता महाकवि भट्टि भी भर्तृहरि के नाम से विख्यात हैं जिन्होंने वलभी के श्रीधरसेन नरेद्र के आदेश से अपने प्रसिद्ध शास्त्र-काव्य का प्रणयन किया था। ऐसी दशा में क्या भट्टि काव्य के वैयाकरण रचयिता भर्तृहरि या भट्टि ही भागवृत्ति के भी प्रणेता हैं ? नहीं भागवृत्ति भट्टि काव्य के रचयिता भर्तृहरि या भट्टि कवि को रचना कथमपि नहीं हो सकती, क्योंकि भागवृत्ति में भट्टि काव्य के अनेक प्रयोगों के साधुत्व-असाधुत्व की मीमांसा की गई है। 'संभविष्याव एकस्य।मभिजानासि मातरि' (भट्टि ६।१३८), 'उपायंस्त महास्त्राणि'

---

१. अनार्ष इत्येव वृत्तावप्युक्तम्। भाषावृत्ति १।१।१६ एकवृत्तौ साधारणवृत्तौ वैदिके लौकिके च विवरणे इत्यर्थः। एकवृत्ताविति काशिकायां वृत्तौ इत्यर्थः। —सृष्टिधरस्य व्याख्याने।

२. प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०२१।

३. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाऽप्येवं निपातितः।
(सन्धिसूत्र १४२)।

४. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।
(८।१।६७ सूत्र की विवृति)।

(भट्टि १५।२१), 'शस्त्राण्युपायंसत जित्वराणि' (भट्टि १।१६)—भट्टि के इन विशिष्ट प्रयोगों पर भागवृत्ति ने अपना विचार प्रकट किया है।

भागवृत्ति के समय का निरूपण उसमें निर्दिष्ट ग्रन्थों के काल से किया जा सकता है। भारवि के अनेक प्रयोगों को सिद्ध करने का यहाँ प्रयास है। यथा 'आजघ्ने विषम-विलोचनस्य वक्षः (किरात १७।६३) में 'आजघ्ने' की सिद्धि के विषय में भागवृत्ति बहुत युक्तियाँ प्रस्तुतः करती है। इसी प्रकार माघ के 'पुरातनी नदी' (१२।६०) प्रयोग को भागवृत्ति प्रामादिक मानती है। फलतः भागवृत्ति भारवि, भट्टि तथा माघ (सप्तम शती का उत्तरार्ध ६५० ई०–७०० ई०) से अवान्तर कालीन है। जो विद्वान् भागवृत्ति की रचना ७०० वि० सं० अर्थात् ६४४ ईस्वी में मानते हैं[1], उनका मत माघ के उद्धरण भागवृत्ति में मिलने के कारण स्वतः ध्वस्त हो जाता है। भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में कैयट ही प्राचीनतम है और कैयट का समय ११ शती का पूर्वार्ध है। फलतः भागवृत्ति का समय माघ तथा कैयट के मध्य युग में कभी होना चाहिए। इस वृत्ति को नवम शती के पूर्वार्ध में मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

भागवृत्ति का वैशिष्ट्य

प्राचीनकाल में भागवृत्ति काशिकावृत्ति के सदृश ही आदरणीय तथा प्रामाणिक मानी जाती थी। काशिका के साथ भागवृत्ति का अनेक अंश में विरोध था। काशिका भाष्यैकशरणा न थी; प्राचीन वृत्तियों के विशिष्ट विवरणों से गर्भित होने वाली काशिका अनेक व्याख्यानों में भाष्य से विरोध प्रकट करती है। भागवृत्ति वस्तुतः भाष्यैकशरणा है। भाष्य का पूर्णतः आधार लेकर वह प्रवृत्त होती है। भागवृत्ति की प्रामाणिकता काशिका से किसी प्रकार न्यून नहीं है। पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति' इस विषय में प्रमाण उपस्थित करती है अपने अन्तिम श्लोक में—

> काशिका-भागवृत्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः।
> तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम॥

भागवृत्ति शब्दों के साधुत्व के विषय में बड़ी जागरूक है तथा नये-नये प्रयोगों की ओर भी उसका ध्यान है[2]। (१) 'युवतीनां समूहः' इस अर्थ में युवति शब्द से

---

1. युधिष्ठिर मीमांसा—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ ४३४ (द्वि० सं०)।
2. यमुपास्ते पुण्यभागं कलाकुशलयौवनम्।
   सरसं नित्यशस्तन्वि ! सफलं तस्य यौवनम्॥
   यहाँ पूर्वार्ध का अन्तिम 'यौवन' शब्द युवतियों के समूह का वाचक है।

'यौवत' शब्द की सिद्धि 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८) से जयादित्य को अभीष्ट है, परन्तु भागवृत्ति यहाँ पुंवद्भाव कर 'यौवन' शब्द को प्रामाणिक मानती है। शब्द-शक्ति प्रकाशिका भागवृत्तीय अर्थ से संवलित 'यौवन' शब्द वाले प्राचीन पद्य को उद्धृत करती है। (२) 'अक्ष्णा काणः' में काशिका की सम्मति में समास नहीं होता, परन्तु भागवृत्ति 'अक्षिकाणः' पद को साधु मानती है। (३) 'न षट् स्वस्रा-दिभ्यः' (४।१।१०) सूत्र में भागवृत्ति 'नप्तृ' शब्द का पाठ मानती है। फलतः उसके मत में 'नप्ता कुमारी' बनेगा, भागुरि के मत में 'नप्त्री कुमारी' होना चाहिये। (४) 'न शस दद वादि गुणानाम्' (६।४।१२६) अनुसार वकारादि धातु होने से वम धातु का लिट् लकार में ववमतुः तथा ववमुः रूप बनते हैं, परन्तु भागवृत्ति यहाँ वेमतुः तथा वेमुः रूप मानती है। पुराणेतिहास ग्रन्थों में यह पद प्रयुक्त जो है— 'वेमुश्च केचिद् रुधिरं' (सप्तशती २।५७) तथा 'वेमुश्च रुधिरं वीराः' (भीष्मपर्व, महाभारत ५७।१५)। (५) क्वसु तथा कानच् प्रत्यय वेद में ही प्रयुक्त होते हैं— भाष्य के व्याख्यानों का यह मत भागवृत्ति को भी अभिप्रेत है। इसीलिए वह भाषा भाग में इन प्रत्ययों का विधान वर्णित नहीं करती। यह संक्षिप्तसार टीका का मत है[1]। (६) भागवृत्ति महाकवियों के अपाणिनीय प्रयोगों को प्रमाद कहने से तनिक भी संकोच नहीं करती। भारवि तथा माघ द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को वह प्रमाद मानती है। किरात में 'पुरातनमुनेर्मुनिताम्' (६।१६) तथा शिशुपाल वध में 'पुरातनीर्नदीः (१२।६०) 'पुरातन' शब्द का प्रयोग है, परन्तु भागवृत्ति इस पर कहती है—गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते। न तेषां लक्षणं चक्षुः[2]।

(७) आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः (किरात १७।६३) पद्य में 'आजघ्ने' पाणिनि सूत्र से अनिष्पन्न प्रयोग है इस स्थल पर, परन्तु इसकी सिद्धि के निमित्त भागवृत्ति की युक्तियाँ देखने योग्य हैं[3]। फलतः भागवृत्ति प्राचीन प्रयोगों की समर्थिका भी है।

भाषावृत्ति

पुरुषोत्तम देव बंगाल के निवासी बौद्ध मतानुयायी महावैयाकरण तथा कोषकार थे। राजा लक्ष्मणसेन के आदेश पर इन्होंने अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों को छोड़कर इतर

---

१. क्वसु कानचौ छन्दस्येव विहिताविति भाष्य-व्याख्यातृभिर्व्यवस्थितम्। अतएव भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च क्वसु-कानज्-विधान-लक्षणं न लक्षितवान्। —संक्षिप्तसार टीका।
२. भागवृत्ति संकलन् पृ० ४, षष्ठ उद्धरण।
३. वही पृ० ८, उद्धरण २८।

सूत्रों के ऊपर वृत्ति की रचना की जो एतदर्थ 'भाषा-वृत्ति' के नाम से प्रख्यात है। अमर के टीकाकार सर्वानन्द (११६० ई०) के द्वारा इनके ग्रन्थों का बहुशः निर्देश किया गया है। फलतः इनका समय ११५० ई० से पूर्व ही होना चाहिये। इन्होंने व्याकरण तथा कोश सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हैं—(१) भाषा वृत्ति—अष्टाध्यायी की व्याख्या; (२) दुर्घटवृत्ति—दुर्घट शब्दों की साधिकावृत्ति (केवल निर्दिष्ट); (३) त्रिकाण्ड शेष तथा (४) हारावली—कोष ग्रन्थ; (५) महाभाष्य लघुवृत्ति (अप्रकाशित)। शरणदेव ने भी इनका 'देव' नाम से अपने ग्रन्थ 'दुर्घटवृत्ति' में बहुशः उल्लेख किया है। सर्वानन्द ने पुरुषोत्तमदेव के द्वारा 'दुर्घटवृत्ति' में व्याख्यात 'गुर्विणी' पद को असाधु माना है।

दुर्घटवृत्ति

शरणदेव की एकमात्र रचना 'दुर्घटवृत्ति'[1] है। इसमें सामान्य रीति से अव्याख्येय तथा अपाणिनीय पदों की पाणिनि-सम्मत व्याख्या की गई है। इन पदों के साधक सूत्रों की ही व्याख्या उन्होंने इस नाम से की है। रचना काल १०९५ शाके = ११७३ ईस्वी। मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' को नमस्कार इन्हें बौद्ध मतानुयायी सिद्ध कर रहा है। फलतः पुरुषोत्तमदेव के समान ही ये भी बौद्ध वैयाकरण थे। १२वीं शती में बंगाल के बौद्ध पण्डितों ने पाणिनीय व्याकरण की उल्लेखनीय सेवा की जिसके लिए पण्डित समाज उनका सर्वदा कृतज्ञ रहेगा। ये गौड के अन्तिम स्वाधीन शासक लक्ष्मण-सेन (काल ११७५ ई०–१२०५ ई०) की सभा के लब्धप्रतिष्ठ सदस्य थे। जयदेव ने 'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः' पद्यांश में दुरूह पदों को पिघलाने में 'श्लाघ्य' कह कर इन्हीं की प्रशंसा की है। फलतः इनका आविर्भाव काल १२ वीं शती का उत्तरार्ध है।

शब्दकौस्तुभ

भट्टोजि दीक्षित ने इस ग्रन्थ का निर्माण अष्टाध्यायी की वृत्ति के रूप में किया था। वे कौमुदी के उत्तर कृदन्त के अन्त में स्वयं लिखते हैं कि सिद्धान्त-कौमुदी लौकिक शब्दों का संक्षिप्त परिचय है। विस्तार तो 'शब्दकौस्तुभ' में पूर्व ही दिखलाया जा चुका है[2]। वास्तव में यह कौस्तुभ अष्टाध्यायी की बड़ी विशद व्याख्या है, परन्तु दुःख है कि अधूरी ही मिलती है। आरम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। शब्दकौस्तुभ काशिका के समान लघ्वक्षरा वृत्ति न होकर प्रौढ़ विस्तृत निबन्ध ग्रन्थ है। आरम्भ में यह महाभाष्य के मन्तव्यों की व्याख्या करता है और इसलिए

---

१. अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

२. इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथा शास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

वह आह्निकों में विभक्त भी है। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं पतञ्जलि के ऋण को ग्रन्थान्तर में स्वीकार किया है—तत्त्वकौस्तुभ के आरम्भ में वे स्पष्ट कहते हैं—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः। इसका फलितार्थ है कि महाभाष्य में जिन विस्तृत विषयों का विवेचन किया गया है उनका बहुमूल्य सार भाग यहाँ संकलित है। तथ्य तो यह है कि शब्दकौस्तुभ वैयाकरण प्रमेयों का विस्तार से विवेचन करने वाला मौलिक निबन्ध है जिसमें प्राचीन आचार्यों के मतों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। स्वरूप इसका व्याख्या का ही है। फलतः यह अष्टाध्यायी के वृत्ति-साहित्य के भीतर निर्देश पा रहा है[1]।

काशिका की व्याख्या

न्यास

काशिकावृत्ति के गूढ़ अर्थ को सुबोध बनाने के लिए दो आचार्यों ने उस पर अपनी पाण्डित्यपूर्ण वृत्तियाँ लिखीं जिनमें पहिले हैं जिनेन्द्रबुद्धि तथा दूसरे हैं हरदत्त। इनमें जिनेन्द्र बुद्धि की व्याख्या का नाम 'काशिका विवरण पञ्जिका' है, परन्तु इसका प्रख्यात अभिधान 'न्यास' है। हरदत्त की व्याख्या का नाम पदमञ्जरी है। न्यास की प्रति आचार्य-पुष्पिका में जिनेन्द्रबुद्धि के लिए प्रयुक्त 'बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' पद से उनके बौद्ध होने तथा उदात्त चरित आचार्य होने को स्पष्ट सूचना मिलती है। हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में 'न्यास' का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। फलतः न्यास को पूर्वकालिकता विशदतया अनुमेय है। कैयट के साथ इन दोनों आचार्यों के मतों का तारतम्य विचारने से दोनों की ऐतिहासिक स्थिति का परिचय भली-भाँति मिल सकता है। कैयट ने अपने महाभाष्य-प्रदीप में न्यासकार के मतका अक्षरशः अनुवाद कर खण्डन किया है। उधर हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरो में प्रदीप की विशिष्ट सामग्री का पूर्णतया उपयोग किया है। फलतः न्यासकार कैयट से प्राचीन है और पदमञ्जरीकार कैयट से अर्वाचीन हैं : कैय्यट का समय विक्रम की ११ शती का अन्तिम काल है। ईस्वी गणना से उनका समय १०२५ ईस्वी के आस-पास पड़ता है। फलतः न्यासकार ईस्वी १०म शती से निःसन्देह प्राचीन है। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट के 'यदा ह्याचार्यस्याप्येतदभिमतमिति कैश्चिद् व्याख्यायते' (पृष्ट २१८, बड़ौदा सं०) इस वाक्य की व्याख्या करते समय दुर्वेक मिश्र ने 'कैश्चिद्' पद के द्वारा 'ईश्वरसेनजिनेन्द्रप्रभृतिभिः' शब्दों से जिनेन्द्रबुद्धि की ओर संकेत किया है। अर्थात् जिनेन्द्रबुद्धि अर्चट से प्राचीन है[2]।

---

१. शब्द कौस्तुभ चौखम्भा संस्कृत सीरीज में यावदुपलब्ध प्रकाशित है।

२. द्रष्टव्य, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६४—४६५।

अर्चट का समय ईसा की सप्तम शती का अन्त है। फलतः न्यासकार को सप्तम शती के मध्यकाल में होना अनुमान सिद्ध है (६५० ईस्वी लगभग)। न्यास में अनेक प्राचीन वृत्तिकारों जैसे चूल्लि, भट्टि नल्लूर आदि के नाम निर्दिष्ट हैं। वाणभट्ट ने भी 'कृतपदन्यासो लोक इव व्याकरणेऽपि' लिखकर अपने से पूर्व न्यास ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। फलतः 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' (२।११४) के द्वारा माघ कवि का निर्देश इन्हीं में से किसी प्राचीन न्यास की ओर प्रतीत होता है। न्यास काशिका का बड़ा ही प्रौढ़, प्रमेयबहुल तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान है। इसमें ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ मूल के तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया है। अवान्तर ग्रन्थकारों पर इसका प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है।

पदमञ्जरी

इसकी अपेक्षा 'पदमञ्जरी' का स्थान कुछ घट कर है। पदमञ्जरी के रचयिता हरदत्त मिश्र के पिता का नाम पद्मकुमार, माता का श्री, अग्रजका अग्निकुमार तथा गुरु का 'अपराजित' था—इसका परिचय ग्रन्थ के उपोद्घात से चलता है। वे द्रविड देश के निवासी थे (विश्रुतो दशसु दिक्षु दक्षिणः) गौतम धर्म सूत्र की टीका (१।१८) में यह कथन इनके द्रविड भाषी होने का प्रमाण है—किलासः त्वग्दोषः, तेमल् इति द्रविडभाषायां प्रसिद्धः'। कावेरी नदी के तीरवर्ती किसी ग्राम के ये निवासी थे। ये वैयाकरण ही न थे, प्रत्युत श्रौत के महापण्डित थे। आश्वलायन गृह्य, गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्बगृह्य, आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों की व्याख्या इनके श्रौत-विषयक महनीय टीका ग्रन्थ हैं। इन्होंने कैयट के महाभाष्यप्रदीप की विशिष्ट सामग्री खण्डन-मण्डन के निमित्त अपनी पदमञ्जरी में सन्निविष्ट की है। फलतः इनका आविर्भावकाल कैयट से से पश्चाद्वर्ती है—११५४ विक्रमी के आसपास (११०० ई० लगभग)।

इन ग्रन्थों के ऊपर कालान्तर में व्याख्या ग्रन्थ रचे गये। दोनों में न्यास की लोकप्रियता पदमञ्जरी की अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है, क्योंकि जहाँ 'पदमञ्जरी' का एक टीका ग्रन्थ उपलब्ध है (रङ्गनाथ यज्वा का मञ्जरी-मकरन्द), वहाँ न्यास की अनेक टीका-प्रटीकायें मिलती हैं। इनमें मैत्रेयरक्षित रचित 'तन्त्रप्रदीप' बड़ा ही विशाल है। मैत्रेय का समय सन् १०७५–११२५ ई० (अर्थात् वि० ११३२–११७२) माना गया है। मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत' नाम्नी व्याख्या लिखी थी जिसे किरातार्जुनीय की

---

१. काशिका न्यास तथा पदमञ्जरी के साथ ६ खण्डों में प्रकाशित है (तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६)।

टीका में उन्होंने स्वयं उद्धृत किया है तथा जिसे सायण ने भी अपनी धातुवृत्तिमें उद्धृत किया है[1]। काशिका की टीका सम्पत्ति का यह चित्र दर्शनीय है।

---
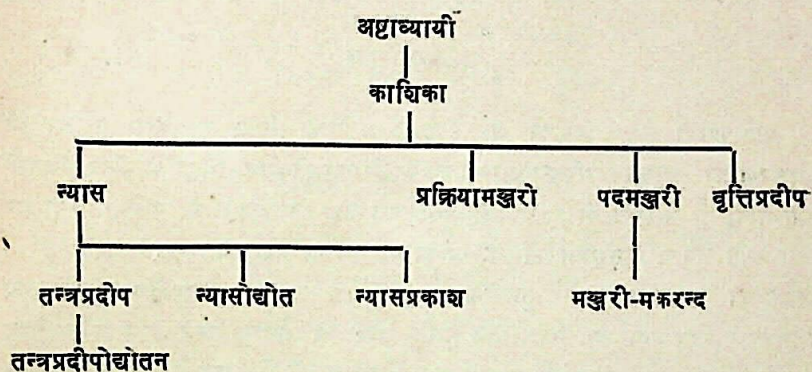
1. द्रष्टव्य—माधवीया धातुवृत्ति (काशी सं० १९६४), पृष्ठ ४२ तथा २१४।

चतुर्थ खण्ड

प्रक्रिया-युग

अष्टाध्यायी की रचना का मूल उद्देश्य शब्दों की सिद्धि नहीं था। उद्देश्य था
व्याकरण का शास्त्रीय परिचय और यह लिखी गई थी उन शिष्टों के लिए जिनकी
मातृ-भाषा ही संस्कृत थी। ये शिष्ट व्याकरण का अष्टाध्यायी से परिचय प्राप्त कर
भली-भाँति अपनी मातृभाषा की विशुद्धि का परिचय पा सकते थे। फलतः कालान्तर में
संस्कृत का वह महनीय स्तर कुछ निम्नगामी हुआ, वह लोक-भाषा तथा शिष्ट भाषा
न होकर पण्डित-भाषा बन गई। तब उसके शब्दों के प्रयोग करने के समय रूपसिद्धि
का ज्ञान नितान्त आवश्यक हो गया। अष्टाध्यायी के निर्माण-क्रम का किञ्चित् परिचय
पूर्व दिया गया है। अब रूप-सिद्धि की आवश्यकता सामने आई। संस्कृत रूपों के
व्यावहारिक ज्ञान के निमित्त ही तो कातन्त्र व्याकरण का निर्माण सम्पन्न हुआ।
शर्ववर्मा ने अपने आश्रययदाता के संस्कृत-भाषा गत अज्ञान को दूर करने के ही लिए
तो इस नवीन वैयाकरण सम्प्रदाय की नींव डाली जिसका प्रमुख लक्ष्य था संस्कृत का
व्यावहारिक ज्ञान। इस पद्धति ने अल्पाभ्यास से साध्य तथा व्यवहार के अनुकूल होने
से पाणिनीय शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन विद्वानों
ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को नवीन क्रम में ढालने का तथा यथा-साध्य उन्हें अल्पायास-
गम्य करने का नवीन मार्ग निकाला। यह नवीन युग—प्रक्रिया युग—इस सुबोध शैली
के प्रचार का डिंडिम घोष करता है।

ऐसे ग्रन्थों में सर्व-प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ धर्मकीर्ति का रूपावतार है। ग्रन्थ के
मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' को प्रणाम करने से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकर्ता बौद्ध था,
परन्तु इसे बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति से अभिन्न मानना नितान्त अयुक्त है। रूपावतार
हरदत्त का नाम्ना निर्देश करता है[1] तथा स्वयं मैत्रेय रक्षित द्वारा तन्त्रप्रदीप में निर्दिष्ट
किया गया है[2]। फलतः इसे द्वादश विक्रमी शती के मध्य भाग में मानना उचित
होगा। रूपावतार दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में सुबन्त का वर्णन है और वह आठ
'अवतारों' (अर्थात् प्रकरणों) में विभक्त है। उत्तरार्ध तिङन्त तथा कृदन्त का

---

१. दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमतः। रूपावतार, भाग २, पृष्ठ १५७।

२. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव कृते सति एकाच्त्वात् यङ्
उदाहृतः चोचूर्यते इति (मिलाइये-रूपावतार, भाग २, पृष्ठ २०६)।

परिचायक है। इसे ही प्रक्रिया पद्धति का उपलब्ध आदिम ग्रन्थ मानना उपयुक्त है। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में विशेष प्रसिद्ध हुआ। प्राकृत भाषा के एतत्सदृश व्याकरण ग्रन्थ का नामकरण इसी के सादृश्य पर 'प्राकृत रूपावतार' रखा इसके रचयिता सिंहराज ने (रचना काल १५ शती)। पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में इसने एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया जिसका आधार मानकर कालान्तर में ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा।

प्रक्रिया कौमुदी के प्रणेता

प्रक्रिया कौमुदी ही प्रक्रिया-युग की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके प्रणेता का नाम था—रामचन्द्राचार्य। कौमुदी पर प्रसाद नाम्नी वृत्ति के रचयिता विट्ठल आचार्य रामचन्द्र के पौत्र थे। उन्होंने इस वृत्ति के आरम्भ में तथा अन्त में अपने वंश का विस्तृत वर्णन किया है। उसके आधार पर हम इस वंश के आचार्यों के विषय में विशिष्ट विवरण दे सकते हैं। रामचन्द्र का वंश आन्ध्र देश से सम्बद्ध था। यह 'शेष' नामक वंश कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी था। इस वंश का वृक्ष इस प्रकार है—
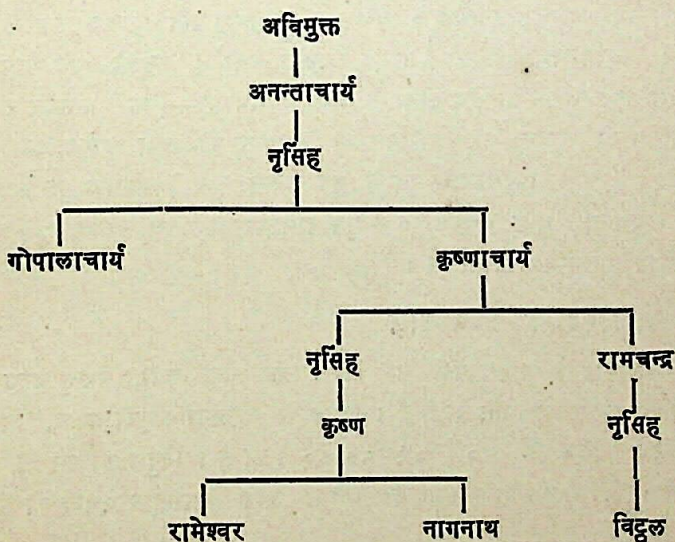
इन वंश के प्रधान पुरुषों का परिचय इस प्रकार है—

(१) अनन्ताचार्य—अविमुक्त के पुत्र, शिष्य का नाम रामस्वामी; कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण; ये वैष्णव थे तथा पाञ्चरात्र आगम की व्याख्या करने में नितान्त निपुण थे।

(२) नृसिंह—आगम, नियम, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा गणित के प्रौढ़ विद्वान्; सौदर्शन भाष्य का विवरण प्रस्तुत किया।

(३) कृष्णाचार्य—अष्टादश विद्याओं के पारगामी विद्वान; राम नामक किसी राजा के दरबार में सूत्रवृत्ति की व्याख्या की। अनन्त के पौत्र तथा नृसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे।

(४) रामचन्द्र—कृष्णाचार्य के कनिष्ठ पुत्र; ये सार्वभौम विद्वान थे—चतुर्दश विद्याओं का अध्यापन करते थे जिसमें पतञ्जलि का महाभाष्य भी सम्मिलित था; इन्होंने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया था—(क) प्रक्रिया-कौमुदी, (ख) काल-निर्णयदीपिका तथा (ग) वैष्णव-सिद्धान्त दीपिका; इन्होंने अपने ज्येष्ठ पितृव्य गोपाला-चार्य तथा पिता कृष्णाचार्य से शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये दोनों इनके गुरु थे।

(५) नृसिंह—रामचन्द्र के पुत्र; इनके गुरु पितृव्यपुत्र कृष्ण थे। पिता के 'काल-निर्णयदीपिका' के ऊपर 'विवरण' नामक व्याख्यान लिखा जिसमें गुरु कृष्ण की अनुकम्पा से विद्या के अभ्यास तथा विवरण के लिखने का वर्णन है।

(६) विट्ठल—नृसिंह के पुत्र; प्रक्रिया कौमुदी की वृत्ति 'प्रसाद'[1] नाम्नी लिखी तथा अपने पितामह के वैष्णव-मत विषयक ग्रन्थ 'वैष्णव सिद्धान्त दीपिका' के ऊपर 'न्यायस्नेह प्रपूरणी' नामक व्याख्या रची[2]। इन्होंने अपने गुरुओं का नाम-निर्देश तथा संक्षिप्त परिचय टीका के अन्त में दिया है—(क) यतिवर राघव जिन्होंने वादीन्द्रों को परास्त कर अद्वैतमत की स्थापना की तथा भाष्यादिकों का संस्कार किया। (ख) विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त; (ग) गोपाल गुरु के पुत्र आचार्य बुध-रामचन्द्र; (घ-ङ) कृष्ण-गुरु के पुत्र रामेश्वराचार्य तथा नागनाथ; (च) वेदान्त-निष्णात यतिवर जगन्नाथाश्रम।

प्रक्रिया-कौमुदी का रचनाकाल

ग्रन्थकार के रचनाकाल का निर्देश स्वयं नहीं किया, परन्तु बाह्य साधनों से निर्माण-काल की अवगति होती है। विट्ठल के 'प्रक्रिया-कौमुदी प्रकाश' का सर्वप्राचीन हस्तलेख १५३६ वि० सं० (=१४८० ई०) का है। विट्ठल को इस तिथि से प्राचीन होना चाहिये (लगभग १४२५ ई०) तथा उनके पितामह रामचन्द्र को उनसे लगभग

---

१. प्रक्रिया-कौमुदी प्रसाद टीका के साथ सं० पण्डित कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ८२, दो भागों में प्रकाशित १९२५ (प्रथम भाग) तथा १९३१ (द्वितीय भाग) बम्बई।

२. द्रष्टव्य—प्रसाद का द्वितीय खण्ड, पृ० ४ (वही प्रकाशन)।

पचास पूर्व होना चाहिये (१३७५ ई०)। प्रक्रिया-कौमुदी के उत्तरार्ध के सर्वप्राचीन कीटदष्ट हस्तलेखका काल १४९३ संवत् (अर्थात् १४३७ ई०) है। फलतः रामचन्द्र का समय चतुर्दश शती का उत्तरार्ध मानना उचित प्रतीत होता है (१३५० ई०–१४०० ई० लगभग)। रामचन्द्राचार्य का 'काल-निर्णय दीपिका' ग्रन्थ माधवाचार्य के 'काल-निर्णय' का संक्षिप्तसार प्रस्तुत करता है। ये माधवाचार्य वेदभाष्य के कर्ता सायण के अग्रज है—बुक्कराम प्रथम (१३५० ई०–१३७९ ई०) के प्रधानामात्य। इस तथ्य से भी पूर्व निर्दिष्ट समय-सीमा की पुष्टि होती है।

प्रक्रिया-कौमुदी

प्रक्रिया-कौमुदी के दो भाग हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में सुबन्त शब्दों के ज्ञान के लिए क्रम से संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्री-प्रत्यय, विवेक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित का वर्णन है। उत्तरार्ध में तिङन्तों का विवरण है जिसमें भ्वादि दशगणीय धातु, ण्यन्तादि धातु तथा कृत्-प्रत्ययों का क्रमशः विवेचन किया गया है। रूप की सिद्धि के लिए आवश्यक तथा उपादेय सूत्रों का यहाँ प्रतिप्रकरण में संकलन है तथा लघुवृत्ति के साथ उचित दृष्टान्त दिये गये हैं। वैदिक शब्द के साधक सूत्रों का यहाँ सर्वथा सद्भाव है। रामचन्द्र वैष्णव मतानुयायी थे। फलतः उदाहरणों में सर्वत्र वैष्णवता का पुट है। रूपावतार तथा काशिका में 'इको-यणचि' सूत्र के उदाहरण 'दध्यत्र' तथा 'मध्वत्र' दिये गए हैं, वहाँ इस ग्रन्थ में 'सुदध्युपास्य' तथा 'मध्वरि' दृष्टान्त दिये गए हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी वैष्णव-मतानुयायी उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। रूपावतार में अजन्त पुंल्लिग 'वृक्ष' के स्थान पर प्रक्रिया-कौमुदी 'राम' शब्द को प्रस्तुत करती है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' में इन उदाहरणों को ही मुख्यतया स्थान दिया गया है। रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में महाभाष्य तथा काशिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, वहाँ सूत्र १ १।१० तथा १।३।२ की व्याख्या के अवसर पर 'रूपावतार' के भी श्लोक दिये हैं। प्रक्रिया-शैली का प्राचीन प्रौढ़ ग्रन्थ होने से 'प्रक्रिया-कौमुदी' का माहात्म्य स्पष्ट है। भट्टोजिदीक्षित ने यहीं से स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अपनी 'सिद्धान्त-कौमुदी' का निर्माण किया। यह तथ्य दोनों ग्रन्थों की तुलना से नितान्त स्पष्ट हो जाता है।

टीकायें

प्रक्रिया-कौमुदी की टीका-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण समृद्ध है।

---

१. प्रक्रिया-कौमुदी का संस्करण प्रसाद टीका के साथ के० पी० त्रिवेदी ने किया है। बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ८५, बम्बई, १९२५-१९३१।

(क) **प्रक्रिया-प्रसाद**—इसके रचयिता ग्रन्थकार के पौत्र विट्ठलाचार्य हैं। समय १५५० ई० के आस-पास। संक्षेप करने के कारण आवश्यक होने पर भी परित्यक्त सहस्र से अधिक सूत्रों की यहाँ व्याख्या देकर मूल ग्रन्थ को पुष्ट तथा पूर्ण बनाने का श्लाघनीय प्रयास है। इसलिए यह टीका पर्याप्तरूपेण विपुल है। प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व भी किसी ने व्याख्या लिखी थी जिसमें प्रक्षेपों द्वारा मलिनी-कृत मूल के उद्धारार्थ इस 'प्रसाद' टीका का उद्देश्य है[२]।

(ख) **प्रक्रिया-प्रकाश**—शेष वंश के प्रख्यात विद्वान् शेषकृष्ण ने इस विस्तृत टीका का प्रणयन किया है। ये अकबर के समकालीन थे। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री वीरवर (वीरबल) के आदेश से उन्हीं के 'कल्याण' नामक पुत्र को व्याकरण सिखाने के लिए इन्होंने यह व्याख्या लिखी। इसका परिचय टीका के आरम्भिक पद्यों से चलता है। शेष नृसिंह के आत्मज शेषकृष्ण १६वीं शती के वैयाकरणों में मुख्य थे। भट्टोजिदीक्षित ने इन्हीं से व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था। शेष श्रीकृष्ण ने इसके आरम्भ में अपने आश्रयदाता राजा वीरबल (बादशाह अकबर के सभा-सचिव) का पूरा वंशवृक्ष तथा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। वीरबल का यह विवरण समसामयिक व्यक्ति के द्वारा निर्दिष्ट होने से प्रामाणिक है। ब्रह्मावर्त के 'पत्रपुञ्ज' (पटौंजा) नामक ग्राम में ब्राह्मण वंश में उनका जन्म हुआ था। वीरबल के पितामह का नाम महाराज रूपधर, तथा पिता का महाराज गङ्गादास। यह ब्राह्मणवंश राजा की पदवी धारण करता था। राजा बीरबल अकबर बादशाह के मन्त्री तथा उपदेष्टा के रूप में विख्यात हैं। वह रूप यथार्थ है जो यहाँ उनकी विरुदावलि से सुस्पष्ट है[१]। फलतः वीरबल को ब्रह्मभट्ट वंश में उत्पन्न मानने की जो प्रथा आजकल प्रचलित है वह नितान्त दूषित तथा अप्रामाणिक है। वीरबल के पुत्र कल्याणमल्ल अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि तथा स्वभावतः व्याकरण के प्रेमी थे। इन्हें ही पाणिनि की शिक्षा देने के लिए राजा वीरबल के द्वारा आदिष्ट होकर शेष श्रीकृष्ण ने प्रक्रिया कौमुदी की यह पाण्डित्य-मण्डित व्याख्या लिखी 'प्रक्रिया-प्रकाश' नाम्नी।

---

१. कामो वामदृशां निधिर्नयजुषां कालानलो विद्विषां
 स्वःशाखी विदुषां गुरुर्गुणवतां पार्थो धनुर्धारिणाम्।
लीलावासगृहं कलाकुलभुवां कर्णः सुवर्णार्थिनां
 श्रीमान् वीरवरः क्षितीश्वरवरो वर्वर्ति सर्वोपरि॥

—आरम्भ का २१ श्लोक।

नामसाम्य कितना भ्रामक होता है। प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याकार शेष कृष्ण के पिता का नाम नृसिंह था। उधर प्रक्रिया-कौमुदी के भ्रातुष्पुत्र का भी नाम कृष्ण ही था। इस नामसमता से डा० रामकृष्ण भण्डारकर को भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही है कि दोनों एक ही थे, वरन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(१) भट्टोजिदीक्षित ने अपने 'प्रौढमनोरमा' में विट्ठल तथा कृष्ण के मतों का स्थान-स्थान पर खण्डन किया। वे विट्ठल को यदाकदा 'तत्पौत्र' अर्थात् रामचन्द्र का पौत्र कहते हैं, परन्तु कृष्ण को कभी भी तद्भ्रातीय या तद्भ्रातुष्पुत्र नहीं कहते। कभी प्राच्, कभी व्याख्यातरः आदि शब्द ही कृष्ण के लिए प्रयुक्त हैं।

(२) श्रीकृष्ण ने 'प्रक्रिया-प्रकाश' में विट्ठल के मत का खण्डन किया है और उस अवसर पर उनके लिए 'प्राच्' (प्राचीन) शब्द का प्रयोग किया है। यह असम्भव-सी बात है, क्योंकि विट्ठल कृष्ण के पितृव्य के पौत्र थे—अर्थात् अवस्था में उनसे छोटे थे। अतः प्रक्रियाप्रकाश के कर्ता विट्ठल के सम्बन्धी नहीं थे।

(३) 'कालनिर्णय-दीपिका-विवरण' के अन्त में विट्ठल के पिता नृसिंह ने कृष्णाचार्य को अपना गुरु बतलाया है तथा उन्हें काव्यों की टीका लिखने वाला कहा है। यदि प्रक्रिया-प्रकाश वाले कृष्ण यही कृष्णाचार्य होते, तो उनके इस महनीय ग्रन्थ का यहाँ उल्लेख अवश्य किया गया होता।

(४) दोनों के देशकाल में भी पर्याप्त पार्थक्य है। रामचन्द्र के भ्रातुष्पुत्र कृष्ण आन्ध्रदेशीय तथा १५वीं शती के ग्रन्थकार थे। उधर प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता कृष्ण महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे तथा वीरबल के पुत्र के शिक्षणार्थ इस ग्रन्थ की रचना के कारण १६ वीं शती के व्यक्ति थे।

फलतः ये दोनों विभिन्न व्यक्ति थे।

कृष्ण शेषकुल में उत्पन्न हुए थे और इसीलिए वे शेष-कृष्ण अथवा कृष्ण-शेष के नाम से विख्यात थे। व्याकरण के अतिरिक्त काव्य-नाटक के निर्माण में भी वे नितान्त दक्ष थे। उनकी कतिपय रचनायें ये हैं—

(क) कंसबध (नाटक)—इस नाटक के रचयिता कृष्ण को डा० औफ्रेक्ट ने अपनी बृहत् ग्रन्थ सूची में प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता से भिन्न माना है। परन्तु इस नाटक की अन्तः परीक्षा दोनों की अभिन्नता की साधिका है। व्याकरण की महिमा का प्रशंसक यह पद्य दोनों ग्रन्थों में मिलता है—

रसालंकार-सारापि वाणी व्याकरणोज्झिता।
श्वित्रोपहत-गात्रेव न रञ्जयति सज्जनान्[1] ॥

नाटककार अपने को वैयाकरण लिखने में गौरव का अनुभव करता है—'आर्ये भूषणमेतद् न दूषणं कवीनां व्याकरण-कोविदता' इति (कंसवध, पृष्ट ७)।

(ख) परिजात-हरण चम्पू; (ग) शब्दालङ्कार, (घ) पदचन्द्रिका, (ङ) कृष्ण कौतूहल (पद-चन्द्रिका का विवरण)।

(च) प्रक्रिया प्रकाश—यह प्रक्रियाकौमुदी की विपुलार्था विस्तृत व्याख्या है। प्रक्रियाकौमुदी की लोकप्रियता का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राजा बीरबल ने अपने पुत्र के शिक्षण के लिए इसी ग्रन्थ को चुना और टीका लिखने के लिए शेष कृष्ण से प्रार्थना की। विट्ठल के 'प्रक्रिया-प्रसाद' के बहुस्थलों पर खण्डन करने पर भी प्रक्रिया-प्रकाश प्रसाद से प्रभावित है। विट्ठल अपने सौजन्य दिखलाने से कभी नहीं चूकते। उधर शेष-कृष्ण औद्धत्य का प्रदर्शन करते हैं।

प्रक्रिया-कौमुदी का वैशिष्ट्य

प्रक्रिया-कौमुदी का लक्ष्य लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का साधुता की परीक्षण है। लक्ष्यैकचक्षुष्क होना वैयाकरणों के लिए भूषण ही नहीं है, प्रत्युत नितान्त आवश्यक भी है। फलतः रामचद्राचार्य ने एक सौ से अधिक अपाणिनीय—पाणिनीय सूत्र से अव्याख्यात, परन्तु लोक में व्यवहृत-प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए सुन्दर व्यवस्था की है। इसीलिए मुनित्रय से अतिरिक्त वैयाकरणों की भी प्रमाणता उन्हें स्वीकृत है—विशेषतः कातन्त्र व्याकरण का तथा वोपदेव रचित मुग्धबोध-व्याकरण का। रामचन्द्र के ऊपर वोपदेव का प्रभाव शब्दों की सिद्धि के विषय में अपाणिनीय वैयाकरणों में सर्वाधिक लक्षित होता है। इस विषय में दो चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) इन्द्रवाचक तुरासाह् शब्द की सिद्धि पाणिनिनय में ण्विप्रत्यय से वेद में ही मान्य है (छन्दसि सहः ३।२।२५ सूत्रानुसार) परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी इसे लोक में भी मान्यता देती है और इस विषय में कातन्त्र तथा मुग्धबोध का ही प्रामाण्य उसे प्राप्त नहीं है, प्रत्युत कवि-प्रयोग[2] भी उसे साहाय्य देता है।

---

१. यह श्लोक कंसवध (काव्यमाला में प्रकाशित) के पृष्ट ७ पर है। प्रक्रिया प्रकाश की आदिम प्रस्तावना का यह ६४ वाँ श्लोक है। 'कंसवध' का अभिनय बादशाह अकबर के प्रख्यात मन्त्री तोडरमल (टोडरमल) के पुत्र गिरिधारी या गोवर्धनधारी के सामने किया गया था।

२. (क) तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः। (कुमारसम्भव, २।१)।
(ख) धरातुराषाहि मदर्थयाच्ञा
कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते (नैषध ३।८५)।

(२) 'पृष्ठवाह' शब्द की सिद्धि 'वहश्च' (३।२।६८) सूत्र से ण्विविधान से होती है, परन्तु 'छन्दसि सहः' (३।२।२५) से छन्दसि की अनुवृत्ति होने से यह भी वेदमें ही मान्य है, परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी किसी के मत में इसे लोक में भी मान्यता देती है। इस तथ्य के निर्णय में वह मुग्धबोध की मान्यता स्वीकार करती है (ढात्भज-वह-सहो विण् (१०२८) सूत्र को, जो लोक में भी इस पद को सिद्ध करता है। लोक में इसका प्रयोग भी होता है[1]।

(३) 'कुत्सितः पन्थाः' इस विग्रह में 'का पथ्यक्षयोः (६।३।१०४) सूत्रानुसार पाणिनि-नय में 'कापथः' ही सिद्ध होता है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र कहते हैं—कुपथोऽपीति केचित्। यहाँ केचित् पद द्वारा मुग्धबोध की ओर संकेत है, जहाँ 'पथि पुरुषे वा' सूत्र (४१०) द्वारा यह पद (कुपथ) सिद्ध होता है। भागवत तथा महाभारत इस शब्द को प्रयोग में भी लाते हैं[2]।

इसी प्रकार रामचन्द्राचार्य मुग्धबोध के अनुसार (४) 'पद्मगन्धि' के साथ ही साथ 'पद्मगन्ध' को मान्यता देते हैं तथा 'घृतगन्धि' (घृतमल्पं यस्मिन् भोजने तत् 'घृतगन्धि' भोजनम्; अल्पाख्यायाम् (५।४।१३६ सूत्रानुसार) के साथ (५) 'घृत-गन्ध' शब्द को भी समर्थन देते हैं[3]।

निष्कर्ष यह है कि रामचन्द्राचार्य ने पाणिनि से भिभिन्न वैयाकरणों का भी मत प्रक्रिया-कौमुदी में संगृहीत कर लिया है—लोक-व्यवहार को दृष्टि में रखकर। और इसके लिए उन्होंने सूत्रों तथा वार्तिकों में नवीन शब्द का सन्निवेश भी रख दिया है जो प्राचीन आचार्यों के मत से विरुद्ध भी पड़ता है। महाभाष्य तथा काशिका उभय ग्रन्थों में 'प्राद्ध-दो-ढ्य-ैष्येषु' यही वार्तिक का स्वरूप है, परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी में यहाँ 'ऊह' शब्द भी पठित है जिससे 'प्रौह' पद की निष्पत्ति होती है। इसके ऊपर प्रक्रिया प्रसाद के कर्ता विट्ठल का कथन है—अन्यमतोपसंग्रहार्थं वार्तिक-मध्य ऊह-

---

१. (क) पृष्ठवाड् युगपार्श्वगः (अमरकोश २।३।६)।
(ख) दारुकं पृष्ठवाहं तु कृत्वा केशव ईश्वरः
(हरिवंश, भविष्यपर्व ५।१।२१)।

२. कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः संप्रवर्तयिष्यते ॥
(भागवत ५।६।१०)

३. ऐसे पदों के रूप तथा सिद्धि के लिए द्रष्टव्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र—प्रक्रिया-कौमुदी-विमर्शः (पृष्ठ ८६—११४; प्र० संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, सं० २०२३)।

शब्दस्य प्रक्षेपः 'प्रौहः' इत्युदाहरणं च। यहाँ वोपदेव के मत का संग्रह किया गया है। ऐसे उदाहरण न्यून हैं, परन्तु उनकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रक्रिया-कौमुदी को इसीलिए विट्ठल 'स्वपरमतयुतां प्रक्रिया-कौमुदीं ताम्' कहते हैं। रामचन्द्र का यह पाणिनितन्त्र में अन्यतन्त्र-सिद्ध मतों का सन्निवेश उनका भट्टोजि-दीक्षित से स्पष्ट पार्थक्य सिद्ध कर रहा है।

शेष श्रीकृष्ण

शेष-वंशावतंस श्रीकृष्ण नृसिंह के पुत्र थे। उन्होंने प्रक्रिया-कौमुदी पर प्रकाश[1] नाम्नी व्याख्या लिखी। यह व्याख्या बड़ी विशद तथा विस्तृत है। इसमें विट्ठल-रचित प्रसाद का भी स्थान-स्थान पर खण्डन है। परन्तु शेषकृष्ण ने प्रक्रिया-कौमुदी की अपनी वृत्ति को 'सत्-प्रक्रिया-व्याकृत' नाम दिया है, परन्तु वह 'प्रकाश' के नाम से विशेष प्रख्यात है। भट्टोजिदीक्षित इन्हीं शेषकृष्ण के व्याकरणशास्त्र में शिष्य थे, तथापि अपनी प्रौढ़मनोरमा में, प्रक्रिया-प्रकाश में उपन्यस्त मत के खण्डन करने से वे कथमपि पराङ्मुख नहीं हुए। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ दीक्षित ने श्रीकृष्ण शेष के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। अतएव अपने गुरु के पूज्य पिता के ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित के द्वारा प्रदर्शित दोषों की कल्पना उनके लिए असह्य हो उठी और इसीलिए उन्हें बाध्य होकर मनोरमा का खण्डन लिखना पड़ा था। इस प्रकार शिष्य के हाथों गुरु के मतखंडन को महान् अपराध मानकर पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित को 'गुरुद्रोही' की अपमानजनक उपाधि से मण्डित किया और 'मनोरमा कुच-मर्दन' नामक अपने वैयाकरण ग्रन्थ में उन्होंने शेषकृष्ण के मूल आशय को प्रकट कर उसका मण्डन तथा दीक्षित के प्रत्याख्यानों का खण्डन बड़ी ही प्रौढ़ता से किया। कृष्णशेष के पौत्र तथा वीरेश्वर के पुत्र 'चक्रपाणिदत्त' ने 'प्रौढ-मनोरम-खण्डन' लिख कर प्रक्रिया-प्रकाश के दूषणों का प्रत्याख्यान पूर्व ही किया था। इन्होंने 'प्रक्रिया-प्रदीप' नामक अन्य ग्रन्थ भी बनाया था।

प्रक्रिया-कौमुदी के ये दो महनीय व्याख्यायें हैं। इनके अतिरिक्त जयन्त-कृत 'तत्त्वचन्द्र' (प्रक्रिया-प्रकाश के आधार पर) वारणवनेश रचित 'अमृतसृति', विश्वनाथ

---

१. यह टीका संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्प्रति मुद्रित हो रही है।

२. द्रष्टव्य—इन खण्डन-मण्डनों के लिए डा० के० पी० त्रिवेदी की प्रक्रिया-कौमुदी की प्रस्तावना पृ० ३४—३५, आद्याप्रसाद मिश्र—प्रक्रिया-कौमुदी-विमर्शः (तृतीय परिच्छेद; पृ० ४५—८५)।

शास्त्री रचित 'सत्-क्रिया व्याकृति', विश्वनाथ दीक्षित-कृत 'प्रक्रिया-रञ्जन' आदि टीकायें [1]हस्तलेखों में ही उपलब्ध हैं। इनसे ग्रन्थ की विपुल प्रसिद्धि की स्पष्ट सूचना मिलती है।

शेषकृष्ण तथा भट्टोजिदीक्षित का वंशवृत्त
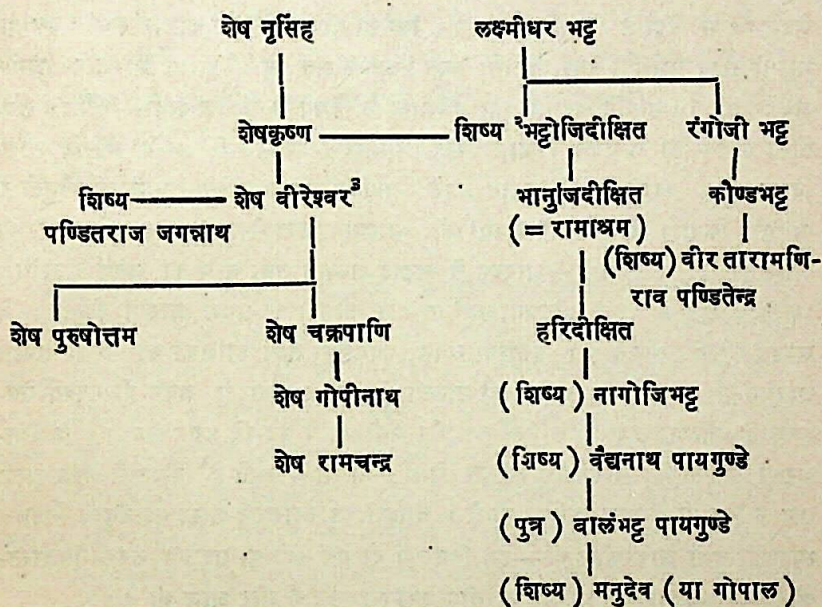
भट्टोजिदीक्षित

सिद्धान्त-कौमुदी के यशस्वी प्रणेता भट्टोजिदीक्षित मूलतः आन्ध्र देश के निवासी थे। उन्होंने तथा उनके भ्रातुष्पुत्र ने अपने ग्रन्थ में 'कालहस्तीश्वर' की वन्दना की

---

१. द्रष्टव्य—पूर्व ग्रन्थ पृ० १२३–१३०।

२. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः) शेष-वंशावतंसानां श्रीकृष्ण-पण्डितानां चिरायार्जितयोः पादुकयोः प्रसादासादितशब्दानुशासनाः। तेषु च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं......दूषणैः स्वयं निर्मितायां मनोरमायामाकुल्यकार्षुः।

३. सा (मनोरमा) च प्रक्रिया-प्रकाशकृतां पौत्रैः......अस्मद्गुरु पण्डित-वीरेश्वराणां तनयैर्दूषिताऽपि स्वमति-परीक्षार्थं पुनरस्माभिर्निरीक्ष्यते।

—'मनोरमाकुचमर्दन' का उपोद्घात।

है। यह देवस्थान मद्रास के चित्तूर जिले में हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे, महाराष्ट्रीय नहीं। इनके कुल को व्याकरणशास्त्र के पारंगत विद्वानों को उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। इनके पिता का नाम था लक्ष्मीधरभट्ट, भ्राता का रंगोजीभट्ट, पुत्र का भानुजिदीक्षित (संन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम'), भ्रातुष्पुत्र का कौण्डभट्ट, पौत्र का हरिदीक्षित। भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण और धर्मशास्त्र का अध्ययन किया प्रक्रियाकौमुदी व्याख्याकार शेष-कृष्ण से, वेदान्त का नृसिहाश्रम से (जिनकी 'तत्त्वविवेक' टीका पर स्वयं 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी) तथा मीमांसा का अप्पयदीक्षित से (दक्षिण भारत के भ्रमण अवसर पर)। इन्होंने वेदान्त तथा धर्मशास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थों—मौलिक तथा टीका ग्रन्थ—का प्रणयन किया, परन्तु वैयाकरण-रूप में ही इनकी प्रसिद्धि लोक-विश्रुत हुई। काशी में ही इन्होंने अपने नाना ग्रन्थों का प्रणयन सिद्धान्त-कौमुदी से पूर्व ही किया। इन्होंने अष्टाध्यायी की व्याख्या 'शब्दकौस्तुभ' के नाम से रची थी जो अधूरी ही मिलती है—आरम्भ से अढाई अध्याय तथा बीच का चतुर्थ अध्याय। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं 'प्रौढमनोरमा' नाम से कौमुदी की प्रथम व्याख्या लिखी। वे खण्डन-रसिक पण्डित थे। इसलिए न्यास, पदमञ्जरी तथा काशिका का उनका खण्डन आश्चर्य में विद्वानों को उतना नहीं डालता, जितना डालता है अपने ही गुरुवर्य शेष-कृष्ण के प्रक्रियाप्रकाश-स्थित मतों का प्रौढ़ मनोरमा में पदे-पदे प्रचुर खण्डन। वे वैया-करणों के मतों के खण्डन में बद्धादर थे। तभी तो वे कहते हैं[1] कैयट से लेकर आज तक के विद्वानों के ग्रन्थ शिथिल ही हैं। दीक्षित का व्याकरण-शास्त्र का वैदुष्य नितान्त स्पृहणीय तथा आदरणीय था—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। उनकी सिद्धान्त-कौमुदी के अध्ययन की अखिल भारतीय परम्परा रही है और आज भी है।

भट्टोजिदीक्षित के आविर्भावकाल के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है, परन्तु हस्तलेखों के आधार पर उनका समय निर्णीत किया जा सकता है। काशी के अद्वैत वेदान्त के प्रौढ तथा प्रचुर लेखक नृसिहाश्रम भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। उन्होंने १५४७ ई० में अपना दार्शनिक ग्रन्थ 'वेदान्त-तत्त्व-विवेक'[2] (या तत्त्व-विवेक) तथा अगले वर्ष उस पर स्वोपज्ञ व्याख्यान 'दीपन' का निर्माण किया। इस दीपन पर व्याख्या लिखी भट्टोजिदीक्षित ने जिसका नाम 'वाक्य माला' या 'दीपन व्याख्या'

---

१. तस्मात् कैयट-प्रभृति अर्वाचीनपर्यन्तं सर्वेषां ग्रन्था इह शिथिला एवेति स्थितम्—प्रौढमनोरमा, उत्तर भाग पृष्ठ ७४२।

२. अब्दे वेद-वियद्रसेन्दुगणिते पौषासिते श्रादिते।
रक्षोनामनि पूरुषोत्तमपुरे ग्रन्थं मुदाऽचीकरत्॥
(भण्डारकर शो० सं० का हस्तलेख)।

अथवा 'तत्त्वविवेक टीका-विवरण' है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने १६९३ विक्रमी में (= १६३७ ई०) में शब्दशोभा नामक अपना व्याकरण-शास्त्र-सम्मत ग्रन्थ लिखा। इन्हीं दोनों संवतों के बीच में दीक्षित का समय होना चाहिये। वत्सराज ने 'वाराणसी-दर्शन प्रकाशिका' नामक व्याख्या-सहित मूल ग्रन्थ का प्रणयन संवत् १६९८ (= १६४२ ई०) में किया। इसके आरम्भ में उन्होंने अपने गुरु रामाश्रम तथा उनके पूज्य पिता भट्टोजिदीक्षित का उल्लेख किया है। नीलकण्ठ शुक्ल-कृत निर्देश इससे पाँच वर्ष पहिले ही है। इनके 'शब्द-कौस्तुभ' का एक हस्तलेख १६३३ ई० का बंगाल हस्तलेख सूचीपत्र में हरप्रसाद शास्त्री ने उल्लिखित किया है। फलतः दीक्षित का समय इससे पूर्व होना चाहिये। इसलिए उनका समय लगभग १५६० ई०–१६१० ई० के बाच मानना प्रमाण पुरःसर प्रतीत होता है।

भट्टोजिदीक्षित के ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र तथा वेदान्त के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग चौतीस है, परन्तु इन सब ग्रन्थों के दीक्षितकर्तृत्व होने की पूर्ण मीमांसा अभी यथार्थतः नहीं हुई। अतः उनके विषय में अभी सन्देह है। धर्मशास्त्र के विषय में उनके निःसंदिग्ध ग्रन्थों के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं[1]—आशौच-प्रकरण (हस्तलेख १७२० सं० = १६६४ ई०); तिथि-निर्णय (हस्तलेख १८१० वि० = १७५४ ई०); त्रिस्थली-सेतु (हस्तलेख १७३२ विक्रमी = १६७६ ई०)। वेदान्त के विषय में इनके ग्रन्थ हैं (क) वेदान्ततत्त्व कौस्तुभ या तत्त्वकौस्तुभ। इसके आरम्भ में केलदी-नरेश वेंकट के आदेश से इसकी रचना का संकेत दिया गया है[2]। (ख) दीपन व्याख्या या तत्त्वविवेक टीका-विवरण—नृसिंहाश्रम ने १६०४ विक्रम संवत् (१५४७ ई०) में वेदान्ततत्त्व विवेक तथा उसकी टीका 'दीपन' का प्रणयन किया था। उसी पर भट्टोजिदीक्षित की यह टीका है। (ग) अद्वैत-कौस्तुभ। क्या ऊपर निर्दिष्ट 'वेदान्ततत्त्व कौस्तुभ' से अभिन्न है? (घ) तत्त्व-सिद्धान्त-चन्द्रिका। विविध-विषय—(१) तन्त्राधिकार-निर्णय—इसमें पाञ्चरात्र के प्रामाण्य तथा अधिकार का विचार किया गया है। इसमें भट्टोजि ने अपने को 'अद्वैतसिद्धान्त-प्रतिष्ठापक' तथा 'श्रौतस्मार्त-सत्-सम्प्रदाय-

---

१. धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम के लिए द्रष्टव्य—गोपीनाथ कविराज रचित 'काशी की सारस्वत साधना', पृ० ४८–४९ (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६५)।

२. केळदीवेङ्कटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषां मुदे।
ध्वान्तोच्छित्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभः॥

प्रवर्तक' कहा है जिससे उनकी अद्वैतनिष्ठा तथा धार्मिक आस्था का पूरा संकेत मिलता है। (२) वेदभाष्य-सार—इस अपूर्व पुस्तक की एक ही हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमें वेद के कुछ मन्त्रों का सायणाश्रित भाष्य है[1]। (३) तत्त्वसिद्धान्त-दीपिका तथा (४) तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य। भट्टोजिदीक्षित के विषय में यह किम्वदन्ती है कि इन्होंने तीर्थयात्रा तथा विद्याग्रहण करने के लिए दक्षिण-यात्रा की थी। वहाँ जाकर इन्होंने अप्पयदीक्षित से वेदान्त तथा मीमांसा का अध्ययन किया था। उस समय अप्पयदीक्षित के संरक्षक वेंकटपति थे जिससे अप्पय ने भट्टोजि का परिचय करा दिया। प्रसिद्ध है कि वेंकटपति के अनुरोध पर भट्टोजि ने एक ग्रन्थ वेदान्त पर तथा एक मीमांसा पर रचा था। वेदान्तवाला ग्रन्थ तो निश्चयेन वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ है, पर मीमांसावाले ग्रन्थ का पता नहीं। तन्त्रसिद्धान्त में भट्टोजि ने अप्पयदीक्षित को गुरुरूप में नमस्कार किया है—

अप्पय्यदीक्षितेन्द्रान् अशेषविद्यागुरूनहं नौमि।
यत्-कृति-बोधाबोधौ विद्वदविद्वद्विभाजकोपाधी॥

व्याकरण के विषय में भट्टोजिदीक्षित के ये ग्रन्थ प्रख्यात हैं—(१) शब्द-कौस्तुभ, (२) सिद्धान्त कौमुदी, (३) प्रौढ मनोरमा, (४) धातुपाठनिर्णय तथा (५) लिङ्गानुशासन-वृत्ति। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थ दीक्षित की शास्त्रीय वैदुषी के स्तम्भ-स्थानीय हैं। शब्दकौस्तुभ का उल्लेख सिद्धान्त-कौमुदी के अन्त में (उत्तर कृदन्त) किया गया है। अतः यह सिद्धान्त-कौमुदी के निर्माण से प्रथम ही विरचित हो गया था। शब्दकौस्तुभ व्याकरण शास्त्र का बड़ा ही प्रौढ तथा व्यापक ग्रन्थ है। दुःख है कि यह ग्रन्थ तृतीय अध्याय के चतुर्थ आह्निक तक ही लिखा गया था। है तो यह अष्टाध्यायी की ही विस्तृत वृत्ति, परन्तु महाभाष्य में प्रतिपाद्य विषयों का भी समीक्षण तथा परिवृंहण करने के कारण यह महाभाष्य का भी विवेचक माना जा सकता है। इसके विषय में दीक्षित स्वयं लिखते हैं कि महाभाष्यरूपी समुद्र से उद्धृत किया गया यह कौस्तुभ है (फणिभाषित-भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः) फलतः दीक्षित जी स्वयं इस ग्रन्थ को महाभाष्य के सिद्धान्तों का निचोड़ मानते थे।

सिद्धान्त कौमुदी का विवरण आगे दिया गया है। भट्टोजिने अपनी इस मौलिक कौमुदी पर प्रौढमनोरमा नाम्नी विशद-विस्तृत व्याख्या रची। मनोरमा में खण्डन-मण्डन का प्राचुर्य है, महाभाष्य के ऊपर ग्रन्थकार की भूयसी आस्था है। फलतः उसी

---

१. माधवाचार्य-रचितात् वेदभाष्यमहार्णवात्।
श्रीभट्टोजिदीक्षितेन सारं उद्ध्रियतेऽधुना॥ —श्लोक २।

के केन्द्रबिंदु से वे अपने व्याकरण गुरु शेषकृष्ण के प्रक्रिया-प्रकाश में निहित मतों के खण्डन करने से वे पराङ्मुख नहीं हुए। शेषकृष्ण के मतों के इस खण्डन से उनके पक्षवाले पण्डितों को क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। मनोरमा में दीक्षित द्वारा उद्भावित दोषों का निराकरण कर प्रक्रिया-प्रकाश की गौरव रक्षा दो विद्वानों ने की—(१) शेषकृष्ण के पौत्र तथा शेष वीरेश्वर के पुत्र शेष चक्रपाणि के 'परमतखण्डन' लिखकर। (२) तदनन्तर शेषकृष्ण के पुत्र शेष-वीरेश्वर के शिष्य पण्डितराज जगन्नाथ ने 'मनोरमा-कुचमर्दन' लिखकर। तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजि-दीक्षित ने अपने पिता के मतों का फिर समर्थन करते हुए 'मनोरमा-मण्डन' का निर्माण किया। इस प्रकार यह शास्त्रार्थ दोनों ओर से खूब चलता रहा।

सिद्धान्त-कौमुदी

'प्रक्रिया-कौमुदी' प्रक्रिया-पद्धति का अनुसरण करण करने वाला प्राथमिक प्रयास था, इसलिए रामचन्द्राचार्य ने नितान्त आवश्यक सूत्रों के संकलन करने में ही अपने को सीमित रखा। 'सिद्धान्त-कौमुदी' इस शैली का चूडान्त परिवृंहित अध्यवसाय है, क्योंकि यहाँ अष्टाध्यायी के समग्र सूत्र तत्तत् प्रकरणों में सन्निविष्ट कर लिए गये हैं। पूर्वार्ध में सुबन्त, समास तथा तद्धित का विवरण है, उत्तरार्ध में तिङन्त के अन्तर्गत गणानुसारी धातुओं का संकलन, णिजन्तादिकों तथा भागद्वय में विभक्त कृदन्त का क्रमशः प्रतिपादन है। भट्टोजिदीक्षित ने वैदिक तथा स्वर प्रक्रिया को पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया है। वैदिकी तो अष्टाध्यायी के अध्यायानुकूल संकलित है, परन्तु स्वर-प्रक्रिया में यह नियम सर्वांशतः गृहीत नहीं किया गया है। प्रतीत होता है कि मूल-ग्रन्थ में केवल लौकिक शब्दों की सिद्धि अभीष्ट रही। फलतः उत्तर कृदन्त की समाप्ति के साथ ही कौमुदी की भी समाप्ति है[1]। स्वरवैदिकी की कल्पना अवान्तरकालीन प्रतीत होती है : मूल कौमुदी में सूत्रों की संख्या ३३८६ है, वैदिक प्रक्रिया में २६३ तथा स्वर प्रक्रिया में ३२९। इसप्रकार समस्त सिद्धान्त-कौमुदी में ३९७८ सूत्र व्याख्यात है। माहेश्वर सूत्रों को सम्मलित कर यह संख्या चार सहस्रों के पास तक पहुँच जाती है (तीन सहस्र नौ सौ बानवे = ३९९२ सूत्र)। 'स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका' के अनुसार सूत्रों की संख्या इससे केवल तीन ही अधिक बतलाई जाती है[2]। फलतः 'सिद्धान्त-

---

१. इत्थं लौकिक-शब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

२. चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्र-विवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥ —श्लोक १५।

कौमुदी' अष्टाध्यायी के समग्र सूत्रों का प्रक्रियानुसारी संकलन हैं। और यही उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

सिद्धान्त-कौमुदी के व्याख्याकार

अपने उत्पत्तिकाल से ही सिद्धान्त-कौमुदी ने टीका लिखने के लिए व्याकरण के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। यों तो मूललेखक भट्टोजिदीक्षित ने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी **प्रौढ़मनोरमा**, जिसके ऊपर अनेक टीका-प्रटीका उपलब्ध हैं। कौमुदी के हो व्याख्यारूप बृहत् शब्देन्दु-शेखर तथा लघुशब्देन्दुशेखर की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ अन्य टीकाकारों का उल्लेख करना अभीष्ट है।

कौमुदी के सर्वप्राचीन टीकाकार हैं **ज्ञानेन्द्र सरस्वती** जिनको **तत्त्वबोधिनी** टीका प्रौढमनोरमा पर आश्रित होने से विशेष प्रख्यात तथा प्रामाणिक मानी जाती है। ये भट्टोजिदीक्षित के समकालीन माने जाते हैं। फलतः इनका समय है लगभग १५८० ई०–१६४० ई०। स्थान काशी। दूसरी लोकप्रिय तथा छात्रोपयोगी व्याख्या है—**बालमनोरमा** जिसके रचयिता है **वासुदेव** दीक्षित। महादेव वाजपेयी तथा अन्नपूर्णा के पुत्र थे ये वासुदेव दीक्षित। तंजोर के महाराष्ट्र राजा **शाहजी** (१६८४ ई०–१७१० ई०) के प्रधानमत्री प्रख्यात त्र्यम्बकराय मखी तथा सरफोजी प्रथम तथा तुक्कोजी महाराजाओं के (शासन-समय लगभग १७११ ई०–१७३५ ई०) मुख्य अमात्य आनन्दराय मखी के द्वारा सम्पादित यज्ञों में महादेव वाजपेयी ने अध्वर्यु का कार्य किया था। फलतः वासुदेव दीक्षित का समय १८ शती का पूर्वार्ध है (लगभग १७०० ई०–१७६० ई०)। ये वैयाकरण होने के संगमें प्रौढ मीमांसक भी थे। इनका ग्रन्थ **'अध्वरमीमांसा-कौतूहलवृत्ति'** पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर विशाल, विशद तथा परमत-विदूषक व्याख्या होने से नितान्त प्रख्यात है। इनकी कौमुदी-व्याख्या बालमनोरमा बहुत ही उपयोगी, सरल-सुबोध तथा नितान्त लोकप्रिय है। कौमुदी के लगभग बीस टीकाओं का नाम डा० आउफ्रेक्ट ने अपने 'बृहत्पुस्तक-सूची' में दिया है। परन्तु शिवराम की **विद्या-विलास** नाम्नी व्याख्या भी सिद्धान्त-कौमुदी के ही ऊपर है जिसका निर्देश उन्होंने नहीं किया है। शिवराम का पूरा नाम **शिवराम त्रिपाठी** था। ये त्रिलोकचन्द्र के पौत्र, कृष्णराज के पुत्र तथा गोविन्दराम, मुकुन्दराम और केशवराम के अग्रज थे। इन्होंने प्राचीन काव्यों पर टीका लिखने के अतिरिक्त नवीन काव्यों की भी रचना की। काव्यप्रकाश की **विषमपदी** नामक व्याख्या, वासवदत्ता, कादम्बरी तथा दशकुमारचरित की टीकायें, लक्ष्मीनिवासाभिधान नामक उणादि कोष आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। कौमुदी की टीका का नाम **कौमुदी-विद्याविलास** या केवल **विद्याविलास** ही है (विद्याविलासः कौमुद्यां शिवराम-विनिर्मितः)। इसकी अधूरी प्रति उपलब्ध है। इसमें नागेशभट्ट का तथा उनके दोनों

ग्रन्थ शब्देन्दुशेखर तथा पारिभाषेन्दुशेखर का नाम निर्दिष्ट है। फलतः शिवराम त्रिपाठी का समय नागेश से अर्वाक्कालीन है—१८वीं शती का मध्यभाग (लगभग १७२५ ई०–१७७५ ई०)। इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों का नाम-निर्देश टीका के आरम्भ में किया है[1]। ध्यातव्य है कि निर्दिष्ट नामों में उणादि कोश का ही नाम 'लक्ष्मीनिवासाभिधान' तथा कौमुदीवृत्ति का ही अभिधान 'विद्याविलास' है।

भट्टोजिदीक्षित का परिवार

दीक्षित का परिवार अपनी विद्वत्ता के लिए प्रख्यात था। उसके सदस्यों ने विभिन्न शास्त्रों में प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की है जिनका आदर तथा सत्कार आज भी निखिल भारतवर्ष में है। इन सदस्यों का परिचय इस प्रकार है—

(१) रङ्गोजीभट्ट—कोण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के आरम्भ में 'पितरं रंगोजिभट्टाभिधम्' द्वारा रंगोजिभट्ट को अपना पिता घोषित किया है। 'भट्टोजीदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये' कहकर भट्टोजिदीक्षित को अपना पितृव्य द्योतित किया है। फलतः भट्टोजिदीक्षित तथा रंगोजीभट्ट दोनों सहोदर भ्राता थे। रंगोजि ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैत-चिन्तामणि' के अन्त में भट्टोजिदीक्षित को अपना गुरु लिखा है और यह गुरुत्व भट्टोजिदीक्षित के अनुज होने पर ही उनमें सुसंगत होता है। फलतः रंगोजी कनिष्ठ भ्राता थे, ज्येष्ठ भ्राता मानना उचित नहीं। 'नृसिंहाश्रम' के मतका उल्लेख इस ग्रन्थ में तीन बार है और तीनों स्थानों पर वे 'गुरुचरण' कहे गये हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका में वे अपने को 'आनन्दाश्रम-चरणविन्द-सेवा-परायण' लिखते हैं। फलतः रंगोजी इन

---

१. इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों का निर्देश इस टीका के आरम्भ में किया है—

काव्यानि पञ्चनुनयो युग-सम्मिताश्च,
टीकास्त्रयोदश चैक उणादिकोशः।
भूपालभूषणमथो रसरत्नहारो
विद्याविलास इनपूर्वं फलाचिरब्दे॥
ग्रन्थान् मया विरचितान् परिशीलयन्तु।
शीलान्विताः सुमनसो मनसो मुदे मे॥

द्रष्टव्य—डा० गोडे–स्टडीज् इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री भाग १, पृ० २३७–२४१।

२. वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा।
भट्टोजीभट्टसंज्ञं तं गुरुं नौमि निरन्तरम्॥
—अद्वैतचिन्तामणि पृ० ७६।

दोनों स्वामियों के शिष्य थे—नृसिंहाश्रम तो उस युग के प्रौढ वैदुषीसम्पन्न, अद्वैत-दीपिका, वेदान्ततत्त्व विवेक, भेदधिक्कार आदि अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों के प्रख्यात लेखक थे जिनके शिष्य होने का गौरव भट्टोजिदीक्षित को भी प्राप्त था। रंगोजीभट्ट अद्वैत वेदान्त के पण्डित थे, क्योंकि इस विषय में इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं—(१) अद्वैतचिन्तामणि[1] तथा (२) अद्वैतशास्त्र-सारोद्धार। अद्वैतचिन्तामणि दो परिच्छेदों में विभक्त है, प्रथम में न्याय वैशेषिक के पदार्थों का विस्तृत खण्डन है तथा द्वितीय में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का यथाविधि विवरण उपन्यस्त है। (३) ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति जिसका निर्देश कौण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के पृष्ठ ९४ पर किया है (के० पी० त्रिवेदी का संस्करण)।

(२) भानुजिदीक्षित—भट्टोजिदीक्षित के ये पुत्र थे। इनका अपरनाम वीरेश्वर दीक्षित था। संन्यास लेने पर इनका नाम रामाश्रम था। इन्होंने भी ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें अमरकोश की टीका व्याख्यासुधा[2] (रामाश्रमी के नाम से ख्यात) विद्वत्ता के कारण बड़ी लोकप्रिय तथा प्रामाणिक मानी जाती है। धर्मशास्त्र-विषय में इनका ग्रन्थ है—दानविवेक तथा व्याकरण में मनोरमामण्डन जिसमें शेष चक्रपाणि के 'परमत-खण्डन' का खण्डन कर भट्टोजिदीक्षित के मत का मण्डन है।

(३) कौण्डभट्ट—रंगोजीभट्ट के पुत्र तथा भट्टोजिदीक्षित के भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट ने व्याकरण तथा न्याय-वैशेषिक पर ग्रन्थ लिखे हैं—(क) व्याकरण में—वैयाकरण सिद्धान्त-दीपिका, वैयाकरण-सिद्धान्तभूषण तथा उसका संक्षेप 'वैयाकरण सिद्धान्त-भूषणसार' और स्फोटवाद। (ख) न्याय-वैशेषिक में—तर्कप्रदीप (राजा वीरभद्र के अनुरोध से रचित), तर्करत्न (न्यायपदार्थदीपिका में उल्लिखित) तथा न्याय-पदार्थ-दीपिका (प्रकाशित)।

(४) हरिदीक्षित—भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा भानुजिदीक्षित के पुत्र थे। ये प्रौढ़ वैयाकरण माने जाते थे। नागोजीभट्ट के गुरु होने का गौरव इन्हें प्राप्त है। शब्दरत्न के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—लघु शब्दरत्न तथा वृहत् शब्दरत्न। इनके रचयिता के विषय में पण्डितों में मत-वैविध्य है। पण्डितों की मान्यता है कि लघु शब्दरत्न का प्रणयन नागेशभट्ट ने ही किया, परन्तु अपने पूज्य गुरु हरिदीक्षित के नाम पर उसे प्रचारित किया। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने शब्दरत्न की 'भाव प्रकाशिका' नाम्नी विस्तृत प्रमेय-बहुल व्याख्या लिखी। उसके आरम्भ में वे लिखते हैं—

---

१. सरस्वती भवन टेक्स्ट्स (संख्या २) में प्रकाशित (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; १९२०)।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३४४—३४५।

गुरुं नत्वा श्रये बद्धशब्दरत्नेन्दुशेखरम् ।

आशय है कि शब्दरत्नेन्दु शेखर के निर्माता अपने गुरु का प्रणाम कर टीका लिख रहा हूँ। पायगुण्डे के पूज्य गुरु नागेशभट्ट थे। अतः उनकी सम्मति में यह उनके गुरु कीं ही रचना है। नागेश ने अपने प्रौढ ग्रन्थों के नाम में 'इन्दु-शेखर' शब्द रखा है यथा शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर और आचारेन्दुशेखर। उसी शैली में इस ग्रन्थ का भी पूरा नाम था—शब्दरत्नेन्दुशेखर जो सामान्यतः संक्षिप्त 'शब्दरत्न' नाम से ही अभिहित किया जाता है। शिष्य को गुरु की सच्ची रचना से परिचित होना स्वाभाविक ही है। सुनते हैं बृहत्-शब्द-रत्न हरिदीक्षित की रचना है जिसका संक्षेप नागेश लघु शब्दरत्न में प्रस्तुत किया।

शब्दरत्न स्वयं प्रौढमनोरमा की टीका है और उसके ऊपर प्राचीन-अर्वाचीन नाना टीकायें समय-समय पर लिखी गई जिनमें वैद्यनाथ पायगुण्डे की भाव-प्रकाशिका तथा भैरव मिश्र की 'रत्न-प्रकाशिका' (प्रख्यात नाम भैरवो) नितान्त प्रसिद्ध हैं। भैरव मिश्र के पिता का नाम भवदेव तथा माता का सीता था। अगस्त्य गोत्र में में उत्पन्न हुए थे। नागेश की रचनाओं के व्याख्याता होने के नाते विशेष प्रसिद्ध हैं। १८ वीं शती में मध्य भाग में वर्तमान भैरव मिश्र व्याकरण के बड़े प्रौढ़ विद्वान् माने जाते थे।

कोण्डभट्ट

कोण्डभट्ट के वैयाकरण-भूषण तथा वैयाकरण-भूषणसार ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों के प्रकाशक ग्रन्थरत्नों में अन्यतम हैं। य भट्टोजिदीक्षित के अनुज रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। व्याकरण के अतिरिक्त न्यायदर्शन के विषय में भी इन्होंने प्रौढ ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनके समय का परिचय भली-भाँति लगता है।

वैयाकरण-भूषण के एक हस्तलेख का काल १७६२ वि० (=१७०६ ई०) है तथा वैयाकरण-भूषणसार के हस्तलेख का समय १७०६ वि०=१६५० ई० है। इससे स्वतः सिद्ध होता है कि वैयाकरण-भूषण तथा उसके साररूप वैयाकरण-भूषण-सार का प्रणयन १६५० ई० से पूर्व ही हो गया था। न्याय-पदार्थदीपिका (अथवा पदार्थदीपिका[1]) में कोण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण और तर्करत्न नामक अपने ग्रन्थों का उल्लेख किया है। फलतः पदार्थदीपिका की रचना वैयाकरणभूषण के बाद की घटना है। वैयाकरणभूषण में उन्होंने अपने से प्राचीन अनेक आचार्यों तथा उनके

---

१. काशी संस्कृत सीरीज में प्रकाशित। इसमें वैयाकरणभूषण का निर्देश पृ० ३२ तथा ३६ पर तथा तर्करत्न का पृ० ५१ पर मिलता है।

प्रख्यात ग्रन्थों का विधिवत् नाम्ना निर्देश किया है। इनमें चार ग्रन्थकार प्रमुख हैं—(क) अप्पय दीक्षित[1] (भट्टोजि दीक्षित के गुरु), (ख) नृसिंहाश्रम[2] (भट्टोजि के दूसरे गुरु), (ग) भट्टोजि दीक्षित[3] (ग्रन्थकार के पितृव्य) तथा उनके तीनों प्रख्यात ग्रन्थ—मनोरमा, शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त-कौमुदी; (घ) रङ्गोजिभट्ट[4] (ग्रन्थकार के पिता)। कोण्डभट्ट का एक अन्य ग्रन्थ था तर्कप्रदीप जिसकी एक खण्डित प्रति डा० हाल को मिली थी जिन्होंने इसके विषय में लिखा है कि यह ग्रन्थ राजा भद्रेन्द्र के पुत्र राजा वीरभद्र के आदेश से निर्मित किया गया तथा इसमें यज्ञानुष्ठान को प्रोत्साहित करने के लिए राजा वीरभद्र की संस्तुति की गई है। यह ग्रन्थ न्यायलीलावती तथा अद्वैतचिन्तामणि को उद्धृत करता है। यहाँ राजा वीरभद्र का उल्लेख ग्रन्थ के काल-निर्णय में पूर्णतया सहायक है।

ये राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४५ ई०) भद्रप नायक के पुत्र थे। ये मूलतः इक्केरि के शासक थे परन्तु जब राजा शहाजी ने इक्केरि जीत लिया तब ये बेदनूर नामक स्थान में रहने लगे और बेदनूर के राजा के नाम से पीछे प्रख्यात हो गये। यह जगह मैसूर प्रान्त में था। इस स्थान के शासन वीरशैव मतानुयायी तथा केलदी नायक की आख्या से प्रख्यात थे। १६वीं शती के अन्त तथा १७वीं शती के पूर्वार्ध में इनका उस प्रान्त पर बड़ा व्यापक प्रभुत्व था। सबसे प्रख्यात थे वेंकटप्प नायक (राज्यकाल—१५९२-१६२९ ई०)। उनसे पुत्र थे भद्रप्प और पौत्र थे वीरभद्रप्प नायक (१६२९ ई०–१६४५ ई०)। वेंकटप्प ने पौत्र वीरभद्र को ही अपना उत्तराधिकारी चुना, क्योंकि भद्रप्प की मृत्यु उनके जीवित काल में ही हो गई थी। केलदि वंशी इन नायक राजाओं के साथ भट्टोजिदीक्षित के वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसकी पुष्टि मे प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि भट्टोजिदीक्षित, उनके अनुज रंगोजदीक्षित या रंगोजिभट्ट तथा उनके भ्रातुष्पुत्र कोण्डभट्ट इन नायक राजाओं के आश्रय में रहते थे और उनके आदेश से महनीय ग्रन्थों का प्रणयन करते थे।

(क) भट्टोजिदीक्षित ने अपने तत्त्व कौस्तुभ नामक अद्वैत-वेदान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ की रचना केलदी वेंकटेन्द्र के आदेश से को। तत्त्वकौस्तुभ के आरम्भ में (हस्तलेख) इसका स्पष्ट उल्लेख है—

केलदी-वेङ्कटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषां मुदे।
ध्वान्तोच्छित्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभः॥

---

१. वैयाकरणभूषण (के० पी० त्रिवेदी का संकरण, १९१५; बाम्बे) पृ० २२२।
२. वही, पृ० ७७, ७८ तथा १६५।
३–४. वही, पृ० १।

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः ।
शाङ्करादपि भाष्याब्धेः तत्त्वकौस्तुभमुद्धरे ॥

भण्डारकर शोध संस्थान वाली हस्तलिखित प्रति में यही बात ग्रन्थ के अन्त में दुहराई गई है। यह पता चलता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण के कारण भट्टोजिदीक्षित 'विशुद्धाद्वैत-प्रतिष्ठापक' विरुद से भूषित किये गये थे। 'वेंकटेन्द्र' 'वेंकटप्प नायक' का ही नामान्तर है जिनके राज्यकाल का निर्देश ऊपर किया गया है। यह निर्देश भट्टोजि-दीक्षित के समय का पर्याप्त सूचक है कि वे लगभग १६२५ ई० या इसके आसपास तक अवश्य विद्यमान रहे।

(ख) केलदी के ये नायक राजा वीरशैव मतानुयायी थे। यह वंश 'इक्केरि' नामक स्थान पर राज्य करता था जो वर्तमान मैसूर राज्य के शिमोगा जिले में था। ये शासक शृंगेरी के शंकराचार्य-स्थापित अद्वैत मठ के प्रति विशेष आस्थावान् थे। इसलिए ये अद्वैत ग्रन्थों के निर्माण में विद्वानों को आश्रय तथा उत्साह प्रदान करते थे। भट्टोजि के अनुज रङ्गोजिभट्ट को भी केलदी वेङ्कटप्प नायक प्रथम से विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। इसका उल्लेख कोण्डभट्ट ने अपने वैयाकरण-भूषण के इस श्लोक में किया है—

विद्याधीश-वडेरु-संज्ञकयतिं श्रीमाध्वभट्टारकं
जित्वा केलदिवेङ्कटप्पसविधेऽप्यान्दोलिकां लब्धवान्।
यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा
माध्वानां तमहं गुरुमुपगुरुं रङ्गोजिभट्टं भजे ॥

इस पद्य की आरम्भिक पंक्तियों का सारांश है कि रङ्गोजिभट्ट ने केलदि वेङ्कटप्प के दरबार में वडेरु नामक माध्वमतानुयायी यति को शास्त्रार्थ में जीता था जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें पालकी का सम्मान प्रदान किया। इसका तात्पर्य है कि भट्टोजि तथा उनके अनुज रङ्गोजि दोनों को वेङ्कटप्प नायक प्रथम ने विशिष्ट सम्मान प्रदान किया था।

(ग) रङ्गोजि के पुत्र कोण्डभट्ट को भी वेङ्कटप्प नायक के पौत्र तथा उत्तरा-धिकारी वीरभद्र नायक से विशेष सम्पर्क था। ऊपर कहा गया है कि कोण्डभट्ट ने अपना 'तर्कप्रदीप' नामक ग्रन्थ का प्रणयन राजा वीरभद्र के आदेश से किया था। इन वीरभद्र का राज्यपाल १६२९ ई० से लेकर १६४५ ई० तक है। फलतः इसी समय कोण्डभट्ट को केलदि-दरबार से मान्यता प्राप्त हुई थी। यह तैलंग ब्राह्मण कुटुम्ब रहता तो काशी में ही और वहीं इन्होंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थों का प्रणयन भी किया, परन्तु मैसूर में स्थित इस राज-परिवार से इस वंश का घनिष्ठ सम्पर्क था। इसका रहस्य यह है कि भट्टोजि-

दीक्षित आन्ध्रप्रदेशी तेलुगु ब्राह्मण थे। रङ्गोजि कालहस्तीश्वर के उपासक थे। अपने शिवोल्लास नामक ग्रन्थ में इस देवता के प्रति उनका भावपूर्ण संकेत निश्चयेन उन्हें इस क्षेत्र का निवासी सिद्ध कर रहा है—

> ग्रन्थेऽस्मिन् तव विलसिते कालहस्तीश नित्यं।
> कृत्वाऽभ्यासं भवति विजयी भक्तिभावैकनिष्ठः॥

भगवान् कालहस्तीश्वर का पुण्य क्षेत्र मद्रास के चित्तूर जिले में स्थित है और आज भी विशेष सम्मान और आदर का भाजन है। भट्टोजि का कुटुम्ब इसी भूखण्ड का मूल निवासी था। अतएव केलदि-नायकों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध होने की घटना पूर्णतया संगत है।

कोण्डभट्ट का ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य का सार अंश अपने शब्द-कौस्तुभ में संग्रह किया है और उसमें निर्णीत व्याकरण-दर्शन के तथ्यों को उन्होंने ७० श्लोकों में निबद्ध किया[१]। यह श्लोक-सप्तति व्याकरणदर्शन का नवनीत है। इसीके ऊपर कोण्डभट्ट ने विस्तृत व्याख्या-ग्रन्थों का प्रणयन किया—(१) **वैयाकरण-भूषण** जो विशिष्ट विद्वानों को लक्ष्य कर लिखा गया है और (२) **वैयाकरण-भूषण-सार**—जो सामान्य शिक्षितों को दृष्टि में रख कर निर्मित है। 'सार' शब्द से तो सद्यः यह पूर्व-ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप ही प्रकट होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें भी नये-नये विचार, नई-नई कल्पनायें हैं जो पूर्व ग्रन्थ से भिन्न हैं तथा विशिष्ट हैं।

श्लोक-सप्तति के श्लोकों का वर्गीकरण १४ विषयों में किया गया है जिनमें निर्णय या निरूपण है इन चौदह वैयाकरण प्रमेयों का—(१) धात्वर्थ (२) लकारार्थ, (३) सुबर्थ, (४) नामार्थ, (५) समास शक्ति, (६) शक्ति, (७) नञर्थ, (८) निपातार्थ, (९) भावप्रत्ययार्थ, (१०) देवताप्रत्ययार्थ, (११) अभेदैकत्व संख्या, (१२) संख्या विवक्षा, (१३) क्त्वप्रत्ययादीनामर्थ तथा (१४) स्फोट-निर्णय। एक ही ग्रन्थकार की एक ही मूलकारिका पर निबद्ध दोनों व्याख्यानों में साम्य होना अनिवार्य है, तथापि विषयनिर्णय की दृष्टि से दोनों में पार्थक्य भी है। प्रमेयों के निर्दिष्ट स्वरूप से ही ग्रन्थ की दार्शनिकता का पता चलता है। साथ ही साथ व्याकरण-दर्शन की मीमांसा के लिए इसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता है।

---

१. फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते॥
(वैयाकरण-भूषण की प्रथम कारिका)।

इन विषयों के ऊपर वेदान्तियों, नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों का भी पूर्णतया अनुशीलन तथा खण्डन-मण्डन कर वैयाकरणमत का प्रतिपादन बड़ी प्रौढ़ता के साथ किया गया है।

दोनों ग्रन्थों में वैयाकरण-भूषणसार की लोकप्रियता अधिक रही है। इसके ऊपर टीकाग्रन्थों की बहुल उपलब्धि होती है—जिनमें हरिदीक्षित की काशिका[1] विशद, विस्तृत तथा प्रमेय-बहुल है। ये हरिदीक्षित केशवदीक्षित के पुत्र थे। 'काले' इनकी उपाधि थी। फलतः ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। ये धनराज के अनुज थे। माता का नाम सखी देवी था। काशिका का रचना-काल १८५४ वि० सं० (=१७९८ ई०) है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र रचित 'वैयाकरणमतोन्मज्जिनी' संक्षिप्त होने पर भी बड़ी सरल-सुबोध है तथा नवीन विषय का प्रतिपादन करती है। इसका रचना काल काशिका से पूर्ववर्ती है—१७ शतीका पूर्वार्ध, १६४० ई० के आसपास। मन्नुदेव की लघु-भूषण-कान्ति की भी प्रसिद्धि है। ये नागोजीभट्ट के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे की मुख्य शिष्य थे। वैद्यनाथ के पुत्र बालंभट्ट पायगुण्डे ने इन्हीं मनुदेव तथा महादेव की सहायता से प्रख्यात अंग्रेजी संस्कृतज्ञ डाक्टर हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५ ई०–१८३७ ई०) के आदेश से 'धर्मशास्त्र-संग्रह' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। प्रख्यात वैयाकरण भैरव मिश्र ने भी इसके ऊपर व्याख्या लिखी थी। शब्देन्दु-शेखर के ऊपर इन्हीं की भैरवी व्याख्या (चन्द्रकला) की समाप्ति सं० १८८१ (=१८२४ ई०) में हुई। फलत भैरव का काल १९वीं शती का पूर्वार्ध मानना यथार्थ है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य

(१) वनमाली मिश्र—भट्टोजिदीक्षित के शिष्यों में अन्यतम थे वनमाली मिश्र। ये कुरुक्षेत्र के निवासी थे तथा महेश मिश्र के पुत्र थे। इन तथ्यों का परिचय इनके एक ग्रन्थ की पुष्पिका से चलता है[2]।

(क) 'कुरुक्षेत्र-प्रदीप' नामक ग्रन्थ का बीकानेर की अनूप लाइब्रेरी में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में लिपि-काल १६८४ ई० है। इस ग्रन्थ में वैयाकरणभूषणसार की

---

१. काशिका-युक्त वैयाकरण-भूषणसार तथा मूल वैयाकरणभूषण का एक सुन्दर संस्करण श्री के० पी० त्रिवेदी ने अंग्रेजी में उपादेय टिप्पणों के साथ प्रकाशित किया है (बम्बई, १९१५ ई०)।

२. इति श्रीभट्टोजिदीक्षितशिष्य कुरुक्षेत्रनिवासि-महेशमिश्रात्मज वनमालिमिश्र विरचितायां सन्ध्या-मन्त्रव्याख्या ब्रह्मप्रकाशिका समाप्ता।

३५ कारिका व्याख्यात हैं। इसके अन्य हस्तलेख का समय १६५१ ई० है जिससे इसके निर्माण का काल इतः पूर्व अनुमित किया जा सकता है। (ख) सर्वतीर्थ-प्रकाश तथा (ग) सन्ध्या-मन्त्र-व्याख्या-ब्रह्मप्रकाशिका इनके अन्य ग्रन्थ हैं। (घ) 'वैयाकरण-मतोन्मज्जिनी' कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषण की वनमाली मिश्र रचित व्याख्या है जो अभी भी हस्तलेख के रूप में है। (ङ) सिद्धान्ततत्त्व-विवेक भी इनका ही ग्रन्थ है (हस्तलेख)।

इनके समय का पता नारायणभट्ट की 'दिव्यानुष्ठान पद्धति' के एक हस्तलेख से लगता है जिसे वनमाली मिश्र ने ही १६२१ ई० में स्वयं लिखकर तैयार किया था। वैयाकरण-भूषण के रचयिता कौण्डभट्ट राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४५ ई०) के समकालीन होने से १५८० ई०–१६४० ई० तक वर्तमान माने जा सकते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकर्ता वनमाली मिश्र का भी यही समय होना चाहिये (१६०० ई०–१६५० ई०)।

वनमाली नामक एक दूसरे विद्वान् का भी परिचय मिलता है जिन्होंने द्वैतवेदान्त के विषय में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनके प्रायः समग्र ग्रन्थ अभी तक हस्तलेखों के रूप में ही प्राप्त हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) न्यायामृत-सौगन्ध्य (या सौरभ)—व्यासतीर्थ के प्रख्यात ग्रन्थ न्यायामृत की व्याख्या।

(२) अद्वैतसिद्धि-खण्डन—मधुसूदन सरस्वती के प्रख्यात ग्रन्थ अद्वैतसिद्ध का खण्डन कर द्वैतवेदान्त का मण्डन-परक-ग्रन्थ। ध्यातव्य है कि मधुसूदन सरस्वतो ने व्यासतीर्थ के न्यायामृत के खण्डन करने के लिए अपने प्रौढ ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का प्रणयन किया।

(३) न्याय-रत्नाकर; (४) भक्ति-रत्नाकर; (५) मारुत मण्डन; (६) श्रुति-सिद्धान्त; (७) जीवेशाभेद-धिक्कार; (८) प्रमाण-संग्रह; (९) ब्रह्मसूत्र सिद्धान्त-मुक्तावली; (१०) विष्णुतत्त्व-प्रकाश; (११) वेदान्तदीपिका, (१२) वेदान्त सिद्धान्त-संग्रह; (१३) न्यायमृत-तरङ्गिणी-कण्टकोद्धार; (१४) अभिनव परिमल; (१५) वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली।

(१६) माध्वमुखालङ्कार[१]—अप्पय दीक्षित ने 'मध्वमतमुखमर्दन' नामक ग्रन्थ में माध्वमत का खण्डन कर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की थी। इसी ग्रन्थ का यह खण्डन

---

१. सरस्वती-भवन टेक्स्ट सीरीज (नं० ६८) में प्रकाशित, वाराणसी, १९३६।

वनमाली मिश्र ने इस रचना में किया है। अप्पयदीक्षित तो अद्वैतवेदान्त के माननीय आचार्य थे। फलतः ग्रन्थ के अन्त में उनका यह चमत्कारी उपदेश है—

> आद्रियध्वमिदमध्वदर्शनं व्यध्वगं त्यजत मध्वदर्शनम्।
> शाङ्करं भजत शाश्वतं मतं साधवः स इह साध्युमाधवः॥

माध्वदर्शन का यह प्रौढ़ ग्रन्थ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। इसमें उद्धृत ग्रन्थों में 'मनोरमा' का उल्लेख महत्त्वशाली है जिससे ग्रन्थकार अप्पयदीक्षित तथा भट्टोजि-दीक्षित—दोनों दीक्षितोंसे पश्चात्कालीन सिद्ध होता है—१७ शती का ग्रन्थकार। इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई सूचना के अनुसार ग्रन्थकार वृन्दावन में गोकुल के समीपस्थ ग्राम का निवासी तथा भारद्वाजगोत्रीय है। स्थान की भिन्नता तथा स्वरूप के भेद से यह ग्रन्थकार भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र मे नितान्त भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता है, परन्तु दोनों ही समकालीन हैं। भट्टोजिशिष्य तो वैयाकरण तथा धर्मशास्त्री प्रतीत होते हैं, परन्तु ये विद्वान् माध्ववेदान्त के प्रौढ़ पण्डित तथा दार्शनिक हैं। दोनों को विभिन्न व्यक्ति मानना ही उचित प्रतीत होता है। माध्वदार्शनिक के गुरु का नाम मारुत आचार्य इसमें उल्लिखित है[1] और ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में इस ग्रन्थ को ही 'मारुतमण्डन' कहा गया है। फलतः 'माध्वमुखालंकार' तथा 'मारुतमण्डन'[2] एक ही अभिन्न ग्रन्थ प्रतीत होते हैं।

(२) भट्टोजिदीक्षित के दूसरे शिष्य का भी पता चलता है। इनका नाम था नीलकण्ठ शुक्ल। शब्दशोभा नामक व्याकरण ग्रन्थ में इन्होंने इस तथ्य को प्रकट किया है। अन्य ग्रन्थों में भी जीवन की इन्हीं बातों को प्रकट किया गया है[3]। नीलकण्ड जनार्दन शुक्ल के पुत्र थे। वे किसी वच्छाचार्य की पुत्री के पुत्र (दौहित्र) थे। इनकी माता का नाम हीरा था। इनके दो गुरु थे—व्याकरण शास्त्र में भट्टोजिदीक्षित तथा अलङ्कारशास्त्र में श्रीमण्डनभट्ट। वैयाकरण होने की अपेक्षा वे रसिक साहित्यक ही अधिक थे। उनके पाँच ग्रन्थों का पता चलता है—

---

१. श्रीमन्मारुतमाचार्यं मायिमर्दन-तत्परम्।
मुनीन्द्रोपास्यपादाब्जं ज्ञानसिन्धुं नमाम्यहम्॥
—माध्वमुखालंकार, श्लोक २।

२. 'मारुतमण्डन' के हस्तलेख का विश्लेषण इसी परिणाम पर आलोचकों को पहुँचाता है। इस विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य—डा० गोडे—स्टडीज् इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग २, पृ० २२४–२२६।

३. शुक्ल-जनार्दनपुत्रो वच्छाचार्यस्य दौहित्रः।
अभ्यस्त-शब्दशास्त्रो भट्टोजिदीक्षितच्छात्रः॥

(१) शब्दशोभा—यह व्याकरण शास्त्र का ग्रन्थ है। सरस्वतीभवन के हस्त-लिखित विभाग में इनके दो हस्तलेख हैं। इसके निर्माण का काल ग्रन्थान्त में दिया गया है[1] वि० सं० १६६३ = १६३७ ई०।

(२) श्रृङ्गारशतक—श्रृङ्गार-विषयक श्लोकों की रचना। रचना-काल १६३१ ई०।

(३) चिमनीचरित—बादशाह शाहजहाँ के एक मान्य अफसर अल्लावर्दी खाँ तुर्कमान के हरम की एक प्रेमगाथा को आधारित कर इस संस्कृत-काव्य का प्रणयन एक सौ एक श्लोकों में किया गया है। अल्लावर्दी खाँ की ज्येष्ठ पुत्र बहू थी चिमनी, जो उनके जेठे भाई की कन्या भी थी। दयादेव नामक सुभग-सुन्दर ब्राह्मण युवक महल की बहू बेटियों को शिक्षा देने के लिए रखा गया। चिमनी उस पर मुग्ध हो गई और इस दोनों की सरस केलिकथा का रसमय वर्णन नीलकण्ठ शुक्ल ने बड़ी भाव-भंगिमा से किया है। इस कथा का वर्णन 'चमनी-चरित' में किया गया है। रचना-काल है १६५६ ई०। कथा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है और मुगल दरबार की वास्तविक घटना पर आश्रित है।

(४) ओष्ठ शतक—(या अधर शतक)—किसी तन्वङ्गी युवती के ओठ का सरस वर्णन।

(५) जारजात शतक—परकीय काव्य को चुरा कर अपना बताने वाले तथा परकीय अर्थ को भी स्वकीय कहने वाले—दोनों व्यक्ति यहाँ जारजात कहे गये हैं। फलतः यह काव्य 'काव्यार्थचौर्य' की मीमांसा करता है और पर्याप्त रूपेण साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है।

यः परकीयं काव्यं स्वीयं ब्रूतेऽथ चोरयेद् योऽर्थम्।
इह तावपि प्रसक्तौ मन्तव्यौ जारजाततया॥

नीलकण्ठ शुक्ल की कविता सरस-सुबोध तथा चमत्कारी है। चिमनी-चरित के ऊपर काव्य लिखना ही उनके रसिक जीवन की एक मधुर झाँकी है। ओष्ठशतक का यह प्रथम श्लोक कितना सुन्दर है—

वदनकमलमुधन्मन्दहास-प्रचारं
विरचयति निकारं यत्-प्रसादात् सुधांशोः।
तदिदमधरबिम्बं जीवनं मीनकेतो-
र्मम वचसि विधत्तां धुर्यं माधुर्य-धाराम्॥

---

1. त्रिनवषडेकमब्देऽतिक्रान्ते विक्रमादित्यात्।
शिवरात्रौ शिवपदयोर्निजकृतिराधायि नीलकण्ठेन॥

वरदराज

(३) भट्टोजिदीक्षित के प्रौढ प्रख्यात शिष्य तो वरदराज ही थे जिनके ग्रन्थ—लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी—आज भी संस्कृत-शिक्षण के प्रमुख आरम्भिक ग्रन्थ हैं। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने की घटना का उल्लेख इन्होंने स्वयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी के आरम्भ में किया है—

> नत्वा वरदराजः श्री गुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
> करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्त-कौमुदीम्॥

काशी की तो यह प्रसिद्धि है कि सुयोग्य शिष्य न मिलने के कारण भट्टोजिदीक्षित प्रेत बन गये थे। वरदराज दक्षिण भारत से दीक्षित से व्याकरण पढ़ने के लिए जब आये, तब दीक्षितजी कैलासवासी हो चुके। किसी प्रकार दोनों का समागम हुआ और अपनी शास्त्रीय विद्या का यथाविधि वरदराज को दान करने के अनन्तर भट्टोजि प्रेतयोनि से मुक्त हो गये। इस किम्वदन्ती में कितना तथ्य है—कहा नहीं जा सकता।

वरदराज दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके चार ग्रन्थों का परिचय मिलता है—(१) लघु-सिद्धान्त कौमुदी; (२) मध्य-सिद्धान्त कौमुदी (३) सार-सिद्धान्त-कौमुदी तथा (४) गीर्वाणपदमञ्जरी। लघु-कौमुदी तथा मध्य कौमुदी—दोनों में कौन प्रथम प्रणीत है? प्रसिद्धि है कि वरदराज ने लघु-कौमुदी की ही रचना पहिले की, परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण तथा भट्टोजिदीक्षित की ही अरुचि होने के हेतु इन्होंने मध्यकौमुदी का प्रणयन किया। सार-सिद्धान्त कौमुदी भी सिद्धान्त कौमुदी का ही संक्षेप है, परन्तु मुद्रित न होने के कारण इसके बारे में विशेष नहीं कहा जा सकता।

गीर्वाणपदमञ्जरी[1] लघुकौमुदी का पूरक ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत के व्यावहारिक ज्ञान सम्पादन के हेतु प्रश्नोत्तर रूप में ग्रन्थ का विन्यास है आजकल के 'डाइरेक्ट मेथड' की यथार्थ पद्धति पर। साथ ही साथ १७ शती में काशी के सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन की एक भव्य झाँकी भी प्रस्तुत की गई है—मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक। वरदराज ने इसमें उस युग के लोकप्रिय पाठ्य व्याकरण ग्रन्थों में अपनी दोनों कौमुदी (लघु तथा मध्य), मनोरमा-सहित सिद्धान्त-कौमुदी, शब्दकौस्तुभ तथा लिङ्गानुशासन-वृत्ति का निर्देश किया है। इसमें काशी के घाटों का ही नहीं, प्रत्युत समग्र भारत के तीर्थों का भी उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत के तीर्थों में 'कालहस्तिक्षेत्र' का उल्लेख महत्त्व रखता है, क्योंकि इस क्षेत्र के देवता 'कालहस्तीश्वर' भट्टोजिदीक्षित के वंश के

---

१. सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा से प्रकाशित।

अधिकारी देवता थे। उस युग के छात्रों के जीवन तथा शिक्षण, संन्यासियों के आचार-व्यवहार, भोज्य पदार्थों के नाम तथा बाजार में वस्तुओं के दर आदि अनेक तथ्यों का संकलन इस पुस्तक को काशी के सामाजिक इतिहास की छानबीन के लिए उपयोगी सिद्ध कर रहा है। गीर्वाण पदमञ्जरी में लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी के नाम निर्दिष्ट हैं, परन्तु सारसिद्धान्त-कौमुदी का नहीं। इससे सारकौमुदी वरदराज की अन्तिम रचना प्रतीत होती है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने से वरदराज का काल १७ शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। दीक्षित का ग्रन्थ-निर्माण काल लगभग १५८० ई० तथा १६२० ई० के बीच माना गया है। इसकी पुष्टि लघुकौमुदी के अमेरिका में सुरक्षित १६२४ ई० में लिखित हस्तलेख से होती है। जब लघुकौमुदी का हस्तलेख १६२४ ई० का है, तब इसकी तथा मूलग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की रचना का काल सुतरां पूर्ववर्ती होगा चाहिए—१६०० ई० के आस पास। लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का प्रणयन निश्चित रूप से से १६२४ ई० से पूर्ववर्ती है और इस दशा में इन ग्रन्थों को भट्टोजि-दीक्षित से समीक्षण तथा आलोचन का लाभ अवश्य प्राप्त हुआ था—यह कल्पना कथमपि अन्याय्य नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार वरदराज का समय १६०० ई०—१६५० ई० तक मानना सर्वथा समुचित प्रतीत होता है। लघुकौमुदी की प्रशंसा करना व्यर्थ है। हमारी पाठशालाओं में संस्कृत में प्रवेश कराने वाला यही तो प्राइमर है और अखिल भारतीय ख्याति से मण्डित होना इसके लिए समुचित ही है।

नारायण भट्ट

केरल के सुविख्यात भक्त महाकवि नाराण भट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना होने का गौरव इस व्याकरण ग्रन्थ-प्रक्रिया सर्वस्व-को प्राप्त है। नारायण भट्ट भट्टोजिदीक्षित के ही समकालीन थे और दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी तथा भट्टतिरि का प्रक्रियासर्वस्व दोनों ही ग्रन्थ एक ही विषय पर समान शैली में निबद्ध होने की प्रतिष्ठा धारण करते हैं। नारायण भट्ट केरल के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि तथा 'नारायणीय' स्तोत्र-काव्य के प्रणेता के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रख्यात हैं, परन्तु वे महनीय कल्पना के धनी होने के अतिरिक्त प्रौढ वैदुषी के भी अधिकारी थे—यह तथ्य अनेकों को ज्ञात न होगा। उनकी विविध रचनाओं की परीक्षा से उनके समय तथा जीवनचरित का परिचय आलोचकों को पूर्णतया प्राप्त है।

नारायण भट्ट का जन्म मालाबार-प्रान्त में नीला नदी के तीरस्थ किसी ग्राम में हुआ था। आरम्भिक जीवन उतना पवित्र तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं था, परन्तु उस युग के प्रख्यात विद्वान तथा ज्योतिर्विद् अच्युत पिषरोटि के सम्पर्क में आने पर उनके

जीवन का प्रवाह अध्ययन तथा भगवद्भक्ति की ओर मुड़ गया। उन्होंने पिषरोटि से व्याकरण, अपने पिता से मीमांसा, दामोदर नामक पण्डित से तर्क तथा माधव नामक वैदिक से वेद का अध्ययन किया। उन्होंने वातरोग से आक्रान्त होने पर नाना औषधोपचार किया, परन्तु लाभ न होने पर गुरुवायूर मन्दिर के आराध्यदेव बालकृष्ण की उपासना में अपने को समर्पित कर दिया और भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की ललित-लीलाओं का कीर्तन इन्होंने 'नारायणीय' नामक भक्तिकाव्य में किया। फलतः रोग से मुक्त हो गये और कृष्णभक्ति को ही अपने जीवन का मुख्य संवल बना कर अपना जीवन-निर्वाह किया। इस काव्य के प्रणयन से नारायण भट्ट की कीर्ति समग्र केरल में व्याप्त हो गई। केरल के राजाओं ने—देवनारायण, वीरकेरल वर्मा (कोचीन के राजा), मान-विक्रम (कालीकट के राजा) तथा गोदा वर्मा (वटक्कुमुर के राजा)—इनका प्रभूत आदर तथा सम्मान किया। इनके काल के सूचक अनेक प्रमाण हैं। इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण तथा १७वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है (लगभग १५७५ ई०–१६२५ ई० तक[1])।

इनके काव्य ग्रन्थों की चर्चा तथा आलोचना लेखक ने अन्यत्र की है[2]। प्रक्रियां-सर्वस्व, धातुकाव्य तथा अपाणिनीय-प्रमाणता—इनके ये तीनों ग्रन्थ व्याकरण से सम्बद्ध हैं। 'अपाणिनीय-प्रमाणता[3]' लघु निबन्ध हैं जिसमें पाणिनि-व्याकरण से असिद्ध शब्दों की प्रमाणता प्रदर्शित की गई है। 'धातु-काव्य[4]' तीन सर्गों में विभक्त लघु काव्य हैं जिसमें पाणिनि के धातुओं के प्रयोग दिखलाये गये हैं। इन दोनों की अपेक्षा महत्तर, प्रौढ़ पण्डित्य का प्रदर्शक ग्रन्थ है—प्रक्रिया-सर्वस्व।

प्रक्रिया-सर्वस्व[5]

इस ग्रन्थ में पाणिनि के सूत्र प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न विषयों में विभक्त किये

---

१. इस काल निर्णय के लिए द्रष्टव्य—प्रक्रियासर्वस्व, तृतीय भाग, ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित, १९४८। भूमिका पृ० ७–१०।

२. लेखक का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' नवीन सं० १९६८, पृ० ३८६–३८८ (वाराणसी)।

३. पण्डित रमण नम्पूतिरि द्वारा प्रकाशित, ट्रिवेन्ड्रम (१९४२)।

४. काव्यमाला में प्रकाशित, सं० १०।

५. इस ग्रन्थ का प्रकाशन अंश : अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि में चार भागों में किया गया है—ग्रन्थ सं० १०६, १३९, १५३ तथा १७४ (१९५४ ई०)। इन खण्डों में ग्रन्थ का प्रथम खण्ड सुबन्त ही समाप्त होता है। इस ग्रन्थ का तद्धित-खण्ड तथा उणादि-खण्ड मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज के ग्रन्थांक १५ तथा ७ के रूप में प्रकाशित हैं।

गये हैं और इनके ऊपर नारायण ने स्वयं वृत्ति लिखकर तथा उदाहरण देकर सूत्रों को विधिवत् समझाया है। लेखक ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' को अपना आदर्श माना है और तद्वत् विषय का प्रतिपादन किया है। बीस खण्डों[1] में यह ग्रन्थ विभक्त है यथा संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, कृत्, तद्धित, समास, स्त्रीप्रत्यय, सुबर्थ, सुब्-विधि आदि। इन खण्डों में उणादि तथा वेद विषयक दो पृथक्-खण्ड है। इस व्याकरण ग्रन्थ के ऊपर भोज के व्याकरण ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का विपुल प्रभाव लक्षित होता है। भोज के प्रति नारायणभट्ट की भूयसी आस्था है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भोज ने गणपाठ तथा वार्तिकों को भी सूत्रों में सम्मिलित कर लिया है और इस लिए भोज व्याकरण की सूत्र-संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा डेढ़गुनी अधिक है। नारायण भोज के टीकाकार 'दण्डनाथ' को नाथ नाम से उद्धृत करते हैं। प्रक्रियासर्वस्व में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नाम इस प्रकार हैं—काशिका, हर (हरदत्त, पदमंजरी-कार) न्यास, वृत्तिप्रदीप (रामदेव मिश्र रचित, प्रायः 'राम' शब्द के द्वारा), भाष्य तथा कैयट, माधवीया धातुवृत्ति, कौमुदी (प्रक्रिया-कौमुदी) तथा उसकी टीका 'प्रसाद' भी, अमर की दो टीकायें—क्षीरस्वामी की अमर-टीका तथा टीकासर्वस्व।

विशिष्टता

(१) लक्ष्य[2] यही है कि अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रियानुसार विभाजन तथा लघ्वर्थ वृत्ति की रचना। सूत्रों की वृत्ति सरल तथा सुबोध है। विशेष शास्त्रार्थ का प्रसंग नहीं उठाया गया है। कभी-कभी वृत्ति श्लोकबद्ध दी गई है। जन्या (४।४।८२) शब्द का अर्थ श्लोकबद्ध है। यह वैशिष्ट्य सिद्धान्त-कौमुदी में लक्षित नहीं होता।

---

१. इन खण्डों का नाम-निर्देश इन श्लोकों में हैं—

इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत् तद्धिताः समासश्च।
स्त्री-प्रत्ययाः सुबर्थाः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः॥
तिङपि च लार्थ-विशेषः सनन्त-यङ् यङ्लुकश्च सुब्धातुः।
न्यायोधातुरुणादिश्छान्दसमिति सन्तु विंशतिः खण्डाः॥

२. वृत्तौ चारु न रूपसिद्धि-कथना रूपावतारे पुनः
कौमुद्यादिषु चात्र सूत्रमखिलं नास्त्येव, तस्मात् त्वया।
रूपानीतसमस्तसूत्रसहितं स्पष्टं मितं प्रक्रिया
सर्वस्वाभिहितं निबन्धनमिदं कार्यं मदुक्ताध्वना॥

प्रक्रिया सर्वस्व प्रथम खण्ड ५ श्लोक। यहाँ कौमुदी से तात्पर्य प्रक्रियाकौमुदी से है, सिद्धान्तकौमुदी से नहीं॥

(२) नारायणभट्ट यथासाध्य पाणिनि के सूत्रों का क्रमशः विवरण देते हैं, तद्धित प्रकरण में तो यह नितान्त सत्य है। उदाहरणों का प्राचुर्य इसकी महती विशिष्टता है। ५।२।८२ सूत्रों के उदाहरण में जहाँ भट्टोजिदीक्षित केवल दो तीन उदाहरणों से सन्तोष करते हैं, वहाँ नारायण कम से कम बीस उदाहरण देते हैं और वह भी श्लोकबद्ध।

(३) लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों के विधान की ओर लेखक जागरूक है। भवे छन्दसि (४।४।११०) के अधिकार में आने वाले आठ सूत्रों के विवरण में इनका कथन है—भवे छन्दसीत्यधिकारेऽपि केचित् लोके दृष्टाः (तद्धित खण्ड पृष्ठ १२१)। और कविजनों के प्रयोग नारायण के इस कथन के पर्याप्त पोषक हैं—

(क) 'सगर्भ्य' का महावीर चरित में प्रयोग है ('सहतनुज-सगर्भ्यं प्रेक्ष्य रक्षः सहस्रैः' ६।२७);

(ख) अग्र्य का प्रयोग—उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्याम् (रघु ६।७३); क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् (रघु ८।२८)।

(ग) शिवताति का प्रयोग

प्रयत्नः कृत्स्नोऽयं फलतु, शिवतातिश्च भवतु (मालती माधव; ६।७) मा पूतनात्वमुपगाः शिवतातिरेधि (वहीं ६।४६)।

(घ) अरिष्टताति का प्रयोग

तदत्रभवतामरिष्टतातिमाशास्महे (महावीरचरित १।२४)।

(ङ) 'परिपन्थी' शब्द को पाणिनि वेदविषयक ही मानते हैं (५।२।८६)। काशिका तथा पदमञ्जरी इसे समर्थित करती हैं (भाषायां तु परिपन्थिशब्दस्यासाधुः प्रयोगः-पदमञ्जरी); परन्तु नारायण इसे लोक-प्रयुक्त मानने के पक्षपाती हैं (परिपन्थी-लोकेऽपीष्टः, तद्धित-खण्ड पृष्ठ १७०)। नारायण का मत महाकवि प्रयोगों से परिपुष्ट तथा समर्थित है—नाभविष्यमहं तत्र यदि तत्-परिपन्थिनी (मालती माधव ६।३०) पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिश्चासीत्; मुद्राराक्षस ५।७)।

(४) वार्तिकों का प्रक्रियासर्वस्व में संकलन है। वे महाभाष्य से तथा काशिका से यहाँ उद्धृत किये गये हैं। परन्तु उनका स्वरूप तथा शब्दों का क्रम कभी-कभी महाभाष्य से सुतरां भिन्न पड़ता है। कभी-कभी महाभाष्य में दिये गये सूत्रों से भिन्न सूत्रों में ये वार्तिक यहाँ उपलब्ध होते हैं। वार्तिकों के स्वरूप-निर्णय के निमित्त प्रक्रियासर्वस्व नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। नारायणभट्ट ने श्लोकों की भी अवतारणा अपनी वृत्ति में की है। ये श्लोक कहीं उदाहरण, कहीं अर्थ और कहीं प्राचीन आचार्यों के मत उपन्यस्त करते हैं।

व्याकरण के विषय में नारायणभट्ट का मत

नारायणभट्ट व्याकरण के विषय में बड़ा उदारमत रखते हैं। वे भाषा को व्याकरण की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। व्याकरण भाषा का—लोक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दावली का—अनुगमन करता है; भाषा व्याकरण की दासी नहीं होती। फलतः पाणिनि के सूत्रों द्वारा ननिष्पन्न शब्दों को वे अप्रमाणिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस विषय में उनकी उदार उक्ति है—

> 'पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रं'
> केऽप्याहुः, तद् लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूल-वाक्यम्।
> बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा
> पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः।

कुछ लोग कहते हैं कि 'चन्द्र, भोज आदि के सूत्र प्रमाणिक नहीं हैं, प्रमाण तो पाणिनि के ही सूत्र हैं'। यह कथन बहुत ही हल्का है, क्योंकि बहुवेत्ता वैयाकरणों के वाक्य निर्मूल नहीं हो सकते। किसी ग्रन्थ की बहुल प्रसिद्धि गुण-मूलक होती है। पाणिनि से पूर्व भी तो व्याकरण था। पाणिनि प्राचीन आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हैं जहाँ विरोध होने पर हम विकल्प की कल्पना करते हैं।

ऐसी उदार-भावना के धनी वैयाकरण द्वारा अपाणिनीय प्रयोगों के प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन आश्चर्यजनक घटना नहीं है। ये भोज की व्यापक दृष्टि के भूरि प्रशंसक हैं। तभी तो ये अपने 'अपाणिनीय-प्रमाणता' में अपने विशाल भावना की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते हैं—

> दृष्ट्वा शास्त्र-गणान् प्रयोग-सहितान् प्रायेण दाक्षीसुतः
> प्रोचे, तस्य तु विच्युतानि कतिचित् कात्यायनः प्रोक्तवान्।
> तद्-भ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलिमुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचित्
> लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः॥

इसीलिये भट्टतिरि का कथन है—

> विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्त्युक्तं नाद्रियामहे।
> मुरारिभवभूत्यादीन् अप्रमाणीकरोतु कः॥
> 'विश्राम शाखिनं वाचां' 'विश्रामो हृदयस्य च'।
> विश्रामहेतोरित्यादि महान्तस्ते प्रयुञ्जते॥

फलतः मुरारि, भवभूति आदि के द्वारा प्रयुक्त होने वाले 'विश्राम' शब्द को कौन अप्रमाण मान सकता है? वृत्ति भले ही इसे अपशब्द घोषित करती रहे, लोकव्यवहार

इसको क्या कभी परवाह करता है ? वह तो कविप्रयोग को सिद्ध मान कर 'विश्राम' के प्रयोग से कभी विराम नहीं लेता ।

दुःख है कि इस सुभग-सुन्दर ग्रन्थ का प्रचार नहीं हो सका । 'सिद्धान्त-कौमुदी' आगे बढ़ कर अखिल भारतीय प्रख्याति से मण्डित हो गई, परन्तु 'प्रक्रिया-सर्वस्व' केरल की प्रान्तीय ख्याति से आगे नहीं बढ़ सका । मेरी दृष्टि मे नारायणभट्ट की पूर्वोक्त उदारभावना किसी अंश में सम्भवतः बाधक सिद्ध हुई । नारायणीय के प्रणेता का कवित्व उनके वैयाकरणत्व का सद्यः विरोधी सिद्ध हुआ । नारायण की गणना कवियों की परम्परा में ही मान्य हुई, वैयाकरणों की श्रेणी में नहीं ।

नागेश भट्ट

भट्टोजि के भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण तथा वैयाकरणभूषणसार लिखा जिनमें व्याकरण के दर्शन-सम्बन्धी मौलिक तथ्य निर्णीत हैं । इनके पौत्र हरिदीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' पर 'शब्दरत्न' प्रणयन कर मूल के रहस्यों का यथाविधि प्रतिपादन किया । परन्तु हरिदीक्षित के शिष्य नागोजिभट्ट या नागेशभट्ट को ही नव्य-व्याकरण के प्रतिष्ठापक होने का गौरव प्राप्त है । नागेश का काशी में ही साहित्यिक जीवन व्यतीत हुआ और यहीं पर उन्होंने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया था जिससे जयपुर-संस्थापक महाराजा जयसिंह के द्वारा निमन्त्रित होने पर भी वे इसी कारण उनके विश्रुत 'अश्वमेध' में सम्मिलित न हो सके । यह प्रख्यात 'अश्वमेध' आषाढ़ वदी द्वितीया संवत् १७९९ (= १७४२ ई०) को जयपुर में सम्पन्न हुआ था जिसका विशेष वर्णन कृष्णकवि ने अपने 'ईश्वरविलास काव्य' (चतुर्थ सर्ग) में विस्तार से किया है । फलतः हम नागेशभट्ट का समय १७वीं शती का अन्तिम चरण तथा १८वीं का पूर्वार्ध (१६७५—१७४५ ई० लगभग) भली-भाँति मान सकते हैं ।

नागेश महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे । पिता का नाम था शिवभट्ट तथा माता का सती देवी । उनका उपनाम 'काले' था । फलतः महाराष्ट्रीय परम्परा से उनका पूरा नाम होगा—नागेश शिवभट्ट काले । प्रयाग के समीपस्थ शृंगवेरपुर (गंगातीरस्थ वर्तमान सिंगरौर) के राजा राम के द्वारा ये सम्मानित हुए थे । इस तथ्य का इन्होंने स्वयं उल्लेख किया है[1] । प्रसिद्धि है कि काशी के सिद्धेश्वरी मुहल्ले में इनका घर था जिसे इन्होंने अपनी कन्या के विवाह में दान कर दिया । नागेश की इस कन्या के वंशज आज भी काशी में विद्यमान बतलाये जाते हैं ।

---

१. याचकानां कल्पतरोररि-कक्षहुताशनात् ।
शृंगवेरपुराधीश-रामतो लब्धजीविकः ॥

नागेश की वैदुषी चतुरस्र थी। इन्होंने व्याकरण, अलंकार, धर्मशास्त्र तथा दर्शन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया, परन्तु ये मूलतः वैयाकरण थे और वैयाकरण-रूप में ही इनकी सार्वभौम प्रसिद्धि है। व्याकरणशास्त्र के मौलिक तथा टीका-ग्रन्थों की रचना ने इन्हें लोकविश्रुत बना दिया। बृहत् शब्देन्दु शेखर तथा लघु-शब्देन्दु-शेखर तथा प्रदीपोद्योत इनके प्रख्यात व्याख्या-ग्रन्थ हैं। परिभाषेन्दु-शेखर तथा मंजूषा (बृहत्, लघु तथा परमलघु त्रिविध संस्करणों में) इनके मौलिक ग्रन्थ हैं जिनमें व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्त विस्तार के साथ व्याख्यात तथा समालोचित हैं। नव्यन्याय की भाषा तथा शैली के आश्रयण के कारण नागेश नव्य-व्याकरण के प्रतिष्ठापक रूप से सर्वत्र विख्यात हैं। इन ग्रन्थों के ऊपर टीका-प्रटीकाओं का विशाल साहित्य विद्यमान है। इन्हीं वैयाकरणों की कर्मस्थली होने के कारण काशी को ख्याति पण्डितगोष्ठी में आज भी अक्षुण्ण है।

नागेश के आश्रयदाता राजा रामसिंह विसेन क्षत्रिय थे। वे भगवान् रामचन्द्र के विशेष भक्त थे। उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' की टीका लिखी जिसके आरम्भ में उन्होंने अपने को 'नागेशभट्ट का शिष्य' कहा है—

> विसेन-वंशजलधौ पूर्णशीतकरोऽपरः।
> तेन श्रीरामभक्तेन सर्वा विद्याः प्रजानता ॥
> शृंगवेरपुरेशेन रिपुकक्षदवाग्निना।
> अर्थिनां कल्पवृक्षेण विद्वज्जन-सभासदा ॥
> नागेशभट्ट-शिष्येण बध्यते रामवर्मणा।
> सेतुः परोपकृतयेऽध्यात्मरामायणाम्बुधौ ॥
>
> (अध्यात्म-रामायण की टीका)।

वाल्मीकि रामायण की तिलक नाम्नी व्याख्या भी इसी राम-वर्मा की है। इसीलिए वह 'रामीया' कही गयी है। युद्ध काण्ड के अन्त में राम वर्मा ने अपने को भट्ट-नागेश का पूजक तथा सत्कर्ता माना है जो उनके शिष्यत्व का परिचायक है—

> भट्ट-नागेश-पूज्येन सेतुः श्रीरामवर्मणा।
> कृतः सर्वोपकृतये श्रीमद्रामायणाम्बुधौ ॥

उत्तर काण्ड में भी यही बात कही गयी है। तिलक टीका को नागेश भट्ट की रचना मानने के लिए मेरी दृष्टि में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। राम वर्मा ने ही दोनों रामायणों की टीका लिखी—वाल्मीकीय की तथा अध्यात्म की।

नागेशभट्ट के ग्रन्थ

नागेशभट्ट की सर्वोत्तम वैदुष्यमण्डित रचना व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित है,

परन्तु उनकी लेखनी धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि विषयों पर भी चलती थी और उन विषयों में भी उनके गौरवमय ग्रन्थ हैं। हस्तलेखों की सहायता से इन ग्रन्थों के रचनाकाल का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है तथा उनके पौर्वापर्य का भी संकेत किया जा सकता है।

(१) नागेश के सापिण्ड्य-प्रदीप का हस्तलेख १७२५ शक संवत् (अर्थात् १८०३ ई०) का प्राप्त है। इसमें उन्होंने तीन महनीय धर्मशास्त्रियों का उल्लेख किया है जो इनके काल-निर्णय में पूर्णतः सहायक है—

(क) शंकर भट्ट—(लगभग १५४०–१६०० ई०) कमलाकर भट्ट के (जिनका निर्णय-सिन्धु १६१२ ई० में लिखा गया) भ्रातुष्पुत्र थे। द्वैतनिर्णय तथा अन्य धर्म-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया।

(ख) नन्दपण्डित—धर्मशास्त्र के प्रख्यात लेखक। समय लगभग १५९५ ई०–१६३० ई०।

(ग) अनन्तदेव—स्मृति-कौस्तुभ के रचयिता। समय १६४५ ई०–१६७५ ई०। इस उल्लेख का तात्पर्य है कि नागेश भट्ट के समय की पूर्वसीमा अनन्तदेव का काल है। फलतः ये १६७० ई० से पूर्वकालीन नहीं माने जा सकते।

(२) नागेश ने अपने 'वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा' में अपने 'महाभाष्य प्रदीपो-द्योत' का उल्लेख किया है तथा महाभाष्य प्रदीपोद्योत में वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा का। इस परस्परोल्लेख से स्पष्ट है कि नागेश ने इन दोनों ग्रन्थों का साथ-ही-साथ प्रणयन किया। इन दोनों की रचना १७०८ ई० से पूर्व ही हुई, क्योंकि इसी वर्ष का उज्जैनी सिन्धिया ओरियण्टल इन्सिच्यूट में मंजूषा का हस्तलेख उपलब्ध है। इनका रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई० के बीच में कभी होना चाहिये। ये दोनों ही ग्रन्थ पाण्डित्य-विषय में प्रौढ़ता के निदर्शन हैं। यदि इस समय नागेश भट्ट का वय तीस वर्ष माना जाय, तो उनका जन्म १६७० ई०–१६८० ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है (१६७५ ई० के आस-पास)।

(३) नागेश ने भानुदत्त की रसमञ्जरी की व्याख्या रसमञ्जरी-प्रकाश १७१२ ई० से पूर्व ही लिखी, क्योंकि यह इण्डिया लाइब्रेरी में रक्षित इस ग्रन्थ के हस्तलेख का काल है।

(४) नागेश ने गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रकाश-व्याख्या 'काव्यप्रदीप' पर उद्योत में तथा रसगंगाधर की अपनी व्याख्या (गुरु-मर्मप्रकाशिका) में मंजूषा का उल्लेख किया है। फलतः इन दोनों की रचना मंजूषा के निर्माण के अनन्तर हुई सम्भवतः १७०५ ई० बाद।

(५) नागेश के 'आशौच-निर्णय' की हस्तलिखित प्रति का (बाम्बे विश्वविद्यालय लाइब्रेरी में) लिपिकाल १७२२ ई० है। फलतः यह ग्रन्थ इससे पूर्व निर्मित हुआ।

(६) लघुमञ्जूषा की रचना वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा के (सम्भावित रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई०) अनन्तर हुई। लघुमञ्जूषा में उल्लिखित होने के कारण 'बृहद् शब्देन्दुशेखर' का प्रणयन इससे पूर्व ही हुआ।

(७) 'बृहद् शब्देन्दुशेखर'[1] के अनन्तर रचित लघु-शब्देन्दुशेखर में महाभाष्य-प्रदीपोद्योत का निर्देश उपलब्ध होता है तथा शब्देन्दुशेखर में उद्योत उद्धृत है। अतः लघु-शब्देन्दुशेखर का रचना-काल १७०० ई०–१७०८ ई० से पीछे होना चाहिये। उद्योत का उल्लेख होने से हम कह सकते हैं कि शब्देन्दुशेखर तथा उद्योत एक साथ ही लिखे गये।

(८) परिभाषेन्दु-शेखर में वै० सि० मञ्जूषा, महाभाष्य-उद्योत, बृहद् शब्देन्दु-शेखर के निर्देश मिलने से स्पष्ट है कि इसकी रचना इन तीनों ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर हुई। प्रतीत होता है कि परिभाषेन्दु-शेखर नागेश के वैयाकरण ग्रन्थों की परम्परा में सबसे अन्तिम है।

(९) नागेश ने मञ्जूषा के तीन संस्करण प्रस्तुत किया था—गुरुमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा। परन्तु अन्तिम दोनों ग्रन्थ प्रख्यात तथा प्रचलित हैं। वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ही गुरुमञ्जूषा का प्रातिनिध्य करती है। नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 'लघुमञ्जूषा' की कला नाम्नी अपनी टीका में गुरुमजूषा का बहुशः स्मरण किया है।

(१०) लघुशब्देन्दु-शेखर की रचना बृहद्-शब्देन्दु-शेखर के अनन्तर हुई। लघु-शब्देन्दु का सबसे प्राचीन हस्तलेख १७२१ ई० का बड़ोदा में है। फलतः इस ग्रन्थ का प्रणयन १७०८ ई०–१७२१ ई० के बीच में कभी किया गया।

(११) काव्य-प्रदीपोद्योत में वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा का उल्लेख है तथा इसका सर्वप्राचीन हस्तलेख १७५४ ई० का है। फलतः इसकी रचना १७०५ ई० के बाद तथा १७५४ ई० से पूर्व में कभी हुआ था।

इस प्रकार नागेश के ग्रन्थों का पौर्वापर्य निश्चित किया जा सकता है। ऊपर सिद्ध किया गया है कि नागेश का जन्म लगभग १६७५ ई० में हुआ तथा वे १७४२ ई० तक अवश्य जीवित थे। कहा गया है कि इसी वर्ष जयपुर के संस्थापक महाराजा

---

१. इसका प्रकाशन तीन खण्डों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से हुआ है १९६० ई०–६२ ई०। प्रथम खण्ड की पृष्ठ संख्या ६२ + ७८६ = ८४८।

सवाई जयसिंह ने अपना विश्रुत अश्वमेध किया था जिसमें निमन्त्रित होने पर भी क्षेत्र-संन्यास लेने के कारण नागेश सम्मिलित न हो सके थे—ऐसी प्रख्यात किम्वदन्ती है। फलतः नागेश का आविर्भाव लगभग १६७५ ई०—१७४५ ई० तक मानना कथमपि अनुपयुक्त नहीं होगा।

नागेश का वैशिष्ट्य

नागेश का वैदुष्य व्याकरण-शास्त्र में अनुपम था। अपने प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना के कारण वे अपने युग में भी प्राचीन शास्त्रों के मर्मवेत्ता तथा विशिष्ट वैदुष्य-मण्डित पण्डित माने जाते थे। उद्योत के द्वारा महाभाष्य के तथा शब्देन्दु-शेखर (वृहत् तथा लघु द्विविध संस्करण) के द्वारा प्रौढ़-मनोरमा के गम्भीर रहस्यों की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में वे सर्वथा समर्थ हैं—इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य है। परिभाषेन्दु-शेखर में उन्होंने विशेष अनुशीलन के द्वारा परिभाषाओं के स्वरूप तथा क्षेत्र का विशिष्ट प्रतिपादन कर विषय को नवीनता के साथ उपस्थित किया। आज के व्याकरण युग को 'शेखर-युग' को संज्ञा देना नितान्त समुचित है। शेखर इतना छाया हुआ है आज हमारे व्याकरण अनुशीलन पर कि इसके मूलभूत ग्रन्थ महाभाष्य का अध्ययन-अध्यापन नगण्य हो गया है। आज शेखर का विजय नागेश के पाडित्य का ही डिण्डिम-घोष है।

परन्तु यथार्थ में नागेश का वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ही सर्वाधिक मौलिक ग्रन्थ है जो पाणिनीय दर्शन के विस्तृत स्वरूप को विद्वानों के सामने पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत करने में कृतकार्य हुआ है। व्याकरण-दर्शन का बीज तो अष्टाध्यायी में ही है, उसे अंकुरित किया दाक्षायण व्याडि ने अपने लक्ष-श्लोक-परिमाण वाले 'संग्रह' में, उसे पल्लवित-पुष्पित किया पतञ्जलि ने महाभाष्य में और उसे फल-सम्पन्न बनाया भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में। परन्तु वाक्यपदीय के लुप्तप्राय अध्ययन तथा अनुशीलन को १८वीं शती के मध्य-भाग में नागेशभट्ट ने सिद्धान्त-मञ्जूषा के द्वारा पुनः प्रवर्तित किया और वैयाकरणों का ध्यान इस विषय की ओर बलात् आकृष्ट किया। व्याकरण के दर्शनत्व की प्रतिष्ठा की ओर नागेश की समस्त वैदुष्य की धारा अग्रसर होती है। उन्होंने वाक्यपदीय के अध्ययन की ओर विद्वानो का जो ध्यान आकृष्ट किया, वह क्षणिक ही रहा। उसे स्थायिता प्राप्त न हो सकी। यह सौभाग्य का विषय है कि विद्वानों की दृष्टि आजकल वाक्यपदीय के गम्भीर तथा सर्वाङ्गीण अनुशीलन के प्रति आकृष्ट हुई है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि ने पाणिनीय तन्त्र के दार्शनिक तथ्यों की अवगति के लिए व्याकरण आगम की ओर स्पष्ट संकेत किया है। यह आगम शैव-आगम की ही अन्यतम धारा थी। आज शैव आगम को विभिन्न धाराओं के तथ्यों से हमारा परिचय बढ़ता जा रहा है। उत्तर भारत में काश्मीर का अद्वैतवादी त्रिकदर्शन तथा दक्षिण भारत में द्वैतवादी शैवसिद्धान्त उसी शैवागम

के ऊपर आधारित दार्शनिक सम्प्रदाय हैं। व्याकरण-दर्शन का भी इस शैवागम के साथ पूर्ण सम्बन्ध है—भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ में इसका विशद संकेत किया है। इस शैवागम के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर ही व्याकरणदर्शन अपनी विशद अभिव्यक्ति कर सकता है। नागेश के ग्रन्थों में इस शैवागम के सिद्धान्तों के साथ व्याकरण का कितना सामञ्जस्य स्थापित किया गया है—यह तो उनके ग्रन्थों के गम्भीर अनुशीलन-अध्ययन के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। परन्तु आलोचकों के चित्त में यह सन्देह जागरूक हैं कि नागेश ने शैवागम की अपेक्षा अद्वैत-वेदान्त के प्रकाश में ही पाणिनीय दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की है। लगभग एक सहस्र वर्षों के अनन्तर वाक्यपदीय के महत्त्व की ओर विद्वानों के ध्यान आकृष्ट करने के लिए पण्डित-समाज नागेशभट्ट का सर्वदा अधमर्ण रहेगा। और नागेश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का यही मर्म है।

नागेश की गुरु-शिष्यपरम्परा

नागेश भट्ट ने महाभाष्य का अध्ययन भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से किया था तथा न्यायशास्त्र का अध्ययन रामराम भट्टाचार्य से किया था जो काशी में उस युग के प्रख्यात तर्कवेत्ता थे। नागेश को अपने गुरु पर असीम श्रद्धा थी और श्री रामराम की अनुकम्पा से न्यायशास्त्र के अपने गम्भीर ज्ञान पर भी उन्हें सविशेष गर्व था। इस तथ्य का संकेत उन्होंने लघुमञ्जूषा में इन शब्दों में स्वयं किया है—

> अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्र-हरिदीक्षितात्।
> न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः ॥
> 'इहस्तर्केऽस्य नाभ्यास' इति चिन्त्यं न पण्डितैः।
> दृषदोऽपि हि संतीर्णाः पयोधौ रामयोगतः ॥

इन दो गुरुओं के अतिरिक्त इनके अन्य गुरु का परिचय हमें प्राप्त नहीं है।

इनके अनेक शिष्य रहे होंगे; यह कल्पना अनुचित नहीं है, परन्तु इन शिष्यों में अग्रणी थे—**वैद्यनाथ पायगुण्डे**। इन्होंने अपने गुरु की प्रायः समग्र वैयाकरण ग्रन्थों के ऊपर गुरु की मर्मप्रकाशिका व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें नागेश के भावों का विशद विशदीकरण है। इनके पिता का नाम महादेव भट्ट था। गुरु के समान ही वैद्यनाथ भी व्याकरण के पारगामी पण्डित थे। इनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) शब्दकौस्तुभ की टीका (प्रभा); (२) शब्दरत्न की टीका (भाव-प्रकाशिका); (३) उद्योत की टीका (छाया); (४) लघुशब्देन्दुशेखर की टीका (चिदस्थिमाला); (५) परिभाषेन्दु की टीका (गदा और काशिका); (६) मञ्जूषा की टीका (कला); (७) लघुशब्दरत्न की टीका तथा (८) र प्रत्यय का खण्डन। ये टीकायें प्रमेय-बहुल, प्रख्यात तथा प्रकाशित हैं।

वैद्यनाथ पायगुण्डे के पुत्र का नाम था—बालम्भट्ट पायगुण्डे। ये वैयाकरण से बढ़कर धर्मशास्त्री थे। अतः धर्मशास्त्र के इतिहास में इनका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने 'मिताक्षरा' के ऊपर लक्ष्मी नामक व्याख्या लिखी जिसके आचार-खण्ड और व्यवहार-खण्ड का ही प्रकाशन हो चुका है। बालम्भट्टी के अन्वर्थक नाम्ना प्रख्यात यह ग्रन्थ वाराणसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियों का उपजीव्य मुख्य ग्रन्थ है। इन्होंने डा० कोलब्रूक के आदेश से तथा अपने शिष्य मनुदेव के सहयोग से धर्मशास्त्र-संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा (१८०० ई०)। इससे पूर्व सर विलियम जोन्स द्वारा संगृहीत संस्कृत ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कोलब्रूक[1] ने A Digest of Hindu Law (ए डाजेस्ट आफ हिन्दू ला) के नाम से १७९१ ईस्वी में किया। यह ग्रन्थ अंग्रेजी न्यायवेत्ताओं के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र का परिचय देने वाला मुख्य ग्रन्थ है। इसका उपयोग कर वे १८वीं शती के अन्तिम चरण तथा १९वीं शती में हिन्दुओं के अभियोगों में फैसला देते रहे हैं। बालम्भट्ट ने सन् १८३० ई० में ९० वर्ष की आयु में देह त्याग किया।

बालम्भट्ट के प्रधान शिष्य मनुदेव वैयाकरण थे। इन्होंने कोण्डभट्ट के वैयाकरण भूषणसार की टीका लघुभूषण-कान्ति के नाम से की है। इन्होंने अपने गुरु बालम्भट्ट को 'धर्म-शास्त्र-संग्रह' की रचना में साहाय्य दिया। कोलब्रूक के समकालीन होने से इनका समय १८ वीं का अन्त तथा १९वीं शती का प्रथम चरण है (लगभग १७७५ ई०–१८३५ ई०)।

नागेश के अनन्तर

नागेश भट्ट का स्वर्गवास लगभग १७४५ ई० में हुआ। उस समय से अर्ध-शताब्दी बीतने न पायी कि काशी में अंग्रेजों के अधिकारी डंकन साहब ने काशी में

---

1. डा० कोलब्रूक का पूरा नाम हेनरी टामस कोलब्रूक था। (१७६५ ई०–१८३७ ई०) भारतवर्ष में उच्च पदों पर काम किया। उस युग के सबसे श्रेष्ठ न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश थे। संस्कृत से परिचय होने पर उन्होंने स्वयं संस्कृत साहित्य के विविध विभागों पर अपने गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे। अंग्रेज न्यायाधीशों के काम में सहायतार्थ 'धर्मशास्त्रसंग्रह' की रचना इन्होंने ही करवाई। १७८२ ई० में भारत आये तथा १८१४ ई० में भारत से सर्वदा के लिए विदाई ली। प्रख्यात गणितज्ञ भी थे। विस्तृत जीवनी के लिए द्रष्टव्य—डिक्शनरी आफ इण्डियन बायोग्रफी (बकलैण्ड रचित, १९०६) पृष्ठ ८७–८८ तथा एमिनेन्ट ओरियण्टलिस्ट (नटेसन एण्ड को०, मद्रास पृष्ठ ४७–६१)।

संस्कृत कालेज की स्थापना २१ अक्टूबर १९७१ ई० में की। महाराजा काशीनरेश के द्वारा संस्कृत विद्या के अध्यापनार्थ पाठशाला की स्थापना इससे पूर्व ही स्थापित की गई थी। डंकन साहब ने इसी पाठशाला को संस्कृत कालेज के रूप में परिवर्धित किया। यही संस्कृत कालेज आज दस वर्षों से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होकर संस्कृत की वृद्धि कर रहा है। कालेज का इतिहास अभी तक पूर्णतया निबद्ध नहीं किया गया, परन्तु इतना तो निश्चित-सा है कि इस विद्यालय के संस्कृत शास्त्रों के अध्यापकों ने नवीन ग्रन्थों का प्रणयन कर संस्कृत विद्या को आगे बढ़ाया। यहाँ के अध्यापकों ने भी व्याकरणशास्त्र की अभिवृद्धि में विशेष योगदान दिया। नागेश भट्ट का अविर्भाव लगभग दो सौ वर्षों से अधिक पूर्व की घटना नहीं है, परन्तु इसी के बीच में उनका पाण्डित्य, प्रभाव तथा व्यक्तित्व व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन पर छा गया है। उनके शेखर तथा मञ्जूषा का ज्ञान ही वैयाकरणत्व का निकष-ग्रावा है। नागेश का प्रामुख्य उनके टीकाकारों के विपुल प्रयास का परिणत फल है। इसके सम्पादन में उनके शिष्य-प्रशिष्यों का बड़ा हाथ है। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने अपने गुरु के ग्रन्थों पर विशद टीकायें लिखीं। भैरव मिश्रने शब्देन्दुशेखर पर विस्तृत टीका द्वारा जो उनके नाम पर भैरवी की आख्या धारण करती है उसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाया। इस टीका की रचना १८२४ ई० में हुई जिससे इनका आविर्भाव-काल १९वीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। संस्कृत कालेज से सम्बद्ध अनेक पण्डितों ने व्याकरणशास्त्र को न्यास तथा परिष्कार पद्धति देकर तथा नव्य-न्याय की शैली का आश्रय लेकर आगे बढ़ाया।

काशी म व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापक में परिष्कार-शैली के पुरस्कर्ता थे कूर्माञ्चल के मूल निवासी पण्डित गङ्गाराम जी। ये अलमोड़ा से १९वीं शती के आरम्भ में काशी आये। नव्य-न्याय के साथ पाणिनीय व्याकरण के ये अद्‌भुत मर्मज्ञाता विद्वान् थे। नव्य-न्याय के तत्त्वों के आलोक में व्याकरण का परिशीलन इनकी अद्‌भुत प्रतिभा की एक श्लाघनीय दिशा था। इन्होंने हा सूत्रों के अर्थ-निर्धारण में नव्य-न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न वाली शैली का प्रयोग किया जिससे वे परिष्कार-शैली के जन्मदाता माने जाने लगे। उस समय के उद्‌भट वैयाकरण काशानाथ कालेकर गंगाराम जी के शिष्य थे और उनके द्वारा यह विद्या काशी के विद्वन्मण्डली में समादृत तथा महिमामण्डित हुई। श्री राजाराम शास्त्री भी उसी युग के मान्य पण्डित थे। काशीनाथ शास्त्री के दो पट्ट शिष्य हुए—(१) बालशास्त्री रानाडे तथा (२) योगश्वर पण्डित। ये दोनों सतीर्थ्य थे। योगश्वर पण्डित इसी काशी-मण्डल के बलिया जिले के मूल निवासी थे और ग्रन्थ-लेखक की धर्मपत्नी के पितामह थे। १९०० ई० के आस-पास साठ-पैंसठ वर्ष की आयु में उनका वैकुण्ठवास हुआ। प्रक्रिया

के महनीय पण्डित थे। परिभाषेन्दुशेखर की हैमवती[1] नाम्नी व्याख्या उन्हीं की प्रतिभा का चमत्कार है। बालशास्त्री अपनी अलोक-सामान्य सार्वभौम वैदुष्य के कारण 'बाल सरस्वती' की उपाधि से मण्डित किये गये थे। शास्त्रों के साथ वे वेद के भी बड़े विद्वान् थे। उन्होंने बड़े समारोह के साथ सोमयाग का सम्पादन किया था। इन्हीं के प्रमुख शिष्य थे—दामोदर शास्त्री भारद्वाज, शिवकुमार मिश्र, तात्या शास्त्री पटवर्धन तथा गंगाधर शास्त्री। सरस्वती के वरद पुत्र ये महापुरुष चारों महामहोपाध्याय थे तथा संस्कृत कालेज के अध्यापक थे। परिष्कार-पद्धति को इन पण्डितों ने और भी आगे बढ़ाया। इनके शिष्य-प्रशिष्य की एक विशिष्ट मण्डली है जो व्याकरण शास्त्रों में प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण भी करती है तथा परिष्कार के परिशीलन में स्वयं जुटी रहती है। इन्हीं पण्डितों के महनीय उद्योग से विश्वनाथ की यह नगरी काशी आज भी व्याकरण-शास्त्र का आदरणीय अखाड़ा बनी हुई है। पाणिनीय व्याकरण काशी की वैदुषी का निःसन्देह मेरुदण्ड है।

पाणिनीय व्याकरण की विकाश-दिशा

पाणिनीय सम्प्रदाय को अखिल भारतीय होने का गौरव प्राप्त है। इसको कैयट, भट्टोजिदीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्र-धुरन्धर विद्वानों के हाथ में पड़ने से विद्वत्समाज में विशेष गौरव तथा सम्मान मिला। इन विद्वानों ने अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा के बल पर इस शास्त्र को एक विशिष्ट धारा में प्रवाहित किया जिससे परिचय रखना शब्दों के साधुत्व-ज्ञान के लिए न होकर शब्दार्थ-सम्बन्ध के विमर्श के लिए अत्यावश्यक है। इस विशिष्ट धारा का त्रिविध रूप दृष्टिगोचर होता है—पदार्थ-चर्चा, न्यास और परिष्कार। पदार्थ-चर्चा के कारण अब पाणिनीय-व्याकरण पदविद्या न होकर पदार्थविद्या माने जाने लगा। पदार्थ-विचार में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनावृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपादिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयों का समावेश होता है। वैयाकरण-सिद्धान्तभूषण तथा लघुमञ्जूषा में इन समस्त विषयों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन विषयों पर न्याय तथा मीमांसा के भी अपने विशिष्ट मत हैं। उन मतों के साथ व्याकरण मत का संघर्ष होना स्वाभाविक है। जैसे नैयायिकों के मत में फल और व्यापार धात्वर्थ है, तिङ् का अर्थ कृति है। मीमांसक फल को धात्वर्थ मानते हैं और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनों के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते हैं और आश्रय

---

१. अब यह ग्रन्थ वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो रहा है (सन् १९६१)।

(कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ[1]। दृष्टान्तों के सहारे इसे समझना चाहिये। 'देवदत्तः ओदनं पचति' इस वाक्य के शाब्दबोध में नैयायिकों के अनुसार कर्ता विशेष्य है—वर्तमान-कालिक-ओदनकर्मक-पचनानुकूल-व्यापाराश्रयो देवदत्तः। वैयाकरणों के मतानुकूल शाब्दबोध में व्यापार विशेष्य है—देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालिक ओदनकर्मकः पचनानुकूलो व्यापारः। स्फोटवाद के प्रतिपादन में वैयाकरणों ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई। शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिक, शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक—इन दोनों के मतों का खण्डन कर वैयाकरणों ने स्फोटवाद का नया सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप-शब्द तो अनित्य है, परन्तु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ के प्रकाशन की क्षमता स्फोट में है, ध्वनि में नहीं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

वैयाकरणों ने स्फोट के प्रतिपादनार्थ स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप में पाणिनीय व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यैक-चक्षुष्क थे। वे भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर उनको नियमों के द्वारा बाँधने का उद्योग करते थे। पिछले युग के वैयाकरण लक्षणैक-चक्षुष्क बन गये, सूत्रार्थ की व्याख्या तथा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता पर ही विचार करना आरम्भ किया, तब उनके स्वतन्त्र मत का परिष्कार दृष्टिगोचर होने लगा। अब मूल ग्रन्थ का प्रणयन उनका ध्येय न था, प्रत्युत पूर्व ग्रन्थों की टीका-उपटीका की रचना तथा मतों का खण्डन-मण्डन ही लक्ष्य बन गया। व्याकरणशास्त्र में यह खण्डन-मण्डन की परम्परा आज भी जागरूक है और इसका प्रत्यक्ष दर्शन शास्त्रार्थ के अवसर पर हमें होता है। इस परम्परा को हम मोटे तौर से चार भागों में बाँट सकते हैं—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन तथा नवीनतर। प्राचीनतर में वामन-जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, विट्ठल तथा शेष श्रीकृष्ण आते हैं। प्राचीन में भट्टोजिदीक्षित प्रधान हैं। नवीन में नागेश तथा उनके पट्टशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे हैं। नवीनतर में शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार हैं। आज-कल हम इसी युग में हैं जिसे

---

१. फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥
— वैयाकरणभूषण, कारिका द्वितीय।

हम 'शेखर-युग' के नाम से अभिहित करते हैं। इन चारों परम्पराओं में उत्तर परम्परा ने पूर्वपरम्परा का खण्डन तो किया ही, किन्तु परम्परा के भीतर भी उत्तर विद्वान् पूर्व विद्वान् का खण्डन करते थे। जैसे जिनेन्द्रबुद्धि का खण्डन हरदत्त ने किया। इस प्रणाली को भट्टोजिदीक्षित ने खूब प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप उनके टीकाकारों ने इस शैली की खूब ही वृद्धि की। उधर नव्य-न्याय की विषय-प्रतिपादन की तथा सम्बन्ध-निर्णय की शैली ने व्याकरणशास्त्र के भीतर प्रवेश किया, तब वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने के लिए न्यास का आश्रय लिया। न्यास शैली है, ग्रन्थ नहीं। पाणिनि के किसी सूत्र को लेकर उसमें लाघव के लिए परिवर्तन करने के प्रयास को न्यास की पारिभाषिक संज्ञा दी जाती है। सूत्रों में परिवर्तन करने से कौन-सी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है और उस कठिनाई का दूरीकरण किस प्रकार किया जा सकता है—आदि विषयों का सूक्ष्म विचार इतनी प्रौढ़ता से किया जाता है कि वास्तव में बुद्धि-वैभव के चमत्कार को देखकर चकित हो जाना पड़ता है। यह शास्त्रार्थ-प्रणाली काशी के वैयाकरणों की महती देन है—उनकी बुद्धि का विशद चमत्कार है। पहले ये युक्तियाँ गुरुमुखैकगम्य थीं। आज अनेक क्रोडपत्र प्रकाशित हो गये हैं। फलतः अध्ययन के लिए ये उपलब्ध हैं, परन्तु उनके भीतर प्रवेश करना तथा शाब्दिक चक्रव्यूह का भंग करना गुरुकृपा की पूर्ण अपेक्षा रखता है।

आज वाराणसेय वैयाकरणों के सम्प्रदाय में जो नवीनतम प्रणाली प्रचलित है वह न्यास नहीं, परिष्कार है। नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली में सूत्रार्थ की व्याख्या करना परिष्कार कहलाता है। न्यास का प्रचार व्याकरण के छात्रों के लिए है, परिष्कार का प्रचार व्याकरण के विद्वानों के निमित्त है। इस शैली का आरम्भ नागेशभट्ट से होता है और उनके उत्तरकालीन टीकाकारों के ग्रन्थों में यह शैली अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है। समय के प्रवाह में उत्तरोत्तर टीकायें परिष्कार से जटिल होती जाती हैं। उदाहरणार्थ गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित लघुशब्देन्दु शेखर का षट्-टीका-सम्पन्न नवीनतम संस्करण देखने योग्य है। परिभाषेन्दु शेखर की तात्याशास्त्री की भूति टीका में तथा जयदेव मिश्र की विजया टीका में भी इसका स्वरूप देखने योग्य है। परिभाषेन्दुशेखर की पण्डित यागेश्वरशास्त्री रचित हैमवती टीका में परिष्कार शैली के स्थान पर प्राचीन प्रक्रिया शैली का ही विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। इधर ग्रन्थों के प्रकाशन से परिष्कार शैली के मूर्तमय विग्रह का दर्शन आलोचकों को होने लगा है। यह शैली वाराणसेय वैयाकरणों की ही देन है। उचित है कि इस शैली की रक्षा की जाय। शास्त्रार्थ की प्रणाली का संरक्षण होना चाहिये जिससे काशी का यह वैशिष्ट्य अक्षुण्ण बना रहे। भगवान् विश्वनाथ की भूयसी अनुकम्पा से ही इस शास्त्र का संरक्षण हो सकेगा। तथास्तु।

पंचम खण्ड

पाणिनीय-तन्त्र के खिल ग्रन्थ

पाणिनीय सम्प्रदाय को अथवा किसी भी व्याकरण सम्प्रदाय की समग्रता के हेतु पाँच अङ्गों से विभूषित होना नितान्त आवश्यक होता है। इसीलिए सम्पूर्ण व्याकरण को पञ्चाङ्ग[1] व्याकरण कहा जाता है। इन पाँच अङ्गों में सूत्रपाठ तो मुख्य ही है और उसके सहायक अथवा पूरक होने से इतर अङ्गों की भी उपयोगिता है। इन्हें ही खिल ग्रन्थ अथवा परिशिष्ट ग्रन्थ के नाम से पुकारते हैं। खिल ग्रन्थों में इनकी गणना मानी जाती है—(१) धातु-पाठ, (२) गण-पाठ, (३) उणादि-पाठ तथा (४) लिङ्गा-नुशासन। ये खिल ग्रन्थ अन्य वैयाकरण सम्प्रदायों में भी पूर्णतः अथवा अंशतः विद्यमान हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय सर्वाधिक प्राचीन तथा पुष्ट है और महर्षि पाणिनि की ही ये मौलिक रचनायें हैं। फलतः उसके खिल ग्रन्थों में शिक्षा, परिभाषा तथा फिट् सूत्रों का भी समावेश किया जाता है। पाणिनि सम्प्रदाय के सूत्र-पाठ के विस्तृत विवरण गत चार खण्डों में दिये गये हैं। अतएव यहाँ तत्-सम्बद्ध खिल ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इतर व्याकरण-सम्प्रदायों के सूत्रपाठ का संक्षिप्त विवरण तो अगले खण्ड में दिया जावेगा, परन्तु उनके खिल ग्रन्थों का परिचय स्थाना-भाव के कारण देने का अवकाश यहाँ नहीं है।

(१) धातु-पाठ

यह बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों में आचार्य काशकृत्स्न का धातु-पाठ अविकल रूप से प्राप्त है तथा उसके ऊपर कन्नड देश के वैयाकरण चन्न वीर कवि द्वारा निर्मित वृत्ति भी प्राप्त है। इस वृत्ति को संस्कृत के विद्वानों के सामने प्रस्तुत करने का श्रेय श्री युधिष्ठिर मीमांसक को है जिन्होंने बड़े परिश्रम से कन्नड वृत्ति का हिन्दी रूपान्तर करा कर तथा संस्कृत में अनूदित कर

---

1. इस प्राचीन श्लोक में पाणिनीय सम्प्रदाय के पञ्चाङ्गों का निर्देश इस प्रकार है।

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्॥

प्रकाशित किया है[1]। इस धातु-पाठ के अनुशीलन से पाणिनीय धातु-पाठ की अपेक्षा अनेक विशिष्टतायें परिलक्षित होती हैं जिसमें दो चार का निर्देश यहाँ किया गया है—

(१) इस धातु-पाठ में नव ही गण हैं, पाणिनितन्त्र के समान दस गण नहीं हैं। जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत निविष्ट किया गया है। धातुओं का चयन प्रत्येक गण में बड़ी सुव्यवस्था से किया गया है। प्रथमतः परस्मैपदी-धातुयें पठित हैं, अनन्तर आत्मनेपदी तथा अन्त में उभयपदी। पाणिनि तन्त्र में इतनी सुव्यवस्था नहीं है।

(२) धातुओं की संख्या भी पाणिनि से अधिक हैं। इसके सम्पादक का कथन है कि भ्वादि-गण में पाणिनीय धातु-पाठ से ४५० धातुयें अधिक है। अन्य गणों में धातु की संख्या प्रायः बराबर है। पाणिनि में अपठित परन्तु काशकृत्स्न में पठित धातुओं की संख्या लगभग आठ सौ हैं। अतएव कमी-वेशी को ध्यान में रखकर सम्पादक साढ़े चार सौ धातुओं को यहाँ अधिक बतला रहे हैं।

(३) अनेक नवीन धातुओं की यहाँ सत्ता है। पाणिनि द्वारा अपठित, परन्तु लोक-वेद में उपलभ्यमान, बहुत सी धातुओं की सत्ता इस धातु-पाठ का विशेष महत्त्व प्रदान करती है। 'अथर्व' शब्द हिंसार्थक थर्व-धातु से निष्पन्न है। यह धातु यहाँ पठित है। हिन्दी में ढूँढना की प्रकृति 'ढुढि' धातु यहाँ निर्दिष्ट है[2] (भ्वादि गण में धातु संख्या १६१)। सिंह शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनीय परम्परा में हिसि (हिंस) धातु से वर्णव्यत्यय करने पर सिद्ध मानी जाती है। महाभाष्यकार का ही यह मत नहीं है, प्रत्युत यास्क को भी यह सम्मत है (**हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य; निरुक्त ३।१८**), परन्तु काशकृत्स्न ने षिहि हिंसायाम् एक नवीन धातु का प्रवचन किया है (भ्वादि गण धातु-संख्या ३१६) जिससे बिना किसी व्यत्यय के सिंह शब्द निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अनेक शब्दों की निष्पत्ति के लिए पाणिनितन्त्र में लोप, आगम, वर्ण-विकार आदि का आश्रयण लेना पड़ता है, परन्तु काशकृत्स्न ने उसके लिए नवीन धातुओं का ही प्रवचन किया है। प्रतीत होता है कि यह उनकी मौलिक सूझ है। व्युत्पन्न प्रातिपदिक पक्ष को मानने पर सीधे धातुओं से शब्दों की निष्पत्ति के लिए ऐसी धातुओं की सत्ता अनिवार्य है।

(४) इस धातु-पाठ का पाणिनीय धातु-पाठ से तुलना करने पर अनेक भाषाशास्त्रीय तथ्यों की अवगति हो सकती है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पाणिनीय

---

१. द्रष्टव्य काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्। संस्कृत रूपान्तरकर्ता श्री युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि० सं० २०२२।

२. ढुढि अन्वेषणे—अनुसन्धाने। ढुण्ढति = अन्वेषयति। ढुण्ढिः = काशीविनायकः। काशी में ढुण्ढिराज गणेश की यह व्याख्या पुराणसम्मत है।

धातु-पाठ में वेवीङ् धातु पठित है अदादि गण में। वहाँ पाठ है वेवीङ् वेतिना तुल्ये जिसकी सायण कृत व्याख्या है—'वी-गति' इत्यनेन तुल्येऽर्थे वर्तते अर्थात् सायण के मत में वेवी धातु का अर्थ गमन है। मेरी दृष्टि में यह धात्वर्थ निरूपण पाणिनि से प्राचीन है। काशकृत्स्न का पाठ है—'वेवीङ् वेतना-तुल्ये'—कर्मकरवद् व्यवहारे। फलतः वेतन देने या मजूरी करने के अर्थ में इस धातु का प्रयोग होता था। 'वेवीते' का अर्थ है मजूरी करता है और 'वेवीता' का अर्थ है मजूरा, 'वेवीयन' तथा 'वेवय' का अर्थ है मजूरी। इन शब्दों के प्रयोग से ही अर्थ की परीक्षा यथाविधि हो सकती है। पाणिनीय सम्प्रदाय में यह वैदिक धातु है, लौकिक नहीं। वेद में इसका प्रयोग अर्थ की निश्चिति के लिए ढूँढना चाहिए। मेरा मत तो यह है काशकृत्स्न का ही पाठ ठीक है वेवीङ् वेतनातुल्ये। वेतनं तथा वेतना एक ही शब्द है। किसी प्रकार पाठभ्रष्ट हो कर 'वेतनातुल्ये' के स्थान पर 'वेतिनातुल्ये' हो गया। लौकिक प्रयोगों के परीक्षण के अभाव में यह अशुद्ध पाठ आज भी चलता आ रहा। वैयाकरणा एव प्रमाणम्।

पाणिनि का धातु-पाठ

पाणिनि का धातु-पाठ पाणिनीय व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। पाणिनि के धातुओं की संख्या लगभग दो सहस्र के है। ये धातुयें भ्वादि-अदादि दस गणों में विभक्त है। प्रत्येक धातु के साथ अर्थ-निर्देश किया गया आज मिलता है। विचारणीय प्रश्न है कि यह अर्थ-निर्देश किंकर्तृक है। पाणिनि ने स्वयं इन अर्थों का निर्देश किया ? अथवा उनके मतानुसारी किसी अन्य वैयाकरण इसका निर्देश किया ? इसके विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं—(क) कतिपय आचार्यों का कहना है कि पाणिनि ने विशुद्ध धातुओं का पाठ ही लिखा जैसे भ्वेधृस्पर्ध आदि। अर्थ का निर्देश किसी भीमसेन नामक वैयाकरण ने किया। महाभाष्यकार का कथन इस पक्ष में सहायक है—

परिमाणग्रहणं च कर्तव्यम्। इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतत् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति न पुन र्भ्वेध् शब्दः (म० भा० १।३।१)।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है। यदि 'भू' के बाद 'सत्तायाम्' अर्थ की द्योतना रहती, तो अवधि का तो निश्चय हो ही गया रहता। इस नियम-प्रतिपादक वचन को आवश्यकता ही नहीं होती। इसी प्रकार के भाष्यवचनों को आधार मानकर भट्टोजिदीक्षित ने तो बड़े ही स्पष्ट शब्दों में धात्वर्थ निर्देश को अपाणिनीय माना है—

न च या प्रापणे इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु भ्वेध इत्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्—शब्द-कौस्तुभ (१।३।१)।

यहाँ तथा अन्यत्र इस प्रसंग में निर्दिष्ट भीमसेन का परिचय आगे दिया गया है। बहुल निर्देश से इनकी महत्ता स्पष्ट सूचित होती है।

(ख) अन्यत्र किन्हीं आचार्यों के मत में अर्थ-निर्देश स्वयं पाणिनि-निर्मित है। महाभाष्य में तो पाणिनि-निर्दिष्ट अर्थ तथा व्यवहार में प्रचलित अर्थ में पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया गया है। वप् धातु का अर्थ है बीज को खेत में छीटना (प्रकिरण) परन्तु व्यवहृत अर्थ है छेदन। (जैसे केश श्मश्रु वपति)[1]। कृधातु के इस अर्थ-द्वैविध्य का उल्लेख पतञ्जलि के प्रसंग में किया गया है[2]। इसमें 'इष्ट' अर्थ तो पाणिनि-स्मृत अर्थ ही है। बहुत से वैयाकरण धातु-पाठ में अर्थ-निर्देशक पदों को प्रामाण्य मानते हैं। काशिका 'उद्यम' तथा 'उपरम' शब्दों को इसीलिए साधु मानती है कि ये दोनों शब्द धातु के अर्थ-निर्देशन में प्रयुक्त हैं[3]। न्यास विधूनन तथा प्रीणन शब्दों में निपातनात् नुग् मानता है और यह निपातन धात्वर्थ-निर्देश में है[4]। वामन तथा क्षीरस्वामी इसी प्रकार निपात से ही शोभा शब्द की सिद्धि मानते हैं।

निष्कर्ष यह है कि धातु का पाठ तथा धातु का अर्थ-निर्देश ये दोनों बातें पाणिनि ने स्वयं निर्दिष्ट की हैं। भीमसेन का अर्थ-निर्देश के विषय में कितना प्रयास था? इसका यथार्थ उत्तर प्रमाणों के अभाव में नहीं दिया जा सकता।

यूरोपियन भाषावेत्ताओं ने पाणिनीय धातु-पाठ की प्रचुर मीमांसा की है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से शब्दों का निष्पादक मूल उपादान तो धातु ही है। धातुओं से प्रत्ययों के योग से शब्दों की सिद्धि होती है। इस प्रसंग में गत शताब्दी के अमेरिकन भाषा-शास्त्री डा० ह्विटनी ने पाणिनि के धातुओं के विषय में विशेष आलोचना की है जिसका सारांश इतना ही है कि दो सहस्र धातुओं में से केवल नौ सौ के लगभग धातु ही प्रयुक्त हैं तथा उपादेय हैं क्रिया-पदों की सिद्धि के लिए तथा संज्ञापदों की निष्पत्ति के लिए। लगभग एक सहस्रों से ऊपर धातुओं को उन्होंने अप्रयुक्त होने से निरर्थक माना है। भाषाशास्त्र के इतिहास में उनका बड़ा नाम है और उनका काम है संस्कृत भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण (हिस्टारिकल ग्रामर आफ संस्कृत) का प्रणयन, जिसमें संस्कृत

---

१. वपिः प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते। केशश्मश्रु वपतीति।
—म० भा० १।३।१।

२. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ४५०।

३. कथमुद्यमोपरमौ यम उद्यमे यम उपरमे इति निपातनादनुगन्तव्यौ।
—काशिका ७।३।३४।

४. धू विधूनने तृप प्रीणने इति निपातनादेतयोर्नुग्भविष्यति। —न्यास।

५. शुभ शुम्भ शोभार्थे। अतएव निपातनात् शोभा साधुः।
—क्षीरतरंगिणी ६।३३।

के शब्दरूपों की वैदिक पूर्वपीठिका भी उपन्यस्त की गई है। यह व्याकरण पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। परन्तु धातु-विषयक उनके विचार नितरां अनुचित तथा अयुक्त हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि संस्कृत धातुओं की प्रयुक्तता के अनुशीलन के निमित्त केवल संस्कृत काव्यादिकों का अन्वेषण यथार्थ नहीं है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य का भी गम्भीर परिशीलन आवश्यक है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का भी तो मूलस्रोत संस्कृत ही है। ऐसी दशा में इन भाषाओं में यदि संस्कृत धातु उपलब्ध हो रहे हैं, तो उनके ऊपर अप्रयुक्तता का लांछन कैसे लगाया जा सकता है। ऐसी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत में अप्रयुक्त धातुओं की संख्या बहुत ही न्यून है, यदि उसकी सत्ता मानो ही जाय। दो-चार उदाहरणों से इसकी उपपत्ति यहाँ दिखलाई जाती है—

(१) मेथ धातु—इसका अर्थ हेमचन्द्र तथा वोपदेव के अनुसार मेधा, हिंसा तथा सङ्गम है (मेधा हिंसयोः सङ्गमे चेति हेमचन्द्रः)। इससे निष्पन्न प्रधान शब्द मेथी है जिसका अर्थ स्तम्भ है (मेथन्ते=संगच्छन्ते पशवोऽत्र)। मेथी शब्द वेद में प्रयुक्त है—इह मेथिममिसंविशध्वम् (अथर्व ८।५।२०); विष्णवे त्वेति मेथीम् (शत० ब्रा० ३।५।३।२१)। दिव्यावदान में इसी अर्थ में मेधि ('मेथि' का ही रूपान्तर) है। तथा भोजपुरी में मेढी, मेढ़ प्रयुक्त होते हैं उस खम्भे के लिए, जिसके चारों ओर बैल दँवरी करते हुए घूमते हैं।

(२) मस् धातु (मसी)—इसका अर्थ है परिणाम = विकार (क्षीरस्वामी) इसी धातु से निष्ठा में बनता है—मस्त जो स्वार्थे-कप् होने से बनता है—मस्तक। घञ् प्रत्यय से बनता है—मास। प्रत्येक तिथि को विकार धारण होने के कारण ही इन्दु कहलाता है—मास्। चदि अह्लादे से निष्पन्न 'चन्द्र' प्रथमतः विशेषण रूप में प्रयुक्त होता था चन्द्र + मस् (= आह्लादक इन्दु) कालान्तर में विशेषण विशेष्य के साथ संयुक्त होने से बना चन्द्रमा।

(३) मुर् धातु = संवेष्टन (अच्छी तरह से घेरना); इससे निष्पन्न शब्दों पर ध्यान दें। मुरा = गन्धद्रव्य-विशेष (मुरति = सौरभेण वेष्टयति); मुरला = नदी विशेष (उत्तर रामचरित तृतीय अंक; मुरम्-वेष्टनं लाति); मुरली = कृष्ण की वंशी (स्वर-सौन्दर्येण वेष्टयति); हिन्दी में मुरना, मुड़ना तथा, मोड़ना इसी के विभिन्न रूप हैं[1]।

---

१ 'मुरारि' शब्द का व्युत्पत्ति ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड ११० अ० में इस प्रकार है—

> मुरः क्लेशे च सन्तापे कर्मभोगे च कर्मिणाम्।
> दैत्यभेदेऽप्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्तितः॥

(४) कङ्क् (ककि गतौ) गत्यर्थक कङ्क् धातु से संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक शब्द बनते हैं। कङ्कत = 'कंघी' के अर्थ में इसी धातु से अतच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। वेद तथा काव्यों में बहुशः प्रयुक्त है। ऋ० १।१९१।१, अ० वे० १४।२.६८ तथा वाल्मीकि रामायण में २।९१।७७ में यह शब्द प्रयुक्त है। कङ्क एक विशिष्ट पक्षी का नाम भी है (कङ्कते उद्गच्छतीति कङ्कः पक्षिविशेषः) हिन्दी में इससे निष्पन्न अनेक शब्द हैं—कंगल (= कवच), कंगन (कङ्कणम्), खंख (खाली), कंगाल तथा खंक (बुभुक्षित तथा दुर्बल)।

इन चारों धातुओं से इतने प्रयोगों की निष्पत्ति होने पर भी इन्हें अप्रयुक्त तथा अव्यवहार्य बतलाना क्या समुचित है ? डा० ह्विटनी के द्वारा अप्रयुक्त घोषित धातुओं में अधिकांश प्रयुक्त हैं साक्षात् रूप से या परम्परया। फलतः पाणिनीय धातुओं को उपादेय मानना ही साधु पक्ष है[1]।

धातु-वृत्तियाँ

क्षीरतरङ्गिणी[2]

पाणिनीय धातुओं के ऊपर अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं। इन व्याख्याओं में धातु के विशिष्ट रूप ही नहीं प्रदर्शित हैं, प्रत्युत उनसे उत्पन्न शब्दों की भी यहाँ तुलनात्मक मीमांसा है। अतः इन व्याख्याओं का अनुशीलन शब्द-सिद्धि के परिज्ञान के निमित्त आवश्यक साधन है। ऐसे व्याख्या-ग्रन्थों में क्षीरतरङ्गिणी सर्व-प्राचीन तथा पर्याप्त-रूपेण प्रामाणिक है।

इसके रचयिता क्षीरस्वामी का परिचय अमर-कोष के टीकाकारों के विवरण-प्रसंग में पूर्व ही (पृष्ठ ३३६–३३९) पर दिया गया है। ये काश्मीरी ग्रन्थकार हैं ११ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान। युधिष्ठिर मीमांसकने शब्दों के ऊपर तुलनात्मक टिप्पणी देकर इसे विशेषरूप से उपयोगी बनाया है। क्षीरतरङ्गिणी धातु-पाठ की

---

१. पाणिनीय धातुओं के विशेष अनुशीलन के लिए द्रष्टव्य—डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी : पाणिनीय धातु पाठ-समीक्षा।
(प्र० वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, १९६५)।

२. इसका प्रथम प्रकाशन १९३० ई० में जर्मन विद्वान् डा० लिबिश ने जर्मन भाषा में लिखित टिप्पणियों-सहित किया। इस वृत्ति का भूमिका-टिप्पणी आदि से मण्डित सुन्दर संस्करण श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रकाशित किया है।
—रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला नं० २५; अमृतसर, सं० २०१४।

सर्वप्राचीन व्याख्या है। अपने विषय में प्रथम व्याख्या होने पर भी क्षीरस्वामी की तुलनात्मक दृष्टि विशेष प्रशंसनीय है। एक धातु से कितने विशिष्ट संज्ञापद तथा क्रियापद उत्पन्न होते हैं, उन सबका निर्देश ग्रन्थकार ने इस व्याख्या में देकर इसे अत्यन्त प्रामाणिक तथा उपयोगी बनाया है। इस कार्य के लिए उणादि सूत्रों का भी पर्याप्त निर्देश है। धातु के विशिष्टरूपों की सिद्धि में तत्तत्-सूत्रों का उल्लेख लाभकारी है। क्षीरस्वामी अनेक विशिष्ट पाठों को देकर निर्णय में असमर्थता प्रकट करते हैं। जैसे चर्च झर्छ झर्झ परिभाषणे (भ्वादि सं० ४७२) इस धातु के अनेक पाठान्तरों को देकर वे कह उठते हैं—किमत्र सत्यं देवा ज्ञास्यन्ति। चान्द्रव्याकरण में दिये गये धातुओं से विशेषरूप से तुलना की गई है। फलतः क्षीरस्वामी की तुलनात्मक अध्ययन दिशा आजकल के विद्वानों के लिए भी माननीय है।

धातु-प्रदीप

धातु-प्रदीप के रचयिता मैत्रेय रक्षित थे जो धर्म से तो बौद्ध थे तथा पाण्डित्य से महावैयाकरण थे। वकारादि तथा बकारादि धातुओं के स्वरूप में इन्होंने विशेष ज्ञान प्रदर्शित नहीं किया। व तथा ब का स्पष्ट पार्थक्य वंगीय उच्चारण में उपलब्ध नहीं होता। फलतः ये बंगाल के ही निवासी वंगीय प्रतीत होते हैं।

धातु-प्रदीप—पाणिनीय धातु-पाठ की लम्बी वृत्ति है। क्षीरतरङ्गिणी का बहुशः निर्देश किया गया है, परन्तु नामतः नहीं, केवल अन्ये अपरे आदि पदों के प्रयोग द्वारा ही। फलतः मैत्रेय रक्षित क्षीरस्वामी से अर्वाचीन हैं तथा सर्वानन्द से प्राचीन, क्योंकि इन्होंने अमरकोष की 'टीका-सर्वस्व' नामक स्वीय व्याख्या में धातु-प्रदीप तथा उसकी किसी टीका का निर्देश किया है। टीकासर्वस्व का रचनाकाल स्वयं ग्रन्थ में १०१५ संवत् (=११५८ ई०) दिया गया है। फलतः इनका काल क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द के मध्य काल में मानना चाहिए ११२५ ई० के आसपास। ये वड़े प्रौढ़ वैयाकरण थे। इनका महत्त्वशाली ग्रन्थ है तन्त्र-प्रदीप जिसमें जिनेन्द्र बुद्धि के न्यास की पाण्डित्य-पूर्ण टीका है। मैत्रेय ने धातु-प्रदीप की रचना में अपने तुलनात्मक व्याकरण-नैपुण्यका परिचय दिया है जिसमें कलाप तथा चान्द्र व्याकरण का विशेष ज्ञान लक्षित होता है[1]।

दैव तथा पुरुषकार

पाणिनीय धातु-विषयक ग्रन्थों में दैव नामक यह ग्रन्थ अपनी एक विशिष्टता रखता है। ग्रन्थकार का नाम है देव और वे इस ग्रन्थ को 'अनेक विकरण सरूप-धातु-

---

१. आकृष्य भाष्य-जलधेरथ धातुनाम-पारायणक्षपण-पाणिनि-शास्त्रवेदी।
कालाप-चान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय॥
—धातुप्रदीप का अन्तिम श्लोक।

व्याख्यानं' बतलाते है। पाणिनीय धातु-पाठ में भिन्न-भिन्न गणों में पठित अनेक धातु समान आकार वाले उपलब्ध होते हैं। कभी-कभी अर्थ की एकता रहती है, कभी भिन्नता। ऐसे ही सरूप धातुओं का यह श्लोकबद्ध व्याख्यान है। श्लोकों की संख्या ठीक दो सौ है। इसके ऊपर लीलाशुक-विरचित पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है जो 'पुरुषकार' के नाम से प्रख्यात है[1]। यह व्याख्या बड़ी पाण्डित्यपूर्ण, प्रमेय-बहुल तथा प्रामाणिक है जिसमें धातु-विषयक अनेक ज्ञाताज्ञात तथ्यों का विवरण ग्रन्थकार के प्रचुर व्याकरण ज्ञान का साक्षात् प्रमापक है। लीलाशुक ने अपने व्याख्यान के अवसर पर कहीं मण्डन के निमित्त कहीं खण्डन के निमित्त अनेक प्राचीन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख तथा उद्धरण दिया है। ऐसे ग्रन्थकारों में क्षीरस्वामी, चन्द्रगोमी, धनपाल, भोजराज, मैत्रेय-रक्षित तथा शाकटायन (जैन वैयाकरण पाल्यकीर्ति) बहुशः उल्लिखित हैं। इससे लीलाशुक की पैनी विवेचक दृष्टि का तथा व्यापक पाण्डित्य का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। इस व्याख्या-ग्रन्थ का प्रभाव उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर, विशेषतः सायण के ऊपर, विशेष रूपेण लक्षित होता है। पुरुषकार में धातुओं के रूप तथा अर्थ के विषय में तुलनात्मक आलोचना की गई है।

इन दोनों वैयाकरणों के देश-काल का सामान्य परिचय विद्वानों की कृपा से उपलब्ध होता है। टीकाकार के अनुसार मूल लेखक देव ने मैत्रेय रक्षित के धातु-प्रदीप का अनुसरण कर ग्रन्थ का निर्माण किया[2]। लीलाशुक के इस कथन से मैत्रेय रक्षित से देव की अर्वाक्कालीनता निःसन्देह सिद्ध होता है। मैत्रेय का काल सामान्यतः ११०० ई० के आसपास ऊपर निर्णीत है। फलतः देव का समय १२ वीं शती का प्रथमार्ध मानना अनुमान-सिद्ध है। टीकाकार लीलाशुक काञ्ची निवासी वैष्णव आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका के अन्त में काञ्ची नगरी के उत्सवों का संकेत किया है। 'कृष्णलीलामृत' नामक गौडीय वैष्णवों का बहुचर्चित स्तोत्ररत्न लीलाशुक की ही मान्य रचना है। इसके विषय में यह प्रसिद्धि है कि चैतन्य महापुरुष इस ग्रन्थ को दक्षिण देश से बंगाल लाये थे। फलतः लीलाशुक चैतन्य (१४७६ ई०–१५३३ ई०)

---

१. मूल तथा टीका का प्रथम प्रकाशन म० म० गणपति शास्त्री ने अनन्तशयन ग्रन्थमाला (संख्या १) १९२५ ई० में किया था। इस दुर्लभ ग्रन्थ का सुबोध सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने उपयोगी परिशिष्टों के साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। —अजमेर, सं० २०१९।

२. आप्लृ लम्भन इत्यत्र मैत्रेय रक्षितेन 'आपयते' इत्यात्मनेपदमुदाहृतमुपलभ्यते..........तदनुसारेणैव प्रायेण देवः प्रवर्तमानो दृश्यते।

—दैवम्, पृ० ८८।

से निःसन्देह प्राचीन हैं। पुरुषकार में हेमचन्द्र का उल्लेख है[1]। हेमचन्द्र १२वीं शती के मान्य ग्रन्थकार हैं। सायणाचार्य ने माधवीया धातुवृत्ति में 'पुरुषकार' का निर्देश अनेकत्र किया है[2]। सायण का समय चतुर्दशशती का मध्यकाल है (१३५० ई०)। फलतः इसकी रचना हेमचन्द्र तथा सायणाचार्य के मध्य में होनी चाहिये। १३वीं शती के आसपास इनका समय मानना उचित है (लगभग १२५० ई०—१३००)।

माधवीया धातुवृत्ति

वेदभाष्य के प्रख्यात रचयिता श्री सायणाचार्य की यह वृत्ति एतद्-विषयक समस्त रचनाओं में अपनी गुण-गरिमा तथा प्रकृष्ट पाण्डित्य के कारण समधिक श्लाघनीय है। इसके निर्माता स्वयं सायण ही हैं, परन्तु अपने अग्रज माधवाचार्य के उपकार-स्मरण में उन्होंने इसे 'माधवीया' संज्ञा स्वयं दी है। धातुओं के रूप तथा तज्जन्य शब्दों के परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। इतः पूर्व क्षीरतरङ्गिणी तथा धातुप्रदीप की रचना हो चुकी थी धातुओं के व्याख्यान-रूप में, परन्तु इन दोनों से इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट है। धातुप्रदीप की काया बड़ी लम्बी है, क्षीरतरंगिणी में पाण्डित्य होने पर भी विस्तार का अभाव है। माधवीया धातुवृत्ति में विस्तार के साथ गम्भीर्य पर्याप्त मात्रा में है। ग्रन्थकार धातुओं के सामान्य रूपों के साथ ण्यन्त, सनन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त प्रयोगों का भी उल्लेख करता है। 'पद' सम्बन्धी वैशिष्ट्य को वह उदाहरणों से समझाता है। तदनन्तर तद्धातुज नाना कृदन्त रूपों का विन्यास अर्थ-पूर्वक करता है। परमत-खण्डन के लिए अथवा स्वमत-मण्डन के लिए प्राचीन वैयाकरणों, कोषकारों तथा भट्टि, माघ जैसे प्रौढ़ कवियों के वचन को उद्धृत करता है। दृष्टान्त के लिए (६५६) सृ गतौ तथा (६५७) ऋ गति प्रापणयोः धातुओं की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या सायण की इस वृत्ति की प्रामाणिकता तथा प्रमेय-बाहुल्य की पर्याप्त परिचायिका है। सृ धातु से जायमान मुख्य शब्दों की सिद्धि, अर्थ तथा कहीं-कहीं विलक्षण प्रयोग व्याकरण के छात्रों के ज्ञानवर्धन के विश्वस्त साधन हैं। इसमें महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी के साथ मैत्रेय रक्षित तथा क्षीरस्वामी के मत का उपन्यास तो वर्तमान है ही। साथ ही साथ अनेक अज्ञात तथा अल्पज्ञात ग्रन्थ-कारों का मत भी उपन्यस्त होकर ग्रन्थ के गौरव की वृद्धि कर रहा है। वाराणसी

---

१. पुरुषकार पृष्ठ १९, २१, २३ (अजमेर संस्करण)।

२. माधवीयाधातुवृत्ति पृ० ४४ तथा ११०।

(प्राच्यभारती संस्करण, वाराणसी, १९६४)।

संस्करण[1] के विद्वान् संस्कर्ता ने इस ग्रन्थ में अनेक पूर्वापर विरोध की उद्घाटना की है जो उनकी सूक्ष्म विमर्श की परिचायिका है। इतने विपुलकाय ग्रन्थ में इन त्रुटियों का सद्भाव विशेष आश्चर्य का विषय नहीं है। इससे ग्रन्थ की उपादेयता में कमी नहीं होती।

ग्रन्थ के आरम्भ में तथा पुष्पिका में दिये विवरण से स्पष्ट है कि सायण ने इसकी रचना तब की, जब वे विजयनगर साम्राज्य के अधिपति सङ्गम महाराज के महामन्त्री थे। सङ्गम का राज्यकाल १४१२ वि० से लेकर १४२० वि० तक माना जाता है। फलतः धातुवृत्ति की रचना का यही काल है (१३५५ ई० से लेकर १३६३ ई० तक)। सायण का जीवनचरित नितान्त प्रख्यात है[2]। उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु धातुवृत्ति के भीतर क्रमधातु की प्रक्रिया के अन्त में 'यज्ञनारायण' का नाम[3] व्याख्या-सापेक्ष है। कुछ लोग 'यज्ञनारायण' को अन्य लेखक मानते हैं धातुवृत्ति का वास्तविक प्रणेता, कुछ लोग इसे सायण का ही नाक्षत्रिक नामान्तर मानते हैं[4]। प्रमाणभाव से यथाविधि निर्णय कठिन है।

भीमसेन का परिचय

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में धात्वर्थ-निर्देशक भीमसेन कौन हैं ? उनके धातु-पाठ के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। उन्होंने धातु-पाठ की स्वोपज्ञवृत्ति लिखी थी या नहीं ? इसका पता नहीं चलता। भीमसेन ने ही पाणिनीय धातुओं का अर्थ-निर्देश सर्वप्रथम किया—ऐसी मान्यता नागेशभट्ट, भट्टोजिदीक्षित तथा मैत्रेय रक्षित की है। ये वैयाकरण भीमसेन कब हुए ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है।

जैन आचार्य उमास्वाति ने जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों का विवरण अपने प्रख्यात ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में किया। इसके ऊपर स्वोपज्ञभाष्य की भी रचना की। उनके समय के विषय में मत-द्वैविध्य है। तत्त्वाधिगम-सूत्र के सम्पादक कापडियाने

---

१. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सुसंस्कृत धातुवृत्ति प्राच्यभारती ग्रन्थमाला में १९६४ ई० में प्रकाशित हुई है। यह इतः पूर्व के संस्करणों से विशुद्ध तथा प्रामाणिक है।

२. द्रष्टव्य—लेखक रचित 'आचार्य सायण और माधव' (प्र० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३)।

३. यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता।
तस्याः विशेषतः सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगाः।

४. वाराणसी सं०, पृ० १५–१७।

उमास्वाती का समय प्रथम से लेकर चतुर्थी विक्रम शतक माना है, तो डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनका समय १ तथा ८५ ई० के बीच में कभी माना है। सिद्धसेन-गणि ने तत्त्वाधिगम के सूत्र तथा भाष्य के ऊपर बड़ी विशद टीका लिखी है[1]। इस टीका में वे भीमसेन का निर्देश करते हैं (पृष्ठ २५४)।

उमास्वाति का भाष्य—चिती संज्ञान-विशुद्धयोर्धातुः। तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च।

सिद्धसेन की व्याख्या—भीमसेनात् परतोऽन्यै वैंयाकरणैः

अर्थद्वये पठितोऽपि धातुः संज्ञाने विशुद्धौ च।
इह विशुद्धयर्थस्य सह संज्ञानेन ग्रहणम्॥

यहाँ स्पष्ट ही भीमसेन का निर्देश धात्वर्थ-निरूपण के विषय में किया गया है। फलतः ये पूर्ववर्णित वैयाकरण भीमसेन से अभिन्न व्यक्ति हैं। सिद्धसेनगणि का समय ६०० ई० के पास डा० विद्याभूषण ने माना है[2]। फलतः भीमसेन का काल ६०० ई० से निश्चयेन पूर्ववर्ती होगा। इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(२) गण-पाठ

पाणिनि ने अपने सूत्रों में गणों का निर्देश किया है। यथा सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२१)। इसका तात्पर्य है सर्वादि को सर्वनाम संज्ञा होती है। 'सर्वादि' गण की संज्ञा है जिसके भीतर सर्व के समान कार्य रखने वाले शब्दों की गणना की गई है। अब प्रश्न है कि इन गणों का निर्धारण किसने किया—पाणिनि ने ? अथवा उनके अवान्तरवर्ती किसी वैयाकरण ने ? इसका संदेह-रहित उत्तर है कि पाणिनि ने ही सूत्रों में उल्लिखित गणों का स्वयं निर्देश किया। इस तथ्य पर पहुँचने के लिए स्पष्ट प्रमाण हैं। पाणिनि ने सूत्रों की रचना से पूर्व ही इन गणों का भी निर्धारण कर लिया था।

(१) पाणिनि सूत्रों में कहीं आदि, कहीं प्रभृति शब्दों को जोड़ कर गणों का निर्देश किया है जैसे सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२७) तथा साक्षात्-प्रभृतीनि च (१।४।७४)। कहीं पर सूत्रों में शब्दों की संख्या के निर्देशक पद रखे गये हैं जिससे गणों की स्पष्ट सूचना मिलती है। यथा पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६) सूत्र इस तथ्य की घोषणा करता है कि पाणिनि ने पूर्वादि गण में नव शब्दों को स्थान दिया

---

१. सिद्धसेन की टीका के साथ तत्त्वाधिगम प्रो० कापडिया द्वारा सम्पादित। देवचन्द्र लालचन्द्र सीरीज में प्रकाशित; १९३०।

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ १८२; कलकत्ता।

है। यह स्पष्ट निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब पाणिनि ने उन गणों का नियमन स्वयं कर दिया हो।

(२) वार्तिकों के अनुशीलन से भी सूत्रकार तथा गणकार की एकता निश्चयेन सिद्ध होती है[1]।

(३) महाभाष्य भी पूर्वोक्त मत का ही विशद समर्थन करता है। पतञ्जलि ने अनेक स्थानों पर गण-पाठ में पठित शब्दों को सूत्र-पठित शब्दों के समान ही पाणिनीय माना है तथा उनके प्रामाण्य के पर ही आचार्य पाणिनि की अनेक प्रवृतियों का ज्ञापन किया[2] है।

इन प्रमाणों के आधार पर पाणिनि ही गण-पाठ के भी कर्ता सिद्ध होते हैं। पाणिनि के २५६ सूत्रों का गण-पाठ उपलब्ध है। पाणिनीय व्याकरण में दो प्रकार के गण उपलब्ध हैं—

(१) पठित गण तथा (२) आकृति गण। गणों के सूचक 'आदि' शब्द का अर्थ चार प्रकार का माना जाता है (१) सामीप्य, (२) व्यवस्था, (३) प्रकार तथा (४) अवयव। पठित गणों में प्रयुक्त 'आदि' शब्द व्यवस्था का तथा आकृतिगण में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रकार का द्योतक होता है। महाभाष्यकार ने 'आदि' के इस द्विविध अर्थ का उल्लेख उदाहरण के संग में इस प्रकार किया है—

(क) अयमादि-शब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते। तद् यथा देवदत्तादीन् समुपविष्टानाह—'देवदत्तादय आनीयन्ताम्'। त उत्थाय आनीयन्ते।

(ख) अस्ति च प्रकारे वर्तते। तद् यथा 'देवदत्तादयः' आढ्या अभिरूपा दर्शनीयाः पटवन्तः। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते[3]।

'देवदत्तादि' शब्द का अवस्था-विशेष में प्रयोग दोनों अर्थ का द्योतन कराता है— यह पूर्वोक्त शब्दों के द्वारा पतञ्जलि ने विशदतया दिखलाया है।

'पठित गण' का अर्थ तो ठीक है। पढ़े गये शब्दों का गण। परन्तु 'आकृति गण' शब्द का अर्थ क्या है? हरदत्त का कथन है—

---

१. इस तथ्य के दृष्टान्त के लिए द्रष्टव्य डा० कपिलदेव रचित 'संस्कृत व्याकरण में गण-पाठ की परम्परा तथा पाणिनि' पृ० ४६–४७। यह ग्रन्थ अपने विषय का प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। उपादेय तथा माननीय है।

२. वही ग्रन्थ पृ० ४८।

३. महाभाष्य १।३।१।

प्रयोगदर्शनेन आकृतिग्राह्यो गण आकृतिगणः ।

अर्थात् प्रयोगों में या रूपसिद्धि में समानता देखकर किसी गण में जहाँ शब्दों का सन्निवेश किया जाता है, वह 'आकृतिगण' होता है। आकृतिगण परिच्छिन्न शब्दों का गण न होकर अपरिमित शब्दों का समूह होता है[1] जिसकी पहिचान आकृति या आकार से की जाती है। 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान की यही व्याख्या है।

पाणिनीय गणपाठ के प्रवक्ता तथा व्याख्याता सीमित अचार्य हुये। काशिका से पता चलता है कि 'नाम-पारायण' नामक-ग्रन्थ का भी आधार लेकर वह रची गई है। पदमञ्जरी के अनुसार नाम-पारायण का अर्थ है वह ग्रन्थ जिसमें गण शब्दों का निर्वचन किया गया हो। यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम् (काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में)। यह 'नाम-पारायण' काशिका से भी प्राचीनतर ग्रन्थ है षष्ठी शती से पूर्वरचित। इधर के ग्रन्थकारों में यज्ञेश्वरभट्ट ने गणरत्नावली नामक व्याख्या लिखी है। ग्रन्थ का रचना-काल है १९३० वि० सं० (= १८७४ ई०)। आज से सौ साल के भीतर ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया। ग्रन्थकार के कथनानुसार ही यह गणरत्नमहोदधि को उपजीव्य मानकर उसी के आधार पर विरचित है।

गणपाठ प्रत्येक व्याकरण सम्प्रदाय का अविभाज्य अंग है—पञ्चाङ्ग के भीतर अन्यतम अङ्ग। इसका विरचन तथा विवरण उन सम्प्रदायों में भी उपलब्ध होता है[3]।

गणपाठ के शब्दों की व्याख्या ग्रन्थ करने वाला सर्वोत्तम ग्रन्थ है—गणरत्न-महोदधि। इसके रचयिता का नाम है—वर्धमान। इन्होंने इस ग्रन्थ का प्रणयन ११९७ वि० सं०[4] (= ११४० ई०) के बीतने पर किया। वर्धमान स्वयं जैन-मतावलम्बी हैं। फलतः उन्होंने अनेक वैदिक वैयाकरणों के अतिरिक्त अभयनन्दी तथा

---

१. आकृति-गणश्चायं तेनापरिमितशब्दसमूहः ।
आकृत्या आकारेण लक्ष्यते स आकृतिगणः ॥

२. वृत्तौ भाष्ये तथा धातु नामपारायणादिषु ।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः ॥

(काशिका का प्रथम श्लोक)।

३. द्रष्टव्य—युधिष्ठिरमीमांसक-संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, पृ० १४२–१६०। तथा डा० कपिलदेव के पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय, पृ० १०६–१४६।

४. सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु ।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्न-महोदधिर्विहितः ॥

हेमचन्द्र (११०० ई०) का उल्लेख किया। विशेष ध्यातव्य है कि वर्धमान द्वारा निर्दिष्ट-गण किस व्याकरण-सम्प्रदाय से सम्बद्ध है? इसका उचित समाधान नहीं मिलता। इस ग्रन्थ में अप्रचलित या अज्ञात शब्दों के अर्थ का विन्यास बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है जिससे यह ग्रन्थ निःसन्देह मूल्यवान रचना सिद्ध होता है। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं है। प्राचीन परन्तु अज्ञात ग्रन्थों का उद्धरण राज-नीतिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से विशेष महत्त्वशाली है। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रय में रहा। फलतः उसी राजा के आश्रित हेमचन्द्र से वह परिचित है और उसका नाम भी निर्दिष्ट करता है। उसने सिद्धराज-वर्णन नामक राजप्रशस्ति लिखी थी जिसके कतिपय पद्य यहाँ उदाहरण के ढंग पर उद्धृत किये गये हैं। तद्धित-प्रकरण के गणों का विवेचन वर्धमान ने बहुत अच्छी तरह किया है। उसकी यह प्रौढोक्ति—जिन तद्धित-सिंहों से वैयाकरणरूपी हाथी भागते-फिरते थे, उनके गणों के सिर पर मैंने पैर रख दिया, यद्यपि मैं गव्य (गोवंशी) हूँ—चमत्कारयुक्त है।[1] इसी प्रकरण में वर्धमान ने किसी काव्य से प्रचुर उदाहरण उद्धृत किये हैं जिसमें परमार-वंशी प्रख्यात राजाभोज की स्तुति की गई है। काव्य व्याकरण के प्रयोगों को भी प्रदर्शित करता है और इसलिए यह द्वयाश्रय शैली का काव्य है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि राजाभोज का ही एक उपनाम त्रिभुवननारायण भी था जो इतः पूर्व किसी ग्रन्थ से ज्ञात न था। इस काव्य का एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगा—

> वीक्षस्व तैकायनि शंसकोऽयं
> शाखायनि! क्षायुध-बाण-शाणः।
> प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्याः
> 'त्रिलोक-नारायण' भूमिपालः॥ (पृष्ठ २७७)।

> द्वैपायनीतो भव सायकाय-
> न्युपेहि दौर्गायणि देहि मार्गम्।
> त्वरस्व चैत्रायणि चटकाय-
> न्यौदुम्बरायण्ययमेति भोजः॥ (पृष्ठ २७८)।

फलतः इतिहास तथा व्याकरण उभय का पोषक यह ग्रन्थ महोदधि[2] वास्तव में

---

१. येभ्यस्तद्धित-सिंहेभ्यः शाब्दिकेभैः पलायितम्।
गव्येनापि मया दत्तं पदं तद्गणमूर्धसु॥
यहाँ अपने को 'गव्य' कहकर लेखक अपने गुरु गोविन्दसूरि की ओर संकेत कर रहा है।

२. ग्रन्थ का सम्पादक डा० इग्लिङ्ग ने किया था। यह ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर नवीन रूप में उपलब्ध है।

गणपाठ के इतिहास में अभूतपूर्व ग्रन्थ है—मननीय तथा माननीय। 'त्रिभुवन नारायण' उपाधि भोजराज की किसी अन्य ग्रन्थ से ज्ञात नहीं थी। फलतः इसे इतिहास के लिए एक नई उपलब्धि माननी चाहिए।

(३) उणादि-सूत्र

व्याकरण-शास्त्र के अनुसार शब्द दो प्रकार के मोटे तौर पर होते हैं—रूढ तथा यौगिक। रूढ अव्युत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति किसी धातु से नहीं दिखलाई जा सकती। यौगिक शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं और इसलिए वे व्युत्पन्न होते हैं। पाणिनि आदि सभी वैयाकरण शब्दों की यह द्विविध गति स्वीकार करते हैं, केवल शाकटायन को छोड़ कर। शाकटायन ही ऐसे ख्यातनामा वैयाकरण हैं जो नाम-शब्दों को धातुओं से व्युत्पन्न मानते हैं। निरुक्त नामक वेदाङ्ग का व्याकरण से यही तो वैशिष्ट्य है कि जहाँ व्याकरण कतिपय शब्दों को व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानता है, वहाँ निरुक्त समस्त शब्दों को व्युत्पन्न अर्थात् धातुज मानता है। नैरुक्तों में गार्ग्य इस मत के प्रतिकूल हैं। इस तथ्य का विवरण यास्क ने अपने निरुक्त में (प्रथमाध्याय के १२, १३ तथा १४ खण्डों में) तथा इसका संकेत पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में (३।३।१ सूत्र) किया है। व्युत्पत्ति का मूल मन्त्र पतञ्जलि की इस कारिका में दिया गया है—

> नाम च धातुजमाह निरुक्ते
> व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
> यन्न पदार्थ-विशेष-समुत्थं
> प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

इसके प्रथमार्ध में निरुक्त तथा शाकटायन का मत—सब नाम धातु से उत्पन्न हुये हैं—उपन्यस्त है तथा उत्तरार्ध में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाई गई है। जिन शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से (सूत्रों से) ज्ञात नहीं होता, उनमें प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की कल्पना करनी चाहिए। व्युत्पत्ति का यही प्रधान नियम है।

उणादि-सूत्र प्रत्येक शब्द की साधुता प्रत्यय के योग से सिद्ध करते हैं। फलतः उनकी दृष्टि में कोई शब्द अव्युत्पन्न नहीं है अर्थात् धातु-विशेष से उसकी सिद्धि अवश्यमेव दिखलाई जा सकती है। इन सूत्रों में आरम्भिक सूत्र उण् प्रत्यय का विधान करता है। सूत्र यह है—कृ-वा-पा-जिमि स्वदि-साध्यशूभ्य उण्। इस प्रत्यय के आदिम होने के हेतु यह समस्त प्रत्यय-समुच्चय उणादि के नाम से प्रख्यात है। प्रत्येक

व्याकरण सम्प्रदाय का उणादि अविभाज्य तथा आवश्यक अंश है। पाणिनीय सम्प्रदाय में उणादि के द्विविध रूप मिलते हैं—(क) पञ्चपादी तथा (ख) दशपादी। पञ्चपादी पाँच पादों में विभक्त होने के कारण तन्नाम धारण करता है। सूत्रों की पूरी संख्या—७५९ (सात सौ उनसठ) है। दशपादी दशपादों में विभक्त है और उसकी समग्र सूत्र संख्या पादानुसार (१७७, १३, ७१, १०, ६४, ८४, ४७, १३२, १०७, २२) =७२७ (सात सौ सत्ताइस) है। इसमें प्रथम द्वितीय पादों में अजन्त प्रत्ययों का विधान है, तृतीय पाद में कवर्गान्त प्रत्ययों का, चतुर्थ में चवर्गान्त का, पंचम में टवर्गान्त का, षष्ठ में तवर्गान्त का, सप्तम में पवर्गान्त का, अष्टम में य-र-ल-वान्त प्रत्ययों का, नवम में श-ष-स हकारान्त प्रत्ययों का तथा दशम में प्रकीर्ण शब्दों का विवरण है। पञ्चपादी में प्रत्ययों का विधान किसी व्यवस्थित शैली से नहीं है; इसी अभाव को देखकर प्रतीत होता है कि किसी वैयाकरण ने वर्णान्त विधि द्वारा प्रत्ययों का एकत्र संकलन दशपादी में किया है। दशपादी का आधार नियतरूप से पञ्चपादी ही है अर्थात् पञ्चपादी के विभिन्न पादों में आने वाले समान-वर्णान्त प्रत्ययों के बोधक सूत्र एकत्र कर दिये गये हैं जिससे सूत्रों में सुव्यवस्था आ गई है। परन्तु दशपादी में कुछ सूत्र छोड़ दिये गये हैं तथा कुछ नवीन सूत्र भी हैं। इन नवीन सूत्रों के स्रोत का यथार्थ पता नहीं चलता कि ये किसी प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत हैं अथवा लेखक की मौलिक रचना हैं। व्याकरण ग्रन्थों में दोनों ही प्रकार के उणादि सूत्र नाम-निर्देश-पूर्वक उद्धृत किये गये हैं जिससे दोनों प्रकार के इन संकलनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उणादि सूत्रों का रचयिता

अधिकांश वैयाकरण इन सूत्रों को पाणिनि की रचना न मानकर शाकटायन की रचना मानते हैं। कैयट जैसे प्राचीन वैयाकरण आचार्य उणादि को 'शास्त्रान्तर-पठित' (अर्थात् पाणिनि शास्त्र से भिन्न शास्त्र में पठित) मानते हैं अर्थात् वे इन सूत्रों को पाणिनितन्त्र से इतर तन्त्र का मानते हैं[1]। इसकी व्याख्या में नागेश अपने उद्योत में शाकटायन का नामतः निर्देश करते हैं—

एवं च कृवापेति उणादि सूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम् (प्रदीपोद्योत ३।३।१)।

वासुदेव दीक्षित बाल-मनोरमा (कौमुदी की व्याख्या) में तथा श्वेत-वनवासी पञ्चपादी की स्वीय वृत्ति में शाकटायन को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं।

---

१. उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तर-पठितानां साधुत्व-ज्ञापनार्थमस्तु इति भावः। —कैयटः प्रदीप ३।३।१।

इनके विरुद्ध, इन्हें पाणिनि-कृत मानने वाले आचार्य न्यून प्रतीत होते हैं। प्रक्रिया-सर्वस्व के कर्ता नारायणभट्ट अपने ग्रन्थ के उणादि प्रकरण में पाणिनि को ही इनका रचयिता स्पष्टतः स्वीकारते हैं—

> अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च।
> बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्॥

तात्पर्य है कि पाणिनि मुकुर-शब्द के आदि में अकार (मकुर) तथा दर्दुर शब्द के आदि में उकार (दुर्दुर) मानते हैं, परन्तु भोज इससे ठीक विपरीत कहते हैं अर्थात् भोज की दृष्टि में मुकुर और दर्दुर शब्द बनते हैं। पाणिनि का यह निर्देश पञ्चपादी के एक सूत्र (१।४०) की व्याख्या में नारायण ने किया है। फलतः नारायण-भट्ट पाणिनि को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा समर्थित होने पर भी इस मत के पोषक आचार्य कम ही हैं।

तथ्य तो यही प्रतीत होता है कि भाष्यकार के 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' वचन ने यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है कि शाकटायन ही उणादि सूत्रों के रचयिता हैं। उस वाक्य का तात्पर्य केवल सिद्धान्त-विशेष के प्रतिपादन में है, उणादि सूत्रों के प्रवक्ता के निर्णय में तो नहीं है। भाष्यकार इस तथ्य के प्रथम प्रतिपादक न होकर यास्क के ही एतद्-विषयक मत का अनुवाद करते हैं। अभ्रान्त मत जो कुछ भी हो, परन्तु यही प्रचलित मत है जो शाकटायन को ही उणादि सूत्रों के कर्तृत्व का श्रेय प्रदान करता है।

पञ्चपादी के व्याख्याता

पञ्चपादी के व्याख्याकारों में उज्ज्वलदत्त नितान्त प्रख्यात हैं। इनकी उणदि सूत्रों की व्याख्या बड़ी प्रामाणिक, विस्तृत तथा प्रौढ़ है[1]। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने अनेक वैयाकरणों तथा कोषकारों का उल्लेख किया है। इससे इनके समय तथा देश का परिचय मिल सकता है। उज्ज्वलदत्त को सायणाचार्य ने अपनी धातु-वृत्ति में नाम्ना निर्दिष्ट किया है तथा उज्ज्वलदत्त ने मेदिनिकोष का उल्लेख अपनी वृत्ति में किया है। फलतः इनका समय मेदिनीकोष तथा धातु-वृत्ति के बीच कभी होना चाहिए। धातु-वृत्ति सायण की रचना होने से १४ शती के मध्यकाल में लिखी गई (सम्भवतः १३५० ई०)। मेदिनीकोष का काल भी अनुमान-सिद्ध है। कोशविद्या के इतिहास प्रसंग[2] में मेदिनी का समय १२०० ई०—१२५० ई० के बीच में ऊपर निर्धारित किया

---

१. डा० आउफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित और प्रकाशित।
२. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ३५२—३५४।

गया है १३ वीं शती का पूर्वार्ध। फलतः उज्ज्वलदत्त का समय इतःपूर्व होना चाहिए। हम उज्ज्वलदत्त को ११७५ ई०–१२०० ई० के लगभग मानने के पक्षपाती हैं।

श्वेत-वनवासी नामक वैयाकरण ने पञ्चपादी की जो व्याख्या लिखी है वह पूर्व व्याख्या से समय की दृष्टि से बहुत बाद की नहीं है[1]। दोनों वृत्तिकार एक ही शतक के प्रतीत होते हैं। श्वेत-वनवासी ता मद्रास प्रान्त के निवासी थे निश्चयेन और उज्ज्वलदत्त बंगाल के निवासी थे अनुमानतः। उज्ज्वलदत्त के वल्गु शब्द की व्याख्या पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढ़मनोरमा में एक विशिष्ट टिप्पणी लिखी है। टिप्पणी का आशय है कि उज्ज्वलदत्त ने पवर्गादि बल प्राणने धातु से 'वल्गु'शब्द की जो निष्पत्ति की है वह वर्ण की अशुद्धि होने से नितरां उपेक्षणीय है। 'वल्गु' शब्द का आदिवर्ण पवर्गीय बकार नहीं है—दीक्षित का यही आशय है। 'व' के स्थान पर बकार की उच्चारण-भ्रान्ति बंगीय उच्चारण की आज भी विलक्षणता है। फलतः उज्ज्वलदत्त को वंगीय उच्चारण करने वाला वंगदेशीय मानना चाहिए।

भट्टोजिदीक्षित तथा नारायणभट्ट ने अपने व्याकरण-ग्रन्थों में उणादि-सूत्रों की व्याख्यायें लिखी हैं। ये स्वल्पाक्षरा वृत्ति है, मूल के समझने में उपयोगी। अन्य टीकाकारों की भी सत्ता पञ्चपादी की लोकप्रियता की पर्याप्त निदर्शिका है।

दशपादी[3] उणादि-सूत्र

उणादि शब्द की संज्ञा पञ्चपादी के ही अनुसार है, क्योंकि उसी में उण्-विधायक-सूत्र सर्वप्रथम दिया गया है। दशपादी की व्यवस्था इससे भिन्न है। ऊपर कहा गया है कि यहाँ वर्णानुक्रम से प्रत्ययों का विधान है। फलतः उण् प्रत्यय का विधान प्रथम-पाद के ८६वें सूत्र में किया गया है। पञ्चपादी के आधार पर ही दशपादी का निर्माण हुआ है और इस तथ्य का परिचय दोनों के सूत्रों की तुलना करने पर किसी भी आलोचक को भली-भाँति हो सकता है। दशपादी के प्रवक्ता ने अपने दृष्टिकोण से पञ्चपादी

---

१. मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा डा० टी० आर० चिन्तामणि के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

२. यत्तु उज्ज्वलदत्तेन सूत्रे पवर्गादिं पठित्वा बल प्राणन इत्युपन्यस्तम्, तत् लक्ष्य-विरोधादुपेक्ष्यम्। अयं नाभा वदति वल्गु नो गृहे (ऋ० व० १०।६२।४) इत्यादौ दन्तोष्ठ्यपाठस्य निर्विवादत्वात्। —प्रौढमनोरमा।

३. वृत्ति के साथ दशपादी उणादि-सूत्रों का एक विशुद्ध संस्करण श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने सम्पादित किया है। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज सं० ८१, वाराणसी, १९४३ ई०।

गतसूत्रों का चयन इस ग्रन्थ में किया है। यहाँ नवीन सूत्रों की भी उपलब्धि होती है। परन्तु इनके स्रोत का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हो सकता है कि ये सूत्र किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं अथवा लेखक की मौलिक रचना भी हो सकते हैं।

दशपादी की कतिपय विशिष्टतायें उसे पञ्चपादी से पृथक् कर रही हैं। गृह के अर्थ में लोकव्यवहृत, हिन्दी प्रतीत होने वाला 'घर' 'हन्ते रन् घ च' (८।१०४[1] सूत्र) से निष्पन्न किया गया है। हन् धातु से 'रन्' प्रत्यय करने पर तथा 'ह' के स्थान पर 'घ' आदेश करने से 'घर' शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'हन्यते गम्यतेऽतिथिभिः घरः गृहम्' अतिथियों के गमन का स्थान। क्षीरतरङ्गिणी[2] में भी क्षीरस्वामी ने घर शब्द की सिद्धि बताई है घर स्रवणे धातु से। चुरादि-गणीय घृ स्रवणे धातु के स्थान पर दुर्ग घर स्रवणे पाठ मानते हैं। और उसी धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। फलतः 'घर' शब्द को विशुद्ध संस्कृत भाषा का ही मानना न्याय्य है।

दशपादी के प्रवक्ता का पता नहीं है। इसकी रचना का समय अनुमान से लगाया जा सकता है। यह काशिका वृत्ति से निश्चित रूपेण प्राचीन है। काशिका-कार ने 'यूप' शब्द की सिद्धि 'कुसुयुभ्यः' औणादिक सूत्र के द्वारा मानी है[3] और यह सूत्र दशपादी के सप्तम पाद का पञ्चम सूत्र है। फलतः दशपादी को काशिका से प्राचीन होना उचित है। अतः इसकी रचना पञ्चम शती से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकती। किसी अज्ञातनामा लेखक की एक वृत्ति भी दशपादी के ऊपर है। वह भी काशिका से प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि काशिका (६।२।४८) ने 'अहि' शब्द की व्युत्पत्ति देकर इसे आद्युदात्त मानने वाले आचार्य का संकेत किया है। और यह संकेत दशपादी वृत्ति में प्राप्त[4] है। फलतः इस वृत्ति को भी काशिका से प्राचीन मानना न्याय्य है। विट्ठल ने प्रक्रिया-कौमुदी की प्रसाद व्याख्या में इन सूत्रों पर लघ्वक्षरा वृत्ति लिखी है (समय १५शती)।

दशपादी की यह वृत्ति अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। शब्द का अर्थ तो सर्वत्र देती है। प्रत्यय किस अर्थ में किया गया है। इसका वह सुन्दर परिचय देती है। धातुओं

---

१. यह सूत्र प्रौढ़ मनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में उद्धृत मिलता है।
२. पृष्ठ २४० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ग्रन्थ।
३. 'चतुर्थी तदर्थे' ६।२ ४३ सूत्र काशिका में।
४. आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (दशपादी १।६६) की वृत्ति से मिलाइए—आङ्युपपदे श्रिहनि इत्येताभ्यां धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति डिच्च ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य उदात्तश्च (पृष्ठ ४०–४१)।

के स्वरूप तथा गण का स्पष्ट उल्लेख करती है। 'शिरः करन्' (८।७०) सूत्र से क्र्यादिगण में पठित शॄ हिंसायाम् धातु से करन् प्रत्यय होता है जिससे निष्पन्न शब्द हैं—

(१) शर्करा = चीनी (शृणाति पित्तम्; पित्त को नाश करती है)।

(२) शर्करा = कंकडी (शृणाति पादौ; पैरों को चुभती है)। यहाँ धातु, अर्थ तथा कारक का स्पष्ट निर्देश है।

(४) लिङ्गानुशासन

संस्कृत में लिङ्गों का बड़ा झमेला है। स्त्री-बोधक होने पर दार शब्द तो पुंल्लिङ्ग है, और कलत्र नपुंसक। निर्जीव वर्षा का बोधक वर्षा स्त्रीलिंग है तथा नित्य बहुवचन भी। पुरुष सुहृद् वाचक होने पर भी मित्र नपुंसक है और शत्रुवाचक 'अमित्र' पुंल्लिङ्ग। इस झमेले को दूर करने के आशय से ही आचार्यों ने लिङ्गानुशासन की रचना की। यह साहित्य उतना विस्तृत नहीं है, परन्तु मान्य व्याकरण-तन्त्रों में लिङ्गानुशासन का प्रणयन अवश्यमेव किया गया है।

व्याडि

व्याडि ही लिङ्गानुशासन के सर्वप्रथम अथच सर्वप्राचीन ग्रन्थकार हैं। पाणिनि से पूर्व व्याडि ने ही लिङ्गानुशासन की रचना की थी। हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन के प्रारम्भ में जिन प्राचीन आधारभूत ग्रन्थ-लेखकों का नाम गिनाया है उनमें व्याडि की गणना सर्वप्रथम है—

व्याडेः शङ्कर-चन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः।
सूक्तान् लिङ्गविधीन् विचार्य सुगमं श्रीवर्धनस्यात्मजः॥

व्याडि के इस लिङ्गानुशासन के विषय में वामन के प्रामाण्य पर दो विशिष्टताओं का परिचय मिलता है। प्रथम तो यह कि सूत्रात्मक था और द्वितीय यह कि यह अति विस्तृत था। वामन ने अपने लिङ्गानुशासन की वृत्ति में अपना अभिप्राय इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

पूर्वाचार्यैं र्व्याडि-प्रमुखै-र्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं ग्रन्थ-विस्तरेण च। (पृ० २) विस्तार के विषय में उनका स्पष्ट कथन है—व्याडि-प्रमुखैः प्रपञ्च-बहुलम् (पृ० १) लक्षश्लोकात्मक विशालकाय 'संग्रह' की रचना करने वाले व्याडि का लिंगानुशासन यदि प्रपञ्च-बहुल तथा अतिविस्तृत हो, तो आश्चर्य करने की बात ही कौन सी है !!!

पाणिनि

पाणिनि के नाम्ना प्रख्यात लिङ्गानुशासन वर्तमान है। यह सूत्रात्मक है और

समग्र सूत्रों की संख्या १८८ है। इसमें पाँच अधिकार (या प्रकरण) हैं—स्त्री-अधिकार, पुंल्लिङ्गाधिकार, नपुंसकाधिकार, स्त्रीपुंसाधिकार तथा पुंनपुंसकाधिकार। पाणिनीय लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता स्वयं सूत्रकार पाणिनि ही हैं—इस विषय में पाणिनीय तंत्र के आचार्यों में कथमपि विमति नहीं है। पदमंजरी से एक प्रमाण लीजिये। हरदत्त ने लिंगनिर्देशक पाणिनीय-सूत्र नाम्ना जिस सूत्र को संकेतित किया है, वह वर्तमान लिङ्गानुशासन का ही सूत्र है—

'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं' चेति पाणिनीये सूत्रे = लिङ्गानुशासन का ३०वाँ सूत्र। यहाँ स्पष्ट ही लिङ्गानुशासन-स्थित सूत्र को पाणिनीय अर्थात् पाणिनि-प्रोक्त बतलाया गया है। फलतः इन सूत्रों के पाणिनीयत्व होने में परम्परा का कहीं भी व्याघात नहीं होता।

इन सूत्रों पर व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थ के लेखकों ने तत्तत् ग्रन्थों में व्याख्यायें लिखी हैं। रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रिया-कौमुदी के अन्तर्गत तथा नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अन्तर्गत इन पर वृत्ति लिखी है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित का कार्य अधिक महनीय तथा श्लाघनीय है। एक तो उन्होंने इस लिंगानुशासन पर दो टीकायें लिखीं (क) शब्द कौस्तुभ के द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद के लिङ्ग-प्रकरण में प्रथम व्याख्या लिखी तथा (ख) सिद्धान्त-कौमुदी के अन्त में भी इन सूत्रों पर वृत्ति लिखी। इन दोनों में पहिली वृत्ति अपेक्षाकृत विस्तृत है। दीक्षित की इस कौमुदीवाली वृत्ति पर भैरव मिश्र ने अपनी व्याख्या लिखी है जो विस्तृत तथा विशद है। भैरव मिश्र के समय के विषय में पूर्व ही लिखा जा चुका है कि वे १८वीं शती के उत्तरार्ध के प्रौढ वैयाकरण हैं।

भट्टोजिदीक्षित व्याकरण के संग में वेदान्त के भी विज्ञ पण्डित थे; इसका परिचय लिंगानुशासन की उनकी वृत्ति देती है। १८०वें सूत्र में दण्ड, मण्ड, खण्ड आदि शब्दों को पुंल्लिग तथा नपुंसक उभयविध बतलाया गया है। इसी सूत्र में 'कुश' शब्द भी परिगणित है। फलतः यह दोनों लिंगों में होता है—'कुशो रामसुते दर्भे मोक्त्रे द्वीपे, कुशं जले' (विश्वः)। विश्वप्रकाश कोश ने अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। भट्टोजिदीक्षित इसके अनन्तर कुशी तथा कुशा शब्दों के अर्थ का विवेचन करते हैं कि अयोविकार लक्ष्य होने पर 'कुशी' होता है। जानपद (४।१।४२) सूत्र के द्वारा तथा दारु से सम्बद्ध होने पर 'कुशा' बनता है। 'कुशा' शब्दों के प्रयोग वेद तथा ब्रह्मसूत्र से दिखला कर वे वाचस्पति मिश्र के भामती में दिये गये विधान को प्रौढिवाद मानते हैं, यथार्थ नहीं—

(१) कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात।

(भाल्लविश्रुति)।

(२) हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दः ।

(ब्रह्मसूत्र ३।३।२६) ।

दीक्षित के शब्दों को देखें कि कितनी प्रौढता से अपना मत रखते हैं—

तत्र शारीरभाष्येऽप्येवम् । एवं च श्रुति-सूत्र-भाष्याणामेकवाक्यत्वे स्थिते आच्छन्द इत्याङ्-प्रश्लेषादिपरो भामतीग्रन्थः प्रौढिवादमात्रपर इति विभावनीयं बहुश्रुतैः ।

दीक्षित का यह कथन यथार्थ है । 'कुशा' का अर्थ ही है—'उद्गातृणां स्तोत्र-गणनार्था दारुमय्यः शलाकाः कुशाः' (लकड़ी की, विशेषतः उदुम्बर लकड़ी की, बनी उद्गाताओं के स्तोत्र गिनने के लिए अवश्यक शलाका—छोटी-छोटी खूँटी) । एसी दशा में आङ् प्रश्लेष की आवश्यकता क्या ? दीक्षित का वेदान्तज्ञान भी स्पृहणीय है ।

३०वें सूत्र में नित्य-बहुवचनात स्त्रीलिंग शब्दों का परिगणन है । ये शब्द हैं—अप्, सुमनस्, समा, सिकता तथा वर्षा । इस सूत्र के भी व्याख्यान में भट्टोजिदीक्षित ने अपना प्रकृष्ट शब्दज्ञान प्रकट किया है । उनका कहना है 'सुमनस्' शब्द पुष्पवाचक होने पर ही स्त्रीलिंग है । देववाची होने पर वह पुंल्लिङ्ग ही होता है जैसे सुपर्वाणः सुमनसः । इस सूत्र के बहुत्व निर्देश को वे प्रायिक मानते हैं, तभी तो वे महाभाष्य के प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित करते हैं कि 'सिकता' (बालू) तथा 'समा' (वर्ष) एकवचन में भी प्रयुक्त होते हैं । महाभाष्य के वचन हैं—

(क) एका च सिकता तैलदाने असमर्था (अर्थवत् सूत्र पर महाभाष्य; यहाँ सिकता एकवचन में प्रयुक्त है) ।

(ख) 'समां विजायते' (५।१।१२) सूत्र के भाष्य में 'समायां समायां' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग उपलब्ध है ।

(ग) सुमनस् (पुष्प) का भी प्रयोग एकवचन तथा द्विवचन में भी होता है । काशिका ने ही 'विभाषा घ्राधेट् शाच्छासः' २।४।७८ सूत्र की वृत्ति में 'अघ्रासातां सुमनसौ देवदत्तेन' में सुमनस् शब्द का द्विवचनान्त प्रयोग किया है । इसकी पदमञ्जरी में स्पष्ट लिखा है—'तद्-बहुत्वं प्रायिकं मन्यते' । इन तीनों शब्दों के बहुवचन का व्यत्यास दिखला कर दीक्षित ने शब्द-निष्पत्ति से ही अपनी गम्भीर अभिज्ञता ही नहीं दिखलाई, प्रत्युत प्राचीन परम्परा को भी अपनी अवगति विशदता से प्रकट की ।

इन सब उदाहरणों से भट्टोजिदीक्षित की इस लिङ्गानुशासन-वृत्ति का महत्त्व भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भली-भाँति अङ्कित किया जा सकता है ।

वररुचि[1]

इनका लिखा लिङ्गानुशासन आर्या छन्दों में निबद्ध है। वामन अपने लिङ्गानुशासन की स्वोपज्ञ वृत्ति में वररुचि के विषय में लिखते हैं—वररुचि-प्रभृतिभिरप्याचार्यैः आर्याभिरभिहितमेव, तदति बहुना ग्रन्थेन; इत्यहं समासेन संक्षेपेण वच्मि (पृष्ठ २, गायकवाड ओ० सी० का संस्करण, बड़ोदा)। इससे पता चलता है कि वररुचि ने आर्याओं में अपना ग्रन्थ लिखा, परन्तु विस्तार अधिक था। अतएव वामन ने आर्याओं में ही, परन्तु संक्षिप्त रूप में, अपने ग्रन्थ का निर्माण किया।

इस लिङ्गानुशासन के अन्त में पुष्पिका से पता चलता है कि वररुचि विक्रमादित्य की सभा का सभासद् था। परन्तु कौन विक्रमादित्य वररुचि का आश्रयदाता है? यदि विक्रम-संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य से यहाँ तात्पर्य हो, तो वररुचि का समय दो सहस्र वर्षों से कम नहीं हुआ। इस लिङ्गानुशासन का नाम 'लिङ्गविशेष-विधि' प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ से एक उद्धरण हर्षवर्धन-रचित लिङ्गानुशासन की व्याख्या में दिया गया है।

हर्षवर्धन

इनका लिङ्गानुशासन दो स्थानों से छप चुका है—जर्मनी से जर्मन अनुवाद के साथ तथा वृत्ति-सहित मद्रास से[2]। हर्षवर्धन ने इस ग्रन्थ में अपने विषय में कोई भी संकेत नहीं किया है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में वे अपने को 'श्रीवर्धनस्यात्मजः' अर्थात् 'श्रीवर्धन' का पुत्र कहते हैं। इतने संक्षिप्त संकेत से उनका पूरा परिचय नहीं हो सकता। 'श्रीवर्धन' से यदि प्रभाकर-वर्धन से तात्पर्य समझा जाय, तो हर्षवर्धन प्रख्यात सम्राट् हर्षवर्धन से अभिन्न माने जा सकते हैं। जब तक इस समीकरण के विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक इस ग्रन्थकार को सम्राट् हर्षवर्धन माना जा सकता है।

इस ग्रन्थ की टीका भी प्रकाशित है। इसके लेखक के व्यक्तित्व के विषय में हस्तलेखों की भिन्नता के कारण प्रामाणिक परिचय नहीं मिलता कि इसके प्रणेता का नाम ही क्या था। मद्रास प्रति के संस्कर्ता पं० वेङ्कटरामशर्मा को उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर ग्रन्थकार का नाम भट्टभरद्वाज-सूनु पृथिवीश्वर है, उधर जर्मन संस्करण में भट्टदीप्त-स्वामिसूनु बलवागीश्वर शबर स्वामी है जो जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के हस्तलेख से

---

१. वररुचि का लिङ्गानुशासन किसी संक्षिप्त वृत्ति के साथ हर्षवर्धन के लिङ्गा-नुशासन के अन्त में मुद्रित है।

२. मद्रास वाला संस्करण वृत्ति तथा परिशिष्टों से युक्त होने से बहुत ही उत्तम तथा प्रामाणिक है।

मिलता है। शबरस्वामी शब्दशास्त्र के पण्डित हैं, क्योंकि उनके मतको सर्वानन्द ने अमरकोश टीका में तथा उज्ज्वलदत्त ने उणादि वृत्ति में उल्लिखित किया है। परन्तु पता नहीं कि ये शबरस्वामी कौन है। यदि ये ही वस्तुतः इस लिंगानुशासन के टीका-कार हों तो भी वे मीमांसक शवरस्वामी नहीं हो सकते। काल की भिन्नता इसमें प्रधान बाधक है। मीमांसक भाष्यकार शवरस्वामी का आविर्भावकाल द्वितीय शती माना जाता है, जब इस टीकाकार को सप्तम शती से अर्वाक्कालीन होना ही चाहिए।

वामन-रचित लिंगानुशासन तथा स्वोपज्ञ वृत्ति प्रकाशित हुई है। यह केवल ३३ आर्याओं में निबद्ध किया गया अत्यन्त लघुकाय लिंगानुशासन है। वामन के देशकाल का पता नहीं चलता।

अन्य व्याकरण सम्प्रदाय के भी लिंगानुशासन है। दुर्गसिंह का लिंगानुशासन कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध है (डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित)। हेमचन्द्र का लिंगानुशासन प्रसिद्ध है जिसके ऊपर अन्य वैयाकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं।

(५) परिभाषा पाठ

परिभाषा किसी भी व्याकरण-शासन का अनिवार्य अंग है। पाणिनीय सम्प्रदाय में तो उनका बड़ा विस्तार है टीका-प्रटीकाओं के अस्तित्व के कारण। परन्तु पाणिनि से इतर व्याकरण सम्प्रदायों में भी न्यून या अधिक मात्रा में उनका अस्तित्व है।

परिभाषा का लक्षण है—अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। सामान्यतः परिभाषा दो प्रकार की होती है—एक तो पाणिनीय अष्टाध्यायी में सूत्ररूप से पठित हैं, क्योंकि पाणिनि के अनेक सूत्र 'परिभाषा-सूत्र' के नाम से विख्यात हैं। दूसरी प्रकार की परिभाषायें वे हैं जो या तो किसी सूत्र से ज्ञापित होती हैं (ज्ञापनसिद्धा परिभाषा) अथवा लोक में प्रचलित न्याय का अनुगमन करती हैं (न्यायसिद्धा परिभाषा) अथवा जो इन दोनों प्रकारों से भिन्न हैं (वाचनिका परिभाषा)। अन्तिम प्रकार की वाचनिका परिभाषा भी या तो कात्यायन के वार्तिक रूप में लक्षित होती हैं अथवा भाष्यकार के वचन रूप में। परिभाषा पाठ से तात्पर्य दूसरे प्रकार की परिभाषाओं के संकलन से हैं जो पाणिनीय सूत्रों में निर्दिष्ट नहीं हैं।

परिभाषाओं का सर्व प्राचीन संकलन आचार्य व्याडि के नाम से सम्बन्ध रखता है। व्याडि के नाम से सम्बद्ध पाठ दो ग्रन्थों[1] में दिये गये हैं—प्रथम व्याडि-कृत परिभाषा-सूचनम् और दूसरा है व्याडि-परिभाषा पाठः। इन ग्रन्थों में दी गई

---

१. इन दोनों ग्रन्थों को पण्डित काशीनाथ अभ्यङ्कर शास्त्री ने 'परिभाषा संग्रह' में सम्मिलित किया है जो पूना से सं० २०१५ में प्रकाशित हुआ है।

परिभाषाओं में पारस्परिक भिन्नता भी है। प्रथम पाठ में केवल ९३ परिभाषायें हैं और द्वितीय पाठ में १४० परिभाषायें। आदिम परिभाषा दोनों में एक ही है—अर्थवद्-ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्। पुरुषोत्तम देव की परिभाषा वृत्ति में परिभाषाओं की संख्या १२० ही है। यह भी व्याडि-स्वीकृत पाठ को आधार मानकर चलती है। सीरदेव की परिभाषा वृत्ति में १३३ परिभाषायें हैं। नागेशभट्ट के परिभाषेन्दु-शेखर में भी १३३ परिभाषायें व्याख्यात हैं, परन्तु इनका क्रम सीरदेव के क्रम से भिन्नता रखता है। इन परिभाषापाठों का तुलनात्मक विवेचन नितान्त आवश्यक है।

परिभाषा-पाठ की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें आज भी हस्तलेख-रूप में ही विद्यमान हैं। इनमें से प्रकाशित अथ-च प्रख्यात वृत्तियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) पुरुषोत्तम—लघुवृत्ति (अथवा ललितावृत्ति)। पुरुषोत्तम का परिचय कोशविद्या के इतिहास प्रसंग में पूर्व ही दिया गया है (पृष्ठ ३४९–३५०)। इन्होंने लक्ष्मणसेन के आदेश से 'भाषावृत्ति' का प्रणयन किया था। इन बौद्ध बंगीय विद्वान् का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। यह लघुवृत्ति संक्षिप्त होने पर सारगर्भित है।

(२) सीरदेव—परिभाषावृत्ति। सीरदेव ने इस वृत्ति में अनेक ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है जिनमें पुरुषोत्तमदेव सबसे अर्वाचीन है। सायण ने 'माधवीया धातु-वृत्ति' में सीरदेव का मत दो बार उद्धृत किया है। अतः सीरदेव का समय इन दोनों ग्रन्थकारों पुरुषोत्तमदेव तथा सायण के बीच में होना चाहिए (१२०० ई०–१३५० ई० के बीच में लगभग १३०० ई०)। यहाँ परिभाषा-पाठ पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रम से दिया गया है। परिभाषाओं का विवेचन पूर्ण तथा प्रामाणिक है।

(३) नागेशभट्ट—परिभाषेन्दु-शेखर। नागेश के ग्रन्थों का पौर्वापर्य पीछे हमने यथाविधि दिखलाया है। उनके व्याकरण-ग्रन्थों 'परिभाषेन्दु-शेखर' सब के अन्त लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर का उल्लेख मिलता है, परन्तु इन ग्रन्थों में परिभाषेन्दु का निर्देश उपलब्ध नहीं है। यह नागेश के ग्रन्थों में भी अपनी पाण्डित्यमयी व्याख्या के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण तथा प्राचीनमतों की समीक्षा देकर अन्त में वाचनिकी, ज्ञापक-सिद्धा तथा न्याय-सिद्धा का भेद दिखलाया गया है। परिभाषाओं की विधिवद् उत्थानिका, स्वरूप तथा आलोचना इतने सुन्दर ढंग दी गई है कि परिभाषाओं के ज्ञान के लिए यही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न है। इसके ऊपर विपुल टीका-सम्पत्ति ग्रन्थ की विद्वत्ता तथा लोकप्रियता की विशद निदर्शिका है। वैद्यनाथ पायगुण्डे की गदा, भैरवमिश्र की भैरवी, राघवेन्द्राचार्य की त्रिपथगा, यागेश्वरशास्त्री की हैमवती, रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति तथा जयदेवमिश्र की विजया प्रसिद्ध हैं। नागेश

की ग्रन्थत्रयी में मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर के अनन्तर परिभाषेन्दुशेखर ही उनके वैयाकरणत्व का शंखनिनाद करने वाला उदात्त ग्रन्थ है।

(६) फिट्-सूत्र-पाठ

पाणिनीय सम्प्रदाय में फिट् सूत्रों का भी अपना महत्त्व है। फिट्सूत्र संख्या में ८७ (सत्तासी) है और चार पादों में विभक्त हैं। 'फिट्' शब्द 'फिष्' शब्द का प्रथमा एकवचन है। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) तथा कृत्तद्धित-समासाश्च (१।२।४६) इन सूत्रों के द्वारा अर्थवान् मूल शब्द को प्रातिपादिक संज्ञा पाणिनीयमत में विहित है। सामान्य रीति से कह सकते हैं कि सुप् विभक्ति के योग से पहिले अर्थवान् शब्द का जो मूल स्वरूप रहता है यथा राम, हरि, गो, भानु आदि वही प्रातिपादिक है। और यही प्रातिपादिक 'फिट्' के नाम से इस तन्त्र में प्रख्यात है। यह पाणिनि से भिन्न तन्त्र है। प्रतिपदिकों के स्वर-विचार के लिए निबद्ध यह सूत्र-पाठ **'फिट् स्वर-पाठ'** के नाम से प्रख्यात है।

इन ८७ सूत्रों में शब्दों के स्वर-संचार पर विचार है। इन सूत्रों की आवश्यकता का अवसर तब आया, जब व्याकरण के कतिपय आचार्य शब्दों में यौगिक शब्दों के अतिरिक्त रूढ़ शब्दों को भी स्थित मानने लगे। उणादि-सूत्रों की व्याख्या के अवसर पर दिखलाया गया है कि शब्दों का यौगिक पक्ष ही प्रधान है। अर्थात् शब्द प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से निष्पन्न हैं। ऐसी दशा में प्रत्ययों से निष्पत्ति मान्य होने पर, स्वरसंचार का विचार तो प्रत्ययस्वर से ही सिद्ध हो जाता है। इन सूत्रों की आवश्यकता तो शब्दों के अव्युत्पन्न मानने के अवसर पर ही आती है। **'अव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'** पाणिनीय मत का एक बहुचर्चित पक्ष है। महाभाष्यकार तो पाणिनि के मत में उणादिकों को भी अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं[1]। भाष्यकार की उक्ति माननीय है तथा भाषाविज्ञान के आलोक में मननीय भी है। जो कुछ भी हो, पाणिनीय सम्प्रदाय के भी अनेक आचार्य शब्दों के रूढ़ि-पक्ष के पक्षपाती हैं। अर्थात् शब्द को प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से विना निष्पन्न हुये ही सिद्ध माने जाते हैं; यह उनका मत है। उन्हीं आचार्यों के पक्ष को दृष्टि में रखकर फिट् सूत्रों का पाठ किया गया है।

फिट् सूत्रों का प्रवक्ता

फिट् सूत्रों का प्रवक्ता कौन है? इसके उत्तर में मान्य ग्रन्थकारों का एक ही

---

१. प्रातिपदिक विज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि—महाभाष्य।

उत्तर है—आचार्य शन्तनु। और शन्तनु-प्रणीत होने से ही ये सूत्र 'शान्तनव' नाम से प्रख्यात हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण हरदत्त की पदमञ्जरी से उपलब्ध होता है। 'द्वारादीनां च' (७।३।४) की व्याख्या में काशिका ने स्वरविषयक ग्रन्थ तथा अध्याय के लिए 'सौवर' शब्द की सिद्धि बताई है[1]। इसकी व्याख्या में हरदत्त का कथन है—

स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिषित्यादिकः

सचमुच 'फिषोऽन्त उदात्तः' फिट् सूत्रों के प्रथम सूत्र की ओर ही हरदत्त का स्पष्ट संकेत है। फलतः इन सूत्रों के रचयिता या प्रवक्ता शन्तनु आचार्य हैं। हरदत्त के इस मत का उल्लेख नागेशभट्ट[2] ने शब्देन्दु-शेखर की फिट्-सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्वयं किया है। फलतः फिट्-सूत्र अपाणिनीय हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। तथापि महाभाष्य के ज्ञापक के द्वारा पाणिनीय आचार्य उनका आश्रयण करते हैं—

अपाणिनीयान्यपि फिट् सूत्राणि पाणिनीयैराश्रीयन्ते भाष्यात् ज्ञापकात्। तथा च 'आद्युदात्तश्च' इति सूत्रे भाष्यं प्रतिपदिकस्य यान्त इति प्रकृतेरन्तोदात्तत्वं शास्ति[3]।

फलतः शन्तनु आचार्य के द्वारा प्रणीत इन सूत्रों को पाणिनीय सम्प्रदाय भी अपने शास्त्र का उपादेय अंग ही मानता है।

फिट्-सूत्रों की प्राचीनता

यूरोपियन विद्वानों में व्युत्पन्न वैयाकरण डा० कीलहार्न ने १८६६ ई० में इन सूत्रों का विभिन्न संस्कृत व्याख्याओं, भूमिका तथा अनुवाद के साथ एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। फलतः यूरोपियन विद्वान् इन सूत्रों से परिचय रखते हैं। तब डा० विन्टरनित्स को डा० कीथ के साथ एक मत होकर इन सूत्रों को शान्तनव की कृति मानते देखकर आश्चर्य होता है[4]। 'शान्तनव' आचार्य का नाम नहीं है, प्रत्युत शन्तनु द्वारा प्रणीत होने से इन फिट्-सूत्रों का ही नाम है।

---

१. स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः। सौवरोऽध्यायः (काशिका, जिल्द ६, पृष्ठ ६)।
२. शन्तनुराचार्यः प्रणेतेति द्वारादीनां चेति सूत्रे हरदत्तः॥
३. 'फिषोऽन्त उदात्तः' सूत्र की तत्त्वबोधिनी का यह कथन द्रष्टव्य है।
४. द्रष्टव्य हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर जिल्द ३, भाग २ पृष्ठ ४३८ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७)।

इन सूत्रों के काल के विषय में डा० कीथ तथा डा० विन्टरनित्स दोनों का कथन है कि ये पाणिनि को तो निश्चयेन अज्ञात थे और पतञ्जलि को भी सम्भवतः अज्ञात थे। परन्तु यह मत कथमपि माननीय नहीं है।

(१) पतञ्जलि के महाभाष्य में ऐसे स्पष्ट निर्देश हैं जो उनके फिट्-सूत्रों से परिचय को स्थिर करते हैं। पतञ्जलि का कथन है—

स्वरित करण सामर्थ्यान्न भविष्यति-न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इति। यहाँ पतञ्जलि ने 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' को उद्धृत किया है जो फिट्-सूत्रों में ७४ वाँ सूत्र है। इसी प्रकार 'प्रत्ययस्वरस्यावकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः समत्वं सिमत्वम् (६।१।१५८ का महाभाष्य) पतञ्जलि का कथन 'त्वत्-त्व-सम-सिमेत्यनुच्चानि, (फिट्-सूत्र ७८ वाँ) को लक्ष्य कर ही सम तथा सिम शब्दों में सर्वानुदात्तत्व का प्रतिपादन करता है। ऐसे स्पष्ट निर्देशों के होने पर पतञ्जलि को फिट्-सूत्रों से अपरिचित कहने का कौन साहस कर सकता है ?

(ख) पाणिन्यपेक्षया भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है चन्द्रगोमी के एक विशिष्ट कथन के प्रामाण्य पर। प्रत्याहारों के विषय में चन्द्रगोमी का कथन है कि पूर्व वैयाकरण 'ऐऔष्' प्रत्याहार मानते थे, इसके स्थान पर 'ऐऔच्' किया गया है। 'ऐऔच्' माहेश्वर-सूत्र है पाणिनि-सम्मत। और इसी शैली पर स्वर के लिए 'अच्' प्रत्याहार पाणिनि द्वारा बनता है। पूर्व वैयाकरण के यहाँ स्वर के लिए 'अष्' प्रत्याहार था—चन्द्रगोमी का यही अभिप्राय है। और यह अष्[१] प्रत्याहार फिट्-सूत्र २७ 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' तथा फिट्-सूत्र ४२ लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' में उपलब्ध होता है। फलतः पाणिनि ने फिट्-सूत्रों के 'अष्' को 'अच्' में बदल दिया। ऐसी दशा में पाणिनि को इन सूत्रों से अपरिचित घोषित करना अनुचित हैं। शान्तनु पाणिनि से पूर्व वैयाकरण हैं।

उपलब्ध फिट्-सूत्र शन्तनु-तन्त्र का एक भाग ही प्रतीत होता है। अन्य सूत्रों की सत्ता मानना ही उचित प्रतीत होता है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग व्याख्या के विना नितान्त असंगत तथा अप्रामाणिक है। फिट्-सूत्रों के पारिभाषिक शब्द अव्याख्यात ही हैं जैसे फिष् (सूत्र १) = प्रातिपदिक, नप् (सूत्र २६ तथा ६१) = नपुंसक, शिट् (सूत्र २९) = सर्वनाम। इन शब्दों के व्याख्या-प्रदाता सूत्र अवश्य

---

१. एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः 'एऔष्' यदासीत् तद् 'ऐ औच्' इति कृतम्। तथाहि 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' इति पठ्यते।

इस तन्त्र में रहे होंगे। प्रत्याहारों की भी यही दशा है। अष् = अच्[1] तथा हय् = हल्[2]। परन्तु इनकी व्याख्या अपेक्षित होने पर भी इन सूत्रों में उपलब्ध नहीं है। फलतः इन सूत्रों का कोई और अंश अवश्य होगा।

फिट्-सूत्रों की व्याख्या भट्टोजिदीक्षित तथा नागेश ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है। श्रीनिवास यज्वा ने स्वर-सूत्रों के ऊपर जो स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका[3] नाम्नी विशद व्याख्या लिखी है उसमें फिट् सूत्रों की भी विशद वृत्ति है। इस प्रकार शान्तनु आचार्य द्वारा प्रणीत ये फिट्-सूत्र पाणिनीय तन्त्र के अविभाज्य अंग हैं।

---

१. अष् से अभिप्राय 'अच्' का है। चन्द्रगोमी का वचन ऊपर उद्धृत है।

२. हय् इति हलां संज्ञा—लघुशब्देन्दुशेखर।

३. अन्नमलै विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला नं० ४, (मद्रास, १९३६) में प्रकाशित।

षष्ठ खण्ड

इतर व्याकरण-सम्प्रदाय

वोपदेव ने अपने इस प्रसिद्ध श्लोक में आठ आदिशाब्दिकों का नाम निर्दिष्ट किया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलिशाकटायनाः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

'आदि शाब्दिक' शब्द से वोपदेव का तात्पर्य व्याकरण-सम्प्रदाय के प्रवर्तकों से है । इनमें से तीन वैयाकरण पूर्व-पाणिनीय युग से सम्बन्ध रखते हैं (इन्द्र, आपिशलि तथा काशकृत्स्न) तथा चार पाणिनि के उत्तर युग से सम्बद्ध हैं (अमर, जैनेन्द्र, चन्द्र तथा शाकटायन) । पूर्व-पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन इस खण्ड के आरम्भ में संक्षेप से दिया गया है[1] । उत्तरकालीन वैयाकरणों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । इन वैयाकरणों में अन्य भी अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थकार हैं जिनका उल्लेख वोपदेव ने नहीं किया, परन्तु व्याकरण-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास को पूर्ण जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त भी परिचय आवश्यक है ।

मौलिक समस्या है कि पाणिनीय सम्प्रदाय जैसे शास्त्रीय सम्प्रदाय के रहते हुए भी तदितर सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव का क्या रहस्य है ? इन सम्प्रदायों के अस्तित्व के लिए कौन सी आवश्यकता थी ? यह समस्या समाधान की अपेक्षा रखती है । पहिले संकेत किया गया है कि पाणिनि-सदृश महावैयाकरण द्वारा कड़े नियमों से जकड़ी जाने पर भी संस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रह सका । नये परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने के लिए कात्यायन-सदृश वैयाकरणों को नये नियम बनाने पड़े अथवा पाणिनि के सूत्रों में ही हेरफेर कर उन परिवर्तनों को पाणिनि के सूत्रों के भीतर ही बैठाया गया । किन्तु इन प्रयत्नों में एक तो कृत्रिमता की गन्ध आती थी और दूसरे उत्तर काल के परिवर्तनों को पाणिनि के सिर पर लादने से ऐतिहासिक क्रम का भी विपर्यास होता था । कात्यायन के वार्तिकों से तथा पतञ्जलि की इष्टियों से यह

---

१. आपिशलि का वर्णन इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३८६—३८८ तक, इन्द्र का वर्णन पृष्ठ ३९०—३९२ तक तथा काशकृत्स्न का वर्णन पृष्ठ ३९२—९३ तक किया गया है । जिज्ञासुजन उन्हें वहीं देखने का कष्ट करें ।

कार्य अवश्यमेव सम्पन्न किया गया, परन्तु परिवर्तनों की संख्या कालातिक्रम से बढ़ती ही गई और पाणिनि के सुचिन्तित सूत्रों के भीतर इनका समावेश असम्भव हो गया। एक तथ्य ध्यातव्य है कि संस्कृत-भाषा अब तक साहित्यिक अथवा शिष्ट-भाषा थी और वह धीरे-धीरे पण्डित-भाषा बन रही थी। इसलिए परिवर्तनों का क्रम अवश्यमेव कुछ शिथिल रहा होगा। परन्तु परिवर्तन कालानुसार अवश्यमेव दृष्टिगोचर होने लगे थे। यथा 'फलेग्रहिः' के समान 'मलग्रहिः', 'स्तनन्धयः' के सदृश 'आस्यन्धयः' और 'पुष्पन्धयः', 'नाडिन्धमः' के समान 'करन्धमः' पदों की उपपत्ति अब आवश्यक हो गई। ये शब्द प्रयोग में आने लगे, परन्तु पाणिनि-सूत्रों से इनकी पूर्णतः व्यवस्था नहीं हो सकी। अतएव यह कार्य सिद्ध करने के लिए 'कातन्त्र' व्याकरण सामने आया। अनुस्वार के लिए भी पाणिनि का निर्देश है कि म् के स्थान में अनुस्वार व्यञ्जन के पूर्व होने पर ही होता है, अन्त में नहीं। कातन्त्र तथा सारस्वत सम्प्रदाय में अन्त में भी अनुस्वार मान लिया गया है। फल यह है कि इस युग में लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों के स्थान में लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों की प्रतिष्ठा हुई जिनकी उदार-भावना को केरलीय नारायणभट्ट ने अपने 'प्रक्रिया-सर्वस्व' के इस पद्य में प्रकट किया है। उनका कथन है कि पाणिनि का कथन प्रमाण है और चन्द्र तथा भोज का कथन प्रमाण नहीं है; यह कथन निर्मूल है, क्योंकि बहुवेत्ता ग्रन्थकारों की उक्ति निराधार नहीं होती। गुण की महत्ता होती है तथा गुणी के वचनों को ही बहुजन अंगीकार करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो पाणिनि से पूर्व व्याकरण ही नहीं था क्या ? पाणिनि ने तो स्वयं पूर्वाचार्यों के मत को उद्धृत किया है और ऐसे स्थलों पर आज विकल्प की कल्पना की जाती है। फलतः हमें उदार होना चाहिए अपनी कल्पना में तथा व्याकरण के द्वारा प्रयोज्य व्यापार में—

> पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादि-शास्त्रं
> केऽप्याहुः, तत् लघिष्ठं, न खलु बहुविदास्ति निर्मूलवाक्यम्।
> बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा
> पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधे चापि कल्प्यो विकल्पः॥

इसी कारण उत्तर-कालीन वैयाकरणों ने नवीन व्याकरण बनाने में ही कल्याण देखा। इनके उद्देश्यों की पूरी सिद्धि भी हुई। इनके द्वारा आरम्भिक छात्रों को संस्कृत सीखने में सरलता मिली, परन्तु ये व्याकरण अपने देशकाल की परिधि में ही फूले-फले। जैसे भोज का व्याकरण मालवा की विशिष्ट सम्पत्ति है, तो हेमचन्द्र का व्याकरण गुजरात की और उसमें भी जैन धर्मावलम्बियों की। पाणिनीय सम्प्रदाय को ही अखिल भारतीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसका कारण है उसका शास्त्रीय तथ्यों का आमूल-चूल गम्भीर विवेचन। पाणिनीय सम्प्रदाय ने ही व्याकरण को दर्शन के उदात्त

सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। शब्दाद्वैत की मीमांसा पतञ्जलि तथा भर्तृहरि की अलोक-सामान्य वैदुष्य का चमत्कार है। पाणिनीय सम्प्रदाय के सार्वभौम प्रख्याति का रहस्य इस दार्शनिक विवेचन के भीतर अन्तर्निहित है।

(१) कातन्त्र व्याकरण

पाणिनि की परम्परा से बहिर्भूत व्याकरण–सम्प्रदायों में कातन्त्र व्याकरण निःसन्देह सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। इसके नाम की व्याख्या दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति में 'ईषत् तन्त्र' शब्द के द्वारा की है। वृहत्काय पाणिनीय सम्प्रदाय की तुलना में लघु-काय होने के कारण 'कातन्त्र' नाम अपनी अन्वर्थता रखता है। कुमार अर्थात् कार्तिकेय के द्वारा मूलतः प्रेरित होने के कारण यह 'कौमार' नाम से भी प्रख्यात है। कार्तिकेय के वाहन मयूर के पिच्छों (कलाप अर्थात् पंखों) से संगृहीत किये जाने के हेतु इसकी अपर संज्ञा 'कालापक' भी मानी जाती है[१]। यह व्याकरण-सम्प्रदाय निःसन्देह प्राचीनतर सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। महाभाष्य के अनुसार अद्यतनी, श्वस्तनी, भविष्यन्ती, परोक्षा संज्ञायें प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रचारित की गई थीं। और ये सब कातन्त्र में उपलब्ध होती हैं[२]। 'कारित' णिजन्त की संज्ञा निरुक्त (१।१३) में निर्दिष्ट है जो यहाँ भी मिलती है। फलतः यह व्याकरणसम्प्रदाय अवश्यमेव प्राचीन है, परन्तु कितना प्राचीन ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। शूद्रक रचित 'पद्मप्राभृतक' भाण में कातन्त्रिकों के उस युग में अत्यन्त लोकप्रिय होने का उल्लेख है[३]। पाणिनीयों के साथ इनकी उस काल में महती स्पर्धा थी—इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। पाणिनिमतानुयायी इन्हें वैयाकरणों में अधम (पारशव) मानते थे तथा अनास्था रखते थे।

कातन्त्र व्याकरण का परिचय

कौमार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कातन्त्र या कलाप व्याकरण में शब्द-साधक की

---

१. यह तथ्य वनमालिद्विज रचित 'कलाप-व्याकरणोत्पत्तिप्रस्ताव' में दिया गया है···सर्ववर्मा शम्भोरनुज्ञया कार्तिकेयमाराध्य शिखिवाहनस्य शिखिनां कलापात् व्याकरण संगृह्य राजानमल्पकालेनैव व्याकरणाभिज्ञं कृतवान् इत्यस्य कलाप इति नामासीत्।

२. अद्यतनी—कातन्त्र ३।१।२२, भविष्यन्ती ३।१।१५,
श्वस्तनी „ ३।१।१५ परोक्षा ३।१।१३ आदि में।

३. एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति। हन्त प्रवृत्तं काकोलूकम्······। का चेदानीं मम वैयाकरण-पारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था। (पृ० १८)

प्रक्रिया पाणिनीय व्याकरण से प्रायः भिन्न ही देखी जाती है। इस व्याकरण में लौकिक शब्दों के ही साधनार्थ नियम बताए गए हैं। अन्य व्याख्याकारों के मत से जिन वैदिक शब्दों का साधुत्व यहाँ दिखाया गया है, वे शब्द आचार्य शर्ववर्मा के मत से लौकिक ही समझने चाहिए।

कातन्त्र शब्द का अर्थ है—अल्प या संक्षिप्त तन्त्र (ईषत् तन्त्रं कातन्त्रम्, ईषदर्थे कु शब्दस्य कादेशः, "का त्वीषदर्थेऽक्षे" कातन्त्र २।५।२५)। वैयाकरण हरिराम ने पाणिनि-व्याकरण की अपेक्षा इसको संक्षिप्त बताया है। भगवान् कुमार के प्रसाद से प्राप्त होने के कारण शर्ववर्म-प्रोक्त इस व्याकरण को कौमार नाम से भी अभिहित किया जाता है। व्याकरण का अत्यन्त संक्षेप दिखाए जाने से ही इसको कलापक नाम भी प्रसिद्ध है (बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापकाः शास्त्राणि, हेमचन्द उणादि-वृत्ति, पृष्ठ १०)।

आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत इस 'कातन्त्र व्याकरण' में मूलतः सन्धि, नाम एवं आख्यात ये तीन ही अध्याय हैं। इन अध्यायों में सन्धि के अन्तर्गत पाँच, नाम में छः तथा आख्यात में आठ पाद हैं। सन्धि के पाँच पाद पाँच सन्धियों से सम्बन्धित हैं। नाम-चतुष्टय के प्राथमिक तीन पादों में स्याद्यन्त रूपों की सिद्धि की गई है। शेष तीन पादों में कारक, समास एवं तद्धित प्रकरणों का निरूपण क्रमशः किया गया है। आख्यात के प्रथम पाद में 'वर्तमाना' आदि काल-बोधिका संज्ञाएँ बताकर द्वितीय पाद में 'सन्' इत्यादि प्रत्ययों तथा 'अन्' (पाणिनि के अनुसार 'शप्') इत्यादि विकरणों के प्रयोगस्थल का निर्देश किया गया है। तृतीय पाद में द्वित्वविधि, चतुर्थ में सम्प्रसारण, अकारलोपादि कार्य दिखाए गए हैं। पञ्चम में गुण, षष्ठ में अनुषङ्गलोपः, वृद्धि, उपधादीर्घ (नुम्) तथा नलोपादि का विषय वर्णित है। सप्तम पाद में इडागम एवं कुछ अनिट् धातुओं का निर्देश करके अष्टम पाद में औपदेशिक णकार का नकार आदेशादि प्रकीर्ण कार्यों को दिखाया गया है।

इन तीनों अध्यायों की क्रमविषयक संगति का निर्देश आचार्य सुषेण ने 'कलापचन्द्र' के प्रारम्भ में इस प्रकार किया है—

"सन्ध्यादिक्रममादाय यत्कलापं विनिर्मितम्,
मोदकं देहि देवेति वचनं तन्निदर्शनम्।"
(कलापचन्द्रः, मङ्गलाचरणम्—पृ० ७)।

राजा शालिवाहन (सातवाहन) के प्रति उनकी रानी के द्वारा कहे गए 'मोदकं देहि' इस वचन के 'मोदक' शब्द में गुण-सन्धि होने के कारण पहले सन्धि का विषय दिखाया गया है। पुनः 'मोदकम्' स्याद्यन्त (नाम) पद है, अतः सन्धि के

बाद नामशब्दों की सिद्धि की गई है। तदनु 'देहि' इस आख्यात पद को श्लोक में कहा गया है। उसी क्रम से नाम-निरूपण के अनन्तर आचार्य ने आख्यात का विषय प्रदर्शित किया है।

सम्प्रति उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' में कृदन्त रूप चतुर्थ अध्याय कात्यायन-वररुचि द्वारा प्रणीत है। वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कृदन्तवृत्ति के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है—

"वृक्षादिवदमी रूढाः कृतिना न कृताः कृतः,
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धिप्रतिपत्तये।"

(कात० वृ०, कृत्प्र०, प्रारम्भे)।

यद्यपि आचार्य शर्ववर्मा के "कर्तृकर्मणोः कृति नित्यम्", "न निष्ठादिषु" (कातन्त्र २।४।४१, ४२) यह सूत्र कृत्प्रकरण-विषयक निर्धारण को ही द्योतित करते हैं, तथापि "वररुचिना तृनादिकं पृथगेवोक्तं ततश्च वररुचिशर्ववर्मणोरेकबुद्ध्या दुर्गसिंहेनोक्तमिति" (कवि० २।१।६८) इत्यादि व्याख्याकारों के वचनों से कृदन्त भाग के प्रणेता आचार्य वररुचि ही माने जा सकते हैं, न कि आचार्य शर्ववर्मा। सारांश यह है कि आचार्य शर्ववर्मा ने कृत् प्रत्ययों का निर्धारण तो किया ही था, परन्तु उनका अनुशासन नहीं किया था।

कुछ प्रमाणों के आधार पर उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' दुर्गसिंह द्वारा परिष्कृत संस्करण माना जा सकता है। "तादर्थ्ये" (कात० २।४।२७) सूत्र के व्याख्यान में पञ्जीकार त्रिलोचनदास कहते हैं—"तादर्थ्यमिति कथमिदमुच्यते, न खल्वेतच्छ-र्ववर्मकृतसूत्रमस्तीति।......अत्र तु वृत्तिकृता मतान्तरमादर्शितम्। इह हि प्रस्तावे चन्द्रगोमिना प्रणीतमिदमिति" (पञ्जी—२।४।२३)।

अर्थात् यह सूत्र आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत नहीं है, किन्तु चन्द्रगोमी-प्रणीत सूत्र को मतान्तर दिखाने के उद्देश्य से वृत्तिकार दुर्गसिंह ने उद्धृत किया है।

कवीन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ—सूची में कपाल-व्याकरण के अतिरिक्त दौर्ग-व्याकरण का भी नाम अङ्कित किया है (कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र, व्याकरण ग्रन्थ, संख्या १४७)। 'दैत्र' इत्यादि ग्रन्थों में 'दौर्ग' नाम से अनेक मत उद्धृत भी हैं। इन प्रमाणों का तात्पर्य है कि दुर्गाचार्य के द्वारा लिखित व्याकरण के अभाव में उनके द्वारा परिष्कृत इसी व्याकरण की ओर ही इन टीकाकारों का संकेत है।

इस कातन्त्र व्याकरण के वर्णसमाम्नाय में ५२ वर्ण माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, ं ँ (अनुस्वारः), ः (विसर्ग), × (जिह्वामूलीयः), ω (उपध्मानीय), क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह एवं क्ष। वर्णसमाम्नाय में न पढ़े जाने से प्लुत वर्णों का बोध अनुपदिष्ट शब्द से किया जाता है।

इसमें 'स्वर' से लेकर 'कृत्य' पर्यन्त ७४ संज्ञाओं का प्रयोग संज्ञि-निर्देश पूर्वक किया गया है, जिनमें कालबोधिका श्वस्तनी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, वर्तमाना इत्यादि पूर्वाचार्य-प्रयुक्त संज्ञाओं को भी स्थान दिया गया है। श ष स ह इन चार वर्णों की 'ऊष्म' संज्ञा को निरर्थक कहा गया है, क्योंकि विधिसूत्रों में उसका उपयोग नहीं किया गया है। विधिसूत्रों में तो उक्त वर्णों के बोध के लिए की गई 'शिट्' संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इस निरर्थक संज्ञा को उपस्थापित करने का एकमात्र प्रयोजन पूर्वाचार्य-स्वीकृत व्यवहार को दिखाना ही व्याख्याकारों ने माना है।

संज्ञि-निदेश रहित 'वर्ण' आदि ३० संज्ञाओं का भी व्यवहार किया गया है। अत्यन्त संक्षेप अभीष्ट होने से आचार्य ने सभी नियमों के लिए सूत्र नहीं बनाए। अतएव "लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः" (कात० १।१।२३) यह सूत्र बनाकर यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि अव्यय, उपसर्ग, कारक, काल इत्यादि के परिज्ञान के लिए सूत्र बनाना निरर्थक है। इनका ज्ञान लोक-प्रयोग के आधार पर कर लेना चाहिए।

यहाँ विधेय वर्ण के निर्देश से ही कार्य हो जाने पर संज्ञापूर्वक निर्देश विधि की अनित्यता को एवं कहीं सुखार्थ बोध को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया गया है। कहीं पर पूर्व सूत्रों से जिन शब्दों का अधिकार चला आ रहा है तो उस अधिकार के समाप्ति-द्योतन के लिए उन शब्दों का पुनः पाठ किया गया है। जैसे—"एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः" (कात० १।२।४०) इस सूत्र में पूर्वसूत्र से यद्यपि पदान्ताधिकार चला आ रहा था, तो पुनः पदान्त-ग्रहण की आवश्यकता न होने पर उसका उपादान अग्रिम सूत्र में पादान्ताधिकार की निवृत्ति के लिए किया गया है—ऐसा वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है (द्र०—कात० वृ० १।२।४०)। "न व्यञ्जने स्वराः सन्धेयाः" (कात० १।२।४१) इत्यादि सूत्र-पठित नञ् को विधि की अनित्यता का द्योतक समझना चाहिए (द्र०—कात० वृ० १।२।४१)।

कुछ शब्द परिभाषाओं के ज्ञापनार्थ भी पढ़े गए हैं, जैसे—"बाह्वादेश्च विधीयते" (कात० २।६।२९३) इस सूत्र के बाह्वादि गण में टीकाकार ने 'बाहु-उपबाहु' एवं 'विन्दु-उपविन्दु' यह शब्द पढ़े हैं। अतः कविराज कहते हैं कि तदन्तविधि मानकर बाहु से उपबाहु का तथा विन्दु से उपविन्दु का ग्रहण हो ही सकता था, फिर जो

दोनों शब्द पढ़े गए, उनसे यह ज्ञापित होता है, कि बाह्वादि गण में 'ग्रहणवता लिंगेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह नियम प्रवृत्त होता है।

प्रयोगसिद्धि

व्याख्याकारों ने वररुचि आदि आचार्यों के मतानुसार अनेक अप्रसिद्ध एवं अपाणिनीय प्रयोगों की सिद्धि दिखाई है—निदर्शनार्थ कुछ वाक्य उद्धृत किए जाते हैं, जैसे—"कुरवोऽस्महितं मन्त्रं सभायाञ्चक्रिरे मिथः" (कात० वृ० टी० १।५।६८)। "वातोऽपि तापपरितो सिञ्चति" (कवि० १।५।६६)। "पितरस्तर्पयामास" (कात० वृ० टी० २।१।६६)। ये पाणिनीय व्याकरण से असिद्ध प्रयोग हैं, परन्तु संस्कृत में प्रयुक्त हैं। फलतः इन की यहाँ व्यवस्था की गई है जिससे ये व्याकरण-सम्मत ही माने जायँ।

कार्यी और कार्य का समान विभक्ति में ही प्रायः निर्देश देखा जाता है, जिसको व्याख्याकारों ने स्पष्टार्थ कहा है (कात० वृ० टी० २।१।५५)। जहाँ पर आदेश को द्वितीयान्त एवं स्थानी को प्रथमान्त कहकर आदेश एवं स्थानी में समान विभक्त का प्रयोग नहीं किया गया है वहा भिन्न विभक्तिक निर्देश से ही सरलतया बोध हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए (द्र०—कवि० २।२।६८)। "सम्बुद्धौ च" (कात० २।१।५६) इस सूत्र में उपात्त 'च' वर्ण को अनित्यता का द्योतक मानकर वररुचि के मतानुसार—'वरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः' इत्यादि स्थलों में उकार का ओकार आदेश नहीं होता है—ऐसा कविराज ने स्पष्ट कहा है (द्रष्टव्य—कवि० २।१५६)।

वार्तिककार कात्यायन ने "अभितः परितः समयानिकषा" (सि० कौ० १।४।४९ वा०) वार्तिक द्वारा 'अभितः' आदि शब्दों के योग में द्वितीया का विधान कहा है। टीकाकार ने यह उद्धृत किया है, कि आचार्य 'आपिशलि' के मत में इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती थी, अतः उनके योग में द्वितीया-विधान उपपन्न होता था (कात० वृ० टी० २।४।२२८)।

पञ्जीकार त्रिलोचनदास ने कहा है कि आचार्य 'शर्ववर्मा' को अर्थ-लाघव ही अभीष्ट था। यही कारण है, कि उन्होंने 'नाम-चतुष्टय' नामक अध्याय में समास और तद्धित प्रकरणों को अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध किया। अतः बहुत्र 'विज्ञेय' आदि क्रियापद छन्दः पूर्ति के लिए ही पढ़े गये हैं। उनका वचन इस प्रकार है—

"सम सस्तद्धितश्चैव सुखप्रतिपत्त्यर्थमनुष्टुब्बन्धेन विरचित इत्यत्र 'विज्ञेय' ग्रहणम्। एव परेष्वपि योगेषु शब्दलाघवं न चिन्तनीयम् अर्थप्रतिपत्ति—लाघवस्य शर्ववर्मणोऽभिप्रेतत्वात्" (पञ्जी २।५।२६३)।

अर्थलाघव की दृष्टि से अनेक शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्र तो नहीं बनाए गए हैं,

परन्तु उनकी भी सिद्धि सूत्रोपात्त 'वा-अपि' जैसे शब्दों के व्याख्यान-बल से सम्पन्न की जाती है। उनसे भी अवशिष्ट शब्द लोक-प्रयुक्त होने से सिद्ध माने जाते हैं। जैसा वररुचि ने कहा भी है—

"वा शब्दैश्चापिशब्दैर्वा शब्दानां (सूत्राणाम्) चालकैस्तथा,
एभिर्येऽत्र न सिध्यन्ति ते साध्या लोकसम्मताः।"
(कवि० १।१।२३)।

कातन्त्र धातुपाठ में नव गण ही प्रमुख माने गये हैं, क्योंकि जुहोत्यादि को अदादि के ही अन्तर्गत पढ़ा गया है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि यह विशेषता काशकृत्स्न व्याकरण में विद्यमान थी। कातन्त्र के षट्पादी उणादि प्रकरण में 'उण्' प्रभृति २६४ प्रत्ययों का व्यवहार किया गया है। गणपाठ स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध है, परन्तु वृत्तिकार ने प्रायः सभी गणों के शब्दों को वृत्ति में पढ़ दिया है। कातन्त्र—लिङ्गानुशासन की रचना के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

टीकासम्पत्ति

उक्त शर्ववर्म-प्रणीत 'कातन्त्र-व्याकरण' पर आचार्य शर्ववर्मा ने ही सर्वप्रथम एक महती वृत्ति बनाई थी, यह संकेत श्री गुरुपद हालदार ने किया है अपने व्याकरण इतिहास में (पृ० ४३७)।

आचार्य सर्ववर्मा के अनन्तर कात्यायन वररुचि ने दुर्घटवृत्ति का प्रणयन किया। वररुचि-कृत दुर्घटवृत्ति का उल्लेख व्याख्याकार हरिराम ने किया है (द्र०— व्याख्यासारः, पृ० १७४)। इसके अतिरिक्त अन्य भी वृत्तिकार हुए होंगे जिनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु वृत्तिकार दुर्गसिंह किन्हीं स्थलों पर केचित्, परे इत्यादि शब्दों से उनके मतों का स्मरण करते हैं। जैसे—"ऐस्करणादतिजरसैरिति केचित्" (कात० वृ० २।१।१८)। कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्दरूपों का वर्णन गरुणपुराण[1] के दो अध्याओं में किया गया है (अध्याय २०३ तथा २०४) यहाँ कातन्त्र व्याकरण के सूत्र तथा उदाहरण पद्यमय रूप में दिये गये हैं। २०३ अध्याय में २५ श्लोक तथा २०४ अ० में २६ श्लोक हैं। पुराण में कातन्त्र का यह विवरण इसकी विपुल लोकप्रियता का निःसन्देह सूचक है। (२०४।२७) अन्त में कहा गया है कि कात्यायन ने इस व्याकरण का विस्तार किया। कात्यायन द्वारा कृत प्रकरण के जोड़ने की साम्प्रदायिक प्रसिद्धि को यह कथन लक्ष्य कर निबद्ध है।

अग्निपुराण के ३४९ अध्याय से लेकर ३५९ अध्याय तक अर्थात् एग्यारह-अध्यायों में व्याकरण का जो विस्तृत वर्णन है वह भी कातन्त्र व्याकरण द्वारा प्रभावित

---

१. द्रष्टव्य—गरुडपुराण, पृष्ठ २४७–२४९ (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६४)।

है। ३४९ अ० के आरम्भ में ही[1] स्कन्द अर्थात् कुमार ने अपने व्याकरण के सार को कात्यायन के ज्ञान के निमित्त कहने की जो प्रतिज्ञा की है, वह कौमार या कातन्त्र व्याकरण की ओर ही स्पष्ट संकेत है।

कातन्त्रमें सूत्रों की संख्या १४०० से कुछ ऊपर[2] है। अपनी लघुकाया तथा व्यावहारिकता के कारण यह व्याकरण प्राचीन काल में बहुत ही अधिक लोकप्रिय था। बंगाल तथा काश्मीर में इसके विपुल प्रचलन का पता मिलता ही है। बौद्धों की कृपा से यह मध्य एशिया के देशों में भी व्यवहृत होता था जहाँ से इसके ग्रन्थावशेष प्राप्त हुये हैं। बौद्धों में इसकी लोकप्रियता का एक यह भी कारण है कि पालीका कात्यायन व्याकरण 'कातन्त्र' के द्वारा ही प्रभावित तथा संपुष्टित किया गया है। सातवाहन प्राकृतभाषा के बड़े मान्य उन्नायक तथा सेवक थे। अनेक विद्वान् कातन्त्र की रचना को उनके राज्यकाल से सम्बद्ध मानने से हिचकते हैं। फलतः वे शर्ववर्मा को प्रथमशती में रखने से पराङ्मुख हैं। शूद्रक के समय में पद्मप्राभृतक के आधार पर कातन्त्र के अभ्युदय का हम अपलाप नहीं कर सकते। शूद्रक का समय हमने पञ्चमशतक माना है[3]। फलतः कातन्त्र का रचना काल तृतीय शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं है।

व्याख्याकार

कातन्त्र व्याकरण की व्याख्या-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण महनीय है। इसमें सब से प्राचीन व्याख्या है दुर्गसिंह की। इनके देश का पता नहीं है। काल का परिचय लग सकता है। कातन्त्र के 'इन् त्रयजादेरुभयम्' सूत्र की (३।२।४५) वृत्ति में इन्होंने 'तव दर्शनं किन्न धत्ते' तथा 'तनोति शुभ्रं गुण सम्पदा यशः' श्लोकांशों को उद्धृत किया है जो टीकाकार के अनुसार किरातार्जुनीय के पद्य हैं। 'तनोति शुभ्रं' किरात के प्रथम सर्ग का अष्टम श्लोक है। 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये'—यह उद्धृत पद्य मयूर के

---

१. स्कन्दउवाच—वक्ष्ये व्याकरणं सारं सिद्ध-शब्द स्वरूपकम्।
कात्यायन-विबोधाय बालानां बोधनाय च॥
—अग्निपुराण ३४९।१ (चौखम्भा सं०, १९६६)।

२. कातन्त्र का दुर्गवृत्ति के साथ सुन्दर संस्करण डा० ईगलिंग ने प्रकाशित किया १८७४–७८ में कलकत्ते से। इसमें अन्य टीकाओं के आवश्यक उद्धरण भी दिये गये हैं जिससे इसका महत्त्व पर्याप्त है।

३. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास। (अष्टम सं० १९६८, पृ० ५४२–५४)।

सूर्यशतक (श्लोक २) का है। फलतः दुर्गसिंह की पूर्व अवधि मयूर तथा भारवि हैं। काशिका वृत्ति इनके मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन करती है। फलतः ये इससे प्राचीन है। अतएव इनका आविर्भावकाल षष्ठशती का अन्त मानना उचित प्रतीत होता है (५८५ ई०–६०० ई०)। इस वृत्ति के ऊपर टीका भी मिलती है जिसके रचयिता का भी नाम दुर्गसिंह हैं। इस नाम साम्य ने विद्वानों को धोखे में डाल दिया है। डा० विण्टरनित्स कहते हैं कि दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति पर टीका लिखी[1]। परन्तु वास्तव तथ्य ऐसा नहीं है। टीकाकार वृत्तिकार को 'भगवान्' जैसे आदर-सूचक विशेषण से सम्बोधित करते हैं[2]। यह विशेषण दोनों की एकरूपता होने पर कथमपि सुसंगत नहीं होता। फलतः दोनों भिन्न हैं।

त्रिलोचनदास ने 'कातन्त्रपञ्जिका' द्वारा दुर्ग-वृत्ति पर व्याख्या लिखी है। वोपदेव के द्वारा उद्धृत किये पाने के कारण इस पञ्जिका का लेखन काल ११०० ई० के आसपास मानना उचित है। इस सूत्र तथा वृत्ति पर अनेक जैन-अजैन पण्डितों ने व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें प्रख्यात नाम ये हैं—ढुंडक के पुत्र महादेव-कृत शब्दसिद्धि वृत्ति (वि० सं० १३४० से पूर्व) महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुङ्ग सूरिकृत बालबोध (वि० सं० १४४४), वर्धमान-कृत विस्तार (वि० सं० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्य कृत रूपमाला-वृत्ति, मोक्षेश्वर कृत आख्यान-वृत्ति तथा पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत वृत्ति। त्रिलोचनदास की पंजिका पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत 'वृत्ति-विवरण पञ्जिका-दुर्गपद प्रबोध' उपलब्ध है[3]। इससे अतिरिक्त सुषेण विद्याभूषण रचित कलापचन्द्र तथा हरिराम रचित 'व्याख्यासार' भी प्रकाशित हैं (वंगाक्षरों में कलकत्ते से)[4]। अलबेरूनी के ग्रन्थ से पता चलता है कि उग्रभूति ने शिष्यहिता-न्यास' नामक कातन्त्र वृत्ति की रचना की थी। इसमें सूत्रों की व्याख्या बड़े विस्तार से दी गई है। ये उग्रभूति काबुल के राजा आनन्दपाल के गुरु थे, जिन्होंने १००१ ई० में काबुल की गद्दी पाई। फलतः इनका समय १००० ई० होना निश्चित है[5]।

---

१. विण्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर तृतीय भाग, पृ० ४४०।
२. भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि।
—टीका का आरम्भ।
३. इन वृत्तियों का उल्लेख डा० हीरालाल जैन ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान' में किया है (पृष्ठ १८८, प्रकाशक मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२)।
४. ये वंगाक्षर में प्रकाशित हैं।
५. डा० विण्टरनिट्स का History of Indian Litrature Vol. III part 2, p. 440.

इस टीकासम्पत्ति से कातन्त्र की लोकप्रियता का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। बङ्गाल में इसके टीकाकारों की संख्या अधिक होने से वहाँ इसके विपुल प्रचार की बात सिद्ध होती है। काश्मीर में भी इसका प्रचलन था तभी तो स्तुति कुसुमाञ्जलि के रचयिता महाकवि जगद्धरभट्ट (१३०० ई०) ने इसके ऊपर बालबोधिनी वृत्ति का निर्माण किया[1]। मध्य एशिया तक इसके प्रचार की बात पूर्व ही उल्लिखित है। फलतः पाणिनि के समान गम्भीर तथा शास्त्रीय प्रतिभा से मण्डित न होने पर भी अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण इसने सुदूर प्रान्तों में संस्कृत को सुलभ बनाया—इस कथन में सन्देह का स्थल नहीं है।

(२) चान्द्र व्याकरण

इस व्याकरण का प्रचार काश्मीर, नेपाल, तथा तिब्बत से लेकर लंका तक है। प्रचलन बौद्ध देशों में होने से भी ग्रन्थकार का बौद्ध होना अनुमानतः सिद्ध है[2]। ग्रन्थकार का नाम है चन्द्रगोमी जिसमें गोमी शब्द पूजा के लिए निविष्ट किया गया है। 'गोमिन् पूज्ये' व्याकरण का प्रख्यात सूत्र ही है। चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में पाणिनीय तथा कात्यायन के ही सिद्धान्तों का सन्निवेश नहीं किया है, प्रत्युत महाभाष्य का भी पूर्ण उपयोग किया है। फलतः सूत्रों, वार्तिको तथा इष्टियों के समावेश के कारण यह शब्दलक्षण 'सम्पूर्ण' है। पारिभाषिक शब्दों से विहीन होने के कारण यह 'विस्पष्ट' तथा लगभग तीन सहस्र सूत्रों के कारण यह पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा 'लघु' भी है। 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्'—संज्ञाहीनता (पारिभाषिक शब्दाभाव) इस चान्द्र का वैशिष्ट्य है। इस समय इसमें ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद जिनमें लौकिक शब्दों की ही विवेचना है[3]। परन्तु स्वरवैदिक विषयक अध्याय भी इसमें मूलतः अवश्य थे। लिपो नेश्च (चान्द्रव्याकरण १।१।१४५)

---

१. स्तुति कुसुमाञ्जलि (द्वितीय सं०, सं० २०२१, वाराणसी, भूमिका का पृष्ठ २४–२५)।

२. इसके मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' शब्द बुद्ध का ही द्योतक माना जाता है—

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो हितम्।
लघु-विस्पष्ट-सम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्॥

३. जर्मन विद्वान् डा० लीबिश ने जर्मनी से इसका संस्करण प्रकाशित किया था। भारत में डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने पूना से दो भागों में सम्पादित किया है जिसमें प्रतिसूत्र के साथ पाणिनि तथा भोजराज के सूत्रों की तुलना की गई है (पूना, १९५३; १९६१)।

की वृत्ति में 'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः' का स्पष्ट कथन है जिससे अष्टमाध्याय में स्वर-विवेचन का विस्पष्ट संकेत है। फलतः यह व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त था और स्वर का विवेचन भी विद्यमान था[1]—यह तथ्य स्पष्ट होता है। ध्यातव्य है कि चन्द्र ने सूत्रों के ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति का भी निर्माण किया है। अतएव वृत्तिकार का यह कथन सूत्रों की सत्ता के विषय में प्रमाणभूत माना जा सकता है।

इस व्याकरण के आवश्यक अंग भी प्रकाशित हुए हैं। चान्द्र व्याकरणानुसारी गणपाठ, धातुपाठ, उणादि-सूत्र भी प्रकाशित हैं। भिन्न भिन्न सूत्रों में गणों का निर्देश किया गया है। ऐसे गण संख्या में २२६ हैं। चन्द्रगोमिकृत लघुकाय 'वर्णसूत्र' भी उपलब्ध है जिसमें स्वरों तथा व्यञ्जनों के स्थान, करण तथा प्रयत्न का परिचय दिया गया है। उणादि-प्रकरण में केवल तीन पाद हैं। यह प्रकरण कृवापाजिमिस्वादिसाध्यशूभ्यः उण् से आरम्भ होता है और प्रत्येक पाद की सूत्र संख्या क्रमशः ९५, ११९ तथा ११४ है। इस उणादि-प्रकरण में सब मिलाकर ३२८ सूत्र तथा तदनुसारी उदाहरण भी हैं। चान्द्रव्याकरण का धातुपाठ पर्याप्त रूपेण उपयोगी है। धातु दस गणों में विभक्त हैं और प्रत्येक गण में धातुओं की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) ६३८, (२) ६२, (३) २१, (४) १२२, (५) २५, (६) १२१, (७) २३, (८) ९, (९) ४८ तथा (१०) १०५। इस प्रकार समस्त धातुओं की संख्या इस व्याकरण में ११७४ (एक सहस्र, एक सौ, चौहत्तर)। पाणिनि का धातुपाठ काशकृत्स्न के धातुपाठ की अपेक्षा न्यून है और चन्द्र का यह धातुपाठ तो पाणिनि की अपेक्षा भी न्यूनता रखता है। इन धातुओं का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ लोक-व्यवहार से बहिर्भूत अप्रयुक्त धातुओं का पाठ अपेक्षाकृत न्यून है। धातुओं के विषय में चन्द्रगोमी का यह मत ध्यान देने योग्य है—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥

यहाँ प्रयोग के बल पर धातुओं के अर्थों का परिचय निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार अपने आवश्यक उपयोगों से मण्डित यह व्याकरण संस्कृत भाषा के व्यावहारिक रूप को लक्ष्य कर ही निष्पन्न किया गया है। सूत्रों का क्रम-निर्देश अष्टाध्यायी के अनुसार है, प्रक्रियानुसारी नहीं है[2]।

---

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग। पृ० ५२४–५२५।

२. इन अंगों से युक्त सुन्दर भूमिका के साथ चान्द्र व्याकरण के सूत्रभाग (वृत्ति-रहित) का संस्करण अभी हाल में प्रकाशित हुआ है—राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३९, जोधपुर, १९६७।

चन्द्रगोमी के समय का परिचय बहिरङ्ग प्रमाण से मिलता है। इन्होंने उच्छिन्न महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन को पुनः प्रचारित किया था। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है जिसकी पुष्टि राजतरंगिणी के द्वारा स्पष्टतः की जाती है (१।१७६)—

चन्द्राचार्यादिभि र्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥

इसमें महाभाष्य के प्रवर्तक तथा स्वीय व्याकरण के रचयिता की एकता सिद्ध की गई है। फलतः चान्द्र व्याकरण के निर्माता ही महाभाष्य अनुशीलन के पुरस्कर्ता भी निःसन्देह थे। तिब्बती ग्रन्थों ने चन्द्र को राजा हर्षदेव के पुत्र शील के समय में विद्यमान माना है (७०० ई० के आसपास); परन्तु यह परम्परा प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि काशिका ने चान्द्र व्याकरण का उपयोग अपनी वृत्ति में किया है तथा ततः पूर्व भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार की बात लिखी है[१]। इससे इनका समय पाँच सौ ई० से पूर्व ही होना चाहिये। उससे पश्चाद्वर्ती मानना कथमपि उचित नहीं है[२]।

चान्द्र व्याकरण का संक्षिप्त रूप बालावबोधन के नाम से प्रख्यात है। १२०० ई० के आसपास भिक्षु काश्यप ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सिंघल में संस्कृत-भाषा के शिक्षण के लिए आज भी प्रचलित है तथा लोकप्रिय है।

(३) जैनेन्द्र व्याकरण

जैन धर्मानुयायी विद्वानों ने भी पाणिनीय व्याकरण के मुनित्रयम् के द्वारा परिष्कृत मार्ग का अनुसरण कर नवीन व्याकरणों का निर्माण किया। ऐसे तीन व्याकरण अत्यन्त लोकप्रिय हैं—जैनेन्द्र व्याकरण, शाकटायन व्याकरण तथा हेमचन्द्र का सिद्ध-हैमानुशासन। इन तीनों जैन व्याकरणों में जैनेन्द्र व्याकरण ही काल-दृष्टि से सर्व-प्राचीन है।

इसके रचयिता का वास्तव नाम है देवनन्दी जो अपनी महत्त्वशालिनी बुद्धि के कारण जिनेन्द्र-बुद्धि तथा देवों के द्वारा पूजित होने से पूज्यपाद के नाम से भी लोक

---

१. वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड, कारिका ४८९।

२. अग्निपुराण के ३५९ वें अध्याय के आठवें श्लोक में (वेत्त्यधीते च चान्द्रकः) चान्द्र-व्याकरण का उल्लेख स्पष्ट है। फलतः अग्निपुराण के इस अंश की रचना पंचमशती से प्राक्कालीन नहीं हो सकती।

में विश्रुत थे। श्रवण बेलगोल का शिलालेख इन तीनों के ऐक्य का प्रबल प्रमाण है[1]। नाम के एकदेश से भी वे निर्दिष्ट किये गये हैं। कहीं वे 'देव'[2] नाम से और कहीं वे 'नन्दी' नाम से उल्लिखित हैं। इस प्रकार नामपञ्चक से प्रख्यात होने पर भी उनका मूल अभिधान देवनन्दी ही था और इसी नाम से इस व्याकरण-शास्त्र के निर्माता को हमें पहचानना चाहिये। इस व्याकरण का 'जैनेन्द्र' नाम भी सकारण ही है। श्रद्धातिशय के वशीभूत होकर कतिपय विद्वान् व्यर्थ ही जिनेन्द्र महावीर के ऊपर इसके कर्तृत्व का आरोप करते हैं। तथ्य यह है कि 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम का मुख्य अवयव है 'जिनेन्द्र' और इसी जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होने के कारण यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' के नाम से प्रख्यात है। इस नाम में किसी प्रकार का अनौचित्य या असंगति नहीं है। फलतः देवनन्दी का यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नाम से लोकविश्रुत है।

व्याकरण का वैशिष्ट्य

इस व्याकरण के दो पाठ उपलब्ध हैं और दोनों के ऊपर टीकायें मिलती हैं। लघुपाठ केवल तीन सहस्र सूत्रों का है और बृहत् पाठ में सात सौ सूत्र अधिक हैं। लघुपाठ की चर्चा अभी अभीष्ट है। इस ग्रन्थ में ५ अध्याय, २० पाद तथा ३०३६ सूत्र हैं। इस पञ्चाध्यायी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को अपने में सन्निविष्ट कर लिया है। पाणिनि-सूत्रों की अपेक्षा एक हजार सूत्र कम होने का कारण यह है कि इसमें अनुपयोगी होने के कारण वैदिकी तथा स्वर प्रक्रिया का अभाव है। प्रणेता का मूल उद्देश्य है लोक-व्यवहार में प्रयुक्त संस्कृत का व्याकरण। देवनन्दी की सूत्ररचना सचमुच ही बड़े बुद्धिकौशल का विषय है। पाणिनि के अपने सूत्रों का ऐसा कौशल-पूर्ण संकलन किया है कि सपाद सप्ताध्यायी के प्रति अन्तिम तीन पाद (त्रिपादी) असिद्ध हो जाते हैं। पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र का यही तात्पर्य है। ऐसा कौशल इस व्याकरण में भी है। यहाँ भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (५।३।२७) सूत्र की सत्ता है जिससे आरम्भिक साढ़े चार अध्यायों के प्रति अन्त के लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। सूत्रों के अतिरिक्त कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि की इष्टियों के आश्रायण से जिन नये रूपों की सिद्धि होती है, देवनन्दी ने उन सबको अपना लिया है। यह तथ्य दोनों सूत्र-पाठों की तुलना से स्वयंसिद्ध है।

---

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धिः। २।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत् पूजितं पादयुगं यदीयम्। ३।

२. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥
(पार्श्वनाथ चरित १।१८)।

पारिभाषिकी संज्ञायें व्याकरणशास्त्र को सुगम बनाने की प्रधान साधिका हैं। पाणिनि ने प्राचीन वैयाकरणों की संज्ञाओं को ग्रहण कर अपनी नवीन संज्ञायें उद्भावित कीं जिनका सामान्य विवरण पीछे दिया जा चुका है। देवनन्दी ने इस विषय में संज्ञाओं को और भी सूक्ष्म तथा लघु बनाने के प्रयास में एक और कदम आगे बढाया है। इनकी संज्ञायें सचमुच बड़ी ही सूक्ष्म तथा स्वल्पकाय हैं। पाणिनि से तुलना करें—

पाणिनि	जैनेन्द्र
गुण	एप् (१।१।१६)
वृद्धि	ऐप् (१।१।१५)
आत्मनेपद	दः (१.२।१५१)
प्रगृह्यम्	दि (१।१।२०)
दीर्घः	दी (१।१।११)
बहुव्रीहिः	बम् (१।३।८६)
तत्पुरुषः	षम् (१।३।१९)
अव्ययीभावः	हः (१।३।४)

एक विलक्षणता देखिये। 'विभक्ती' शब्द के ही प्रत्येक वर्ण को अलग करके स्वर के आगे 'प्' तथा व्यञ्जन के आगे 'आ' जोड़कर सातों विभक्तियों की संज्ञा निर्दिष्ट की है। यथा वा (प्रथमा), इप् (द्वितीया), भा (=तृतीया), अप् (= चतुर्थी), का (पञ्चमी), ता (षष्ठी) तथा ईप् (सप्तमी)। ऐसा निर्देश कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें देवनन्दी की प्रतिभा झलकती है अवश्य, परन्तु यह बड़ी क्लिष्ट कल्पना है जिसे याद रखना बड़ा ही कठिन है। इसीलिए कहना पड़ता है कि पाणिनि की संज्ञाओं में जो प्रसन्नता तथा सद्योबोधकता है, वह यहाँ कहाँ ?

पाणिनि व्याकरण में 'एकशेष' प्रकरण की सत्ता है, परन्तु देवनन्दी की मान्यता है कि लोक-व्यवहार में प्रचलित तथ्य तथा रूप के लिए सूत्रों का निर्माण शास्त्र के कलेवर की मुधा वृद्धि है। फलतः उन्होंने 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्य एकशेषानारम्भः' सूत्र लिखकर इस प्रकरण की समाप्ति ही कर दी। इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण 'अनेकशेष' के नाम से जैन-ग्रन्थों में निर्दिष्ट है। देवनन्दी ने पातञ्जल महाभाष्य का विशेष अनुशीलन किया था। इसके बहुल प्रमाण उनके व्याकरण में उपलब्ध हैं।

देश-काल

देवनन्दी के देश का निर्णय जितना सरल है, उनके काल का निर्णय उतना ही कठिन। कर्नाटक के प्राचीन शिलालेखों में उनके नाम तथा यश का वर्णन होने से

३७

वे निःसन्देह कर्नाटक के निवासी हैं। उनका जीवन-चरित्र भी मिलता है जिसमें वे कर्नाटक के किसी ग्राम के निवासी बतलाए गये हैं।

अन्तरंग परीक्षण से उनके कालविमर्श के लिए दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं—

(१) वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)।

(२) चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)।

प्रथम सूत्र पाणिनि के 'वेत्तेर्विभाषा' (७।१।७) के आधार पर तो अवश्य है, परन्तु सिद्धसेन-दिवाकर के मत में उससे थोड़ा पार्थक्य है। जहाँ अन्य वैयाकरण सम् उपसर्गक अकर्मक विद् धातु से रेफ का आगम विकल्पेन मानते हैं (संविद्रते तथा संविदते), वहाँ सिद्धसेन अनुपसर्गक सकर्मक विद्धातु से इस आगम को स्वीकार करते है और प्रयोग भी 'विद्रते' का करते हैं। इस वैशिष्ट्य के निमित्त उनका मत यहाँ निर्दिष्ट है। फलतः देवनन्दी सिद्धसेन दिवाकर से पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकार है—इसमें मतद्वैविध्य नहीं। परन्तु सिद्धसेन का भी आविर्भाव-काल निर्णय की अपेक्षा रखता है।

जिनरत्न गणि ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना ६६६ विक्रम संवत् (=६१० ई०) में की जिसमें उन्होंने मल्लवादी तथा सिद्धसेन के मत की विस्तृत आलोचना की है। इनमें सिद्धसेन के प्रमुख ग्रन्थ 'सन्मति-तर्क' के ऊपर मल्लवादी ने टीका लिखी है। फलतः मल्लवादी जिनरत्न गणि से पूर्व हैं और सिद्धसेन उनसे भी पूर्वतर। इस प्रमाण पर यदि मल्लवादी को विक्रम की षष्ठ शताब्दी में रखा जाय, तो सिद्धसेन का समय पञ्चम शती सिद्ध होगा। एक बात और भी ध्यातव्य है। विक्रमादित्य के नवरत्नों में जिस 'क्षपणक' की गणना है, वे सिद्धसेन दिवाकर से अभिन्न माने जाते हैं; तथा विक्रमादित्य की स्थापना गुप्तवंशीय प्रतापी नरपति चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ ई०-४१३ ई०) से की जाती है। फलतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन होने से सिद्धसेन का आविर्भाव-काल ईस्वी की पञ्चम शती का पूर्वार्ध (विक्रम सं० से पञ्चम शती का उत्तरार्ध) मानना सर्वथा उचित है। इनके पश्चाद्वर्ती होने से देवनन्दी का समय षष्ठशती का प्रथमार्ध मानना यथार्थ होगा।

देवनन्दी समन्तभद्र के समकालीन थे। उन्होंने उमास्वाती के प्रख्यात ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ-सूत्र' पर सर्वार्थसिद्धि नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसीके मंगलाचरणपद्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' के ऊपर समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' का प्रणयन किया। समकालीन होने पर ही यह काल-स्थिति सुसंगत बैठेगी। देवनन्दी समन्तभद्र को अपने व्याकरण-ग्रन्थ में निर्दिष्ट करते हैं और उधर समन्तभद्र उनके ग्रन्थस्थ मंगलश्लोक की व्याख्या

में अपना ग्रन्थ लिखते हैं। इससे दोनों की सम सामयिकता सिद्ध होता है। दोनों का समय एक ही है षष्ठशती का प्रथमार्ध[1]।

व्याख्या ग्रन्थ

जैनेन्द्र व्याकरण के ऊपर केवल चार टीकायें उपलब्ध होती हैं—(१) अभयनन्दि कृत महावृत्ति; (२) प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोज-भास्करन्यास; (३) श्रुतिकीर्ति कृत 'पञ्चवस्तु-प्रक्रिया'; (४) पं० महाचन्द्र कृत लघुजैनेन्द्र। इन चारों में अपनी प्राचीनता, प्रौढता तथा विशालता की दृष्टि से अभयनन्दि की महावृत्ति[2] सचमुच ही महती वृत्ति है। सूत्रों की विस्तृत व्याख्या के प्रसंग में वार्तिकों का भी विस्तृत संकलन किया गया है। महाभाष्य तथा काशिका का पूरा अनुशीलन कर प्रणीत होने के कारण यह पाणिनीय व्याकरण की पूर्ण सामग्री का कौशल-पूर्वक चयन प्रस्तुत करती है। मूर्धाभिषिक्त उदाहरणों के अतिरिक्त विद्वान् वृत्तिकार ने अनेक उदाहरण अपने व्यापक अध्ययन तथा विस्तृत अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों, आचार्यों, दार्शनिकों तथा ग्रन्थकारों का पर्याप्त उल्लेख है और इनके कारण पूरे ग्रन्थ में जैन वातावरण उत्पन्न करने में अभयनन्दि पूर्णतया समर्थ हैं। जैसे १।४।१५ सूत्र के उदाहरण में अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः, १।४।१६ के उदाहरण में

---

१. श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'अरुणन् महेन्द्रो मथुराम्' (महावृत्ति २।२।९२) के आधार पर मथुरा का अवरोध करने वाले महेन्द्र को गुप्त नरेश कुमार गुप्त (४१३–४५५ ई०) से अभिन्न माना है जिनकी पूरी उपाधि 'महेन्द्र कुमार' थी जो सिक्कों से प्रमाणित होती है। फलतः देवनन्दी का समय उनके मतमें षष्ठ शती विक्रमी का पूर्वार्ध था। इस पर लेखक का आक्षेप है कि यह घटना वृत्ति में वर्णित होने से सूत्रकर्ता से परिचित कैसे मानी जा सकती है? इसी उदाहरण के साथ 'अरुणद् यवनः साकेतम्' भी तो है जो विक्रम-पूर्व द्वितीय शती की महनीय घटना का संकेतक माना जाता है। इससे भी क्या देवनन्दी का सम्बन्ध है? वह घटना ऐतिहासिक हो सकती है, परन्तु सूत्रकार के जीवन काल में घटित होने का उसमें प्रमाण ही क्या?

२. महावृत्ति के साथ जैनेन्द्र व्याकरण का बड़ा ही प्रामाणिक तथा प्राञ्जल संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) ने प्रकाशित किया है, १९५६ ई०। इस सुन्दर संस्करण के प्रकाशन के लिए हम ज्ञानपीठ के अधिकारियों के लिए आभारी हैं।

उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः, १।४।२० की वृत्ति में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य—ऐसे ही कतिपय उदाहरण हैं जो जैन वातावरण उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्ति में प्राभृतपर्यन्तमधीते उदाहरण महत्त्वपूर्ण है और उसी के साथ सबन्धमधीते भी ध्यान देने योग्य है। इन उदाहरणों में प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृत से है जिसका लोकप्रिय दूसरा नाम षट्-खण्डागम है। इसके लेखक आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इस महाग्रन्थ का अध्ययन उस समय जीवन का आदर्श माना जाता था। ऐसी विशिष्टता से मण्डित महावृत्ति निश्चित ही व्याकरणशास्त्र का गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

अभयनन्दि के कालनिरूपण के लिए कतिपय तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। (क) ४।३।११४ सूत्र की वृत्ति में माघ कवि का 'सटा-छटा-भिन्न घनेन'··· (१।४७) श्लोक उद्धृत है जिसमें 'प्रतिचस्करे' सूत्र का उदाहरण माना गया है। फलतः अभयनन्दि 'शिशुपालवध' के कर्ता माघ कवि (समय ७०० ई०) से अर्वाचीन है। यह है ऊपरी सीमा उनके आविर्भावकाल की। (ख) ३।२।५५ की टीका में 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीयते' उदाहरण प्रस्तुत है। तत्त्वार्थ-वार्तिक भट्ट अकलङ्कदेव की प्रख्यात रचना है (७५० ई०) (ग) प्रभाचन्द्र ने शब्दाम्भोज-भास्कर-न्यास के तृतीय अध्याय में अभयनन्दि को नमस्कार किया है[1]। यह ग्रन्थ भोज के पुत्र राजा जयसिंह के काल में (१०७५ ई० के आसपास) लिखा गया था। यह अभयनन्दि की निचली सीमा। इनके बीच में इनका समय होना चाहिये—सम्भवतः नवमशती के मध्य भाग में (८५० ई०–८७५ ई० लगभग)।

(२) प्रभाचन्द्र रचित शब्दाम्भोजभास्करन्यास महावृत्ति से भी परिमाण में बड़ा है तथा उस महनीय वृत्ति के शब्द ज्यों के त्यों यहाँ गृहीत कर लिये गये हैं। व्याकरण से अधिक इनका नैपुण्य तथा ख्याति तर्क-विद्या के विषय में हैं। 'प्रमेय-कमल मार्तण्ड' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' दर्शन-विषय की इनकी विश्रुत कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों का प्रणयन इन्होंने प्रख्यात राजा भोज तथा उनके उत्तराधिकारी राज जयसिंह के शासन काल में किया—इसका परिचय ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा से भली-भाँति लगता है। मार्तण्ड की रचना भोज के तथा इस न्यास का निर्माण राजा जयसिंह के काल में निष्पन्न हुआ। इस प्रकार इनका समय मोटे तौर पर १०४०–१०८० ई० तक मानना कथमपि अनुचित न होगा।

---

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥

(३) श्रुतकीर्ति रचित पञ्चवस्तु प्रक्रिया-ग्रन्थ है जिसमें शब्दों की रूपसिद्धि प्रधान उद्देश्य है। कन्नडी भाषा के 'चन्द्रप्रभ चरित' ग्रन्थ के रचयिता अग्गल कवि ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती को अपना गुरु बतलाया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल शक सं० १०११ (=१०८९ ई०) है। श्री नाथूराम प्रेमी ने दोनों—श्रुतकीर्ति तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती—की सम्भावित एकता के आधार पर पंचवस्तु का रचना-काल ११ वीं शती ईस्वी माना है।

(४) लघुजैनेन्द्र—यह महावृत्ति के आधार पर निर्मित बालोपयोगी लघुकाय ग्रन्थ है। इसके प्रणेता पण्डित महाचन्द्र २०वीं शती के लेखक हैं। फलतः यह नवीनतम रचना है इस जैनेन्द्र व्याकरण के विषय में।

जैनेन्द्र व्याकरण का बृहत् पाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के इस बृहत्पाठ में लगभग तीन सहस्र सात सौ सूत्र हैं जिसमें लघुपाठ से सात सौ सूत्र अधिक हैं। यह तो मान्य तथ्य है कि देननन्दी के केवल सूत्रों से संस्कृत के प्रयोगों की गतार्थता नहीं हो सकती और इसीलिए अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति में सैकड़ों वार्तिकों को सन्निविष्ट कर उसे पूर्ण बनाने का उद्योग किया। शाकटायन व्याकरण में यह त्रुटि नहीं रही, क्योंकि यहाँ वार्तिक भी सूत्रों की परिधि के भीतर ही रखकर सूत्रों की संख्या बढ़ा दी गई है। प्रतीत होता है कि इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण के मूल सूत्रों में सात सौ सूत्र और भी बढ़ा कर उसे पूर्ण तथा परिनिष्ठित बनाने का उद्योग किया गया। इसी स्तुत्य प्रयास का परिणाम है जैनेन्द्र का बृहत् पाठ। इस परिवृंहण के कर्ता का नाम आचार्य गुणनन्दि है और यह परिवृंहित व्याकरण शब्दार्णव के नाम से प्रख्यात हुआ। गुणनन्दि का समय अनुमेय है। शाकटायन व्याकरण का रचना-काल अमोघवर्ष (नवम शती का पूर्वार्ध) का शासन-काल है। उससे प्रभावित होने के कारण शब्दार्णव का काल इसके अनन्तर है। 'कर्णाटक कवि रचित' के कर्ता के अनुसार गुणनन्दि के प्रशिष्य तथा देवेन्द्र के शिष्य आदि पंप का समय वि० सं० ९५७ (९०० ईस्वी) है। अतः दो पीढ़ी पहले होने का कारण गुणनन्दि का समय ८५० ई० (अर्थात् नवमशती का मध्य) के आसपास मानना उचित होगा।

शब्दार्णव पर दो टीकायें उपलब्ध हैं और दोनों ही प्रकाशित हैं—(१) शब्दार्णव-चन्द्रिका सोमदेव मुनि की रचना है। समय १३ शती ई० का पूर्वार्ध। (२) शब्दार्णव प्रक्रिया इसके कर्ता का नाम नहीं मिलता। कर्ता ने इस अपने ग्रन्थ को शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका कहा है प्रथम श्लोक में और गुणनन्दि को सिंह के समान बतलाया दूसरे श्लोक में। अतएव इसे गुणनन्दि की ही रचना मानना

नितान्त अशुद्ध है। यह अज्ञातनामा लेखक की कृति है। जैनेन्द्र व्याकरण की यही टीका-सम्पत्ति है[1]।

(४) शाकटायन व्याकरण

शाकटायन पाणिनि से पूर्ववर्ती एतत्-संज्ञक आचार्य नहीं हैं, प्रत्युत जैन मतावलम्बी अवान्तरकालीन वैयाकरण हैं। इसीलिए ये 'जैन शाकटायन' के नाम से विख्यात है। इनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। दोनों के ऐक्य का प्रतिपादक 'पार्श्वनाथ चरित' का यह श्लोक है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

इस श्लोक में उल्लिखित 'श्रीपदश्रवणं' मूल लेखक की अमोघा वृत्ति के आद्य श्लोक[2] का संकेत करता है। फलतः यह श्लोक शाकटायन-रचित व्याकरण का ही निर्देशक है। अतः अमोघावृत्ति के तथा तन्मूल व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता का नाम पाल्यकीर्ति है[3]। 'पार्श्वनाथ चरित' की पूर्व श्लोक की टीका में आचार्य शुभचन्द्र के व्याख्यान से इस मत की स्पष्ट पुष्टि होती है। पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदायानुयायी जैन विद्वान् थे। यह सम्प्रदाय आजकल लुप्तप्राय बतलाया जाता है।

इनकी प्रमुख रचना है—शब्दानुशासन का मूल सूत्रपाठ तथा उसके ऊपर स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति। इनका शब्दानुशासन अनेक वैशिष्ट्यों से मण्डित है। इन्होंने इसे पूर्ण बनाने के लिए उन त्रुटियों की पूर्ति कर दी है जो जैनेन्द्र व्याकरण में पाई जाती थीं। इनकी मौलिक कल्पनाओं के अन्तर्गत इनका प्रत्याहार भी है। इनके प्रत्याहार-सूत्र पाणिनीय सम्प्रदाय के कुछ भिन्न ही हैं। यथा 'ऋलृक्' के स्थान पर केवल 'ऋक्' पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ में अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर एक सूत्र बना दिया गया है। ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र सूत्र तथा महावृत्ति में प्रत्याहार सूत्र पाणिनि के ही आधार पर स्वीकृत हैं, परन्तु जैनेन्द्र परम्परा की

---

१. पं० नाथूराम प्रेमी के प्रमेयबहुल लेख 'देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण' से यहाँ आवश्यक सामग्री सधन्यवाद संकलित की गई है। देखिये जैनेन्द्र व्याकरण की भूमिका पृष्ठ १७–३७।

२. श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वाऽऽदिं सर्ववेदनम्।
शब्दानुशासनस्येयममोघा वृत्तिरुच्यते॥

३. तस्य पाल्यकीर्तेर्महौजसः श्रीपादश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणम् आकर्णनम्।

शब्दार्णव-चन्द्रिका में शाकटायन के ही 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकृत किये गये हैं। स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में जैनेन्द्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक पूर्णता, व्यवस्था तथा दोषराहित्य है। यह व्याकरण चतुरध्यायी है और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं प्रत्येक अध्याय में सूत्रों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) अ० ७२१ सूत्र, (२) ७५३, (३) ७५५ तथा (४) १००७ और इस तरह समस्त सूत्रों की संख्या तीन हजार दो सौ छत्तीस (३,२३६)। शाकटायन ने पाणिनीय निकाय की व्याकरण-सामग्री का पूर्णतया उपयोग कर सुरक्षित रखा है। इस व्याकरण के व्याख्याकार यक्षवर्मा इसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते समय कहते[1] हैं कि इसमें इष्टियों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं है और सूत्रों से पृथक् कुछ कहने की वस्तु नहीं है; उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र, चन्द्र आदिक शाब्दिकों ने शब्द का जो लक्षण कहा है वह सब यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है—यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्—सचमुच यह उक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है और इस तन्त्र की परिपूर्णता तथा सर्वाङ्गीणता की पर्याप्त पोषिका है।

अपने सूत्रों पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना शाकटायन ने की है जो अमोघ-वृत्ति के नाम से प्रख्यात है। यह वृत्ति परिमाण में विस्तृत है १८ सहस्र श्लोक। इसके नाम-करण का कारण यह है कि ग्रन्थकार ने अपने ही आश्रयदाता अमोघवर्ष प्रथम के नाम से उसका ऐसा नाम दिया है। इस वृत्ति के स्वोपज्ञ होने के प्रमाण विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं[2]। ख्याते दृश्ये[3] (शाकटायन ४।३।२०८) की वृत्ति में शाकटायन ने 'अदहद् देवः पाण्ड्यान्; तथा 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणों में 'अदहत्' का प्रयोग कर सिद्ध किया है कि अमोघवर्ष के द्वारा पाण्डय नरेश पर विजय तथा शत्रुओं का

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने॥
इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

२. विशेष द्रष्टव्य—नाथूराम प्रेमी रचित जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १५५–१६० (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन् १९४२)।

३. इस सूत्र की अमोघा वृत्ति इस प्रकार है—भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने वर्तमानाद् धातो लँङ् प्रत्ययो भवति (पृष्ठ ४०६)। ज्ञानपीठ वाले संस्करण में सूत्र का पाठ 'ख्यातेऽदृश्ये' है जो 'ख्याते दृश्ये' होना चाहिए। वृत्ति में 'प्रयोक्तुः सख्यदर्शने' न होकर 'शक्यदर्शने' होना चाहिए।

नाश उनके लिए दृश्य घटनायें थीं। फलतः अमोघवर्ष के साथ शाकटायन की समसामयिकता प्रमाणतः परिपुष्ट है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूटवंश के प्रख्यात राजा थे जिनका राज्यारोहण काल ८७१ वि० सं० (=८१४ ई०) माना जाता है। सं० ९२४ के शिलालेख से इनका शासनकाल दशमशती के प्रथम चरण तक अवश्यमेव सिद्ध होता है। फलतः शाकटायन का भी यही समय है (लगभग ८१० ई०–८७० ई०)। इस व्याकरण की महत्ता के विषय में एक टीकाकार का कथन है कि इन्द्र, चन्द्र आदि वैयाकरणों के समस्त नियम यहाँ प्रस्तुत हैं, परन्तु जो यहाँ है, वह कहीं भी नहीं है[1]। यह बड़ी विशिष्ट उक्ति है, यदि यह पूर्णतः चरितार्थ हो[2]।

शाकटायन के टीकाग्रन्थ

आमोघवृत्ति घर पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'न्यास' लिखा गया था जिसके केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं। अमोघ वृत्ति को ही संक्षिप्त कर यक्षवर्मा ने चिन्तामणि टीका का निर्माण किया जो लघुकाय होने से 'लघीयसी वृत्ति' कहलाती है। यक्षवर्मा की तो प्रतिज्ञा[3] है कि उनकी वृत्ति के अध्ययन से बालक तथा अबलाजन एक वर्ष के भीतर समस्त वाङ्मय का ज्ञान निश्चय रूप से कर सकता है !!! अजितसेनाचार्य रचित मणि-प्रकाशिका चिन्तामणि की टीका है। प्रक्रियासंग्रह के कर्ता अभयचन्द्राचार्य हैं जिसमें सिद्धान्त-कौमुदी के ढंग पर प्रक्रियानुसारी व्याख्या लिखी गई है। भावसेन त्रैविद्यदेव रचित शाकटायन टीका भी उपलब्ध है जिसके रचयिता की उपाधि 'वादि-पर्वतवज्र' थी। दयापाल मुनि कृत 'रूपसिद्धि' टीका लघुकौमुदा की शैली पर है। ये द्रविड संघ के विद्वान् थे। इस ग्रन्थ का रचना काल एकादश शती विक्रमी का मध्यकाल मानना चाहिए—९९५ ईस्वी के आसपास। इन टीका-ग्रन्थों के आधार पर शाकटायन व्याकरण की लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि सर्वथा अनुमेय है।

(५) भोज व्याकरण

धाराधिपति भोज नाना विद्याओं के विशेष मर्मज्ञ थे तथा उन्होंने विभिन्न विषयों

---

१. इन्द्रश्चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

२. अमोघवृत्ति के साथ शाकटायन शब्दानुशासन का एक सुन्दर सुसंस्कृत संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (वाराणसी) से प्रकाशित हो रहा है, १९६९।

३. बालाबालाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तितः।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्॥
(आरम्भ, श्लोक १२)।

के अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। उन्होंने अपने तीन ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रसिद्ध श्लोक में किया है—

शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता,
वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्-चेतो-वपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृताः,
तस्य श्री-रणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥

भोज ने वाक्, चित्त तथा शरीर का मल त्रिविध ग्रन्थों की रचना से दूर किया क्रम से (१) सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन से, (२) पातञ्जल योगसूत्र की वृत्ति से तथा (३) राजमृगाङ्क नामक वैद्यक ग्रन्थ से। इन तीनों ग्रन्थों का प्रणेता एक ही व्यक्ति है—भोजराज।

भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण'[1] नाम से अपना शब्दानुशासन प्रणीत किया। इसमें वर्णित विषयों की सूची से ही ग्रन्थ की विपुलता तथा विस्तृति का परिचय मिलता है। धातुपाठ को छोड़कर इन्होंने वार्तिकों को, इष्टियों को, गणपाठ को तथा उणादि प्रत्ययों को एकत्र समेट कर सूत्रों में निबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। सूत्रों की संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी से डेढ़गुनी से भी अधिक है। पाणिनि तथा चन्द्र दोनों पर इन्होंने इस शब्दानुशासन को आधारित किया है। इसके ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी जो उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध है दण्डनाथ नारायण भट्ट की लघुवृत्ति हृदयहारिणी नाम्नी। वे अपनी इस वृत्ति को 'समुद्धृतायां लघुवृत्तौ' कहते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि यह भोज की स्वोपज्ञ वृत्ति से ही उद्धृत कर निबद्ध की गई है। दण्डनाथ के देश-काल का पता ठीक-ठीक नहीं चलता। दण्डनाथ का नाम निर्देश कर मत का उद्धरण नारायणभट्ट ने (१६ शती) अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अनेक स्थलों पर दिया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार के पूरे नाम के स्थान पर केवल संक्षिप्त नाम 'नाथ' ही दिया हुआ है। इनका सबसे प्राचीन उल्लेख देवराज यज्वा की 'निघण्टु व्याख्या' में उपलब्ध होता है। सायण—देवराज यज्वा—दण्डनाथ; यह प्राचीनता का क्रम-निर्देश है। देवराज का समय १४ शती का प्रथमार्ध है। फलतः दण्डनाथ का समय इससे पूर्व होना चाहिए।

---

१. मूलसूत्रों का संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से तथा दण्डनाथ की वृत्ति के साथ मूल का संस्करण अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित है।

२. यथा कोमलोरुरित्यादौ स्त्री जाति-विवक्षायाम् 'ऊङ् उत' (४।१।६६) इत्यूङ् इति नाथः। स्त्रीप्रत्यय खण्ड पृष्ठ १०६ भाग ४; अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

प्रक्रिया कौमुदी के 'प्रसाद' व्याख्याकार विट्ठल ने अपने व्याख्याग्रन्थ में सरस्वती-कण्ठाभरण के किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है[1] जिसकी संज्ञा थी 'पदसिन्धु सेतु'। इस उल्लेख से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भोजका व्याकरण प्रचलित हो चला था, तभी तो उनके सूत्रों को प्रक्रिया-क्रम में रखने के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। सरस्वती-कण्ठाभरण की व्यापक दृष्टि ने पाणिनीय सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया, विशेषतः केरलीय नारायणभट्ट को जिन्होंने अपने 'प्रक्रिया-सर्वस्व' में इस अधमर्णता को स्वीकार किया है।

वैशिष्ट्य

विद्याधिष्ठात्री देवी भगवती सरस्वती के नाम से सम्बन्ध रखने वाले 'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'सारस्वत' यह दो व्याकरण उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम का आधार प्रायः पाणिनीय व्याकरण एवं द्वितीय का पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण माना जा सकता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को बनाने का उद्देश्य परिभाषा उणादि का भी परिज्ञान कराना प्रतीत होता है जब कि 'सारस्वत' व्याकरण का उद्देश्य यथासम्भव प्रक्रिया में शब्द-संक्षेप करना कहा जा सकता है। यहाँ हम भोज-व्याकरण में वर्णित विषय का निर्देश संक्षेप से उपस्थापित करेंगे।

सरस्वतीकण्ठाभरण में वर्णित विषय

धाराधीश्वर महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११०) ने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नामक व्याकरण ग्रन्थ का आठ अध्यायों में विभाग किया है, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार आठ अध्यायों के ३२ पादां में कुल ६४३१ सूत्र हैं जिनमें परिभाषा, लिङ्गानुशासन तथा उणादि का भी समावेश है। प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का तथा आठवें अध्याय में वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है।

सर्वप्रथम पाणिनीय वर्णसमाम्नाय का पाठ करके प्रथम पाद में क्रमशः धातु, प्रातिपदिक, प्रकृति प्रत्यय, विकरण, कृत्, कृत्य, सत्, निष्ठा, तद्धित, घ, संख्या, विभक्ति, प्रथम, मध्यम, उत्तम, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, परस्मैपद, आत्मनेपद, पद, उपपद, उपसर्जन, कर्मधारय, द्विगु, वाक्य, कारक, कर्ता, हेतु, कर्मकर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादन, अधिकरण, आमन्त्रित, सम्बुद्धि, अभ्यास, अभ्यस्त, सम्प्रसारण, गुण, वृद्धि, वृद्ध, संयोग, उपधा, टि, आगम,

---

१. तथा च सरस्वतीकण्ठाभरण-प्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम्। भाग २, पृष्ठ ३१२।

लोप, लुक्—(श्लुक्), श्लु, लुप्, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, लघु, गुरु, अनुनासिक, सवर्ण, अनुस्वार, विसर्जनीय, प्रगृह्य, सर्वनाम, निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय, अव्यय, सार्वधातुक, एवं आर्धधातुक ये अस्सी संज्ञाएँ गिनाई गई हैं। द्वितीय पाद को प्रायः परिभाषा-पाद कहा जा सकता है, क्योंकि "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" (सर० १।२।८५), "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (सर० १।२।१२०,) "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः (सर० १।२।१३३) इत्यादि अनेक परिभाषाएँ सूत्ररूप में पढ़ी गई हैं। तृतीय पाद में 'सन्' इत्यादि प्रत्ययों को गिनाकर भ्वादि गणों में होने वाले 'शप्' आदि विकरणों का तथा 'अण्' आदि कुछ कृत्-प्रत्ययों का उपदेश किया है। चतुर्थ पाद में भी कृत्-प्रत्ययों को ही गिनाया गया है। द्वितीय अध्याय के तीन पादों में उणादि का विस्तार-पूर्वक उपन्यास किया गया है। तदनु चतुर्थ पाद में कृत्-प्रत्ययों का ही परिगणन है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में कुछ आदेश तथा प्रथमादि विभक्तियों का प्रयोगस्थल बताया गया है जिसमें प्रथमा विभक्ति का विधान अर्थमात्र की विवक्षा में किया गया है—"अर्थमात्रे प्रथमा" "सम्बोधने च" (सर० ३।१।२७४, २७५)। द्वितीय पाद का अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष समास का, तृतीय पाद में बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व समास का प्रपञ्च प्रदर्शित किया गया है। चतुर्थ पाद में स्त्री-प्रत्ययों को चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में तद्धित, द्वितीय में रक्ताद्यर्थक, तृतीय पाद में शैषिक तथा चतुर्थ पाद में विकाराद्यर्थक प्रत्ययों का अनुशासन है।

पञ्चमाध्याय के प्रथम-द्वितीय पादों में तद्धित प्रत्ययों को बताते हुए तृतीय, चतुर्थ पादों में 'तस्, त्रल्' आदि विभक्ति सञ्ज्ञक तथा 'कन्' आदि स्वार्थिक प्रत्ययों का उपदेश किया गया है। षष्ठ-अध्याय के प्रारम्भ में द्वित्वप्रकरण है। तदनन्तर अनेक रूढ शब्दों का निपातन-द्वारा साधुत्व दिखाया गया है। द्वितीय पाद में अलुक् प्रकरण तथा अनेक आदेशों का निर्देश है। तृतीय में प्रकृति-कार्य, चतुर्थ में आदेश एवं इडादि आगम दिखाए गए हैं। सप्तम-अध्याय के प्रथम पाद में वृद्धि, ह्रस्व, दीर्घ आदि कार्य, द्वितीय पाद में गुण, ह्रस्व, दीर्घादि कार्य, तृतीय पाद में पदों का द्वित्व तथा प्लुत कार्य, चतुर्थ पाद में 'सम्' इत्यादि शब्दों के 'स' इत्यादि अनेक प्रकीर्ण आदेश बताकर लौकिक शब्द-साधन-प्रक्रिया को यथासम्भव पूर्ण करने का प्रयास किया है।

अष्टम-अध्याय के प्रारम्भिक दो पदों में वैदिक-शब्दों की सिद्धि तथा अन्तिम दो पदों में स्वर-विधि का निरूपण किया गया है। स्वरों का विवेचन करते हुए तृतीय पाद में आचार्य ने फिट्-सूत्रों का भी पाठ किया है।

(६) सिद्धहैम व्याकरण

हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा निःसन्देह अलौकिक थी। अपने आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज के आदेश से उन्होंने इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रभाचन्द्र के 'प्रभावक-चरित्र' में हेमचन्द्र की व्याकरण-रचना की बात बड़े विस्तार से दी गई है। सिद्धराज ने मालव देश के राजा यशोवर्मा को पराजित किया और उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक पोथियाँ भी हस्तलेखों के रूप में प्राप्त हुईं। इन्हीं में से एक हस्तलेख था राजा भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' व्याकरण का। इस ग्रन्थ को देख कर उन्हें भी भोज की प्रतिस्पर्धा में एक नवीन व्याकरण ग्रन्थ की रचना कराने की अभिलाषा जगी। इस अभिलाषा की पूर्ति हेमचन्द्र ने की। इसीलिए दोनों के नामों से संवलित यह ग्रन्थ 'सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन[1]' के नाम से प्रसिद्ध है। रचनाकाल विक्रम सं० १२ वीं शती का अन्तिम दशक।

यह बड़ा ही विशद तथा साङ्गोपाङ्ग व्याकरण ग्रन्थ है। पाँचों अङ्गों से मण्डित होने के कारण पञ्चाङ्ग व्याकरण कहलाता है। इन पाँच अङ्गों में सम्मिलित है—सूत्र-पाठ, धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ तथा लिङ्गानुशासन। इन पाँचों के ऊपर उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी। यह विराट साहित्य सवा लक्ष-श्लोक परिमाण में माना जाता है।

सूत्र-पाठ

हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना सूत्रों में की है। इसमें आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान यह भी अष्टाध्यायी है। समग्र सूत्रों की संख्या ४६८५ (चार हजार छः सौ पचासी) उणादि-सूत्रों की संख्या है १००६। दोनों को मिलाकर ५६९१ सूत्र हैं इस व्याकरण में। हैम अष्टाध्यायी के आरम्भिक सात अध्याय में ही संस्कृत व्याकरण का विवरण है। अन्तिम अध्याय (सूत्र संख्या १११९) में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा का विस्तृत विवरण है। प्राकृत-सूत्रों को छोड़ देने से संस्कृत व्याकरण के सूत्रों की संख्या ३५६६ (तीन हजार पाँच सौ छासठ) है। सूत्रों की रचना प्राचीन आचार्यों की शैली के अनुसार है जिनमें क्रमशः संज्ञा, सन्धि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त तथा तद्धित

---

१. लघुवृत्ति के साथ मुनि हिमाँशुविजय के सम्पादकत्व में अहमदाबाद से प्रकाशित, १९५० ई०। इस संस्करण में पञ्चाङ्गों का सन्निवेश विशेष उपयोगी है।

का निरूपण किया गया है। इन सूत्रों के ऊपर अपने से प्राचीन जैन-अजैन सब व्याकरणों की कुछ न कुछ छाप है, परन्तु जैन शाकटायन का प्रभाव विशेष व्यापक-रूपेण दृष्टिगोचर होता है। सूत्रों को हेमचन्द्र ने विशद तथा व्यापक बनाया है जिनमें वार्तिक आदि का सन्निवेश पृथक्‌रूपेण न हो कर सूत्रों के भीतर किया गया है।

वृत्तियाँ

हेमचन्द्र ने इस व्याकरण पर स्वयं व्याख्या लिखी हैं जिनमें दो प्रख्यात हैं—लध्वी-वृत्ति (६ हजार श्लोक) आरम्भिक अध्येताओं के लिए विशेष लाभदायक है। बृहती वृत्ति (१८ हजार श्लोक परिमाण)—यह विद्वानों के उपयोगार्थ निर्मित है और इसलिए इसमें पूर्व वैयाकरणों—जैसे पूज्यपाद, शाकटायन, दुर्गसिंह (कातन्त्र वृत्तिकार) तथा पाणिनीय सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थकार—के मतों का विवेचन किया गया है। आचार्य नेअप ने व्याकरण पर शब्दमहार्णव न्यास (अपर नाम बृहन्न्यास) नामक विवरण भी लिखा था। सुनते हैं कि इसका परिमाण नब्बे हजार श्लोक था, परन्तु आज इसका तृतीयांश ही उपलब्ध है (लगभग ३४०० श्लोक) तथा प्रकाशित भी है (आरम्भ से लेकर तृतीय अध्याय के प्रथम पाद तक ही)।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चारों खिलों पर—(१) धातुपाठ, (२) गणपाठ, (३) उणादि-सूत्र तथा (४) लिङ्गानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें उणादि-सूत्र तथा उसकी प्रमेयबहुला व्याख्या विशेष महत्त्व रखती हैं। एक तो ये उणादि-सूत्र ही संख्या में अधिक हैं (एक हजार छः) और दूसरे इसकी वृत्ति भी विस्तृत तथा नाना तथ्यों से मण्डित है। इस प्रकार हेमचन्द्र ने इतना विशाल साहित्य व्याकरण-शास्त्र का केवल एक ही वर्ष में लिखकर प्रस्तुत किया (प्रबन्ध चिन्तामणि के कथनानुसार) और विस्तृत व्याख्यायें भी निर्मित की। इतनी विस्तृत रचना के बाद अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता, तथापि इस व्याकरण की इतनी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी कि अन्य लेखकों ने अपनी व्याख्याओं से इसे मण्डित करने में अपना ही गौरव समझा। इसीलिऐ इसके विभिन्न प्रकरणों पर व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें मुख्य हैं[1]—

(क) मुनि शेखर सूरि रचित लघुवृत्ति ढुंढिका;

(ख) कनकप्रभ कृत दुर्गपद व्याख्या (लघुन्यास पर)।

(ग) विद्याधर कृत बृहद्वृत्ति-दीपिका।

---

१. द्रष्टव्य—डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (भोपाल, १९६२) पृष्ठ १८८।

(घ) धनचन्द्रकृत लघुवृत्ति अवचूरि।
(ङ) अभयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति अवचूरि।
(च) जिनसागर कृत दीपिका।

अपने व्याकरण के लिए भट्टिकाव्य के सदृश दृष्टान्त प्रस्तुत करने के निमित्त हेमचन्द्र ने द्व्याश्रय महाकाव्य[1] नामक २८ सर्गों में विभक्त ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है जिसके आदिम २० सर्गों में संस्कृत व्याकरण के तथा अन्तिम ८ सर्गों में प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दिये गये है। यह महाकाव्य इनके शब्दानुशासन का वस्तुतः पूरक है।

हैम शब्दानुशासन के खिलपाठ वे ही हैं जो किसी भी शब्दानुशासन के होते हैं—धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन। इन चारों को हेमचन्द्र ने स्वयं तैयार किया और उनके ऊपर अपनी विवृति भी लिखी जिसका निर्देश किया जा चुका है।

धातुपाठ

हेमचन्द्र ने हैम धातुपारायण नामक स्वतन्त्ररूप से स्वोपज्ञ ग्रन्थ लिखा और इसके ऊपर विवृति भी स्वयं लिखी। धातु-प्रकृति को दो प्रकार की माना है—शुद्धा और प्रत्ययान्ता। शुद्धा में भू, गम, पठ आदि तथा प्रत्ययान्ता में गोपाय, कामि, जुगुप्स, कण्डूय, बोभूय, चोरि, भावि आदि परिगणित किए गये हैं। हेम ने प्रत्येक-धातु के साथ अनुवन्ध की भी चर्चा की है। अनिट् धातुओं में अनुस्वार को अनुवन्ध माना है यथा पां पाने, व्रूं व्यक्तायां वाचि। उभयपदी धातुओं में ग् अनुवन्ध लगाया गया है जहाँ पाणिनि ञ् अनुवन्ध लगाते हैं।

धातुओं की संख्या १९८० है जो नवगणों में विभक्त हैं। यहाँ भी जुहोत्यादिगण अदादि के भीतर ही सन्निविष्ट है, पृथक् नहीं है। नये अर्थों में अनेक नई धातुओं की कल्पना भाषाशास्त्र के अध्येताओं के लिए रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है। जैसे फक्कधातु को निर्माण अर्थ में, खोडु को घात अर्थ में, जम, झम् तथा जिम् को भोजन अर्थ में, पूली को तृणोच्चय अर्थ में और मुटत् को आक्षेप तथा मर्दन अर्थ में, प्रस्तुत कर हेमचन्द्र ने धातुपाठ में नूतना प्रदर्शित की है। क्रियापदों का प्रयोग रोचक पद्यों में निबद्ध कर हेमचन्द्र ने इस शुष्क विषय में सरसता उत्पन्न कर दी है। एक ही पद्य दृष्टान्त के तौरपर उद्धृत है—

नीपाक्षोन्दोलयत्येष प्रेङ्खोलयति मे मनः।
पवनो बीजयन्नाशा ममाशामुच्चुलुम्पति॥

---

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास अष्टम सं० ८ पृष्ठ ३११–३१३।

पाणिनि की अपेक्षा नवीन तथा विलक्षण धातुओं का यहाँ संकलन किया गया है। कुछ धातुओं का स्वरूप-वैशिष्ट्य देखने योग्य है—उर्दि मान और क्रीडा अर्थ में; कर्ज व्यथने, कुत्सिण् अवक्षेपे (कुत्सयते); कूणिण संकोचने (कूणयते); मेथ संगमे (मेथति, मेथते); गुंत प्रकीषोत्सर्गे (गुवति); इसी धातु से संस्कृत का गूथ (पुरीष) तथा भोजपुरी का गूह निष्पन्न हुआ है। पिच्चण् कुट्टने (पिच्चयति) आदि।

गण-पाठ

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है। यह दो प्रकार की है—लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति। इस बृहद्वृत्ति में ही इस व्याकरण का गण-पाठ उपलब्ध होता है। कुछ ऐसे भी गण हैं जिनका पता बृहद्वृत्ति से नहीं लगता। अतः विजयनीति सूरि ने 'सिद्धहेम बृहत्-प्रक्रिया' में हेम के सभी गण-पाठ दिये हैं।

उणादि-पाठ

उणादि-पाठ के ऊपर हेमचन्द्र की स्वोपज्ञ वृत्ति है जिसके आरम्भ में उन्होंने अर्हत् को प्रणाम कर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। उणादि सूत्रों के द्वारा बहुत से ऐसे शब्द निष्पन्न किये गए हैं जो भारतीय प्रान्त-भाषा विशेषतः हिन्दी तथा गुजराती के साथ अपना सम्बन्ध रखते हैं। यथा कर्कर (क्षुद्राश्मा)=काँकर या कंकड़; गर्गरी (महाकुम्भ)=गागर; दवरी (गुण)=डोरा; पटाका (वैजयन्ती)=पताका, पटाका।

लिङ्गानुशासन

हेमचन्द्रका लिङ्गानुशासन बड़ा ही विस्तृत तथा विशद है पाणिनीय लिङ्गानुशासन से तुलना करने पर। पाणिनि ने प्रायः प्रत्ययों के आधार पर लिंग-निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने अन्य उपकरणोंको भी ध्यान में रखकर लिङ्गप्रवचन किया है। हेम ने इसमें विशाल शब्दराशि का संकलन किया है। यहाँ रुचिर, ललित और कोमल शब्दों के साथ कटु और कठोर शब्दों का भी संकलन किया गया है। शब्दों का संग्रह यहाँ विभिन्न साम्यों के आधार पर किया गया है। कोष-चतुष्टय के लेखक का शब्द-ज्ञान बड़ा ही विस्तृत है। यहाँ बहुत से अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्पज्ञात शब्दों का चयन लिङ्ग निर्देश के लिए किया गया है। यह चयन अकरकोष की शैली पर किया गया है।

---

१. हेम-गणपाठ के लिए द्रष्टव्य कपिलदेव—'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा' पृष्ठ १ ४–१२६।

हेमचन्द्र का वैशिष्ट्य

अपने पूर्व-निर्मित समस्त वैयाकरण सम्प्रदायों अजैन तथा जैन-दोनों से हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को सामग्री संकलित की। भोजराज का सरस्वती कण्ठाभरण तो उनके निकट पूर्व में रचा गया था। हेमचन्द्र ने पाणिनीय, कातन्त्र तथा भोज के व्याकरणों के अतिरिक्त जैनेन्द्र तथा शाकटायन के व्याकरण ग्रन्थों से अपने लिए प्रभूत सामग्री एकत्रित की। जैनेन्द्र की अपेक्षा शाकटायन से इन्होंने बहुत कुछ लिया। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति तथा लघुवृत्ति से हेमचन्द्र ने अनेक सिद्धान्त लिये हैं, परन्तु इनमें मौलिकता की कमी नहीं है। शाकटायन का सूत्र है—नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ (१।१।३६)। इसके स्थान पर हेम का सूत्र 'नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे (३।१।१५) है, जिसमें सामान्य स्वीकृति को विशिष्ट विवाह का रूप देकर लोक में प्रयुक्त भाषा का गम्भीर विश्लेषण है। इसी प्रकार 'कणेमनः श्रद्धोच्छेदे' १।१।२८ का शाकटायन-सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'कणेमनः श्रद्धाप्रतिघाते' की छाया पर निर्मित है। अन्तर इतना ही है 'प्रतिघात' का पर्याय 'उच्छेद' दे दिया गया है, परन्तु इससे तात्पर्य की स्पष्टता नहीं होती। इसलिए हेमचन्द्र ने 'कणे मनस्तृप्तौ' (३।१।६) सूत्र लिखकर तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। 'तावत् पिबति यावत् तृप्तः' व्याख्या से 'कणेहत्य पयः पिबति' उदाहरण सुस्पष्ट बन जाता है। इस प्रकार सूत्रों में सरलता तथा विशदता लाने का हेमचन्द्र ने पूर्ण प्रयत्न किया है।

एक तथ्य और भी विचारणीय है। हेमचन्द्र के समय में प्राकृत्य साहित्य अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था तथा अपभ्रंश लोकभाषा से साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर रहा था। ऐसी दशा में इन भाषाओं का विश्लेषण न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होता। इसीलिए हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के अन्तिम (अष्टम) अध्याय में इन भाषाओं का भी व्याकरण प्रस्तुत कर संस्कृत के भाषागत विकाश को समझने के लिए आवश्यक तथा उपादेय उपकरण प्रस्तुत किया। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण को समयोपयोगी बनाने के लिऐ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण लिखा। इन्होंने अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मान लिया तथा उसका विस्तृत विवेचन किया। इस दृष्टि से हेमचन्द्र का त्रिविध भाषा-शास्त्री का रूप आलोचकों के सामने प्रकट होता है। और यह हैम व्याकरण का निजी वैशिष्ट्य है[1]।

---

१. इतर वैयाकरणों के साथ हेमचन्द्र की तुलना के लिए द्रष्टव्य डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन' (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३)।

(७) सारस्वत-व्याकरण

सारस्वत व्याकरण व्याकरण-सम्प्रदायों में सरलतम व्याकरण है। वहाँ सूत्रों की संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा पञ्चमांश से भी न्यून है। केवल सात सौ सूत्रों की सहायता से संस्कृत-भाषा का समग्र व्याकरण निबद्ध कर देना सचमुच आश्चर्यजनक घटना है। इससे यह व्याकरण बहुत हो लोकप्रिय रहा है गुजरात आदि प्रदेश में ही नहीं, प्रत्युत पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की केन्द्रस्थली काशी के मण्डल में भी। काशी से पूरब के स्थानों में पाणिनीय व्याकरण के गाढ़ परिचय कराने से पहिले सारस्वत-चन्द्रिका का अध्यापन छात्रों को करा दिया जाता था जिससे वे भाषा के व्यावहारिक नियमों से भली-भाँति परिचित हो जाते थे।

सारस्वत व्याकरण की टीका-सम्पत्ति प्रचुर है। परन्तु इस व्याकरण के रचयिता के निर्धारण की समस्या बड़ी विषम है। प्रसिद्धि तो है कि अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने किसी पण्डित-मण्डली में अपाणिनीय 'पुंक्षु' पद का प्रयोग किया। पण्डितों के द्वारा आलोचना किये जाने पर उन्होंने अगले दिन इसकी सिद्धि दिखलाने का वचन दिया। रात में ही आराधना से सन्तुष्ट सरस्वती की महती अनुकम्पा से उन्हें सूत्रों की स्फूर्ति हुई जो सरस्वती से प्रदत्त होने से सारस्वत सूत्र के नाम से अभिहित हुये। इस किम्वदन्ती के याथातथ्य का विचार अभी भी संदिग्ध ही है। सारस्वतप्रक्रिया के आरम्भस्थ पद्य का रूप इस प्रकार है—

प्रणम्य परमात्मानं बालधी-वृद्धि-सिद्धये।
सारस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्॥

इसके प्रामाण्य पर आलोचकों का कथन है कि अनुभूति-स्वरूप ने 'सारस्वती प्रक्रिया' को ऋजु बनाया अर्थात् इधर-उधर विकीर्ण प्रक्रिया को सुव्यवस्थित किया। इस श्लोक की व्याख्या में पुञ्जराज ने 'सारस्वती प्रक्रिया' का व्युत्पत्तिलभ्य तात्पर्य 'सारस्वतसूत्र' ही बतलाया है। उनका कथन है—

सरस्वत्या प्रोक्ता या प्रक्रिया, सा सारस्वती प्रक्रिया। तत्र प्रक्रियन्ते प्रकृति-प्रत्ययादि-विभागेन व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनयेति व्युत्पत्या सारस्वती प्रक्रिया सारस्वतीयं व्याकरणमिति।

यह तो पुञ्जराज का मत हुआ कि सारस्वती प्रक्रिया सूत्रों के ही लिए प्रयुक्त है; परन्तु अन्य टीकाकार इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे सूत्रों का कर्तृत्व तो भगवती सरस्वती को देते हैं। अनुभूतिस्वरूप को केवल सूत्रों का व्याख्याता ही मानते हैं।

कहीं-कहीं नरेन्द्राचार्य और कहीं नरेन्द्र-नगरी इसके रचयिता माने गये हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने 'टिप्पण' में नरेन्द्राचार्य को ही सूत्रों का रचयिता माना है—नरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्र-टिप्पणं समाप्तम्। अमरभारती नामक वैयाकरण ने अपनी व्याख्या में नरेन्द्रनगरी को इन सूत्रों का प्रणेता माना है—

यन्नरेन्द्रनगरीप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम्।
तन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किञ्चदेव कलितं स्वया धिया॥

नरेन्द्राचार्य अज्ञात वैयाकरण नहीं हैं, प्रत्युत प्रक्रिया-कौमुदी की टीका प्रसाद में विट्ठल द्वारा बहुशः उद्धृत हैं। समस्या यह है कि नरेन्द्राचार्य तथा नरेन्द्रनगरी एक ही आचार्य का अभिधान है या विभिन्न आचार्यों का? बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही आचार्य का अभिधान हो।

नरेन्द्रनगरी नाम तो किसी आचार्य के अभिधान के लिए प्रयुक्त होने से विचित्र लगता है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के इतिहास में इस नाम के एक आचार्य प्रसिद्ध हैं। ये अनुभूतिस्वरूचार्य के साथ सम्बद्ध थे। अनुभूतिस्वरूप के शिष्य जनार्दन ने तत्त्वालोक नामक अद्वैत वेदान्त का प्रख्यात ग्रन्थ लिखा था। इसी ग्रन्थ के ऊपर नरेन्द्रनगरी के शिष्य प्रकाशानन्द ने 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम्नी उत्कृष्ट व्याख्या की रचना की थी।

इन्हीं नरेन्द्रनगरी ने सारस्वत व्याकरण के ऊपर सम्भवतः कोई व्याख्या लिखी थी जिसमें उन्होंने अनुभूतिस्वरूपको अपना गुरु उद्घोषित किया है—

सूत्रसप्तशतीं यस्मै ददौ साक्षात् सरस्वती।
अनुभूतिस्वरूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः॥

इस श्लोक को प्रमाण मानकर कहना पड़ता है कि प्राचीन तथा प्रतिष्ठित परम्परा यही रही है कि अनुभूतिस्वरूप को भगवती सरस्वती ने सूत्र-सप्तशती का दान दिया था और अनुभूति ने उसके ऊपर प्रक्रिया लिखी।

इन समस्त कथनों का तात्पर्य यही है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने सरस्वती की कृपा से इन सूत्रों का प्रणयन किया और इस सारस्वत प्रसाद की स्मृति में सूत्रों को 'सारस्वत' नाम्ना प्रख्यात किया। अनुभूतिस्वरूप अद्वैतवेदान्त के प्रौढ़ आचार्य थे। उन्होंने गौडपाद-रचित माण्डूक्य कारिका के शाङ्करभाष्य के ऊपर टीका लिखी है। आनन्दबोध द्वारा प्रणीत 'प्रमाण-रत्नमाला' पर भी इनकी एक टीका मिलती है। अनुभूति-स्वरूप का सबसे सुन्दर ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान, जिसका नाम प्रकटार्थ-विवरण है। ये पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ इनकी अलोकसामान्य शास्त्रीय वैदुषी के प्रमापक हैं। इन अद्वैत ग्रन्थों के रचयिता ने ही सारस्वत सूत्रों का प्रणयन तथा उनके ऊपर

स्वोपज्ञ वृत्ति का भी निर्माण किया—यही मत मानना प्रमाण-पुरःसर तथा परम्परा-निर्दिष्ट है। इनका समय १२ शती के मध्यभाग में मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है (१०२५ ई०–१०७५ ई० लगभग)। इस समय-निरूपण के लिए प्रमाण आगे उपन्यस्त किया जाता है।

समय-निरूपण

अनुभूतिस्वरूप ने अद्वैतवेदान्त में महनीय ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने आनन्दबोध के दो ग्रन्थों के ऊपर—प्रमाणरत्नमाला तथा न्यायदीपावली[1] पर-अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। आनन्दबोध अपने 'न्यायमकरन्द' के कारण वेदान्त के इतिहास में चिरस्मरणीय हैं और इस न्यायमकरन्द को चाण्डू पण्डित ने अपनी नैषध-टीका में (रचनाकाल १३५३ वि० सं० = १२९७ ई०) नाम्ना निर्दिष्ट किया है[2]—श्री आनन्दबोधाचार्यैरपि न्यायमकरन्दे भेदं निराकुर्वद्भिरुक्तम्। फलतः आनन्दबोध का समय १२५० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। आनन्दबोध ने प्रकाशात्मा के 'शाब्द-निर्णय' पर 'न्यायदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है और इसका निर्देश भी उन्होंने अपने 'न्यायमकरन्द' में किया है—

दिङ्मात्रमत्र सूचितं विस्तरस्तु न्यायदीपिकायामवगन्तव्यः।

इस प्रकाशात्मा के समय का ठीक पता नहीं चलता, परन्तु रामानुज ने (१०१५ ई०–११३७ ई०) प्रकाशात्मा के पञ्चावयव वाक्य का अपने ग्रन्थों में बहुशः खण्डन किया है। फलतः इनका समय १००० ई० के आस-पास होना चाहिए। इनके टीकाकार आनन्दबोध का समय १०४०–११०० ई० लगभग होना चाहिए। अनुभूति-स्वरूपाचार्य इन्हीं आनन्दबोध के दो ग्रन्थों के व्याख्याकार हैं। फलतः इनका समय ११५० ई० अर्थात् १२वीं शती का मध्य भाग मानना चाहिए।

---

१. न्यायदीपावली की टीका का नाम चन्द्रिका है। इसका हस्तलेख सरस्वती-भवन में विद्यमान है। हस्तलेख की संख्या १७५९९ है जिसके अन्त में टीका का नाम दिया गया है।

अनुभूतिस्वरूपाख्यो यतिश्चकार चन्द्रिकाम्।
व्याख्यां सामर्थ्यसत्यापि पुंसामानन्ददायिनीम्॥

यह चौखम्भा सं० सीरीज से प्रकाशित भी है।

२. नैषधचरित-अंग्रेजी अनुवाद डा० हाण्डीकुइ द्वारा, (पंजाब ओरि० सी०) पृष्ठ ४८०।

सारस्वतसूत्रों में वर्णित विषय

सारस्वत-व्याकरण तीन वृत्तियों में विभक्त है। प्रथम वृत्ति के अन्तर्गत संज्ञा-प्रकरण, स्वरादि सन्धि-प्रकरण, स्वरान्त हसान्त सुबन्त शब्द, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास एवं तद्धित प्रकरण हैं। द्वितीय वृत्ति में भ्वादि से लेकर चुरादि पर्यन्त तथा तथा नामधात्वादि का भी यथासम्भव विवेचन किया है। भ्वादि गणों में पठित धातुओं को परस्मैपद, आत्मनेपद एवं उभयपद के विभाग से उपस्थापित किया गया है। तृतीय वृत्ति में अर्थक्रम से 'अण्' इत्यादि कृत्-प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस व्याकरण में १२७४ सूत्र उपलब्ध हैं। 'पुंक्षु' शब्द की सिद्धि के लिए "असम्भवे पुंसः कक् सौ" (सारस्वत-हसन्त पुं०) सूत्र बनाया गया है। असम्भव शब्द का तात्पर्य वेदान्तैकवेद्य परमात्मा से है। क्योंकि उसका बहुत्व सिद्ध करना बुद्धि से सम्भव नहीं माना जाता। सारांश यह है कि परमपुरुष परमात्मा के ही लिए सप्तमी बहु-वचनान्त 'पुंक्षु' प्रयोग साधु होगा। अथ च लौकिक पुरुषों के लिए 'पुंसु' शब्द साधु माना जायगा।

पुंक्षु शब्द की सिद्धि का प्रकार—पुनातीति पुमान्। "पुनातेः सुक् नुम् च" इति सुप्रत्ययो नुमागमश्च, प्वादेर्ह्रस्वः। अथवा पाति त्रिवर्गमिति पुमान् "पाते र्डुम्सुः" इति 'डुम्सु' प्रत्ययः। एवं पुंस् शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि प्रत्यये, कगागमे कृते 'पुंस् क् सु' इत्यत्र सकारस्य संयोगादिलोपे, सुप् प्रत्ययावयवसकारस्य षकारे 'क् ष्' संयोगेन क्षकारे कृते 'पुंक्षु' इति रूपमुपपद्यते।

संज्ञाप्रकरण में समान, सवर्ण, सन्ध्यक्षर, नामी, व्यञ्जन, इत्, लोप, संयोग, वर्ग, गुण, वृद्धि, टि, उपधा, लघु, गुरु, अनुनासिक, निरनुनासिक, विसर्जनीय तथा अनुस्वार संज्ञाएँ की हैं। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि वर्णसमाम्नाय में पढ़े गए वर्णों का क्रम अत्यन्त भिन्न (अप्रसिद्ध) है। यहाँ पाणिनीय वर्णसमाम्नाय की तरह दो बार हकार का पाठ नहीं किया गया है। प्रत्याहारों को बनाने के लिए अनुबन्धों का पाठ नहीं किया गया है। अतः अन्तिम वर्णों से ही निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न होता है। वर्णसमाम्नाय इस प्रकार है—"अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ, ह य व र ल, ञ ण न ङ म, झ ढ ध घ भ, ज ड द ग ब छ ठ थ ख फ च ट त क प, श ष स"।

संज्ञाप्रकरण के अन्त में उद्धृत—

> "गजकुम्भाकृतिर्वर्णं ॠवर्णः स प्रकीर्तितः,
> एवं वर्णा द्विपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः।"

श्लोक में ५२ वर्णों को स्वीकार किया गया है। श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य के "प्रत्याहाराणां संख्यानियमस्तु नास्ति" इस वचन की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि 'संख्यानियम' शब्द में 'संख्या अनियम' ऐसा पद-विच्छेद करना चाहिए

जिससे प्रत्याहारों की संख्या निश्चित कही जा सकती है, अनिश्चित नहीं। उन्होंने 'हस' इत्यादि २० प्रत्याहार गिनाए हैं। यहाँ व्यञ्जनों को 'हस' माना जाता है। महर्षि पाणिनि ने पदान्त नकार का शकार परे रहते तुगागम करके 'संच्छम्भुः' इत्यादि रूपों की निष्पत्ति की है, परन्तु सारस्वत में सीधे 'चक्' का ही आगम किया गया है।

वृक्षच्छाया, तवच्छत्रम्' इत्यादि पदों में कोई आगम न करके छकार का द्वित्व तथा पूर्व छकार का चकार किया गया है। कातन्त्र में भी यही बात कही गई है। 'श-ष-स-ह' तथा रेफ के परे रहते अनुस्वार का 'ँ' यह आदेश किया गया है, जैसे—'सामयजूँषि, देवानाँराजा' इत्यादि। इस 'ग्वं' रूप अनुस्वारादेश का उच्चारण लोक में न किए जाने से यह सिद्ध होता है कि इसमें वैदिक शब्दों के लिए भी कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है। स्यादि-त्यादि रूप दो प्रकार की विभक्तियाँ मानी गई हैं। पाणिनि ने जिन शब्दों को प्रातिपदिक कहा है उनको यहाँ 'नाम' संज्ञा दी गई है। सख्युः पत्युः शब्दों की सिद्धि के लिए सखि, पति शब्दों का ऋगागम करके ङसि, ङस् प्रत्ययों के अकार का उकार तथा उस उकार का डिद्भाव किया गया है। यहाँ प्रक्रिया में गौरव स्पष्ट परिलक्षित होता है। चादि गण के शब्दों की 'निपात' संज्ञा की गई है। "किमः सामान्ये चिदादिः" (अव्यय १३) इस सूत्र पर कहे गए—"सर्वविभक्त्यन्तात् किंशब्दात् सामान्येऽर्थे चित् चन च इत्येते प्रत्यया भवन्ति" इस वचन में, चित् एवं चन दो ही प्रत्ययों का विधान किए जाने पर बहुवचन निर्देश चिन्त्य कहा जा सकता है। उपसर्गसंज्ञक प्रादि गण में पाणिनि-अभिमत २२ उपसर्गों के अतिरिक्त श्रत्, अन्तर् तथा आविर् इन तीन शब्दों को और पढ़ा गया है। कारक-प्रकरण में 'कर्ता' इत्यादि संज्ञाओं को विना किए ही उनमें प्रथमादि विभक्तियों का विधान किया गया है। औपश्लेषिक, सामीप्यक, अभिव्यापक, वैषयिक, नैमित्तिक तथा औपचारिक भेदों से अधिकरण को छः प्रकार का माना गया है। क्रमशः औपश्लेषिक आदि भेदों के उदाहरणों का उपन्यास श्लोक द्वारा इस प्रकार किया गया है—

"कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्॥
युद्धे संनह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणां शतम्।"

वेद में स्यादि विभक्तियों के व्यत्यय को "छन्दसि स्यादिः सर्वत्र" (कारक प्र०) सूत्र से कहा है। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, द्विगु, बहुव्रीहि तथा कर्मधारय—ये छः समास बताए गए हैं। 'तद्धित' संज्ञा-विधायक कोई सूत्र तो नहीं किया गया है तथापि चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि समास का अथवा सभी नाम शब्दों के (अनेक अर्थों के निर्वचन से) हित करने वाले को 'तद्धित' कहते हैं।

आख्यात-प्रकरण में आत्मनेपद को 'आत्' तथा परस्मैपद को 'प' कहा गया है। काल का विभाग करते हुए तिप्, तस्, अन्ति इत्यादि प्रत्ययों को सूत्र-द्वारा गिनाया गया है। भ्वादि गण में 'अप्' विकरण किया जाता है जिसका अदादि तथा जुहोत्यादि में लुक् हो जाता है। दिवादि गण में 'य' विकरण का उपयोग किया गया है। 'णश्' अदर्शने धातु से ङ परे रहते विकल्प से अकार का एकार करके 'अनेशत्, अनशत्' यह दो रूप बनाए हैं (पाणिनीय लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, तिप् प्रत्यय)। इनमें 'अनेशत्' रूप अपाणिनीय है। स्वादिगण में 'नु', रुधादि में 'नम्', तनादि में 'उप्', तुदादि में 'अ', क्र्यादि में 'ना', तथा चुरादि में 'ञि', विकरण का विधान देखा जाता है। पाणिनीय 'सन्' के लिए 'स' का प्रयोग हुआ है। अन्त में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रयोग दृष्ट्या धातुओं की अनन्तता को बताते हुए उसका सर्वाङ्गीण प्रवचन नहीं किया जा सकता—ऐसा कहकर इस प्रकरण को पूर्ण किया है।

कहा है—

"धातूनामप्यमन्तत्वान्नानार्थत्वाच्च सर्वथा।
अभिधातुमशक्यत्वादाख्यातख्यापनैरलम्॥"

कृत-प्रकरण में 'क्त, क्तवतु' प्रत्ययों की 'निष्ठा' संज्ञा और 'घ्यण्, क्यप्, तव्य, 'अनीय'तथा 'य' इन पाँच प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा की गई है। कृत्यसंज्ञक तथा क्रीत्वार्थ में किए गए 'क्ति' प्रत्यय को कातन्त्रानुसारी समझना चाहिए।

ग्रन्थ के अन्त में आचार्य ने इस व्याकरण में जिन शब्दों की सिद्धि नहीं बताई गई है उनकी सिद्धि अन्य व्याकरणों से करनी चाहिए; ऐसा सूत्र द्वारा निर्देश किया है—

"लोकाच्छेषस्य सिद्धिर्यथा मात्तरादेः;' (क्त्वाधिकार प्रक्रिया)। यहाँ 'लोक' शब्द से व्याकरणान्तर ही अभीष्ट है। तदनन्तर आचार्य ने अपना नाम, परिचय एवं मङ्गलाचरण उपस्थापित कर ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

सारस्वत की व्याख्या-सम्पत्ति

सारस्वत व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। दो व्याकरण ग्रन्थों का आपस में संमिश्रण हो गया है। सारस्वत-चन्द्रिका मूल सारस्वत सूत्रों से परिमाण में डेढ़ गुना अधिक है तथा सूत्रों से अपनी पृथक् स्थिति धारण करती है। सारस्वत प्रक्रिया के कतिपय टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) चन्द्रकीर्ति—ये जैन ग्रन्थकार थे। नागपुरतपागच्छ के भट्टारक थे। इनकी टीका का नाम है सुबोधिका, दीपिका[1] या चन्द्रकीर्ति। इन्होंने पद्मचन्द्र उपाध्याय की

---

१. तैरियं पद्मचन्द्राख्योपाध्यायाभ्यर्थनात् कृता।
शुभा सुबोधिका नाम्नी श्री सारस्वतदीपिका॥

अभ्यर्थना को मानकर इस टीका का प्रणयन किया। चन्द्रकीर्ति के ही शिष्य हर्षकीर्ति ने इस टीका का आदर्श प्रस्तुत किया। टीका सुबोध तथा सुन्दर है[1]।

(ख) पुञ्जराज—इन्होंने दो अलङ्कार ग्रन्थों—छन्दनिप्रदीप तथा काव्यालङ्कार-शिशुप्रबोध—की रचना के साथ ही साथ सारस्वतप्रक्रिया की टीका का प्रणयन किया। इस टीका का सबसे प्राचीन हस्तलेख भाण्डारकार शोध संस्थान में है और उसका काल है १६१२ संवत् (=१५५६ ईस्वी)। इस टीका के आरम्भ में पुञ्जराज ने अपने वंश का विस्तृत विवरण दिया है जिसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। इसमें उन्होंने अपने सप्तम पूर्वज से लेकर अपने तक के पुरुषों का नाम दिया है। इनके पिता जीवन तथा पितृव्य मेघ दोनों ही मालवा के सुल्तान गियासउद्दीन खिलजी के मन्त्री थे[2]। यह गियासुद्दीन-शाह १५ शती के अन्तिम चरण में राज्य करता था मालवा के ऊपर (लगभग १४७५ ई०–१५०१ ई०)। वह विष देकर मार डाला गया। तब नासिर-उद्दीन खिलजी वहाँ का शासक बना और अपनी मृत्यु (१५११ ई०) तक राज्य करता रहा। इन्हीं दोनों बादशाहों के मन्त्री होने के कारण पुञ्जराज के पिता तथा पितृव्य दोनों का मन्त्रित्व काल १४७५ ई०–१५१० ई० तक मानना चाहिये; पुञ्जराज का समय १४७५ ई०–१५२० ई० तक मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा। पुञ्जराज ने अपने को 'पुञ्जराजो नरेन्द्रः' कहा है। तो क्या ये नरेन्द्र के पद पर भी असीन हुये थे? इस प्रश्न की मीमांसा अभी अपने समाधान के लिए अधिक प्रमाण चाहती है। मालवा के खिलजी शासकों का अन्त १५३५ ई० में हो गया जब बादशाह हुमायूँ ने नासिर के उत्तराधिकारी महमूद खिलजी की १५३१ ई० में हत्या के अनन्तर मालवा को जीत लिया। फलतः सारस्वत प्रक्रिया की इस व्याख्या का प्रणयन काल १६ वीं शती का प्रथम चरण मानना सर्वथा न्याय्य है।

(ग) अमर भारती—विमल सरस्वती के शिष्य अमरभारती ने सारस्वत-सूत्रों पर व्याख्या लिखी है जिसमें नरेन्द्र-नगरी को ही वे इनका लेखक मानते हैं। इस विषय की समीक्षा ऊपर की गई है कि नरेन्द्र-नगरी अनुभूतिस्वरूपाचार्य के शिष्य प्रतीत होते हैं। फलतः वे मूल लेखक नहीं हैं। टीका का नाम था सुबोधिनी। इस टीका का प्राचीनतम हस्तलेख १५५४ सं (=१४९७ ई०) का है। फलतः इनका समय इससे प्राचीन है।

---

१. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित, १९६७।

२. श्री विलासवति मण्डपदुर्गे स्वामिनः खलचि साहिगयासात्।
प्राप्य मन्त्रिपदवीं भुवि याभ्यामर्जिताऽर्जितपरोपकृतिः श्रीः॥
—सारस्वतटीका, श्लोक ९।

(घ) वासुदेव भट्ट—इन्होंने सारस्वत प्रक्रिया के ऊपर 'सारस्वत प्रसाद' नामक व्याख्यान लिखा है। ये बड़े ही प्रौढ पण्डित थे न्याय तथा पाणिनीय व्याकरण के और इन दोनों का उपयोग उन्होंने अपने व्याख्यान में भूयसा किया है। टीका विस्तृत तथा विशदार्थ-बोधिनी है। इनके देश का पता नहीं चलता, परन्तु ग्रन्थ की रचना का काल[1] उन्होंने स्वयं १६३४ वि० सं० (= १५७७ ईस्वी) दिया है जिससे प्रसाद[2] का निर्माण पुञ्जराज की पूर्व निर्दिष्ट व्याख्या के लगभग अर्ध शताब्दी के अनन्तर सिद्ध होता है। दोनों ही १६ वीं शती के व्याख्याकार हैं।

(ङ) भट्ट धनेश्वर—भट्ट धनेश्वर से पहिले क्षेमेन्द्र ने सारस्वतप्रक्रिया पर 'टिप्पण' नाम से लघुवृत्ति लिखी थी। इनका देशकाल अज्ञात है। यह क्षेमेन्द्र हरिभद्र या हरिभट्ट के पुत्र कृष्ण शर्मा का शिष्य था। फलतः वह अभिनवगुप्त के शिष्य काश्मीरी महाकवि क्षेमेन्द्र से नितान्त भिन्न व्यक्ति है। इसी टिप्पण के खण्डन के लिए धनेश्वर भट्ट ने अपना ग्रन्थ—सारस्वत-प्रदीप—निबद्ध किया था। ये अपने को 'वैयाकरणगजेन्द्रसिंह' तथा 'न्यायशास्त्र-पारंगत' की उपाधि से विभूषित करते हैं। इनका वैयाकरणत्व तो इस ग्रन्थ में पदे-पदे सिद्ध हो रहा है। न्यायशास्त्र के भी ये प्रवीण विद्वान् थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में 'चिन्तामणि अनुमान खण्ड' के 'पक्षधर्मतावाद' का उल्लेख इन्होंने किया है। यह चिन्तामणि निश्चयेन गंगेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' से अभिन्न है (र० का० १२०० ई०)। इस 'सारस्वत-प्रदीप' का अपर नाम 'क्षेमेन्द्र-खण्डन' है जिससे इसकी रचना का उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन आचार्यों के मतों का स्थान-स्थान पर संकेत है जिनमें काल निरूपण की दृष्टि से रामचन्द्राचार्य तथा प्रसादकार का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। रामचन्द्राचार्य तो प्रक्रिया-कौमुदी के विश्रुत प्रणेता हैं तथा प्रसादकार उनके ही पौत्र, प्रक्रिया-प्रसाद के प्रख्यात रचयिता, विट्ठल हैं। विट्ठल का अविर्भावकाल १५ शती का मध्यकाल (लगभग १४५० ई०) माना जाता है। सारस्वत प्रसाद का उपलब्ध एकमात्र हस्तलेख भण्डारकर शोध संस्थान (पूना) के पुस्तकालय में है। उसका समय है १६५३ वि० सं० (= अर्थात् १५९६ ई०)। प्रसादकार विट्ठल के उल्लेख से तथा हस्तलेख के लिपिकाल से इनका समय १४७५ ई० से लेकर १५२० ई० तक लगभग होना चाहिए। अर्थात् धनेश्वरभट्ट का आविर्भावकाल १६वीं शती का प्रथम चरण मानना नितान्त उपयुक्त है। भट्ट धनेश्वर प्रौढ वैयाकरण हैं—सारस्वती प्रक्रिया

---

१. संवत्सरे वेद-वन्हि-रसभूमि-समन्विते।
शुचौ कृष्णद्वितीयायां प्रसादोऽयं निरूपितः॥

२. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से मूल के साथ प्रकाशित, १९६७।

में ही निष्णात नहीं, प्रत्युत महाभाष्य के भी प्रौढ मर्मज्ञ। वे स्वयं कहते हैं कि पातञ्जल-महाभाष्य पर 'चिन्तामणि' नामक व्याख्या उन्होंने स्वयं लिखी थी[1]।

उन्होंने 'पीताम्बर' नामक वैयाकरण का मत अपने ग्रन्थ में दिया है। पीताम्बर शर्मा नामक लेखक के दो व्याकरण ग्रन्थों को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी का सूचीपत्र निर्दिष्ट करता है—

(१) सारसंग्रह—क्रमदीश्वर के 'संक्षिप्त सार' का यह संग्रह बालकों के शिक्षा के निमित्त निबद्ध आरम्भिक ग्रन्थ है।

(२) छात्रव्युत्पत्ति—नवसर्गों में रामायण की कथा का श्लोकबद्ध सारांश, जिसमें 'सारसंग्रह' के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भट्टधनेश्वर ने यह भी लिखा है कि पीताम्बर के किसी शिष्यने 'सारस्वत प्रदीप'[2] का हस्तलेख स्वयं प्रस्तुत किया था। फलतः पीताम्बर धनेश्वर के ज्येष्ठ समसामयिक प्रतीत होते हैं लगभग १५०० ई० में वर्तमान।

सिद्धान्त-चन्द्रिका

सारस्वत प्रक्रिया से अतिरिक्त भी सारस्वत व्याकरण के व्याख्याताओं का एक पृथक् सम्प्रदाय है। रामचन्द्राश्रम अथवा रामाश्रम नामक वैयाकरण ने मूल सारस्वत व्याकरण को पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्तर पर लाने के लिए एक नवीन ग्रन्थ लिखा सिद्धान्त-चन्द्रिका[3]। इसमें केवल नवीन सूत्रों का ही प्रणयन अष्टाध्यायी के आधार पर नहीं है, प्रत्युत अन्य विशिष्टतायें भी यहाँ लक्षित होती हैं। सूत्रों की संख्या पूर्णतः

---

१. श्री युधिष्ठिर मीमांसक 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (संशोधित सं०) के पृष्ठ ३७६ तथा ५७१ पर दो स्थानों में भट्टधनेश्वर को वोपदेव का गुरु मानते हैं। यह उनकी भूल है। उन्होंने नामसाम्य को ही लक्ष्य कर यह भूल की है। वोपदेव के गुरु का नाम धनेश था, भट्ट धनेश्वर नहीं। वोपदेव (१२५०–१२८० ई०) के गुरु होने से धनेश का समय १३वीं शती का पूर्वार्ध निश्चयेन है, जब भट्ट धनेश्वर का समय १५ शती का अन्त है। फलतः काल-बाधित होने से यह समीकरण नितान्त अयुक्त है।

२. इस हस्तलेख के विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य डा० पी० के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्टरी भाग २ पृष्ठ १५–१८।

३. लोकेशकर की तत्त्वदीपिका तथा सदानन्द गणि रचित सुबोधिनी के साथ सिद्धान्त चन्द्रिका का प्रकाशन चौखम्भा कार्यालय ने दो जिल्दों में किया है सं० १९९०, वाराणसी।

२२३७ (दो हजार दो सौ सैंतीस) है। सिद्धान्त-प्रक्रिया की अपेक्षा इसमें नवीन संज्ञाओं तथा गणों का भी उल्लेख पाया जाता है। यहाँ केवल १५ परिभाषाओं का व्याख्यानरूप स्वतन्त्ररूप से परिभाषा-प्रकरण भी उपलब्ध है। जहाँ प्रक्रिया में उणादि सूत्र केवल ३३ हैं, वहाँ चन्द्रिका में पाँच पादों में विभक्त ३८१ सूत्र हैं। इन सूत्रों को को पाणिनितन्त्र की पञ्चपादी के सूत्रों से तुलना करने पर पता लगता है कि इन सूत्रों में कितना परिवर्तन है और कितना अक्षरशः गृहीत है। फलतः मूल से यहाँ इतने विशिष्ट परिवर्तन-परिवर्धन हैं कि इसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानना ही उचित प्रतीत होता है। सिद्धान्त चन्द्रिका में दो भाग हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। इसमें पूर्वार्ध तो प्रक्रिया से प्रायः मिलता है। उत्तरार्ध प्रक्रिया की अपेक्षा भिन्न तथा परिवृंहित है। इसलिए काशीमण्डल में सारस्वत प्रक्रिया के पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका के उत्तरार्ध पढ़ने की प्राचीन परिपाटी थी। यह सिद्धान्त-चन्द्रिका ही 'सारस्वत चन्द्रिका' के नाम से अभिहित की जाती थी। किसी समय इसकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि सिद्धान्त-कौमुदी के अध्ययन से पूर्व इस चन्द्रिका का पठन नितान्त आवश्यक माना जाता था।

इसके रचयिता का नाम था—रामचन्द्राश्रम या रामाश्रम। इनके देशकाल का स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध तथ्य है कि भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का संन्यास दशा का नाम 'रामाश्रम' था। फलतः कुछ लोग इन्हें ही इस वृत्ति का—अन्ततोगत्वा चन्द्रिका वृत्ति ही तो है—प्रणेता मानते हैं। इस ग्रन्थ की लोकेशकरकृत टीका का रचना-काल १७४१ सं०[1] (= १६८४ ई०) है। अतः मूल ग्रन्थ को इतः प्राचीन होना चाहिए। भानुजिदीक्षित का समय मैंने पहिले १६०० ई०–१६५० ई० प्रमाणों से निश्चित किया है (पृष्ठ ३४५)। फलतः चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र रामाश्रम एक ही समय के व्यक्ति हैं, तथापि इस अभिन्नता की सिद्धि के लिए पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। इन्होंने अपनी टीका का एक संक्षिप्त रूप लघुसिद्धान्त-चन्द्रिका के नाम से भी लिखा है। इसके ऊपर वरदराज की लघुसिद्धान्त कौमुदी का कुछ प्रभाव पड़ा है क्या ?

इसके ऊपर दो प्रख्यात प्रकाशित व्याख्यायें उपलब्ध हैं—

(१) लोकेशकर-तत्त्वदीपिका। श्रीनाथकर के पौत्र[2] तथा क्षेमकर के पुत्र थे। टीका का रचनाकाल है १७४१ विक्रमी (= १६८४ ई०)। ये प्रकरणों के अन्त में अपने को

---

१. चन्द्र-वेद हयभूमि-संयुते वत्सरे नभसि मासि शोभने।
शुक्लपक्षदशमीतिथावियं दीपिका बुधप्रदीपिका कृता ॥

२. श्रीनाथकर-पौत्रेण लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकायां द्विरुक्तव्याकृतिर्गता ॥
(पूर्वार्ध वृत्ति, पृष्ठ ३८४)।

'श्रीविद्यानगरस्थायी' लिखते हैं[1]। परन्तु इस नगर का यथार्थ परिचय नहीं है। विजय-नगर साम्राज्य की राजधानी 'विद्यानगर' के नाम से प्रख्यात थी, परन्तु इन दोनों के ऐक्य मानने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। 'कर' उपनाम उत्कलदेशीय ब्राह्मणों में पाया जाता है। अतः सम्भव है कि लोकेशकर उत्कल के ही ब्राह्मण हो तथा 'श्रीविद्यानगर' भी उत्कल में ही किसी प्रख्यात नगर का अभिधान हो। तत्त्वदीपिका नाम्नी यह टीका बड़ी विस्तृत है तथा पदार्थों का विश्लेषण विस्तार के साथ करती है। इसमें लघुभाष्य का संकेत तथा उसके मत का खण्डन बहुधः मिलता है जिससे लघुभाष्य के लेखक रघुनाथ का समय १७ शती के पूर्वार्ध से प्राचीन ही प्रतीत होता है। लघुभाष्य सारस्वत-प्रक्रिया पर महाभाष्यानुसारी भाष्य है (वेंकटेश्वर मुद्राणालय, बम्बई से प्रकाशित)। लोकेशने अमर, रत्नमणि नामक कोषकार तथा गणरत्नमहोदधि के लेखक का मत स्थान-स्थान पर दिया है तथा अपनी समन्वय बुद्धि को भी प्रदर्शित किया है[2]। फलतः चन्द्रिका के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(२) सदानन्द—सदानन्द की टीका का नाम सुबोधिनी है। इसके आरम्भ में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का विशद विवरण दिया है। यह गुरु-परम्परा खरतर आम्नाय के जिनभक्तिसूरि से आरम्भ होकर भक्तिविनय सूरि तक चली आती है। इन्हीं भक्तिविनय के शिष्य थे ये सदानन्दगणि जो जैन धर्मावलम्बी थे। ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने गुरु की बड़ी उदात्त प्रशस्ति लिखी है जहाँ रचनाकाल १७९९ वि० सं० भी उल्लिखित है[3]। फलतः इस सुबोधिनी का प्रणयन इस संवत् में किया गया (= १७४३ ई०)। यह वृत्ति पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों पर है और प्राचीनकाल के अनेक वैयाकरणों तथा कवियों के उल्लेख से मण्डित है। सदानन्द व्याकरण के बहुज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अमर, पतञ्जलि, पराशर, हरदत्त, माघ, भट्टि, श्रीहर्ष के उल्लेख के साथ में किसी लघुभाष्य कर्ता का भी निर्देश किया है (इति लघुभाष्यकर्तु-रपि प्रयासो व्यर्थ एव)। यह निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विनायक के पुत्र रघुनाथ ने पातञ्जल महाभाष्य के अनुकरण पर सारस्वत सूत्रों पर इस 'लघुभाष्य' का प्रणयन किया। सुबोधिनी में निर्दिष्ट होने से रघुनाथ का समय इतः पूर्व होना

---

१. श्रीविद्यानगर-स्थायि-लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकायां पुंलिंगोऽगात् स्वरान्तकः॥ (वही पृष्ठ ११७)।

२. द्रष्टव्य 'क्रोडा' शब्द पर उनकी मीमांसा, पृष्ठ २२५ (पूर्वार्ध)।

३. निधि-नन्दार्वभूवर्षे सदानन्दः सुधी मुदे।
सिद्धान्त चन्द्रिका वृत्तिं कृदन्ते चक्रवानृजुम्॥

चाहिए। यह स्वतन्त्र काल-निर्देश इन्हें भट्टोजिदीक्षित से अवान्तरकालीन तो अवश्य सिद्ध करता है, परन्तु इनके भट्टोजि के शिष्य होने की बात[१] प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यह टीका प्रमाणित करती है कि १८ शती में भी जैन विद्वानों की दृष्टि व्याकरण की ओर आकृष्ठ थी और वे हेमचन्द्र की परम्परा का यथाविधि पालन करते थे। सिद्धान्त चन्द्रिका के ऊपर इस सुबोधिनी से अतिरिक्त दो टीकायें और भी मिलती हैं—(१) चन्द्रकीर्ति[२] द्वारा टिप्पण। तथा (२) अज्ञात नाम्नी व्याख्या। इन तीनों टीकाओं का उल्लेख प्रो० वेलणकर ने अपने जिनरत्नकोष[३] में किया है। फलतः जैन विद्वानों की दृष्टि सारस्वत व्याकरण पर वृत्ति लिखकर सुबोध बनाने की ओर विशेषतः आकृष्ट थी—यह मानना ही पड़ता है।

चन्द्रकीर्ति की यह व्याख्या बड़ी विस्तृत तथा विशद हैं। लोकेशकर की वृत्ति में अव्याख्यात अंशों की इन्होंने सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। अव्ययों के अर्थ दिखलाने में इनकी प्रौढ़ि उपलब्ध होती है। मेरी जानकारी में चन्द्रकीर्ति की इस अव्ययवृत्ति के समान ऐसी टीका प्रायः दुर्लभ है[४]। लोकेशकर को वृत्ति में यह अंश व्याख्या-विरहित ही है। 'उपगु' शब्द की उद्धव के किसी पूर्वज की संज्ञा मानने के लिए भागवत का यह अंश उद्घृत है—उद्धवः प्रकृत्यौपगविर्जगाम। उणादि प्रक्रिया की बड़ी ही विशद व्यख्या इसे विशेष महत्त्वशालिनी सिद्ध कर रही है।

सारस्वत व्याकरण के विकास की दशा इन ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट अभिव्यक्त हो रही है। आरम्भ तो हुआ सात सौ सूत्रों से ही, परन्तु उन्हें अपर्याप्त मानकर सारस्वत-प्रक्रिया में उनकी संख्या १२७४ तक पहुँच गई। सारस्वत प्रक्रिया में

---

१. डा० बेलवेकर ने ऐसा ही उल्लेख किया है—सिसटम्स आफ संस्कृत ग्रामर में।

२. ये चन्द्रकीर्ति कौन थे ? ये सारस्वत प्रक्रिया पर सुबोधिका या दीपिका टीका के कर्ता हैं (समय १५५० ई०) और उन्होंने ही चन्द्रिका पर भी सुबोधिनी व्याख्या लिखी—ऐसी मान्यता डा० पी० के० गोडे का है (स्टडीज भाग १ पृष्ठ १००)। यदि यह कथन यथार्थ हो, तो सिद्धान्त-चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम भट्टोजि दीक्षित (१५७५ ई०–१६२० ई०) के पुत्र रामाश्रम से भिन्न व्यक्ति ठहरते हैं, क्योंकि उनका समम १५५० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिए। परन्तु दोनों चन्द्रकीर्ति की अभिन्नता के लिए प्रमाण की पूरी आवश्यकता है।

३. भण्डारकार शोध-संस्थान (पूना) से प्रकाशित।

४. द्रष्टव्य—सिद्धान्तचन्द्रिका पूर्वार्ध पृ० १९६–२०५।

शब्दों के रूपों को सिद्धि सूत्रानुसार की गई है जिससे बालकों को इन रूपों के जानने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' में सूत्रों की संख्या बढ़कर २२३७ तक पहुँच गई है। सिद्धान्त-चन्द्रिका के प्रणेता रामचन्द्राश्रम के हृदय में सारस्वत तन्त्र को भी पाणिनीय तन्त्र के समान स्तर पर पहुँचाने की अभिलाषा ही इस संख्या-वृद्धि में जागरूक दृष्टिगोचर होती है। इसमें विषयों का भी इतना परिबृंहण है कि इसे सारस्वत व्याकरण से पृथक् नवीन धारा में प्रवाहित होने वाला तन्त्र मान सकते हैं। इस व्याकरण की टीका-सम्पत्ति पर्याप्त रूपेण विस्तृत है, परन्तु उसके प्रकाशित न होने के कारण विद्वानों की दृष्टि इसके अनुशीलन को ओर आज भी उतनी आकृष्ट नहीं है जितनी उसे होना चाहिए।

(८) मुग्धबोध व्याकरण

प्रसिद्ध विद्वान् वोपदेव ने संस्कृतशिक्षण की दृष्टि से अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ही लिखा जिसका नाम है मुग्धबोध। वोपदेव के पिता का नाम केशव था जो आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा जिन्होंने सिद्धमन्त्र नामक वैद्यक ग्रन्थ का प्रणयन किया। वोपदेव ने अपने पिता के इस सिद्धमन्त्र के ऊपर प्रकाशिका नाम्नी व्याख्या लिखी। केशव देवगिरि के यादववंशीय नरेश सिंघण (या सिंहराज—शासनकाल १२१० ई०–१२४७ ई०) के सभापण्डित थे। यादव-नरेश महादेव (१२६० ई०– १२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के धर्माध्यक्ष हेमाद्रि (जिनका लोक प्रचलित नाथ हेमाड पन्त था) के आश्राय में रह कर वोपदेव ने नाना शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। फलतः वोपदेव का समय १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

वोपदेव ने 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण का प्रणयन किया। इन्होंने कविकल्पद्रुम नाम से पद्यबद्ध धातुपाठ की रचना की तथा उसके ऊपर कविकामधेनु नामक स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी। यह व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय हुआ विशेषतः बंगाल में, जहाँ इसका पठन-पाठन आज भी खूब है। इसकी लोकप्रियता का पता इसकी विपुल टीकासम्पत्ति से लगता है। इसके परिशिष्टों तथा व्याख्या की रचना नन्दकिशोर भट्ट ने १३२० शक सं० (= १३९८ ईस्वी) में की। परन्तु दुर्गादास विद्यावागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है। दुर्गादास के पिता का नाम वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य है जो बहुत सम्भव है चैतन्यदेव के (१४८६ ई०–१५३३ ई०) समकालीन वासुदेव सार्वभौम से भिन्न नहीं हैं। दुर्गादास का समय १६ शती का उत्तरार्ध होना चाहिए[1]।

---

१. अन्य टीकाकारों के लिए द्रष्टव्य—डा० बेलवेलकरका 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर।'

(९) क्रमदीश्वर अथवा जौमर व्याकरण

क्रमदीश्वर नामक वैयाकरण ने बालबोध के निमित्त संक्षिप्तसार नामक एक व्याकरण रचा जिसके मुख्य भाग में तो संस्कृतभाषा का व्याकरण है और अन्तिम परिच्छेद में प्राकृत का भी व्याकरण है। फलतः क्रमदीश्वर ने हेमचन्द्र को व्याकरण लिखने में आदर्श माना। जैसे नाम से पता चलता है यह पाणिनीय व्याकरण का ही संक्षेप प्रस्तुत करता है। इन्होंने सात पादों में पाणिनीय की ही सामग्री का नये ढंग से व्यवस्थापन किया। क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण ग्रन्थ पर स्वोपज्ञवृत्ति का भी निर्माण किया जो रसवती नाम से प्रख्यात है। इनका समय १२५० ई० के आसपास है।

जुमरनन्दी ने रसवती का शोधन किया। इस व्याकरण के परिष्कार के लिए जुमरनन्दी का प्रयास इतना श्लाघनीय माना जाता है कि यह व्याकरण सम्प्रदाय ही उन्हीं के नाम से जौमर के अभिधान से विश्रुत हो गया। रसवती की पुष्पिका बतलाती है कि जुमरनन्दी महाराजाधिराज थे, परन्तु कब तथा कहाँ ? इस प्रश्न का उत्तर उपलब्ध नहीं है।

गोयीचन्द्र (समय १४५० ई० लगभग)—इस व्याकरण-सम्प्रदाय के मुख्य टीकाकार तथा परिशिष्टकार हैं। इन्होंने सूत्रपाठ, उणादि तथा परिभाषा पाठ पर व्याख्यायें लिखी हैं। इनकी सूत्रपाठ की वृत्ति नितान्त प्रख्यात है और उसका उल्लेख मान्य वैयाकरणों ने किया है।

पीताम्बर शर्मा (समय १५०० ई०–१५२५ ई० लगभग) ने 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें क्रमदीश्वर के व्याकरण का सार बालकों के आरम्भिक शिक्षण के लिए उपन्यस्त किया गया। पीताम्बर अपने युग के प्रख्यात वैयाकरण थे, क्योंकि इनके मत का उल्लेख भट्टधनेश्वर ने अपने टीकाग्रन्थ-सारस्वत-प्रदीप—में किया है। इस ग्रन्थ का हस्तलेख इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के सूचीपत्र में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त डा० बेलवेलकर ने इन ग्रन्थकारों को गोयीचन्द्र की व्याख्या पर टीकाकर्ता बतलाया है—

न्याय पञ्चानन, तारक पञ्चानन, चन्द्रशेखर विद्यालंकार, वंशीवादन, हरिराम तथा गोपाल चक्रवर्ती (कोलब्रूक के द्वारा उल्लिखित होने से इनका ससय १९ शती का प्रथम चरण होना चाहिए) यह व्याकरण आजकल बंगाल में ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। प्राचीनकाल में इसकी स्थिति क्या थी ? कहा नहीं जा सकता।

(१०) सुपद्म व्याकरण

पद्मनाभदत्त ने 'सुपद्म' नामक संक्षिप्त व्याकरण का प्रणयन किया। ये मैथिल ब्राह्मण थे। ये उणादि-पाठ की वृत्ति में अपना 'सुपद्मनाभ' तथा अपनेप िता का

नाम दामोदरदत्त देते हैं[1]। व्याकरण का नाम ग्रन्थकार के नाम्ना अभिधीयमान सुपद्म ही है। इनका समय १४ शती का अन्तिम चरण है। इन्होंने पाणिनि-प्रक्रिया को पुनः व्यवस्थित तथा पुनर्वर्गीकृत किया है। इन्होंने पाणिनीय पारिभाषिक शब्दों तथा तत्सम्बद्ध अन्य नामों का भूरिशः प्रयोग किया है। इन्होंने परिभाषावृत्ति के अन्त में स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिससे इनका व्याकरण तथा काव्यकला में निष्णात होना सिद्ध होता है। इनके व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ ये हैं—(१) सुपद्म-पञ्जिका (यह इनकी व्याकरण पर स्वोपज्ञ वृत्ति है) (२) प्रयोगदीपिका (३) धातु कौमुदी, (४) उणादिवृत्ति, (५) परिभाषावृत्ति, (६) यङ्लुग्वृत्ति। इतर ग्रन्थों का नाम यह है—(७) भूरिप्रयोग कोश; (८) आचार-चन्द्रिका (धर्म-शास्त्र); (९) छन्दोरत्न (छन्दःशास्त्र), (१०) आनन्दलहरी (माघ काव्य की टीका) तथा (११) गोपाल चरित (काव्य)। ये परम वैष्णव थे। उणादिवृत्ति के आरम्भ में गोपीजन-वल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण को इन्होंने प्रणाम किया है जिससे इनकी वैष्णवता स्पष्टतया अनुमेय है।

इस सम्प्रदाय के कतिपय ग्रन्थकारों का भी परिचय मिलता है। विष्णुमिश्र, श्रीधरचक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा काशीश्वर सूत्रपाठ के टीकाकार हैं जिनमें विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द नाम्नी टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। रामनाथ सिद्धान्त ने सुपद्म की परिभाषावृत्ति पर अपनी टीका लिखी थी। अनेक ग्रन्थ अभी तक हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं, अभी प्रकाशित होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं है। इस सम्प्रदाय का प्रचलन बंगाल के ही किन्हीं भागों में सीमित है। फलतः प्रान्तीय प्रख्याति से अधिक इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि नहीं हो सकी।

गौडीय वैष्णवों तथा शैवों ने स्वसम्प्रदायानुसारी व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। इनमें रूपगोस्वामी (१६ शती) ने हरिलीलामृत व्याकरण का निर्माण किया जिसमें समग्र पारिभाषिक शब्दावली कृष्णमत से सम्बद्ध है। जैसे 'स्वर' के लिए कृष्ण नाम का प्रयोग यहाँ किया गया है। प्रबोधप्रकाश (१५ शती) नामक वैयाकरण ने अपने व्याकरण ग्रन्थ में शैवधर्म से सम्बद्ध नामावली का प्रयोग किया। इस प्रकार धार्मिक परिवेश में संस्कृत के शिक्षण का यह समुद्योग अपनी शैली में नितरां अनुपम है।

---

१. बुधैरुणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो
मनीषि-दामोदरदत्त-सूनुना।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं
विधिः समग्रः सुगमं समस्यते॥

ऊपर हमने भोज-व्याकरण के नाम से एक नवीन व्याकरण-सम्प्रदाय की चर्चा की है, वस्तुतः उस व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। परन्तु भोज-व्याकरण के नाम से भी संस्कृत का एक नवीन व्याकरण ग्रन्थ लिखा गया था। लेखक का नाम है विनयसागर उपाध्याय जो अंचलगच्छाधिराज कल्याणसागर सूरीश्वर के शिष्य थे। विनयसागर ने अपने आश्रयदाता, सौराष्ट्र की राजधानी भुजनगर (भुज) के स्वामी, भारमल्ल के पुत्र, राजा भोज की तुष्टि के लिए लिखा इसे था। भोजराज की आज्ञा से ही यह नवीन व्याकरण लिखा गया था[1]। यह राजा सौराष्ट्र पर १६३१ ई० से १६४५ ई० तक शासन करता था और इसी काल के बीच 'भोज-व्याकरण' का निर्माण किया गया। भोजराज विद्वानों के आश्रयदाता थे और इन्हीं के परामर्श से अनेक विद्वानों की मण्डली ने धर्मप्रदीप नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। यह एक मान्य निबन्ध-ग्रन्थ है। भोज-व्याकरण की विशिष्टता का संकेत विनयसागर उपाध्याय ने नीचे के पद्य में किया है। इन्होंने जहाँगीर के शासन-काल में १६११ ई० में एक हस्तलेख की प्रतिलिपि की थी।

सकल - समीहित - तरणं
हरणं दुःखस्य कोविदाभरणम्।
श्री भोज - व्याकरणं
पठन्तु तस्मात् प्रयत्नेन ॥

---

१. श्री भारमल्लतनयो भुवि भोजराजो
राज्यं प्रशास्ति रिपुवर्जितमिन्द्रवन्द्यः।
तस्याज्ञया विनयसागर-पाठकेन
सत्यप्रबन्धरचिता सुतृतीयवृत्तिः ॥
—ग्रन्थ के हस्तलेख का अन्तिम पद्य।

सप्तम खण्ड

पालि तथा प्राकृत व्याकरण

(क) पालि-व्याकरण के सम्प्रदाय

यह असम्भव था कि संस्कृत-भाषा की विपुल वैयाकरण चिन्ता का प्रभाव पालिभाषा को अछूता रख सके। फलतः संस्कृत-व्याकरणों के द्वारा प्रभावित तथा वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर पालिभाषा के लिए भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण प्राचीन-काल में ही होने लगा। उद्देश्य था तथागत के वचनों का यथार्थ तात्पर्य हृदयंगम करना। और व्याकरण के साहाय्य के अभाव में यह सम्भव न था। पालि के व्याकरण ने भी 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' को अपने लिए भी मुख्य तात्पर्य स्वीकार किया। पालि व्याकरणों की यह विशेषता बड़े महत्त्व की है कि वहाँ व्याकरण के पाँच सम्प्रदाय थे—(१) बोधिसत्त व्याकरण, (२) कच्चायन व्याकरण, (३) सब्बगुणाकर व्याकरण, (४) मोग्गलायन व्याकरण तथा (५) सद्दनीति व्याकरण। मेरी दृष्टि में यह क्रमिक विन्यास ऐतिहासिक क्रम को लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रथम तथा तृतीय सम्प्रदाय तो सर्वदा के लिए लुप्त हो गये हैं। अवशिष्ट तीन सम्प्रदाय भारत, सिंघल तथा वर्मा में क्रमशः उद्भूत तथा पल्लवित हुए हैं। इनमें प्राचीनता तथा ग्रन्थसम्पत्ति की दृष्टि से कच्चायन व्याकरण ही सर्वाधिक महत्त्वशाली है।

कच्चायन—व्यक्तित्व

कच्चायन (संस्कृत कात्यायन) का व्यक्तित्व धुँधले अतीत को पार कर आज तक विशद आलोक में नहीं आया। कच्चायन नामधारी अनेक आचार्यों का परिचय पालि-साहित्य में मिलता है। प्राचीन परम्परा बुद्ध के मुख्य शिष्यों में से अन्यतम महाकच्चायन थेर को ही इस व्याकरण के रचयिता के रूप में मानती आती है। ये सिद्धान्तों के बड़े व्याख्याता तथा उत्तम वैयाकरण के रूप में नितान्त प्रसिद्ध हैं। फलतः नाम की समता के द्वारा भी पुष्ट होकर महाकच्चायन ही इस व्याकरण के मूल निर्माता माने जाते हैं। परन्तु इस परम्परा के पोषक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। बुद्धघोष ने 'मनोरथपूरणी' में कच्चायन का पूर्ववृत्तान्त वितरशः वर्णित किया है, परन्तु व्याकरण ग्रन्थ के लेखन का कहीं उल्लेख नहीं है। यदि महान् कच्चायन के द्वारा इसे निर्मित होने का तथ्य यथार्थ होता, तो यहाँ उल्लेख अवश्य-

म्भावी था। अट्ठकथा (पालि त्रिपिटक की टीका) में व्याकरण-सम्बद्ध प्रसंगों की न्यूनता नहीं है जिनमें इस शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दों का विधिवत् निर्देश है। सन्धि, व्यञ्जन, आमेण्डित (आम्रेडित), उपसग्ग, निपात आदि अनेक पारिभाषिक संज्ञायें अट्ठकथायों में उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनका संकेत इस व्याकरण की ओर न होकर किसी इतर व्याकरण-सम्प्रदाय की ओर है। पाणिनिसम्मत अनेक तथ्यों की उपलब्धि यहाँ बहुशः होती है। बुद्धघोष के द्वारा प्रदर्शित 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति अष्टाध्यायी (५।२।९३) को स्पष्ट लक्षित करती है[1]। अन्यत्र 'भगवा' शब्द की व्युत्पत्ति 'भाग्यवा' से बतला कर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० ६।३।१०९) पाणिनि सूत्र को स्पष्ट उद्धृत किया गया है[2]। फलतः अट्ठकथा का निर्देश कच्चायन व्याकरण की ओर कथमपि नहीं माना जा सकता। इसलिए इस व्याकरण के लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध महाकच्चायन थेर के साथ स्थापित करना कथमपि न्याय्य तथा सुसंगत नहीं है। न तो ये पाणिनि-सम्प्रदाय के वार्तिककार वररुचि-कात्यायन के साथ भी तादात्म्य रखते हैं। काल की भिन्नता इसमें प्रधान बाधिका है। वार्तिककार का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक है। इस तादात्म्य को मानने पर अट्ठकथा की स्थिति अव्याख्यात ही रह जाती है। फलतः इन दोनों प्रख्यात आचार्यों से कच्चायन का व्यक्तित्व कथमपि साम्य अथवा तादात्म्य धारण नहीं कर सकता।

कच्चायन व्याकरण

पालि का सर्व-प्राचीन यह व्याकरण सूत्रबद्ध है। इसके सूत्रों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। 'न्यास' में सूत्रों की संख्या ७१० बतायी गई है, परन्तु कच्चायन व्याकरण के सभी प्रामाणिक संस्करणों में सूत्रों की संख्या ६७५ दी गई है। 'न्यास' की सूत्रसंख्या सूत्रों के योगविभाग से तथा वार्तिकों के योग से निष्पन्न मानी जा सकती है। इस व्याकरण के दो नाम और मिलते हैं—(१) कच्चायनगन्ध और (२) सुसन्धिकप्प। इस द्वितीय नाम की पुष्टि ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोक से भी होती है—"वक्खामि सुत्तहितमेत्थ सुसन्धिकप्पम्"। इसके तीन अवयव हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण जिनकी रचना के विषय में प्राचीन परम्परा यों बोलती है—

> कच्चानेन कतो योगो, वुत्ति च सङ्घनन्दिनो।
> पयोगो ब्रह्मदत्तेन, न्यासो विमलबुद्धिना॥

१–२. द्रष्टव्य—कच्चायन व्याकरण की भूमिका, पृ० ५३, (काशी सं० सन् १९६२)।

फलतः कच्चायन-रचित सूत्र, (योग), सङ्घनन्दि की वृत्ति तथा ब्रह्मदत्त-निर्मित उदाहरणों से सम्पन्न इस व्याकरण ग्रन्थ पर कालान्तर में विमलबुद्धि ने 'न्यास' नामक भाष्य लिखा।

इस व्याकरण के चार भाग हैं और प्रतिभाग में अनेक काण्ड हैं। सन्धिकप्पो, नामकप्पो, आख्यात कप्पो, किब्बिधान कप्पो—इन चार भागों में काण्ड हैं क्रमशः पाँच, आठ, चार तथा छः। इस प्रकार २३ काण्डों में विभक्त यह ग्रन्थ पालि के समग्र व्याकरण को एकत्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। नामकप्पो में कारक, समास और तद्धित का विवरण एक-एक काण्ड में क्रमशः है। अन्तिम खण्ड में कृत् प्रत्ययों का विशेष विधान उपलब्ध है। 'धातु मंजूषा' जिसमें पालि के धातुओं का गणानुसारी वर्गीकरण तथा संकलन है इसका सहायक ग्रन्थ है। संस्कृत का कौन व्याकरणसम्प्रदाय इसका प्रेरक है? इन प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् पाणिनि का ही इस पर विशेष भाव मानते हैं, परन्तु कतिपय सूत्रों को प्रभावित करने के अतिरिक्त पाणिनि का महत्त्व यहाँ अधिक नहीं है। कातन्त्र व्याकरण का सार्वभौम प्रभाव यहाँ निःसन्देह अधिकतर तथा व्यापक है। यह प्रभाव दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—प्रकरणों के निर्माण में तथा सूत्रों के स्वरूप में। कातन्त्र व्याकरण के चार प्रकरणों के आधार पर ही यहाँ प्रकरण-चतुष्टय का तद्वत् विषयानुसारी सन्निवेश है। सूत्रों का साम्य तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कातन्त्र-व्याकरण के सैकड़ों सूत्रों की छाया लेकर कात्यायन ने अपने पालिसूत्रों का प्रणयन किया है[1]। दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे। कच्चायन ने 'रक्खणत्थानमिच्छितं' (सूत्र संख्या २७५) सूत्रद्वारा अपादान का तथा 'कालभावेसु च' (सूत्र संख्या ३१५) सूत्र के द्वारा सप्तमी का विधान किया है। ये सूत्र क्रमशः कातन्त्र के 'इप्सितं च रक्षार्थानाम्' (२।४।१६) तथा 'कालभावयोः सप्तमी' (२।४।३४) सूत्रों के अक्षरशः अनुवाद हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में संस्कृत व्याकरण का शास्त्रीय विवेचन है, कातन्त्र में व्याहारिक संस्कृत का ही विवरण है। फलतः कच्चायन ने व्यवहारानुकूल कातन्त्र को ही अपना आदर्श मान कर उसका ही आश्रयण किया है।

काल—इस व्याकरण का रचनाकाल अनुमानतः साध्य है। बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धर्मपाल के द्वारा अट्ठकथाओं में उल्लेखाभाव से यह षष्ठ शतक से पूर्ववर्ती कथमपि नहीं हो सकता। इस व्याकरण के ऊपर कालान्तर में निर्मित भाष्यरूप न्यास की व्याख्या न्यासप्रदीप में की गई है जिसे बर्मा के प्रख्यात भिक्षु 'छपद' ने १२वीं

---

१. विशेष द्रष्टव्य कच्चायन व्याकरण (पृ० ४४३–४४७) काशी संस्करण १९६२।

शती के अन्त में निबद्ध की थी। फलतः 'न्यास' का समय दशमशती मानना उचित है। अतएव बुद्धघोष तथा न्यास के मध्यवर्ती काल में इसको रचना सम्पन्न हुई थी—लगभग सप्तम शती में। काशिका वृत्ति के द्वारा प्रभावित होने पर भी समय के इस निरूपण में कथमपि विप्रपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, क्योंकि काशिका की रचना का काल षष्ठशती का प्रारम्भ ऊपर निश्चित किया गया है।

कच्चायन सम्प्रदाय के ग्रन्थ

संस्कृत व्याकरण की टीका-प्रटीका वाली शैली पालि साहित्य में भी विद्यमान है। इस सम्प्रदाय में विपुल ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा व्याख्या-ग्रन्थों का ही बाहुल्य है। प्रसिद्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(क) कच्चायन न्यास—इसके प्रणेता विमलबुद्धि के देशकाल का इदमित्थं निर्देश उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् इन्हें सिंघली मानते हैं, तो अन्य वर्मी। इसकी न्यासप्रदीप नाम्नी व्याख्या बर्मी भिक्षु छपद ने लिखी १२ वीं शती के अन्त में। फलतः विमलबुद्धि का समय सप्तम तथा एकादश शतियों के मध्य में कभी मानना चाहिए। यह बड़ी ही प्रामाणिक, प्रमेयबहुल तथा मर्मोद्घाटिनी व्याख्या मानी जाती है। सूत्रों का रहस्य विस्तार से यहाँ विवृत तथा विवेचित है।

(ख) सुत्तनिद्देश—मूल सूत्रों की टीका। लेखक वही बर्मी भिक्षु छपद। रचना का काल ११८१ ई० निश्चित है।

(ग) रूपसिद्धि—इसको हम कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय की 'सिद्धान्त-कौमुदी' कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ कच्चायन सूत्रों का भिन्नक्रम से प्रक्रियानुसारी संकलन है। इसके लेखक हैं बुद्धप्पिय-दीपंकर जो चोल देश के निवासी होने के कारण 'चोलिय दीपंकर' नाम्ना प्रख्यात हैं। इसकी महत्ता दिखलाने के लिए 'महारूप-सिद्धि' नाम से भी यह पुकारा जाता है। भाषा तथा शैली की दृष्टि से यह अतिगम्भीर और पूर्ण विकसित व्याकरण ग्रन्थ है। समय है १३ शती का अन्तिम भाग।

(घ) बालावतार—कच्चायन का लघु संक्षिप्त रूप। इसे सम्प्रदाय की 'लघु-कौमुदी' कहना नितान्त उपयुक्त है। लेखक हैं धम्मकित्ति तथा समय है १४ शती।

(ङ) कच्चायन वण्णना—कात्यायन सूत्रों की प्रौढ़ टीका। शैली भाष्य के समान है। सूत्रों पर सन्देह उठाकर प्रथमतः पूर्वपक्ष की प्रस्तावना है। तदनन्तर उसका विस्तृत समाधान है। बर्मा के प्रख्यात भिक्षु महाविजितावी ने १७वीं शती के आरम्भ में इसका प्रणयन किया। सूत्रों के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(च) धातु-मंजूषा—इसके रचयिता सीलवंस ने पालि की धातुओं का पद्यबद्ध संकलन किया हैं जो आख्यातों का स्वरूप-निर्देशक होने से विशेष उपयोग रखता है।

इस व्याकरण में बहुत-सी एकाक्षरी पारिभाषिक संज्ञायें निर्दिष्ट हैं जिनके आधार खोजने की आवश्यकता है। यथा सम्बोधन के अर्थ में सि (प्रथमा) विभक्ति की 'ग' संज्ञा होती है (सू० ५७); इवर्ण तथा उवर्ण की क्रमशः झ और ल संज्ञायें होती हैं (सू० ५८); इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की प संज्ञा होती है (सू० ५९) आदि-आदि। इस प्रकार पारिभाषिक संज्ञाओं की कल्पना से लघ्वक्षर सूत्रों के स्वरूप की पूर्ण रक्षा हो जाती है और इसीलिए ये मान्य हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भी सत्ता इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

(छ) सम्बन्ध चिन्ता—पदों के पुञ्ज को वाक्य कहते है जिसमें आने वाले पदों का पारस्परिक सम्बन्ध रहता है। क्रिया-कारक के इन सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया। इसके रचयिता है संघरक्षित थेर। इसका रचनाकाल सुत्तनिद्देस के समय में अर्थात् १२ वीं शती के उत्तरार्ध के आसपास माना जाता है। इस गद्य-पद्यमय ग्रन्थ में गद्यभाग ही पद्यभाग की अपेक्षा अधिक है।

(ज) कारिका—धम्म सेनापति ने बरमा के राजा अनोरत के पुत्र के शासन-काल में 'कारिका' नामक इस व्याकरणग्रन्थ का निर्माण किया। रचना का समय ११ वीं शती है। इन कारिकाओं का आधार कच्चायन का व्याकरण है। कारिकाओं की संख्या ५६८ है। ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने व्याकरण से सम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों का भी संकलन किया है जैसे शब्द-विनिश्चय, शब्दानुशासन-विनिश्चय आदि। लेखक ने इसके ऊपर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है।

(झ) सद्दत्थभेदचिन्ता—(=शब्दार्थभेदचिन्ता)। ग्रन्थ के लेखक हैं बरमा के थेर सद्धम्मसिरि जो १२ शताब्दी के अन्तिम चरण में वर्तमान माने जाते हैं। ग्रन्थ का मुख्य विषय है शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन। इस प्रकार यह ग्रन्थ 'सम्बन्धचिन्ता' का पूरक ग्रन्थ माना जा सकता है। दोनों का रचनाकाल भी प्रायः समसामयिक है।

इससे लगभग दो शताब्दी पीछे लिखा गया ग्रन्थ (ञ) सद्द-सारत्थ-जालिनी विषय की दृष्टि से और भी प्रौढ तथा विशद विवरण प्रस्तुत करता है। ५१६ कारिकाओं में निर्मित इस ग्रन्थ में व्याकरण के तात्त्विक विषयों के विवेचन के संग में शब्द, अर्थ, सन्धि, तद्धित, आख्यात आदि जैसे पारिभाषिक शब्दों का भी विवरण उपलब्ध होता है। फलतः पालिव्याकरण की समग्रता की दृष्टि से यह निःसन्देह महत्त्वशाली है। रचयिता है भदन्त 'नागित' थेर तथा रचना का काल है १४ शती। इसी युग के (ट) कच्चायन भेद की ख्याति कम नहीं है। बरमा के भिक्षु महायस की यह रचना आधारित है

कच्चायन के व्याकरण पर ही, परन्तु सूत्रबद्ध न होकर कारिकाबद्ध है। १७८ कारिकायों में निबद्ध इस ग्रन्थ पर सारत्थ-विकासिनी तथा कच्चायनभेद-महाटीका नाम्नी टीकायें अत्यन्त विश्रुत हैं। इतना ही नहीं, महायस ने ही कच्चायन के सार-संकलन निमित्त (ठ) कच्चायनसार नामक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन किया। कारिकाओं की संख्या केवल बहत्तर ७२ ही है, परन्तु इतने ही में कच्चायन के विषयों का सार प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें बालावतार, रूपसिद्धि, तथा सम्बन्ध-चिन्ता आदि ग्रन्थों से उद्धरण वर्तमान हैं। ग्रन्थकार ने इसे स्वोपज्ञ टीका से भी विभूषित किया जो आजकल उपलब्ध 'कच्चायनसार-पोराणटीका' से अभिन्न मानी जाती है (डा० गाइगर के मत से)। इस पर एक दूसरी व्याख्या भी है 'सम्मोह-विनाशिनी' नाम्नी भिक्षु सद्धम्मविलास की रचना, जिससे ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि थाटोन (बरमा) के निवासी महायस का पालि-व्याकरण को लोकप्रिय बनाने में विशेष हाथ रहा है।

इनके अतिरिक्त छोटे-मोटे ग्रन्थों की भी उपलब्धि होती है। जैसे बरमा के किसी राजा द्वारा रचित सद्दबिन्दु (२० कारिकाओं में), महाविजितावी रचित वाचकोपदेश (गद्यपद्य मिश्रित ग्रन्थ) तथा सिरि सद्धम्मालंकारकृत 'अभिनवचूल निरुत्ति' (कच्चायन-सूत्रों के अपवाद का विवरण)। परन्तु कच्चायनवण्णना की प्रौढता तथा विशदता का दर्शन कम ही ग्रन्थों में होता है। शैली इसकी भाष्यानुसारिणी है जिसमें पूर्वपक्ष का विन्यास तथा समाधान देकर सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन है। लेखक की जागरूकता तथा वैदुषी की यह पहिचान है कि वह स्वसम्प्रदायी 'न्यास' तथा 'रूप सिद्धि' के मतों पर ही विमर्श नहीं करता, प्रत्युत परसम्प्रदायी 'सद्दनीति' के सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है। ग्रन्थ के आरम्भ में कच्चायन व्याकरण की उत्पत्ति तथा ग्रन्थ के प्रणेता कच्चायन पर भी विवेचना कर लेखक ने अपने व्यापक दृष्टि का प्रमाण उपस्थित किया है।

(२) मोग्गलान व्याकरण

पालि के प्रौढ व्याकरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक होने की दृष्टि से मोग्गलान पालि-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सिंघल के राजा पराक्रम बाहु (११५३ ई०–११८६ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। मोग्गलान महाथेर अपने समय के संघराज थे। ये लंका के प्रख्यात नगर अनुराधपुर के थूपाराम विहार में रहते थे और सम्भवतः यह व्याकरण वहीं लिखा गया होगा—यह अनुमान करना स्वाभाविक है। यह व्याकरण सूत्रों में निबद्ध है और सूत्रों की संख्या ८१७ है। यह पूर्ण पञ्चाङ्ग व्याकरण है अर्थात् सूत्रों के अतिरिक्त, धातुपाठ, गणपाठ, ण्वादि

(उणादि-पाठ) तथा नामलिङ्गानुशासन भी उपलब्ध होता है। इस समग्रता का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में लेखक द्वारा किया गया है—

सुत्त-धातु-गणो-ण्वादि-नामलिङ्गानुसासनं,
यस्स तिट्ठति जिह्वग्गे सो ब्याकरणकेसरी।

सूत्रपाठ ६ काण्डों में विभक्त है—सञ्ञादिकण्डो, स्यादिकण्डो, समासकण्डो, णादिकण्डो, खादिकण्डो तथा त्यादिकण्डो। केवल ८१७ सूत्रों के द्वारा पालिभाषा का विशद व्याकरण प्रस्तुत करना सचमुच ही श्लाघनीय व्यापार है। धातुओं की संख्या साढ़े पाँच सौ के लगभग है। वे नवगणों में विभक्त हैं, परन्तु इन गणों का क्रम पाणिनीय पद्धति से भिन्न तथा पृथक् है। यहाँ स्वीकृत नवगणों के नाम हैं—(१) भ्वादि, (२) रुधादि, (३) दिवादि, (४) तुदादि, (५) ज्यादि, (६) क्यादि, (७) स्वादि, (८) तनादि तथा (९) चुरादि। पाणिनीय क्रम से कुछ भिन्नता यहाँ रखी गई है। गणपाठ तथा उणादि पाठों की सत्ता इस व्याकरण के वैशद्य का सूचक है[1]।

ग्रन्थ-सम्पत्ति

(१) मोग्गलान ने सूत्रों के ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी और इस वृत्ति पर अपनी पंचिका (व्याख्या) भी[2]। वृत्ति तो पहले ही उपलब्ध थी, परन्तु 'पञ्चिका' का उद्धार सिंहल के धर्मानन्द महास्थविर ने अभी हाल में ही किया है। ताडपत्र पर लिखी एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर अश्रान्त परिश्रम कर उन्होंने इस महनीय ग्रन्थ का वैज्ञानिक तथा विशद संस्करण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मूल लेखक के

---

१. इन पाँचों अंगों के लिए द्रष्टव्य जगदीश काश्यप रचित पालि-महाव्याकरण (द्वितीय सं०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३) यह महा-व्याकरण मोग्गलान के सूत्रों को लेकर निर्मित है। फलतः मोग्गलान के ज्ञान के लिए विशेष उपयोगी है।

२. वृत्ति तथा पंजिका के भीतर विद्यमान पार्थक्य को राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में दिखलाया है। सूत्राणां सकलसार-विवरणं वृत्तिः। विषमपद-भञ्जिका पञ्जिका (द्वितीय अध्याय) वृत्ति में सूत्रों के सार-संकलन पर आग्रह होता है। और पञ्जिका में विषम पदों को तोड़कर अलग कर देने पर निष्ठा होती है। वृत्ति अर्थ के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त होती है, तो पञ्चिका विषम पदों के अर्थ-प्रतिपादन के लिए अग्रसर होती हैं। फलतः पञ्जिका आकार मे विपुल तथा अर्थ-विवरण में गम्भीर होती है।

द्वारा ही स्वोपज्ञ वृत्ति तथा पञ्जिका के निर्माण के कारण यह व्याकरण इतना पुष्ट तथा पूर्ण है। मोग्गलान ने पाणिनि तथा कातन्त्र के अतिरिक्त चन्द्रगोमी से भी पर्याप्त सहायता ली है जिससे ग्रन्थ में इतनी प्रौढि आ गई है।

(२) पद-साधन—मोग्गलान के ही शिष्य पियदस्सी (प्रियदर्शी) ने इसकी रचना की है जो कच्चायन-मतानुसारी 'बालावतार' की भाँति मोग्गलान व्याकरण का संक्षेप है।

(३) प्रयोगसिद्धि—प्रयोगों को ध्यान में रखकर वनरतन महाथेर ने इसका निर्माण किया कच्चायन सम्प्रदायी रूपसिद्धि के समान हो। समय १३ शती के लगभग।

(४) पञ्जिका-प्रदीप—यह ग्रन्थ मोग्गलान की 'पञ्जिका' की ही सिंहलीभाषा में अत्यन्त प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। 'पञ्जिका' के प्रकाशन से पूर्व यही ग्रन्थरत्न शास्त्रीय विवरणों का प्रतिपादक एकमात्र ग्रन्थ था। आज पंजिका प्रकाशित है, तथापि इस प्रदीप का महत्त्व कथमपि न्यून नहीं है। प्रदीप के रचयिता राहुल 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। वे 'षड्भाषा-परमेश्वर' की उदात्त पदवी से भी सम्मानित हैं। फलतः उनका यह सिंहली ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, गम्भीर तथा व्याकरणतत्त्वों का विशिष्ट प्रतिपादक है। प्रदीप का रचनाकाल १४५७ ई० माना जाता है। इन्होंने बुद्धिप्पसादनी टीका भी निर्मित की थी।

इनके अतिरिक्त पालि-व्याकरण से सम्बद्ध महनीय ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—संघराज श्री सारिपुत्र रचित 'पदावतार'; संघराज संघरक्खित महाथेर कृत सुसद्दसिद्धि; सम्बन्ध-चिन्ता; तथा सारत्थविलासिनी। यह ग्रन्थसम्पत्ति पालि-व्याकरण के महत्त्व की पर्याप्त परिचायिका है।

(३) सद्दनीति व्याकरण

सद्दनीति व्याकरण को हम पालिभाषा का तृतीय तथा सर्वापेक्षया परिबृंहित सम्प्रदाय मानते हैं। इस ग्रन्थ की रचना मोग्गल्लान व्याकरण के समकालीन है। यह बर्मा के बौद्ध पाण्डित्य का अप्रतिम निदर्शन है। बर्मी भिक्षु अग्गवंस ने ११५४ ई० में इसका निर्माण किया। ये बर्मा के प्रभावशाली राजा 'नरपति सिथु' के गुरु थे। अग्गवंस बर्मा के ही मूल निवासी थे। इस व्याकरण की रचना कर उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की अवतारणा की जो आज भी बर्मी पाण्डित्य का निकष-ग्रावा है। आधारित है यह कच्चायन पर ही, परन्तु अपने वैशद्य तथा विस्तार के कारण यह 'थेरवाद के अक्षय भण्डार' की उपाधि से मण्डित किया जाता है। यह

ग्रन्थ पूर्व दोनों सम्प्रदायों से विशेष समृद्ध तथा पूर्ण माना जाता है। और यह प्रसिद्धि नितान्त यथार्थ है। इसके तीन भाग हैं—(क) 'पदमाला' (विवरण है पदों का), (ख) धातुमाला (धातु तथा तन्निष्पन्न शब्द), (ग) सुत्तमाला (समस्त पालि-व्याकरण का व्याख्यान)। सुत्तमाला में १३९१ (एक सहस्र तीन सौ एकानवे) सूत्र है जो पूर्ववर्ती दोनों व्याकरण के सम्मिलित सूत्रों की संख्या के बराबर है। यह व्याकरण सिंघली सम्प्रदाय से पूर्ण स्वतन्त्र रह कर अपनी विशिष्ट शैली पर विकसित हुआ है जिसमें बर्मा के पालि-पाण्डित्य का निदर्शन पदे-पदे उपलब्ध होता है। इस सम्प्रदायकी धातुओं का संकलन पद्यों में किया गया है। इसके रचयिता बरमी भिक्षु 'हिंगुलवल जिनरतन' हैं। ग्रन्थ का नाम धात्वत्थदीपनी है।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण से प्रेरणा तथा उत्साह ग्रहण कर पालि का यह व्याकरण-सम्प्रदाय अपने दृष्टिकोण तथा व्यापक पाण्डित्य के लिए सर्वदा स्मरणीय रहेगा[1]।

(ख) प्राकृत-व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के आधार पर प्राकृत भाषा के नियमों के परिज्ञान के निमित्त प्राकृत व्याकरणों का निर्माण हुआ। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति है 'प्रकृति से निष्पन्न भाषा' और यहाँ प्रकृति से तात्पर्य संस्कृत-भाषा से है। फलतः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' यह कथन प्रत्येक व्याकरणकर्ता को मान्य था, चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे जैन। जैन-धर्म के मूल ग्रन्थों को आर्ष प्राकृत में निबद्ध होने पर भी प्राकृतज्ञ जैन विद्वान् संस्कृत को प्राकृत के मूल मानने में पूर्ण आस्था रखता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तीन प्रकार ही विशेष रूप से उपलब्ध हैं—महाराष्ट्री (पद्यों में), शौरसेनी (गद्य में) तथा मागधी (नीच पात्रों के भाषण में)। इनके अतिरिक्त पैशाची-भाषा की भी स्थिति मानी जाती है। महावीर स्वामी के उपदेश 'अर्धमागधी' में निबद्ध हैं जिन्हें 'आर्ष प्राकृत' की भी संज्ञा प्राप्त है। प्राकृत की 'विभाषा' भी अनेक हैं जिनमें आवन्ती, टाक्की, शकारी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ये नाटकों के विभिन्न पात्रों के लिए ही स्वीकृत की गई हैं। 'विभाषा' का अर्थ शिथिल नियमों से सम्पन्न प्राकृत भी

---

१. 'कच्चायन व्याकरण' का बड़ा ही वैज्ञानिक संस्करण पण्डित लक्ष्मीनारायण तिवारी ने परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है (प्र० तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६२)। इसके आरम्भ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना पर ऊपर का विवरण आधारित है जिसके लिए यह लेखक उनका विशेष आभार मानता है।

माना जाता है। अनेक विभाषाओं का प्रयोग 'मृच्छकटिक' प्रकरण में विशेषरूप से मिलता है।

प्राकृत भाषा के विभिन्न भेदों के वर्णन के लिए हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में बड़ी उपयोगी सामग्री दी है। देश भर में राष्ट्र-भाषा के रूप में व्याप्त होने वाली प्राकृत निःसन्देह महाराष्ट्री ही थी। 'महाराष्ट्री' का अर्थ कुछ पण्डित लोग महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा न मानकर पूरे भारत के महान् राष्ट्र की भाषा मानते हैं। इसीलिए महाराष्ट्री का विवरण विस्तार से प्रत्येक प्राकृत व्याकरण में मिलना स्वाभाविक है। हेमचन्द्र ने शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका-पैशाची के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया है। मार्कण्डेय कवीन्द्र का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने भाषा के साथ विभाषाओं का भी वर्णन किया है। भाषायें तो हेमचन्द्र-सम्मत ही हैं। विभाषाओं में नवीनता है। प्राच्या, आवन्ती तथा अर्धमागधी का उल्लेख भाषा के प्रसंग में है। शकारी, चाण्डाली, आभीरी तथा औड्री के साथ शाबरी, टाक्की, नागर तथा उपनागर अपभ्रंश तथा पैशाची का भी विवरण दिया गया है। विभाषाओं के लिए उदाहरण 'मृच्छकटिक' से अधिकतर दिया गया है। पता नहीं चलता कि इनके लिए मार्कण्डेय के पास कोई इतर ग्रन्थ भी प्रस्तुत था या नहीं। प्रतीत यही होता है कि मार्कण्डेय एक बुद्धिमान् संग्रहकर्ता थे। मृच्छकटिक की ही भाषा का विश्लेषण कर उन्होंने नई विभाषाओं की भी कल्पना प्रस्तुत की है। जैसे शकार जैसा पात्र तो इस प्रकरण से अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः 'शकारी' का क्षेत्र नितान्त संकुचित है। 'पैशाची' के लक्षण का तो हमें परिचय मिलता है, परन्तु उसके उदाहरणों की यथार्थता में हमें पूरा सन्देह है।

प्राकृत वैयाकरणों में दो ही मुख्य हैं—वररुचि तथा हेमचन्द्र, परन्तु वररुचि से पूर्व काल में तथा हेमचन्द्र से अवान्तर काल में भी अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। प्राकृत व्याकरणों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ का नाम है **प्राकृतलक्षण**[1] जिसे चण्ड (या चन्द्र) ने प्रस्तुत किया था। यह ९९ या १०३ सूत्रों में निबद्ध है और इस प्रकार उपलब्ध व्याकरणों में संक्षिप्ततम है। ग्रन्थ के आदि में वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम तथा उदाहरणों में अर्हन्त (सूत्र २४ और ४६) तथा जिनवर (सू० ४८) का उल्लेख लेखक को जैन सिद्ध करता है। इसमें सामान्य प्राकृत का निरूपण किया गया है जो अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा वर्णित प्राकृत के मध्ययुग की बोली थी। वह अश्वघोष तथा भास के प्राकृत से साम्य

---

१. डा० हार्नले द्वारा बिब्लिओथिका इण्डिया (कलकत्ता) में प्रकाशित १८८० तथा नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा हिन्दी अनुवाद से युक्त 'आर्ष, प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रकाशित, १९१२।

रखती है। इसीलिए इसका समय ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नहीं। प्राकृत-लक्षण चार पादों में विभक्त है जिनके द्वारा वर्ण-परिवर्तन, रूपसिद्धि आदि का संक्षिप्त विवरण है। अन्त में चार सूत्र मिलते हैं जिनमें क्रमशः अपभ्रंश, पैशाची, मागधिका तथा शौरसेनी का मुख्य लक्षण एक-एक सूत्र में दिया गया है। इसमें वर्णित सामान्य प्राकृत को अनेक विद्वान् जैन धर्म ग्रन्थों को भाषा स्वीकार करते हैं।

वररुचि

चण्ड के लगभग दो शताब्दियों के अनन्तर वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश की रचना की जो प्राकृत-भाषा का सर्वोत्तम लोकप्रिय व्याकरण ग्रन्थ है। प्रख्यात आलंकारिक भामह (५ शती) द्वारा वृत्ति (मनोरमा) लिखने के कारण प्राकृत-प्रकाश का रचनाकाल चतुर्थशती में मानना उचित प्रतीत होता है। इसमें १२ परिच्छद हैं जिनमें आरम्भिक नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का (यद्यपि यह नाम ग्रन्थ में निर्दिष्ट नहीं है), दसवें में पैशाची का, इग्यारहवें में मागधी का और अन्तिम बारहवें में शौरसेनी का व्याकरण वर्णित है। वररुचि के अनुसार मूल प्राकृत महाराष्ट्री ही है और इसीलिए उसका व्याकरण—स्वरविधान, व्यञ्जन परिवर्तन, सुबन्त तथा तिङन्त-साङ्गोपाङ्गरूपेण विवृत किया गया है। अन्य प्राकृतों का परिचय नितान्त सामान्य है। प्राकृतप्रकाश में वर्णित भाषा की परीक्षा उसे पौरस्त्य सम्प्रदाय (पूर्वी प्राकृत स्कूल) से सम्बद्ध सिद्ध करती है। फलतः इसके लेखक वररुचि संस्कृत के वार्तिककार कात्यायन-वररुचि से सर्वथा भिन्न हैं जो दाक्षिणात्य माने जाते हैं। प्राकृतप्रकाश की अनेक टीकाओं से मण्डित होने का श्रेय है जिनमें भामह का मनोरमा[1] वृत्ति (गद्यमयी), कात्यायन की मञ्जरी[1] वृत्ति (पद्यमयी), सञ्जीवनी तथा सुबोधिनी[2] मुख्य है। इस टीका-सम्पत्ति से भी ग्रन्थ की महिमा और लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

पौरस्त्य प्राकृत व्याकरण की परम्परा के अन्तर्गत अनेक वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। लंकेश्वर या रावण नामक किसी व्यक्ति ने प्राकृतकामधेनु की रचना की, जिसका मंगलश्लोक इसे किसी विस्तृत ग्रन्थ का संक्षेप बतलाता है।

---

१. मनोरमा तथा मंजरी के साथ प्राकृतप्रकाश का सम्पादन कलकत्ते से हुआ है। सम्पादक वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय; प्रकाशक एस० के० लाहिरी कम्पनी, कलकत्ता १९१४ (बँगला अनुवाद के साथ)।

२. संजीवनी तथा सुबोधिनी का सम्पादन पं० बटुकनाथशर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने किया है। —सरस्वती भवन सीरीज, काशी १९२५। इस ग्रन्थ का परिवर्धित संस्करण अभी उसी सीरीजमें पं० बलदेव उपाध्याय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है (१९६९)।

यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है केवल ३४ सूत्रों का, जिनमें बहुत से सूत्र अस्पष्ट तथा दुरूह हैं। ११ वाँ सूत्र अ के स्थान पर उ का परिवर्तन बतला कर अपभ्रंश की ओर संकेत कर रहा है। समय का निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता। इस सम्प्रदाय का द्वितीय ग्रन्थ बंगाल के निवासी पुरुषोत्तम का **प्राकृतानुशासन** १२ वीं शती की रचना माना जाता है। आरम्भ के दो अध्यायों का अभाव है। तृतीय अध्याय अपूर्ण है। ग्रन्थ २० अध्यायों में समाप्त होता है। नवम अध्याय में शौरसेनी, दशम में प्राच्या, ११वें में अवन्ती, १२वें में विवृत मागधी-भाषायें हैं। विभाषाओं में शकारी, चाण्डाली, शाबरो और टाक्की के नियम दिये गये हैं। अनन्तर अपभ्रंश में नागरक, व्राचड, उपनागर के विवेचन के अनन्तर कैकेय पैशाचिक तथा शौरसेन पैशाचिक के लक्षण दिए गये हैं। इस ग्रन्थ का मूल्य विभाषा तथा अपभ्रंश के विविध प्रकारों के प्रतिपादन में हैं। इसी पर आधारित है रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य का **प्राकृत-कल्पतरु**[1]। पुरुषोत्तम के समान ये भी बंगाल के निवासी थे। समय लगभग १७वीं शती। प्राकृतकल्पतरु के तीन अध्यायों (शाखाओं) में प्राकृत की भाषा, विभाषा तथा अपभ्रंश के विविध भेदों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। प्रथम शाखा (दश स्तबक) में महाराष्ट्री का साङ्गोपांग विवरण दिया गया है। द्वितीय शाखा (तीन स्तवक) में शौरमेनी, प्राच्या, आवन्ती, बाह्लीकी, मागधी, अर्धमागधी तथा दाक्षिणात्या का विवेचन है। तृतीय शाखा में नागर अपभ्रंश व्राचड अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है। यहाँ पैशाचिक के अत्यन्त विचित्र भेद देशों के आधार पर कल्पित किए गये हैं जैसे कैकय, शौरसेन, पञ्चाल, गौड, मागध तथा व्राचड पैशाचिक। रामशर्मा का यह प्राकृत व्याकरण कल्पना के ऊपर खड़ा किया गया प्रतीत होता है। सब नियम लक्ष्य ग्रन्थों के ही आधार पर निर्मित किए गये हैं—ऐसा कहना संशय से शून्य नहीं है।

प्राकृतसर्वस्व

इस परम्परा में मार्कण्डेय कवीन्द्र का **प्राकृतसर्वस्व**[2] बड़ा ही लोकप्रिय, उपादेय तथा आकर्षक ग्रन्थ है। उडीसा के निवासी मार्कण्डेय राजा मुकुन्ददेव के समय में

---

१. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९५४) साथ में प्राकृतकामधेनु तथा प्राकृतानुशासन भी प्रकाशित हैं।

२. भट्टनाथ स्वामी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ प्रदर्शिनी सीरीज में प्रकाशित (विजगापट्टम, १९२७)। ग्रन्थ का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण आज भी अपेक्षित है।

वर्तमान थे, १७ वीं शती में। ग्रन्थ के आरम्भ में आधारभूत वैयाकरणों में शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि; भामह तथा वसन्तराज के नामों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की विशिष्टता है भाषा, विभाषा, अपभ्रंश तथा पैशाची के नाना भेदों का विशद विवेचन। ये समस्त भेद १६ हैं जिनमें भाषा है ५ प्रकार की (महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती तथा मागधी); विभाषा भी ५ प्रकार की (शकारी, चाण्डाली, शाबरी, औड्री, टाक्की), अपभ्रंश होते हैं तीन (नागर, व्राचड तथा उपनागर) तथा पैशाची भी होती है तीन प्रकार की (कैकय, शौरसेनी तथा पाञ्चाल)। प्राकृत-सर्वस्व का प्राकृतकल्पतरु के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से प्राकृत के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का आकलन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राकृत के ये नाना भेद इन दोनों ग्रन्थों का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ये प्रभेद हेमचन्द्र के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। मेरी दृष्टि में ये समस्त भेदोपभेद 'मृच्छकटिक' को ही लक्ष्य कर निर्मित तथा व्याख्यात हैं।

क्रमदीश्वर ने अपने संस्कृत व्याकरण के अन्तर्गत प्राकृत भाषा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भी इसी सम्प्रदाय की मान्यताओं का अनुसरण करता है। लंकेश्वर या रावण के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने शेषनाग के प्राकृत व्याकरण सूत्र पर एक वृत्ति लिखी थी, परन्तु मूल ग्रन्थों के हस्तलेख उपलब्ध न होने से रावण का ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रमाणतः पुष्ट नहीं होता।

हेमचन्द्र

प्राकृत के पश्चिमी सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वमान्य ग्रन्थ हेमचन्द्रका प्राकृत व्याकरण है, जो उनके 'शब्दानुशासन' का अन्तिम अध्याय है। हेमचन्द्र ने अष्टाध्यायी की प्रतिस्पर्धा में अपने 'शब्दानुशासन' को आठ अध्यायों में विभक्त किया है जिनमें आदि के सात अध्याय तो संस्कृत-भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करते हैं और अन्तिम (आठवाँ) अध्याय प्राकृत तथा अपभ्रंश का व्याकरण। हेमचन्द्र का व्याकरण[1] प्राकृत भाषाओं के परिज्ञान के लिए नितान्त उपयुक्त, विपुलतर तथा सुव्यवस्थित है। व्यवस्था तथा वैशद्य की दृष्टि से यह निःसन्देह अनुपम है। इसमें चार पाद हैं। प्रथम पाद (२७१ सूत्र) में सन्धि, व्यञ्जनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, स्वरव्यत्यय तथा व्यञ्जन-व्यत्यय का क्रमशः निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद (२१८ सूत्र) में संयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-

---

१. हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण डा० पी० एल० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक मोतीलाल लाढजी, पूना, १९२८। पिशेलकृत जर्मन अनुवाद, हाल्ले १८७७–८०। ढुंढिका टीका, भावनगर सं० १९६० विक्रमी।

विपर्यय, तद्धित, निपात तथा अव्यय का क्रमशः विवरण है। तृतीय पाद (१८२ सूत्र) में कारक विभक्तियों तथा क्रिया रचना सम्बन्धी नियम बतलाये गये हैं। चतुर्थ पाद (४४८ सूत्र) के आदि के २५६ सूत्रों में धात्वादेश और फिर शेष में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अन्त में अपभ्रंश भाषा के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। इस ग्रन्थ पर हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है जिसमें सूत्र के अर्थ तथा तदनुसारी उदाहरण दिये गये हैं।

हेमचन्द्र के इस व्याकरण का वैशिष्ट्य ध्यातव्य है। उन्होंने प्राकृत के प्रकारों में वृद्धि कर दी है। प्राकृत-प्रकाशाभिमत चार प्राकृत तो हैं ही, साथ ही साथ आर्ष-प्राकृत का भी वर्णन है, जिनमें जैन आगम की रचना की गई है और जो अर्धमागधी नाम से मुख्यतः प्रख्यात है। कवियों की सामान्य महाराष्ट्री के साथ-साथ वे जैन-महाराष्ट्री पर भी विचार करते हैं; पैशाची के साथ वे 'चूलिका पैशाची' को भी स्थान देते हैं। महाराष्ट्री के उदाहरण वे हाल सत्तसइ तथा सेतुबन्ध से देते हैं। अपभ्रंश का निरूपण तो अपने वैशद्य तथा विस्तार के लिए पण्डितों के विशेष सम्मान का भाजन है। हेमचन्द्र ही एकमात्र प्राकृत वैयाकरण हैं जो अपभ्रंश का विश्लेषण करते हैं तथा उस युग की अज्ञात काव्यपुस्तकों से महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। ये गाथायें उस युग के उत्कृष्ट अपभ्रंश-साहित्य के समुत्कर्ष की निःसन्देह परिचायिकायें हैं जिससे उस समय के साहित्य के सौन्दर्य तथा अस्तित्व का हम भली भाँति अनुमान कर सकते हैं। यह वर्णन अन्तिम ११८ सूत्रों में है और पर्याप्तरूपेण विशद तथा प्रामाणिक है।

इसी सम्प्रदाय के अन्य प्राकृत सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जिन पर त्रिविक्रम ने प्राकृत-शब्दानुशासन, लक्ष्मीधर ने षड्भाषा चन्द्रिका[२] तथा सिंहराज ने प्राकृत[३] रूपावतार का निर्माण किया है। इन तीनों ग्रन्थकारों ने एक ही सूत्रों को अपने विभिन्न ग्रन्थों का आधार बनाया है, परन्तु एक ही क्रम से नहीं। त्रिविक्रम के ग्रन्थ में सूत्रों की संख्या १०८५ है। उन्होंने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से विशद टीका है जो पाणिनीय सम्प्रदाय की 'काशिका वृत्ति' के समान प्रामाणिक मानी जाती है। त्रिविक्रम के विषय में हम निश्चितरूप से कुछ नहीं कह सकते। इतना ही कह सकते हैं कि वे

---

१. चौखम्भा संस्कृत-सीरीज में काशी से तथा शोलापुर से डा० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित, १९५४ ई०।
२. श्री के० पी० त्रिवेदी द्वारा बाम्बे संस्कृत सीरीज में सम्पादित।
३. डा० हुल्श ने रायल एशिएटिक सोसाइटी, लण्डन से सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

हेमचन्द्र के पश्चात् तथा मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी से पूर्ववर्ती है अर्थात् १४ शती से ये अर्वाचीन नहीं हो सकते। लक्ष्मीधर अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' को त्रिविक्रम वृत्ति की व्याख्या मानते हैं। यह ग्रन्थ पूरे १०८५ सूत्रों का व्याख्यान करता है, परन्तु भिन्न क्रम से। सूत्रों का यह क्रम निर्देश प्रक्रिया (अर्थात् रूपसिद्धि) को दृष्टि में रखकर किया गया है और इसीलिए यह 'सिद्धान्त कौमुदी' के समान ही प्रक्रियानुसारी प्राकृत व्याकरण है। प्रतीत होता है कि लक्ष्मीधर विजयनगर के तृतीय राज वंश के राजा तिरुमलराज के आश्रित थे जो १६ वीं शती के मध्यभाग में विद्यमान थे। त्रिविक्रम के पश्चाद्वर्ती तथा अप्पय दीक्षित से (जिन्होंने अपने प्राकृत-मणिदीप में इनका नाम निर्देश किया है) पूर्ववर्ती होने से भी इस समय की पुष्टि होती है। फलतः लक्ष्मीधर का समय १६ वीं शती का मध्यभाग मानना उचित होगा (१५३० ई०–१५६० ई०)। सिंहराज ने मूल सूत्रों में से ५७५ सूत्रों को चुनकर इन पर संक्षिप्त टीका लिखी है। इसलिए इसकी तुलना मध्य-कौमुदी अथवा लघु-कौमुदी से दी जा सकती है। इनका समय यथावत् निर्णीत नहीं है। 'प्राकृत रूपावतार' के सम्पादक डा० हुल्श का कहना है कि इस ग्रन्थ में भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी और नागोजिभट्ट के परिभाषेन्दु शेखर से साम्य मिलते हैं। अतएव इनका समय १८वीं शती का अन्तिम काल होना चाहिये।

वाल्मीकि प्राकृत-सूत्र

अब विचारणीय है इन तीनों ग्रन्थकारों द्वारा व्याख्यात मूल सूत्रों का रचयिता कौन है? इसके विषय में पर्याप्त मतभेद है। एक पक्ष त्रिविक्रम को ही इन सूत्रों का निर्माता मानता है और द्वितीय परम्परानुसारी पक्ष वाल्मीकि को इनका रचयिता अङ्गीकार करता है। प्रथममत के पक्षपाती श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी का कहना[2] है कि त्रिविक्रम ने ही इन सूत्रों का निर्माण किया था, क्योंकि ग्रन्थ के अन्त से इसकी सूचना मिलती[3] है तथा ग्रन्थ के आरम्भ में प्राप्त श्लोक से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. 'षड्भाषा' के भीतर प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची तथा अपभ्रंश की गणना की जाती है। यह विभाजन हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में किया जिसका अनुगमन अनेक ग्रन्थकारों ने किया। द्रष्टव्य—डा० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ६४६–६४७)।

२. द्रष्टव्य उनका 'त्रिविक्रम एण्ड हिज फालोवर्स' शीर्षक लेख—इण्डियन एंटिक्वेरी, भाग ४० (१९११ ई०)।

३. शब्दानुशासनमिदं प्रगुणप्रयोगं, त्रैविक्रमं जपत मन्त्रमिवार्थसिद्ध्यै।

इस श्लोक का 'प्रचक्ष्महे' पद इसे ही सिद्ध करता है[1]। त्रिविक्रम ने ही स्वयं अपने ग्रन्थ के स्वरूप का निर्देश इस पद्य में किमा है—

तद्भव-तत्सम-देश्य-प्राकृतरूपाणि पश्यतां विदुषाम्।
दर्पणतयेयमवनौ वृत्तिस् त्रैविक्रमी जयति ॥

यहाँ यह ग्रन्थ 'वृत्ति' ही कहा गया है और यही इसका यथार्थ रूप है। फलतः त्रिविक्रम वृत्तिकार ही, सूत्रकार नहीं। सूत्रों के रचयिता का नामोल्लेख लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषा चन्द्रिका' में इस प्रकार किया है—

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना ॥

'वाल्मीकि' मूलसूत्रों के रचयिता है। परम्परा से ये वे ही वाल्मीकि हैं जिन्होंने रामायण का निर्माण किया था। 'शम्भुरहस्य' ग्रन्थ से इसी परम्परा की पुष्टि होती है, परन्तु सूत्रों के स्वरूप का विवेचन उन्हें बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं कर रहा है। श्री त्रिवेदी का मत है कि ये सूत्र हेमचन्द्र के सूत्रों की अपेक्षा छोटे तथा सुव्यवस्थित हैं जिससे इनकी पश्चाद्भाविता सिद्ध होती है। तथ्य यही प्रतीत होता है कि वाल्मीकि नामक किसी व्यक्ति में हेमचन्द्र के पश्चात् त्रयोदश शती में इनकी रचना की, परन्तु नामसाम्य के कारण इनकी रचना रामायणकर्ता के ऊपर आरोपित की गई प्रतीत होती है। 'शम्भु-रहस्य'[2] ने तो दोनों के ऐक्य का स्पष्ट संकेत किया है।

---

१. प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानात् सिद्धाच्च यद् भवेत्।
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥

२. 'शम्भुरहस्य' एक प्राचीन प्रचण्ड ग्रन्थ है जिसके पूरे २६८वें अध्याय में प्राकृत की प्रशस्त प्रशंसा की गई है—

को विनिन्देदिमां भाषां (प्राकृतीं) भारतीमुग्धभाषितम्।
यस्याः प्रचेतसः पुत्रो व्याकर्ता भगवान् ऋषिः ॥
पाणिन्याद्यैः शिक्षितत्वात् संस्कृती स्यात् यथोत्तमा।
प्राचेतस-व्याकृतत्वात् प्राकृत्यपि तथोत्तमा ॥

विशेष के लिए द्रष्टव्य, मेरा लेख—'वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र' (नागरी प्र० पत्रिका भाग ७, सं० १९८३; पृष्ठ १०३–१११)।

षोडश-सप्तदश शतक में प्राकृत व्याकरण के निर्माण की कला आगे बढ़ती गई। इस युग में जैन तथा अजैन उभय ग्रन्थकारों ने प्राकृत-भाषा का व्याकरण बनाया। अजैन ग्रन्थकारों में संस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के ख्यातनामा विद्वानों को प्राकृत व्याकरण का निर्माण करते देख आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। ऐसे विद्वानों में वैयाकरणकेसरी शेष श्रीकृष्ण ने (१७ श०) 'प्राकृत चन्द्रिका' की तथा दार्शनिक-शिरोमणि श्री अप्पयदीक्षित (१५५३ सन्–१६३६ ई०) ने प्राकृत-मणिदीप की रचना कर इस विभाग में ब्राह्मण लेखकों के सहयोग का रूप परिष्कृत किया। ज्योतिर्विद् सरस के पुत्र पण्डित रघुनाथ ने ४१९ सूत्रों में प्राकृतानन्द का निर्माण किया जिसमें प्राकृत-प्रकाश के ही सूत्र प्रक्रियानुसारी क्रम से व्यवस्थित किये गये है। जैन ग्रन्थकारों में शुभचन्द्र ने 'शब्दचिन्तामणि' का, श्रुतसागर ने 'औदार्य-चिन्तामणि' का, समन्तभद्र ने प्राकृत व्याकरण और देवसुन्दर ने प्राकृत-युक्ति का निर्माण किया। इससे स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने अपनी धार्मिक भाषा मानकर प्राकृत भाषा के विश्लेषण में बड़ा मनोयोग दिया। इन ग्रन्थों के पीछे हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अवश्यमेव प्रेरणास्रोत का काम करता था। इधर के ग्रन्थों में जैन-सिद्धान्त कौमुदी का नाम निर्दिष्ट किया जा सकता है जिसमें अर्धमागधी का व्याकरण[1] विस्तार के साथ दिया गया है। अवश्यमेव इस ग्रन्थ का आदर्श 'सिद्धान्त कौमुदी' है, परन्तु आवश्यक नियमों के एकत्र संकलन के हेतु यह ग्रन्थ अपनी उपयोगिता रखता है।

उन्नीसवीं शती में यूरोपियन विद्वानों की दृष्टि जैन के आगम ग्रन्थों की ओर आकृष्ट हुई जिससे उन्होंने प्राकृत का विशेष अनुशीलन वैज्ञानिक पद्धति पर करना शुरू किया। ऐसे विद्वानों में याकोबी, ग्रियर्सन तथा पिशल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। याकोबी ने जैन महाराष्ट्री के अनुशीलन पर आग्रह किया। ग्रियर्सन ने विभाषा तथा पैशाची के विश्लेषण पर मनोयोग लगाया। पिशल का काम सब की अपेक्षा विशद, विस्तृत तथा विशाल सिद्ध हुआ। इन्होने जर्मन भाषा में 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन'[2]

---

१. ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों के उपलब्धि-स्थल के निमित्त द्रष्टव्य डा० जगदीशचन्द्र जैन रचित 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ६४७–६४९ (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१)।

२. प्रकाश मेहरचन्द लछमनदास, लाहौर, १९३७।

३. इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० सुभद्र झा ने किया है तथा मोतीलाल बनारसी दास ने प्रकाशित किया है (वाराणसी, १९६० ई०)। हिन्दी अनुवाद डा० हेमचन्द्र जोशी ने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नाम से किया है (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।

४०

(१९०० ई० में प्रकाशित) नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखकर विपुल कीर्ति अर्जित की। यह प्राकृत भाषाओं के स्वरूप-विश्लेषण के लिए निर्मित्त वस्तुतः एक विश्वसनीय विश्वकोश है जिसमें प्राकृत को भाषा तथा विभाषाओं के रूपों का वैज्ञानिक विवरण है। यह उपलब्ध लक्ष्य तथा लक्षण-ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर ग्रथित है और अर्धशताब्दी से अधिक समय बीतने पर भी आज भी उपयोगी तथा प्रामाणिक है।

परिशिष्ट—१

पृ० ९—भेल संहिता

भेलसंहिता की छपी पुस्तक अधूरी है, परन्तु उसके भी देखने से इस संहिता का चरकसंहिता के साथ प्रभूत सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। अग्निवेश के समान भेल भी पुनर्वसु-आत्रेय के ही षड् शिष्यों में अन्यतम थे। यहाँ आत्रेय के संकेतक कृष्णात्रेय, पुनर्वसु-रात्रेय तथा चान्द्रभागि शब्द प्रायः आते हैं जैसे वे चरकसंहिता में आते हैं। दोनों ही शिष्य एक ही गुरु का निर्देश अपने-अपने ग्रन्थों में कर रहे हैं। भेल-संहिता की रचना चरक-संहिता के समान ही सूत्र स्थान, निदान, विमान, शरीर, चिकित्सा, कल्प तथा सिद्धस्थान रूप प्रकरणों में हैं। वर्ण्य विषय चरक से मिलता-जुलता हैं। परन्तु अनेक विषय नवीन हैं तथा लेखक की मौलिक सूझ के प्रतिनिधि हैं। उन्माद की चिकित्सा के अवसर पर ग्रन्थ के विषय ध्यान देने योग्य है (चिकित्सा, अध्याय ८) वह कहता है—चित्तं हृदय-संस्थितम्। यहाँ हृदय से किसकी पहिचान की जाय? हृदय को पद्म के स्वभाव वाला माना गया है—

> यथा हि संवृतं पद्मं रात्रौ चाहनि पुष्यति।
> हृत्तथा संवृतं स्वप्ने विवृतं जाग्रतः स्मृतम्॥
>
> (भेल, सूत्रस्थान अ० २१)।

कहा है कि हृदय से रक्त निकलता है और फिर शिराओं द्वारा उसी में लौट आता है—यह नवीन सिद्धान्त है। ग्रन्थ का प्रचार मध्ययुग में विशेष था। तभी तो डल्लन, विजयरक्षित, शिवदास सेन ने भेल संहिता से कतिपय वचन उद्घृत किये हैं। इसकी रचना का समय चरक संहिता का ही काल मानना उचित होगा। समान गुरु के विभिन्न दो शिष्यों की रचनाओं में साम्य के साथ वैषम्य होना स्वाभाविक है, परन्तु वैषम्य न्यून है, साम्य ही अधिक है।

पृ० ११—खरनाद-संहिता

अरुणदत्त ने अष्टाङ्गहृदय की अपनी व्याख्या में 'खारणादि' नामक किसी वैद्यक आचार्य के मत का उल्लेख किया है। इस व्याख्या में कहीं-कहीं यही आचार्य 'खारनाद'

---

१. भेल संहिता—सर आशुतोष मुकर्जी द्वारा सम्पादित तथा कलकत्ता विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित।

तथा 'खरणादि' नाम्ना भी उद्धृत किये गये हैं। हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदय की अपनी 'आयुर्वेद रसायन' नाम्नी वृत्ति में 'खारणादि' नामक आचार्य के ग्रन्थ से प्रभूत उद्धरण दिये हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है लगभग १२७० ई० के आसपास हेमाद्रि को 'खारणादि' का ग्रन्थ उपलब्ध था जिससे उन्होंने कहीं अपने मत की पुष्टि के निमित्त और कहीं विमति दिखलाने के लिए प्रचुर उद्धरणों को देने की व्यवस्था की है। हेमाद्रि जैसे विज्ञ तथा विशेषज्ञ विद्वान् के द्वारा उद्धृत किये जाने से 'खारणादि' का ग्रन्थ अवश्यमेव उस युग में बड़े आदर के साथ देखा जाता था—यह कल्पना निराधार नहीं मानी जा सकती। इसके प्रमाण में वोपदेव का एक कथन बड़ा महत्त्व रखता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि वोपदेव हेमाद्रि के आश्रित पण्डित थे। अतएव उनका भी आविर्भावकाल हेमाद्रि के समान ही १३ शती का उत्तरार्ध है (लगभग १२५० ई०—१३०० ई०) ! वोपदेव उस युग के प्रकाण्ड विद्वान् थे—इस घटना का अनुमान उनके ही कथन से निर्धारित किया जा सकता है। 'मुक्ताफल' के अन्त में दिया गया यह पद्य उनके विस्तृत लेखकत्व का विशद परिचायक है—

> यस्य व्याकरणे वेरण्यघटनाः स्फीताः प्रबन्धा दश,
> प्रख्याता नव वैद्यकेऽपि तिथिनिर्णयार्थमेकोऽद्भुतः।
> साहित्ये त्रय एव भागवत-तत्त्वोक्तौ त्रयः, तस्य च
> भूगीर्वाणशिरोमणेरिह गुणाः के के न लोकोत्तराः॥

वोपदेव ने अपने पिता केशव के 'सिद्धमन्त्र' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ के ऊपर 'प्रकाश' नामक अपना व्याख्यान लिखा था। केशव ने 'खारणादि' का निर्देश इस पद्य में किया है—

> वातलं चरको ब्रूते वातघ्नं वष्टि सुश्रुतः।
> खारणादिर्वदत्यन्यद् इत्युक्तेरत्र निर्णयः॥

वोपदेव की टीका इस प्रकार है—

चरक-सुश्रुत-खारणादीनां च परस्परविरुद्धानां द्रव्यशक्तिविपयाणामामुक्तीनामत्र ग्रन्थे निर्णयो निर्णयार्थकथनम्।

वोपदेव का पूर्वोक्त कथन बड़े महत्त्व का है। केशव ने चरक, सुश्रुत तथा खारणादि के द्रव्यगुण-विषयक मतों के निर्णय के लिए ही अपना 'सिद्धमन्त्र' ग्रन्थ का निर्माण किया था। महाराष्ट्र में तद्धितान्त नाम 'खारणादि' प्रख्यात है, तो बंगाल में केवल 'खरनाद' ही। इन समस्त ग्रन्थों के अनुशीलन से खारणादि के मत का परिचय भलीभाँति लग सकता है। कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जो अरुणदत्त में 'खरनाद' के नाम से उद्धृत हैं, वे ही हेमाद्रि की टीका में 'खारणादि' के नाम से उद्धृत की गई हैं जिससे खरनाद तथा

खारणादि की अभिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। वोपदेव तथा हेमाद्रि के ग्रन्थ में 'खारणादि' के दो श्लोक समानरूप से उद्धृत किये गये मिलते हैं जिससे स्पष्ट है कि दोनों ग्रन्थकार एक ही ग्रन्थ से उद्धरण दे रहे हैं। उद्धरणों का परीक्षण सिद्ध करता है कि खरनाद अथवा खारणादि का ग्रन्थ पद्यों में निबद्ध किया गया था। केशव के ऊपर उद्धृत श्लोक से पता चलता है कि यह ग्रन्थ उस युग में चरक तथा सुश्रुत के समान ही प्रमाण माना जाता था तथा इसके मत की युक्तिमत्ता दिखलाने तथा चरक-सुश्रुत से अविरोध प्रदर्शित करने के लिए केशव को अपना 'सिद्धमन्त्र' नामक ग्रन्थ की ही रचना करनी पड़ी।

खारणादि का समय कौन-सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में इदमित्थं कहना असम्भव है। वोपदेव तथा हेमाद्रि के द्वारा १२७२ ई० में तथा अरुणदत्त तथा केशव द्वारा १२२० ई० में उद्धृत किये जाने से इनका समय ११५० के आसपास मानना ही उचित होगा। तीसट के पुत्र चन्द्रट ने अपने ग्रन्थ 'योगरत्न-समुच्चय में (लगभग १००० ई०) खरनाद का उल्लेख किया है जिससे खरनाद का समय इतः पूर्व होना चाहिए। काश्मीर के प्रख्यात विद्वान् मधुसूदन कौल ने खारनाद-न्यास का एक पत्र[1] गिल-गित की खुदाई से प्राप्त किया (१९३८)। इस न्यास का समय ६०० ई०–९०० ई० के बीच कभी मानने के लिए इनके प्राप्तिकर्ता का अनुमान है। फलतः खरनाद का समय इस न्यास से पूर्व ही होना चाहिए—षष्ठशती के आसपास।

पृ० २१—वाग्भट के टीकाकार

इन्दु—इन्दु वाग्भट के ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याता थे। उन्होंने अष्टाङ्गसंग्रह की शशिलेखा नाम्नी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है जो प्रकाशित है।[2] अष्टाङ्गहृदय की भी इन्होंने 'शशिलेखा' नामक टीका लिखी थी जिसका हस्तलेख मद्रास के मैनुसक्रिप्ट लाइब्रेरी में उपलब्ध होता है[3]। इन्दु की दृष्टि में इन ग्रन्थों का लेखक एक ही अभिन्न वाग्भट नामक आचार्य है—उनकी टीकाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है। इन्दु ने निघण्टु पर भी ग्रन्थ लिखा था जो आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु जिसका बहुल उद्धरण क्षीरस्वामी ने अपनी अमरकोश-व्याख्या में किया है। वाग्भट के टीकाकार इन्दु से पृथक् इन्दु नामक किसी वैद्यक ग्रन्थकर्ता का संकेत नहीं मिलता। फलतः निघण्टुकार इन्दु को ही वाग्भट-व्याख्याकार मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। क्षीरस्वामी का समय

---

१. इस न्यास में गर्भावक्रान्ति का थोड़ा वर्णन मिलता है। इसके लिए द्रष्टव्य डा० गोडे—स्टडीज, प्रथम भाग, पृष्ठ १२६–१३१।

२. त्रिचूर से १९१३ ई० में तीन खण्डों में प्रकाशित।

३. Tiennial Catalogue of Madras MSS. Vol IV p. 5142.

भोज के अनन्तर ११ शती का उत्तरार्ध पूर्व ही नियत किया गया है (पृष्ठ ३३७) फलतः इन्दु का समय १० शती के अन्तिम चरण से ११ शती के प्रथम चरण तक मानना यथार्थ है (लगभग ९७५ ई०–१०२५ ई०)।

इन्दु काश्मीर के ही निवासी थे, क्षीरस्वामी के ही देशवासी। इनकी अष्टाङ्गसंग्रह-व्याख्या में शाक तथा फलों के काश्मीरी नाम बहुशः दिये गये हैं। फलतः इनका तद्देशज होना स्वाभाविक है। इन्होंने भट्टारहरिचन्द्र या भट्टारक नाम से किसी वैद्यक आचार्य के मत का उल्लेख किया है[1]। परन्तु इन उल्लेखों से पता चलता है भट्टार हरिचन्द्र की व्याख्या विद्वज्जन-मान्य नहीं थी—

एतदेव हृदि कृत्वा भट्टारहरिचन्द्रेण वा शब्दस्य
निर्दिष्टस्याप्राधान्यं लङ्घनस्याप्राधान्यं व्याख्यातम् ॥
तच्च भिषक्शास्त्र-निष्णाता नाङ्गीकुर्वन्ति।

ऊपर निर्दिष्ट व्याख्या भट्टार हरिचन्द्र की चरक-संहिता के ऊपर है जो चरक-संहिता-भाष्य के नाम से प्रख्यात है। इन्दु का निर्देश इस टीका के कतिपय व्याख्या-स्थलों से ही है, अन्यथा यह चरक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या है नितान्त प्रामाणिक तथा उपयोगी। इन्दु के द्वारा उल्लिखित होने के कारण हरिचन्द्र का समय ९५० ई० अर्थात् दशम शती के मध्यकाल से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकता। इन्दु ने अष्टाङ्ग-संग्रह की व्याख्या में लिखा है कि वाहट (वाग्भट) दुर्व्याख्याविष से सुप्त थे। उन्हें मेरी यह उक्तियाँ चैतन्य प्रदान कर पुनरुज्जीवित करेंगी—

दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः।
सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागम परिष्कृताः ॥

शशिलेखा व्याख्या संग्रहरूपी सरोज को विकसित करने वाली है—ग्रन्थकार की गर्वोक्ति कथमपि मिथ्या नहीं है—

रचितदलमिवाङ्गैः संग्रहाख्यं सरोजं।
विकसति शशिलेखा व्याख्ययेन्दोर्यथावत् ॥

(आरम्भिक २ पद्य)।

अष्टाङ्गहृदय के व्याख्याकार[2]

'अष्टाङ्ग संग्रह' की अपेक्षा 'अष्टाङ्गहृदय' बहुत ही लोकप्रचलित तथा प्रख्यात

---

१. किंजवडेकर शास्त्री द्वारा सम्पादित सटीक अष्टाङ्ग संग्रह पृष्ठ ९ (निदान-स्थान)।

२. निर्णयसागर प्रेस बम्बई से दोनों टीकाओं के साथ अष्टाङ्गहृदय का प्रकाशन हुआ है, १९३८।

ग्रन्थ रहा है। इसका संकेत उसकी विस्तृत व्याख्या-सम्पत्ति से आज भी मिलता है। इनकी दस टीकायें हस्तलेखों के रूप में मिलती हैं जिनके नाम हैं—

(१) अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरी; (२) हेमाद्रि का 'आयुर्वेद-रसायन, (३) आशाधर कृत व्याख्या; (४) चन्द्रनन्दन को पदार्थचन्द्रिका; (५–७) रामनाथ, टोडरमल्ल तथा भट्ट नरहरि-कृत टीकायें, (८) पथ्या नाम्नी टीका; (९) हृदय-प्रबोधिका नामक व्याख्या तथा (१०) दामोदर रचित संकेतमञ्जरी। इन टीकाओं में से प्रथम दोनों सुन्दर संस्करण में प्रकाशित हैं।

(१) अरुणदत्त—डा० औफ्रेक्ट ने अपनी 'बृहद् ग्रन्थसूची' में अरुणदत्त नाम के तीन व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है जिन्होंने चार विषयों पर ग्रन्थ लिखे—आयुर्वेद, कोश, व्याकरण तथा शिल्पशास्त्र। ये तीनों समाननामधारी एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न-भिन्न ? यह समस्या अभी समाधेय है। कोषकर्ता तथा वैयाकरण अरुणादत्त को रायमुकुट ने (१४३१ ई०) तथा सर्वानन्द-वन्द्यघटीय (११५९ ई०) ने अपने अमरकोश के व्याख्यानों में उद्धृत किया है। फलतः ये १२ शती के मध्य से पूर्वतन ग्रन्थकार हैं। शिल्पशास्त्री अरुणदत्त ने 'मनुष्यालयचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। तृतीय अरुणदत्त ने वाग्भट रचित अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्ग-सुन्दरी नाम्नी व्याख्या लिखी। विजय रक्षित (१२४० ई०) ने आँख की बनावट के बारे में अरुणदत्त के मत का खण्डन किया है। फलतः ये उनसे पूर्ववर्ती होने से लगभग १२२५ ई० में वर्तमान थे।

(२) हेमाद्रि रचित आयुर्वेद-रसायन टीका—धर्मशास्त्र के इतिहास में हेमाद्रि की कीर्ति महनीय है। इन्होंने 'चतुवर्गचिन्तामणि' नामक विकालकाय निबन्ध का संग्रह किया जिसमें पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय उद्धरण प्रचुर मात्रा में दिए गये हैं। हेमाद्रि के पिता का नाम था कामदेव, पितामह का वासुदेव तथा प्रपितामह का वामन। ये देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के यादव शासक महादेव (१२६०–१२७१ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी रामचन्द्र (१२७१–१३०९ ई०) के समय में राज्य के उच्चाधिकारी थे। आयुर्वेदरसायन 'अष्टाङ्गहृदय' की बड़ी प्रौढ व्याख्या है। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने चतुवर्गचिन्तामणि को उल्लिखित किया है जिससे यह चिन्तामणि से पश्चात्कालीन रचना सिद्ध होती है। रसायन की रचना तब हुई जब वे रामचन्द्र के मान्य राज्याधिकारी थे—इसका उल्लेख इस ग्रन्थ के आरम्भ में है[१]। फलतः इस टीका का रचनाकाल १२७१–१३०९ ई० के बीच में है—सम्भवतः १३ वीं शती के अन्तिम चरण में।

---

१. हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञः श्रीकरेणष्वधि।
ननूभौ भगवन्निष्ठ-षाड्गुण्यकरणेष्वधि॥

हेमाद्रि[1] (१२६०–१३०६ ई०) निश्चयेन अरुणदत्त से—जिनका समय १२२० ई० निर्णीत है—अर्वाक्कालीन हैं। १३ वीं शती के आरम्भ में अरुणदत्त का काल है और उसी शती के अन्त में हेमाद्रि का। हेमाद्रि ने अरुणदत्त का मत अपनी टीका में निर्दिष्ट किया है 'मैरेयः खर्जुरासवः' इत्यरुणदत्तः (पृ० १३६)। आयुर्वेद-रसायन हेमाद्रि का ही स्वोपज्ञ ग्रन्थ है—इसका परिचय पुष्पिका से निश्चितरूपेण मिलता है।

(३) अष्टाङ्गहृदय पर शिवदाससेन की टीका है जिसका नाम है तत्त्वबोध। इसके आरम्भ में शिवदास ने अपना परिचय दिया है जो आगे दिया जावेगा। ये बंगाल के नामी वैद्य थे (समय १३७५ ई०–१५०० ई०)। इस टीका में इन्होंने निश्चलकर के मत का उल्लेख प्रभूतमात्रा में किया है।

पृ० २७—माधव-निदान के टीकाकार

विजयरक्षित तथा उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त दोनों ने सम्मिलित रूप से माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या का प्रणयन किया। 'आतङ्कदर्पण' वाचस्पति की रचना है, श्रीकण्ठदत्त की नहीं। यह मधुकोष के द्वारा प्रभावित है। फलतः उससे पश्चात्वर्ती है। इन टीकाओं का समय १३ वीं शती का उत्तरार्ध निश्चयेन है। अरुणदत्त के समय का निरूपण उनके निकटवर्ती दो आयुर्वेदीय ग्रन्थकारों के परिप्रेक्ष्य में डा० हार्नली ने अपने 'ओसूटिओलाजी' नामक प्रख्यात ग्रन्थ में किया है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) वाचस्पति ने माधव के निदान-ग्रन्थ पर (अर्थात् माधवनिदान पर) 'आतङ्कदर्पण' नामक टीका लिखी।

(२) विजयरक्षित तथा उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने सम्मिलतरूप से 'माधव निदान' पर 'मधुकोश' नामक प्रख्यात व्याख्या रची।

(३) वाचस्पति ने 'आतङ्क-दर्पण' की प्रस्तावना के चतुर्थ पद्य में लिखा है कि उन्होंने 'मधुकोश' व्याख्या का अनुशीलन कर अपनी पूर्वोक्त टीका प्रस्तुत की।

(४) विजयरक्षित ने आँख की बनावट के बारे में अरुणदत्त के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

---

१. रघुवंश के टीकाकार, ईश्वरसूरि के पुत्र, भट्टहेमाद्रि इन धर्मशास्त्री हेमाद्रि से भिन्न तथा पश्चात्कालीन हैं। भट्टहेमाद्रि रामचन्द्र (१२५० ई०–१४०० ई०) की प्रक्रिया-कौमुदी से अपनी टीका में उद्धरण देते हैं। फलतः वे १५ शती के पूर्वार्ध के ग्रन्थकार हैं—हेमाद्रि से लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद होने वाले व्यक्ति।

(५) वाचस्पति ने अपनी प्रस्तावना के पञ्चमश्लोक में अपने पिता प्रमोद के विषय में लिखा है कि वे मुहम्मद हम्मीर के मुख्य वैद्य रहे। ये मुहम्मद मुहम्मद गोरी (११९३ ई०–१२०५ ई० तक दिल्ली के शासक) से अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। फलतः वाचस्पतिका समय १२१० ई० के आसपास होना चाहिए।

(६) विजयरक्षित ने गुणाकार के 'योगरत्नमाला' का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। योगरत्नमाला की रचना का काल १२३९ ई० है।

इन प्रमाणों के आधार पर डा० हार्नली ने इन तीनों वैद्यकग्रन्थ के कर्ताओं का काल इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

(१) अरुणदत्त का आविर्भावकाल १२२० ई० के आसपास
(२) विजयरक्षित „ १२४० ई० „
(३) वाचस्पति „ १२६० ई० „

इन तीनों ग्रन्थकारों को यही समय सर्वतोमान्य है।

पृ० २७—वृन्द—सिद्धयोग

तीसट रचित 'चिकित्सा कलिका' के ढंग पर वृन्द ने अपना यह विशद ग्रन्थ तैयार किया। इस में रोगों का क्रम माधवनिदान के ही आधार पर रखा गया है। प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट तथा स्वानुभूत योगों का यह अपूर्व संग्रह आयुर्वेद के इतिहास में अपना वैशिष्ट्य रखता है। इसमें चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट के योगों का संग्रह है तथा अन्य वैद्यों के योगों का भी। 'माधवनिदान' की विशेष ख्याति होने के कारण वृन्द ने रोगों के निदान लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं समझी। चिकित्सा को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की गई है। क्रियात्मक योगों की सत्ता इसे विशेष उपयोगी बना रही है। जैसे ज्वर में दाह के कारण उत्पादन बेचैनी को हटाने के लिए वृन्द ने जो प्रयोग लिखा[1] है वह उनके अनुभव पर आधारित है तथा निष्पादन में सरल भी है। भाषा सरल सुबोध है। श्लोक रोचक तथा चमत्कारी भी है।

सिद्धयोग के ऊपर प्रख्यात टीका श्रीकण्ठदत्त की है—व्याख्या-कुसुमावली। विजयरक्षित (लगभग १२४० ई०) के शिष्य श्रीकण्ठ का समय १३वीं शती का अन्तिम चरण है (१२७५ ई०–१३०० ई० तक)। श्रीकण्ठ का कहना है कि उन्होंने

---

१. उत्तान-सुप्तस्य गभीरताम्रकांस्यादिपात्रं प्रणिधाय नाभौ।
तत्राम्बुधारा बहला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं सुशीता॥
(१।१०४)।

ग्रन्थ के विस्तार के भय से कहीं-कहीं व्याख्या छोड़ दी थी[1]। उसी की पूर्ति नागरवंश में उत्पन्न नारायण ने की है। यह व्याख्या प्रकाशित[2] है जिसमें पूर्ति वाला अंश भी अलग से दिया गया है।

इनसे भी प्राचीन टीकाकार का उल्लेख मिलता है जिनका नाम था ब्रह्मदेव। ब्रह्मदेव ने सिद्धयोग (या वृन्दमाधव) पर व्याख्या लिखी थी। इसका प्रमाण श्रीकण्ठदत्त, हेमाद्रि तथा डल्लण के टीका ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

(क) श्रीकण्ठदत्त ने अपनी व्याख्या-कुसुमावली में इनके अनेक वचनों को उद्धृत किया है। एक दो उद्धरण ही पर्याप्त होगा—

(१) अथ श्री ब्रह्मदेव व्याख्या—लङ्घन शब्द उपवासपर्यायो, न तु वमन विरेचनानुवासनादिपर्यायः (पृष्ठ ९)।

(२) ब्रह्मदेवाचार्यस्तु—एण्या इदमैणेयं, न तु पुनरेणस्येदं तत्र ऐणेयमिति प्रयोगो न स्यात् (पृष्ठ ५७४)।

श्रीकण्ठदत्त के समय में ब्रह्मदेव की टीका उपलब्ध थी। तभी तो उन्होंने इतने उद्धरण देने की व्यवस्था की है। उनके प्रति विशेष आदर-भाव भी है। उनके लिए 'आचार्य' शब्द का प्रयोग तो यही सूचित करता है।

(ख) हेमाद्रि (१२६० ई०–१३०० ई०) ने अष्टाङ्गहृदय की टीका 'आयुर्वेद-रसायन' में ब्रह्मदेव का मत उद्धृत किया है—

आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरप्येकभाजने।
सन्धानं तद् विजानीयात् मैरेयमुभयात्मकम् ॥

इति जेज्जटो ब्रह्मदेवश्च।

(ग) डल्लण ने सुश्रुत संहिता की अपनी टीका के आरम्भ में ब्रह्मदेव को अपने लिए उपजीव्य ग्रन्थकारों में अन्यतम माना है तथा उनके वचन भी उद्धृत किया है। डल्लण का समय डा० हार्नली ने १२वीं शती माना है[3]—(११०० ई०–१२०० ई० लगभग)।

---

१. श्रीकण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थ-विस्तारभीरुणा।
टीकायां कुसुमावल्यां व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित् ॥

२. आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला नं० २७, पूना, १८९४ ई०।

३. डल्लण ने राजा भोज (१०५० ई०) तथा चक्रपाणिदत्त (१०६० ई०) को उद्धृत किया है तथा हेमाद्रि (१२६० ई०) द्वारा उद्धृत हैं। अतएव उनका पूर्वोक्त समय उचित प्रतीत होता है।

वृन्द का समय डा० पी० सी० राय के अनुसार ९०० ई० है। फलतः ब्रह्मदेव का समय ९०० ई० से अनन्तर तथा ११५० ई० से पूर्व होना चाहिए। वृन्द का यह सिद्धयोग ही 'वृन्दमाधव' नाम्ना लोकप्रख्यात है।

पृ० २८—चक्रपाणिदत्त—चिकित्सासार संग्रह

चक्रपाणिदत्त के ग्रन्थ का अभिधान तो 'चिकित्सा-सारसंग्रह है, परन्तु वह ग्रन्थकार के नाम से चक्रदत्त की लोकप्रिय संज्ञा से प्रख्यात है। इस ग्रन्थ का आधार वृन्द का सिद्धियोग है। योगों की संख्या इस ग्रन्थ में सिद्धयोग की अपेक्षा कहीं अधिक है। भस्मों का अर्थात् धातुओं का भी अधिक प्रयोग है, परन्तु यह आरम्भिक दशा का सूचक है। यह स्वाभाविक था कि इनके युग में जो द्रव्य चिकित्सा के लिए व्यवहृत थे, उनका उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया। सिद्धयोग के योगों में भी स्थान-स्थान पर परिवर्तन तथा परिवर्धन है। इनका दूसरा ग्रन्थ है—द्रव्यगुणसंग्रह। इनमें द्रव्यों के तथा उनके गुणों का संग्रह अनुपान आदि की विवेचना के साथ है। संग्रह होने पर भी इसमें मौलिकता है। इनका तीसरा ग्रन्थ चरक संहिता की विशेष सम्मानित व्याख्या है—आयुर्वेददीपिका (चरक-तात्पर्य)। सुश्रुत के ऊपर भानुमती टीका, मुक्तावली (निघण्टुकोश) तथा शब्दचन्द्रिका—इनके अन्य ग्रन्थ कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों के निर्माण से इनकी आयुर्वेद की प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

चक्रपाणिदत्त का सामान्य परिचय उपलब्ध है। ये बंगाली वैद्य थे—'दत्त' कुल में उत्पन्न। गौड देश के शासक नयपालदेव की पाकशाला के अधिकारी तथा मन्त्री नारायणदत्त के ये पुत्र थे। पिता की मृत्यु के अनन्तर चक्रपाणिदत्त पहिले पाकशाला के अधिकारी बने[1] और पीछे अपनी योग्यता के कारण उनके मन्त्री भी। गौडाधिपति महीपाल (लगभग ९७५–१०२६) के अनन्तर नयपाल राजा हुए। फलतः उनका राज्यकाल ११वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। और यही समय चक्रपाणि के आविर्भाव का भी है।

---

१. उन्होंने स्वयं अपने बारे में लिखा है 'चरकभाष्य' के अन्त में—

> गौडाधिनाथ - रसवत्यधिकारपात्र-
> नारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरङ्गात्।
> भानोरनु प्रथित-लोध्रवली-कुलीनः
> श्रीचक्रपाणिरिह कर्तृपदाधिकारी ॥

इस श्लोक की टीका में शिवदास सेन ने 'पात्र' का अर्थ मन्त्री तथा 'अन्तरङ्ग' का अर्थ विद्या-कुल से सम्पन्न वैद्य लिखा है।

टीकाकार

इनके ग्रन्थों के टीकाकार शिवदास सेन हैं—बंगाल के मालंचिका ग्राम के निवासी तथा गौड देश के राजा के वैद्य अनन्त सेन के पुत्र। इन्होंने गौड के बादशाह वारवक शाह (१४५७ ई०–१४७४ ई०) से अपने पिता के अन्तरङ्ग पदवी और छत्र प्राप्त करने का उल्लेख किया है[1] जिससे इनका समय निश्चित होता है १५ शती का उत्तरार्ध (१४७५ ई०–१५०० ई० लगभग)। इनकी चार ग्रन्थों की टीकायें प्रसिद्ध हैं—(क) अष्टाङ्गहृदय की टीका, (ख) चक्रदत्त की टीक (=तत्त्व चन्द्रिका) तथा (ग) द्रव्यगुण संग्रह की टीका। अष्टाङ्गहृदय टीका का नाम तत्त्वबोध है और वह प्रकाशित है। इन्होंने निश्चलकर की टीका से अनेक विषयों का संग्रह किया है। (घ) तत्त्वप्रकाशिका—चरकसंहिता की व्याख्या का नाम है।

पृ० २८—वंगसेन

वंगसेन अपने युग के बड़े प्रख्यात वैद्य थे। थे तो बंगाली वैद्य, परन्तु इनकी कीर्ति महाराष्ट्र में तुरन्त पहुँच गई जिससे हेमाद्रि (१२६० ई०) जैसे प्रौढ विद्वान् ने अपने ग्रन्थ—आयुर्वेद रसायन—में इनके ग्रन्थ से प्रचुर उद्धरण दिया है। वंगसेन का ग्रन्थ 'चिकित्सा-सार-संग्रह' वृन्दमाधव तथा चक्रदत्त की शैली में निबद्ध उसी परम्परा में अनुस्यूत ग्रन्थ है। इसमें इन्होंने चिकित्सा से पूर्व निदान का भी विषय रखा है जिससे यह ग्रन्थ दोनों आवश्यक विषयों का एक साथ ही विवरण प्रस्तुत करता है। वंगसेन द्वारा अपने ग्रन्थ की यह प्रशंसा यथार्थ है—

हृदि तिष्ठति यस्यैव चिकित्सातत्त्व-संग्रहः।
स निदानचिकित्सायां न दरिद्रात्यसौ भिषक्॥

इसमें रसायन, रसौषधि तथा लोह आदि धातुओं का वर्णन उस युग की चिकित्सा-पद्धति का स्वरूप दिखलाता है। उस युग में रसौषधियों का चिकित्सा में पूर्वापेक्षया अधिक प्रयोग होने लगा था। काष्ठौषधियों के साथ इन रसौषधियों का वर्धिष्णु प्रयोग रसचिकित्सा के उत्कर्ष को अभिव्यक्ति करता है।

वंगसेन के पिता का नाम 'गदाधर' था। मंगलाचरण से शिवभक्त तथा 'सेन' उपाधि से बंगाली प्रतीत होते हैं। इन्होंने चक्रदत्त का उपयोग अपने ग्रन्थ में किया है। चक्रदत्त का कहना है कि 'रसपर्पटी' उन्हीं की बनाई है (निबद्धा चक्रपाणिना) इसी का निर्देश वंगसेन अपने ग्रन्थ के रसायनाधिकार में 'गन्धक रसपर्पटी' नाम्ना करते हैं।

---

१. योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां छत्रमप्यतुलकीर्तिमवाप।
गौडभूमिपति-वार्वकशाहात् तत्सुतस्य सुकृतिनः कृतिरेषा॥

फलतः वे चक्रपाणि से (१०५० ई० लगभग) अवान्तरकालीन है। उधर हेमाद्रि ने अपने आयुर्वेद रसायन[1] में (विशेषतः चिकित्सा स्थान में) वंगसेन से प्रचुर (लगभग ४०–५०) उद्धरण दिये हैं। हेमाद्रि का समय १२६०–१३०० ई० है। फलतः इन दोनों ग्रन्थकार—चक्रपाणि तथा हेमाद्रि—के बीच में वंगसेन को होना चाहिये। वंगाली ग्रन्थकार को महाराष्ट्र में उस युग में प्रसिद्धि पाने के लिए कम से कम सत्तर—पचहत्तर वर्ष का काल लगना स्वाभाविक है। फलतः वंगसेन का समय १२ वीं शती का अन्तिम चरण मानना सर्वथा समुचित प्रतीत होता है (१७७५ ई०–१२०० ई० लगभग)। वंगसेन इस प्रकार १२ वीं शती के बड़े ही मान्य तथा प्रामाणिक वैद्य हैं।

गदनिग्रह

गदनिग्रह एक गुजराती वैद्य की लोकोपयोगी रचना है। रचयिता का नाम सोढल था। 'गुणसंग्रह' नामक अन्य ग्रन्थ में इन्होंने अपने विषय में लिखा है कि वे वत्सगोत्री रायकवाल ब्राह्मण, वैद्य नन्दन के पुत्र तथा संघदयालु के शिष्य थे। इनके समय का परिचय एक ताम्रपत्र से उपलब्ध होता है। १२५६ ई० के इस ताम्रपत्र में राजा भीमदेव द्वितीय के द्वारा रायकवाल जाति के ब्राह्मण ज्योति सोढल के पुत्र को दान देने का उल्लेख है। सोढल ज्योतिषी भी थे और इसीलिए ये इस ताम्रपत्र में 'ज्योति' कहे गये हैं (ज्योति = ज्योतिषी)। फलतः इस ताम्रपत्र में ये ही वैद्यराज उल्लिखित हैं। अतः इनका समय १३ शती का मध्यभाग मानना उचित है (१२४० ई०–१२६० ई० लगभग)।

गदनिग्रह[2] में दश खण्ड हैं। प्रथम खण्ड प्रयोग-खण्ड है जिसमें चूर्ण, गुटिका, अवलेह, आसव तथा तैल सम्बन्धी छः अध्याय (अधिकार) हैं। शेष नव खण्डों में चिकित्सा, शालाक्य, आदि विषय हैं। प्रयोग-खण्ड के पृथक् निर्माण से योगों की विशेष जानकारी तथा क्रियात्मक औषध निर्माण का परिचय वैद्यों को सहज में हो सकता है। 'गुणसंग्रह' वैद्यक निघण्टु है। इसमें गुजराती वैद्य के द्वारा निर्दिष्ट गुजरात में प्राप्य औषधियों का भी समावेश किया गया है। दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पोषक हैं। चिकित्सा से योगों को पृथक् रखने का, प्रतीत होता है, इन्होंने नियम बनाया जिसका

---

१. यह ग्रन्थ पूर्णतः उपलब्ध नहीं है। निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में सूत्रस्थान, निदानस्थान के प्रथम छः अध्याय तथा चिकित्सा स्थान के प्रथम सात अध्याय उपलब्ध हैं।

२. यह ग्रन्थ मूलमात्र आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला में प्रथमतः प्रकाशित हुआ था। अब हिन्दी अनुवाद के साथ इसका प्रथम खण्ड चौखम्भा विद्याभवन ने प्रकाशित किया है, वाराणसी, १९६७।

अनुकरण पिछले युग के वैद्यों ने किया। योगों तथा रसायनों में अनेक वैशिष्ट्य यहाँ उपलब्ध होते हैं।

पृ० २६—तीसट

तीसट का ग्रन्थ चिकित्सा-कलिका एक प्रकार का योगसंग्रह है जो नावीनतक से अतिविस्तृत है। इसमें प्रायः योग काष्ठौषधियों के ही मिलते हैं। समग्र-ग्रन्थ में चार सौ पद्य हैं। पद्यों की रचना बड़ी सरस-सुबोध है। इनके समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इसके ऊपर चन्द्रट ने विवृति लिखी है जिसमें वे अपने को तीसट का पुत्र लिखते हैं। इन्होंने एक दूसरे श्लोक में कहा है कि हरिचन्द्र तथा जेज्जट जैसे सुधीर व्याख्याता होने पर किसी दूसरे व्यक्ति का व्याख्या लिखना उसका धृष्टता का ही सूचक है—

तीसटसूनुर्भक्त्या चन्द्रटनामा भिषङ्मतश्चरणौ।
नत्वा पितुश्चिकित्साकलिका-विवृतिं समाचष्टे॥
व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्यं समावहति॥

चन्द्रट का समय डा० हार्नली के मत में १००० ईस्वी है। अतः तीसट का समय जो इनके पिता थे, ९७५ ई० माना जा सकता है। ९५० ई० से पूर्व उन्हें मानना उचित नहीं है। चन्द्रट के द्वारा उल्लिखित होने के कारण हरिचन्द्र तथा जेज्जट दोनों का समय १०म शती से पूर्व ही माना जाना चाहिये।

चिकित्सा-कलिका[1] में मुख्यतया चिकित्सा के योगों का विस्तृत संग्रह है। आज-कल प्रचलित अनेक योग यहीं से लिये गये हैं। चन्द्रट ने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया था—जैसा उन्होंने इस श्लोक में लिखा है—

चिकित्सा-कलिका-टीकां योगरत्न-समुच्चयम्।
सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्॥

इन श्लोक में तीन ग्रन्थ निर्दिष्ट हैं—(१) चिकित्सा कलिका टीका (२) योग-रत्नसमुच्चय तथा (३) सुश्रुत-पाठ-शुद्धि। इन तीनों में प्रथम ही प्रख्यात है तथा प्रकाशित भी है। योगरत्न समुच्चय के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं—प्रायः अधूरे ही। इसमें सात परिच्छेद हैं जिनमें योगों का बड़ा ही विस्तृत विवरण दिया गया है। चन्द्रट वैद्यविद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने प्राचीन लगभग चालीस

१. यह ग्रन्थ चन्द्रट की टीका तथा जयदेव विद्यालङ्कार कृत 'परिमल' नामक हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित है (१९८३ विक्रमी)।

आयुर्वेदीय ग्रन्थकारों के वचनों या मतों का उल्लेख किया है। इनमें से अनेक ग्रन्थकार एक दम नवीन हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। डा० गोडे ने भण्डारकर-शोध-संस्थान के हस्तलेखों के आधार पर जो सूची तैयार की है[1] वह आयुर्वेद के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है, क्योंकि इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट ग्रन्थकारों का समय १० म शती के उत्तरार्ध से पूर्वतर होने से उनके समय की ऊपर सीमा निर्धारित हो जाती है।

पृ० २९ (छ)—लोलम्बिराज

इनका जीवनचरित प्रख्यात[2] है। ये पूना के पास जुन्नर नाम स्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम दिवाकरभट्ट था। लोलम्बिराज-आख्यान नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इन्होंने एक सुन्दरी यवनकन्या से शादी की थी जिसका नाम इन्होंने 'रत्नकला' रखा था। वे उसके प्रति नितान्त आसक्त थे। उसकी मृत्यु के अनन्तर उनका जीवन ही बदल गया। ये 'सप्तश्रृंगभवानी' के उपासक बन गये और अपनी तपस्या के बलपर जनता के आदर के पात्र हो गये। सप्तश्रृंग नासिक के उत्तर में है और उस स्थान पर देवी की प्रतिमा बारह फीट ऊँची है तथा अठारह भुजाओं वाली है। इन देवी की प्रगाढ़ भक्ति का तथा उनकी अलौकिक काव्य निर्माण का उल्लेख इन्होंने अपने वैद्यक ग्रन्थ 'वैद्यजीवन' में किया है[3]। इनके ग्रन्थों में वैद्यजीवन सर्वापेक्षया प्रख्यात तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वैद्यावतंस तथा चमत्कार-चिन्तामणि भी आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ हैं। रत्नकला-चरित्र सम्भवतः रत्नकला के विषय में मराठी में निबद्ध है। ये वैद्य होने के अतिरिक्त प्रतिभाशाली कवि थे। इसका परिचय 'वैद्यजीवन' के चमत्कारी श्लोकों से पूर्णतया उपलब्ध होता है।

नारायणं भजत रे जठरेण युक्ताः।
नारायणं भजत रे पवनेन युक्ताः॥

---

१. डा० गोडे—स्टडीज भाग १, पृष्ठ १३५–१३७।

२. भावे ने अपने 'महाराष्ट्र सारस्वत' नामक मराठी साहित्य के इतिहास में इनका जीवन-चरित षोडश शताब्दी के कवियों के प्रसंग में दिया है, द्वितीय सं०, पूना, १९१९ ई०।

३. रत्नं वामदृशां दृशां सुखकरं श्रीसप्तश्रृङ्गास्पदं
स्पष्टाष्टादशबाहु तद् भगवतो भर्गस्य भाग्यं भजे।
यद्भक्तेन मया घटस्तनि घटीमध्ये समुत्पाद्यते
पद्यानां शतमङ्गनाधरसुधा-स्पर्धाविधानोद्धुरम्॥
(वैद्यजीवन श्लोक २)।

नारायणं भजत रे भवभीति-युक्ताः।
नारायणात् परतरं नाहि किञ्चिदस्ति ॥

इस सुभग पद्य में प्रतिपाद में क्रमशः नारायण चूर्ण, नारायण तेल तथा भगवान् नारायण के सेवन के फल का निर्देश है।

भगवती की प्रार्थना कितने रुचिर-पद्यों में कवि ने प्रस्तुत की है—

अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन।
नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणा शिवा शिवं कुर्यात् ॥
अधराधिक्कृतविम्बा जितशशि-विम्बा मुखप्रभया।
गमनाविरलविलम्बा विपुलनितम्बा शिवा शिवं कुर्यात् ॥

वैद्य-जीवन अपने विषय के बड़ा ही चमत्कारी ग्रन्थ है—सुन्दर रसमय पद्यों में निबद्ध तथा ललित-भाषा में प्रस्तुत। भाषा के लालित्य से विषय को हृदयंगम करते विलम्ब नहीं होता। इसके ऊपर अनेक टीकायें हैं जिनमें दामोदर की (१६१३ ई० का हस्तलेख) हरिहर की (रचनाकाल १६७४ ई०) तथा रुद्रभट्ट की (हस्तलेख १७६६ ई०) व्याख्यायें उपलब्ध हैं। वैद्य-जीवन की सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति १६०८ ई० की डा० बूलर ने अंकित किया है। फलतः लोलम्बिराज का समय १६०० ई० से पूर्व ही होना चाहिए। षोडश शती के ये ग्रन्थकार हैं[१]।

---

१. हरिविलास काव्य के रचयिता का भी नाम लोलम्बिराज था, परन्तु वे वैद्यलोलम्बिराज से भिन्न प्रतीत होते हैं। कवि लोलम्बिराज कृष्ण के उपासक थे, परन्तु वैद्य लोलम्बिराज भवानी के भक्त थे। समय की समता होने पर भी दोनों को भिन्न मानना उचित है। हरिविलास का रचना काल १५०५ शक अर्थात् १५८३ ई० है।

शके मते बाणनभःशरेन्दुभिः सुभानुसंवत्सरकोत्तरायणे।
अमोघमाघस्य च शुक्लपक्षे कलौ कृतं काव्यमिदं जगन्मुदे ॥

(काव्य का अन्तिम श्लोक)।

(२)

ग्रन्थकार सूची

ग्रन्थ-सूची

उपादेय ग्रन्थ

सामान्य ग्रन्थ

डा० कीथ—हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६४)
(इस ग्रन्थ के १९–२७ परिच्छेदों में संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का इतिहास संक्षेप में दिया गया है)

डा० विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (तृतीय खण्ड, द्वितीय भाग; अनुवादक डा० सुभद्र झा, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६६)
(इस भाग में संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का इतिहास दिया गया है। यह डा० कीथ के पूर्वोक्त ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा विशद है। ग्रन्थों की सूचनायें पूर्ण तथा आज तक दी गई हैं। उपादेय विवरण। संक्षिप्त और प्रामाणिक)

आयुर्वेद

ठाकुर साहेब आफ गोण्डल—हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स, लण्डन, १८९६
(अंग्रेजी में भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का यह बहुचर्चित इतिहास है। ग्रन्थकार ने मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया है)

डा० पी० सी० राय—हिस्ट्री आफ हिन्दू केमेस्ट्री भाग प्रथम, (कलकत्ता १९०२)

डा० पी० सी० राय—हिस्टी आफ हिन्दू केमेस्ट्री भाग द्वितीय (पूर्ववत्)
(डा० पी० सी० राय का यह ग्रन्थ अपने विषय का मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें रसायन शास्त्र का इतिहास मूल उद्धरणों के साथ विस्तार से प्रतिपादित है। इधर इन्डियन केमिल सोसाइटी ने इस ग्रन्थ का परिशोधित संस्करण एक भाग में प्रकाशित किया है जिसमें मध्ययुगीय रसायन का भी इतिहास सम्मिलित कर ग्रन्थ को विस्तृत तथा विशद बनाया गया है)

डा० सत्यप्रकाश—भारतवर्ष की वैज्ञानिक परम्परा (प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)

(इस प्रामाणिक ग्रन्थ में प्राचीन भारतवर्ष के विज्ञानों का अनुशीलन किया जाता है और दिखलाया गया है कि यहां भी वैज्ञानिक अध्ययनकी दीर्घकालीन परम्परा विद्यमान है। हिन्दी में अपूर्व विशद ग्रन्थ)

डा० जी० एम० मुखोपाध्याय—हिस्ट्री आफ हिन्दू मेडिसिन (चार खण्ड; कलकत्ता)
(यह अंग्रेजी ग्रन्थ चार खण्डों में निबद्ध है। यहाँ प्राचीन आयुर्वेदीय आचार्यों के द्वारा उद्भावित योगों का वर्णन उद्धरण के साथ दिया गया है तथा उनके विषयमें प्रकीर्ण ऐतिहासिक सामग्री एकत्र दी गई है। विस्तृत जानकारी के लिए नितान्त उपयोगी)

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार—आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास (प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार—आयुर्वेद का विस्तृत इतिहास (प्र० हिन्दी समिति, सचिवालय, लखनऊ)
(हिन्दी में ये दोनों ग्रन्थ बहुत उपयोगी हैं। पहिला तो सामान्य छात्रों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, परन्तु दूसरे में विषय का प्रतिपादन विस्तृत तथा व्यापक है। लेखक मूल ग्रन्थों से विशेष परिचय रखता है। फलतः आयुर्वेद-सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी सामग्री यहाँ संकलित है)

सं० राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा—काश्यप संहिता (बम्बई, १९३८ ई०)
(इस ग्रन्थ का संस्कृत में निबद्ध उपोद्घात आयुर्वेद के वैदिक रूप जानने के लिए विशेष उपयोगी है। बड़ी ही उपयोगी सामग्री यहाँ दी गई है, विशेषतः अथर्ववेदीय वैद्यक के विषय में। प्राचीन आयुर्वेद के परिज्ञान के लिए गम्भीर तथा उपयोगी)

डा० जूलियस जाल्ली—'मेडिसिन' नामक जर्मन ग्रन्थ। 'इण्डियन मेडिसिन' नामसे अंग्रेजीमें अनुवाद, श्री काशीकर द्वारा, पूना १९५१
(संक्षेप में आयुर्वेद के इतिहास का विशद विवरण)

डा० ऊलनर—जे० आर० ए० एस० १९२५ (इस लेखमें मध्य एशियाई कूची भाषा के अनुवाद ग्रन्थों में भारतीय आयुर्वेद के द्रव्य-नामों की जो समानता दृष्टिगोचर होती है, उसका संक्षिप्त विवरण दिया गया है)
इण्डो—एशियन कलचर (जिल्द २ भाग प्रथम) में 'इण्डियन साइन्स इन फार ईस्ट' शीर्षक लेख।

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त—आयुर्वेदेर इतिहास (बँगला निबन्ध, प्रवासी भाग ३४, खण्ड १)

आचार्य परमानन्दन शास्त्री—प्राचीन तिब्बतमें आयुर्वेदका प्रसार (जे० बी० ए० एस० १९५४-५५ भाग ३) लंकामें आयुर्वेदका प्रसार (धन्वन्तरि' अलीगढ़,

भाग २८ अंक ८) तथा प्राचीन चीनमें आयुर्वेद का प्रसार (जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी, भाग ४२, भाग १ (मार्च १९५६) (इन तीनों लेखों में आयुर्वेद के भारतेतर देशों के प्रचार तथा प्रसारका विवरण बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है)

ज्योतिषशास्त्र

म० म० सुधाकर द्विवेदी—गणक तरंङ्गिणी द्वितीय, मुद्रण, १९२३ काशी ।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास (मराठी) १८९६ ई० । भारतीय ज्योतिष (हिन्दी में अनुवाद) प्र० हिन्दी समिति, लखनऊ १९५७ ई०

डा० विभूति भूषणदत्त तथा डा० अवधेश नारायण सिंह—हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास भाग प्रथम (हिन्दी समिति लखनऊ, १९५६)

डा० गोरख प्रसाद—भारतीय ज्योतिष का इतिहास प्र० हिन्दी समिति लखनऊ १९५६

श्रीचन्द्र पाण्डेय ज्योतिषाचार्य—ज्योतिर्निबन्धावली, विक्रम प्रकाशन, वाराणसी सं० २०२३

डा० सत्यप्रकाश—ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त खण्ड १ (अंग्रेजी भूमिका पृ० १-३४४) प्रकाशक इण्डियन इन्स्टिच्यूट आफ अस्ट्रोनामिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली, १९६६

डा० बृजमोहन—गणित का इतिहास (प्र० हिन्दी समिति लखनऊ १९६५)

डी० इ० स्मिथ—हिस्ट्री आफ मैथेमेटिक्स २ खण्ड (प्र० जिन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क १९२५) अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ। चित्रों से युक्त होने से अधिक रोचक।

महावीर—गणितसार संग्रह (सम्पादक तथा अनुवादक लक्ष्मीचन्द जैन) प्रकाशक जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर, सं० २०२०

जंम्बूदीप पण्णति संगहो (प्रकाशक वही) प्रस्तावना में तिलोकपण्णति के गणित के ऊपर महत्वपूर्ण विवेचन।

साहित्यशास्त्र

(२१) डा० एस० के० दे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (कलकत्ता, नवीन संस्करण १९६५)

(२२) म० म० पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (तृतीय सं० का हिन्दी अनुवाद 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' प्र० मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, १९६६)

(ये दोनों ग्रन्थ अपने विषय के प्रामाणिक विवेचन हैं—प्रख्यात तथा बहु-चर्चित। श्री काणे के ग्रन्थ में नवीन प्रकाशनों तथा उपलब्धियों का भी महत्त्वपूर्व विवरण है)

छन्दः शास्त्र

शिवप्रसाद भट्टाचार्य—आर्टिग्स आन संस्कृत मेट्रिक्स (प्र० संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६३)
(सस्कृत के छन्दःशास्त्र के विषय में नितान्त प्रामाणिक विवेचन। ऐतिहसिक विवरण के साथ वर्ण्य विषय का भी प्रतिपादन मार्मिक तथा गम्भीर है)

एच० डी० वेलणकर—जयदामन् (प्र० हरितोषमाला के अन्तर्गत, बम्बई १९४९)
(डा० वेलणकर ने छन्दः शास्त्र का बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है जो इस ग्रन्थकी तथा अन्य छन्दोग्रन्थों की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत छन्दों के साथ उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के छन्दों का भी विस्तृत वित्ररण दिया है)

डा० भोलाशङ्कर व्यास—प्राकृत पैङ्गल (दो भाग, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, काशी, १९६२)
(इस सं० में अनेक टीकाओं का प्रकाशन किया गया है। द्वितीय खण्ड भूमिका भाग है जिसमें विषय का प्रतिपादन विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया गया है। प्रामाणिक सं०)

कोशविद्या

म० म० रामावतार शर्मा—कल्पद्रु कोश (गायकवाड ओ० सी०, दो भागों में प्रकाशित, बडोदा १९२८, १९३२)
(इस कोश की विस्तृत प्रस्तावना में पण्डित रामावतार शर्मा ने कोशविद्या का संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। इस विषय के विशेषज्ञ के द्वारा निबद्ध होने से यह प्रस्तावना वास्तवमें महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान है। अंग्रेजी में इतना विशद विवरण सम्भवतः और नहीं है)

व्याकरण

डा० बेलवेलकर—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर (अंग्रेजी), पूना १९१८
(अपने विषय का आदिम ग्रन्थ। आज भी उपयोगी तथा उपादेय)

युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, द्वितीय सं०, सं० २०२० (प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर,)

युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, प्रकाशक पूर्ववत्, सं० २०१८

(इन दोनों खण्डों में संस्कृत व्याकरणसम्बन्धी उपादेय सामग्री का संकलन है। गम्भीरता तथा व्यापकता से मण्डित यह अनुशीलन नितान्त उपयोगी तथा उपादेय है)

श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर—महाभाष्य का अनुवाद (मराठी) सप्तम खण्ड। इस ग्रन्थ में व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थकारों से लेकर आधुनिक ग्रन्थकारों तक का परिचय है। विशुद्ध ऐतिहासिक पद्धति की न्यूनता होने पर भी बहुत ही उपादेय सामग्री एकत्र संकलित है।

श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर—ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडोदा, व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों तथा ग्रन्थकारों का अंग्रेजी में उपादेय विवरण।

डा० गजानन बालकृष्ण पलसुले—ए कानकार्डेन्स आफ संस्कृत धातुपाठज (प्रकाशक डेक्कन कालेज, पूना १९५५

डा० गजानन बालकृष्ण पलसुले—दी संस्कृत धातुपाठज–ए क्रिटिकल स्टडी (प्रकाशक पूर्ववत्, १९६१)

(इन दोनों ग्रन्थों में संस्कृत के धातुपाठों का विशद तथा विस्तृत अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम ग्रन्थमें अक्षर क्रमसे धातुओं की सूची है तथा उनके अर्थका विवरण है। द्वितीय ग्रन्थमें धातुओं के विषय में ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। शैली वैज्ञानिक तथा निरूपण गम्भीर है)

डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी—पाणिनीय धातु-पाठ-समीक्षा (प्र० वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५)

(संस्कृत में निबद्ध इस विस्तृत ग्रन्थमें अक्षर क्रमसे धातुओं का, उनके अर्थों का तथा तज्जन्य शब्दों का विशद विवेचन है। पाणिनि के धातुओं तथा तदुद्भूत शब्दों का प्रयोग यूरोप की भाषाओं में तथा भारतकी प्रान्तीय भाषाओं में दिखलाया गया है जिससे इन धातुओं की विस्तृति, प्रसृति तथा प्रयुक्ति का गम्भीर परिचय प्राप्त होता है)

डा० कपिलदेव—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि (प्र० भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०१८)

(पाणिनि तथा इतर व्याकरण सम्प्रदायों में गणपाठ का विवेचन)